कुछ याद रहा
कुछ बिसर गया
खंड - दो

आधार

अनिल कुमार लखेरा

BlueRose ONE .com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Anil Kumar Lakhera 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.



For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-528-5

Cover Design: Ajay Dhyani
Typesetting: Sagar

First Edition: September 2026

“इस किताब में जो कुछ भी दर्ज़ है वह
मेरे साथ या मेरे इर्द-गिर्द मेरे मिडिल
स्कूल और पाँच साला कॉलेज की पढ़ाई
के दरमियाँ घटित होना बहुत पहले से
तय था। मुझे उस समय ज़रूर ये वहम
या मग़ालता मुसलसल होता रहा कि
जो कुछ भी हो रहा है वह मेरे किए या मेरे
आस-पास के लोगों के कारण हो
रहा है। बहरहाल अब उस सबको घटे
पचास से साठ बरस बीत चुके हैं।
जो जैसा याद रहा वही इस किताब में
लिखा गया है।
ज़ाहिर है अभी भी मुझे लग रहा है-
ये सब मैंने लिखा है। परंतु अब मैं
जानता हूँ यह भी बहुत पहले से ही
तय रहा होगा।“

उर्मिला जी को

भूमिका

अपने क़िस्सों, अपनी कहानी, आत्मकथा टाइप की कोई चीज़ लिख डालने की सनक क्यों और कैसे मेरे ज़ेहन में आई। इसका स्पष्टीकरण मैं 'आरंभ' की भूमिका में दे चुका हूँ। फिर वह सब लिखा हुआ कच्चा-पक्का जैसा भी था, पहली कड़ी बनकर 'आरंभ' नाम की किताब के रूप में सन् 2022 में छप भी गया। जिसे कुछ अपनों ने और कछ दूसरों ने भी बड़े प्यार से पढ़ा , बहुतों ने नहीं भी पढ़ा। पर 'आरंभ' किताब अस्तित्व में आई, मुझे अच्छा लगा। कहीं किसी शिखर पर पहुँचने की ना कभी कोई हसरत थी ना ही साहित्यकार के तौर पर जाना जाऊँ ऐसी कोई तमन्ना। बस एक बोझ जैसे सर से कम हुआ। बचपन के अबोध-नासमझ, खट्टे-मीठे, अड़वे-कड़वे बहुत सारे किस्से जितने भी जो भी याद आए उन्हें जैसे फिर से भरपूर मज़े लेकर जिया और सबको एक बड़ी सी गठरी में बाँध कर समय की धार में छोड़ दिया। जो कुछ बिसर गया, वह तो अपने आप ही समय के अनंत विस्तार में घुल गया। कहते हैं अस्तित्व में न कुछ घटता है न बढ़ता ही है। न कुछ नया जन्मता है न ही कुछ मरता है, इस नियम के हिसाब से अस्तित्व ने जो कुछ भी, कुछ पलों, दिनों और बरसों के लिये दिया था वापस भी ले लिया। अब उसने उस सब को कहाँ कैसे और किस रूप में रखा है, वही जाने।

'आरंभ' के बाद के ग्यारह-बारह बरस के अलों-पलों, दिनों, महीनों और सालों में जो कुछ जिया या जिस तरह अस्तित्व ने 'जियाया' उसका याद रह गया ब्योरा, हिसाब-किताब अब 'आधार' के रूप में सामने आया है। इस किताब में उस सब का जमा-खर्च, हिसाब-किताब, लेना-देना दर्ज़ है जिसने मेरे उस पिंड का निर्माण किया जिसे संसार मेरे 'इस जन्म के नाम' से जानता है। इसका कतई ये मतलब नहीं है कि इस जन्म के पहले भी मेरा कोई जन्म हुआ था और इस जन्म के बाद भी अगला जन्म होगा, मुझे इस बात का इल्म है। न ही मैं इस बात को दावे से कह सकता हूँ कि इस जन्म के पहले मैं किसी और नाम से जाना जाता था और अगले जन्म में मेरा कोई और नाम होगा।

इस किताब ‘आधार’ में, ‘आरंभ’ के बाद के अगले एक युग माने लगभग बारह बरस की दास्तान के उन सब क़िस्सों को मैंने एक बार फिर से जी डाला जो यादों में ज़िंदा रहे, बाक़ी जो बिसर गए सो बिसर गए। उनका पता ठिकाना वे ही जाने या वो जिसने उन्हें रचा था।

किताब शुरू होती है – मॉडल हाई स्कूल के दिनों से और समाप्त होती है जबलपुर के गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज के दिनों तक जाकर। इस बीच जितनी भी यात्रा हुई, पड़ाव आए उन्हें एक क्रमबद्ध सिलसिले में बांधना असंभव नहीं तो दुरूह अवश्य था। इसलिए वो सब कुछ, जो कुछ भी इस बीच घटा; उसमें से जितना कुछ और जिस रंग रूप में याद रहा और उसे जैसा मेरी क्षुद्र बुद्धि ने मुझे समझाया उसे उसी रूप में कुल दस चैप्टर्स में समेटा और लिख डाला।

‘आरंभ’ की तरह ‘आधार’ को लिखकर मुझे तो बहुत सुकून मिला है।

मुझे तो इस बात पर पूरा यकीन है – कोई शै हमसे बहुत ऊपर के लेबल पर बैठी है जो पल-पल के हर घटे-अनघटे को अपने इरादे की ताक़त से पैदा कर देती है। मैं उसी से ये इल्तज़ा और उम्मीद दोनों करता हूँ, जो भी इस किताब को पढ़े उसे मेरे भीतर से होकर गुज़रे इन शब्दों से कुछ न कुछ तो हासिल हो।

□□

‘आरंभ’ 2022 में छप चुकी थी, फिर ‘आधार’ पूरे चार बरस बाद क्यों ?

ज़ाहिर है ये सवाल तो उठेगा।

दरअसल 2023 और 2024 के दरमियाँ इतनी सारी मुश्किलें और पेचीदगियाँ मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गई थीं कि बावजूद तीन चैप्टर काग़ज़ पर उतरने के बाद भी मामला आगे न बढ़ सका। फिर आया 2025 का साल, जनवरी 09’2025 को उर्मिला जी के दाहिने टखने में फ्रैक्चर हो गया जिसे ठीक होने में पूरा साल लग गया जनवरी 2026 में पूरी तरह तो नहीं परंतु फिर भी इतना ठीक हुआ कि फ़िज़ियोथेरेपी अभी बाक़ी थी। सर्जरी का घाव भरने और अन्य जटिलताएँ एक के बाद एक आईं। दूर भी हुईं। किन्तु जो कहानी ऊपर वाले ने पहले से लिख रखी थी – उसके मुताबिक उर्मिला जी ने 07 फरवरी 2026 रात दस बजे के आस-पास मेरी बाहों में अपनी आखिरी सांस ली।

उनके जो भी संस्कार परम्परा के अनुरूप सम्पन्न करने थे, वे सब किए। 17 अप्रैल 2026 को जबलपुर से बैंगलोर आ गया, पुत्र, पुत्र वधू तथा पौत्री के पास, बैंगलोर में ही पुत्री, दामाद और दौहित्र भी हैं। यहाँ काम कुछ भी नहीं था बस स्मृतियाँ थीं- पत्नी के 43 बरस लंबे खट्टे-मीठे साथ की, जो धीरे धीरे भीतर ही भीतर एक सन्नाटा बुन रही थीं। 70 बरस की उम्र में अकेला चलना आसान तो नहीं होता। तब इसके अलावा कोई चारा नहीं था कि अपने आप को किसी ऐसे काम में उलझा दूँ, जो दिन काटने का बहाना बने. . . .

'आधार' का स्केल्टन पहले से तैयार था। तीन चैप्टर लिखे हुए थे। उन्हें परिष्कृत किया। 21 अप्रैल को फिर से लिखना शुरू किया और 4 अगस्त को दस चैप्टर की किताब 'आधार' पूरी की। 21 अप्रैल मेरा अपना जन्म दिन है जबकि 4 अगस्त भी एक विशेष दिन है। उसके बारे में अभी नहीं फिर कभी मौका बना तो बताऊँगा।

लैपटॉप में दस चैप्टर साढ़े तीन सौ से ऊपर पृष्ठों तक फैल चुके थे। सो, प्लानिंग के हिसाब से जो बारह चैप्टर लिखना थे, उन्हें दस तक ही रोक दिया। उनमें से कुछ बातें तीसरे खंड में शामिल हो जाएँगी।

बीच में यानी 2024-25 में लगने लगा था – बात सिर्फ़ 'आरंभ' होकर अधूरी रह जाएगी।

लेकिन अब आपके हाथ में 'आधार' है।

ऊपर बैठे परम सत्य ने इरादा कर लिया तो 'आकार' और 'आभार' भी आपके हाथों में होंगी।

कहानी तो तब भी पूरी नहीं होगी, ख़ैर तब की तब देखेंगे।

अभी 'उर्मिला जी', उनके संग-साथ और मधुर स्मृतियों को याद करते हुए अपनी बात को यहाँ विराम देता हूँ।

अनिल कुमार लखेरा
06.08.2026, बैंगलोर

स्वीकृतियाँ-अस्वीकृतियाँ

(साफ़, सीधी, सच्ची बात)

ये बातें जिनका ज़िक्र इस किताब में किया गया है, वे आज से पचास बरस से पहले, दस-ग्यारह बरसों में घटित हुई हैं। ज़ाहिर है यदि केलकुलेटर लेकर जाँचने बैठेंगे तो कुछ आगे पीछे भी मिलेगा और 'ऐसा कैसे हो सकता है' वाले सुराग़ भी हाथ लगें। गुज़ारिश है मेरी टीम के सखा और अपने बनकर पढ़ें, जासूस बनकर नहीं।

इन क़िस्सों कहानियों में स्कूल और कॉलेज भी शामिल हैं। बल्कि बस जो कुछ भी लिखा हुआ है इन दोनों के दरमियाँ ही फैला हुआ है। मेरे बहुत से मित्रों को थोड़ी सी अज़ीयत और नाराज़गी ज़रूर होगी के उनका नाम किताब में नहीं आए। उनसे मुआफ़ी माँगते हुए कहता हूँ – मेरे सारे मित्र स्कूल,कॉलेज के और दीगर भी, सभी मेरी स्मृतियों में ज़िंदा हैं, भले किताब में उनका ज़िक्र न हो सका हो। वे सब मेरे 'बनने' के सहभागी हैं और वे सभी मुझे पूरी मुहब्बत और प्यार के साथ हमेशा याद रहेंगे।

वैसे मैंने पूरी कोशिश की है इस स्मृति चित्रण में कहीं भी किसी के खिलाफ़ कोई बात ग़लती से भी न लिख जाए, फिर भी किसी को किसी बात से ठेस पहुँचे या उसकी भावनाओं को चोट पहुँचे; मैं यहीं और इसी वक़्त उससे क्षमा माँग लेता हूँ। मेरे ज़ेहन में किसी के लिये भी कुछ निगेटिव बात नहीं है, मुझपर यकीन करें। चूँकि जो कुछ भी इस किताब में दर्ज़ है वह सब हक़ीक़तन हुआ है, जिसे अब टाइम को रीवाइन्ड करके बदला नहीं जा सकता। इसलिए उसपर माथापच्ची करने की ज़हमत न उठाएँ। अगर आज भी कोई कील कांटा चुभता हो या पढ़कर चुभ गया हो उसे ऊपर वाले की रज़ा मानकर एक्सेप्ट करें।

इस किताब के एक चैप्टर में जिस 'वह लड़की' का ज़िक्र बार बार आया है उसे 'वह लड़की' ही रहने दें, जो जानते हैं 'वह कौन थी' उसे अपने दिल में महफ़ूज़ रखें। जो

नहीं जानते वे अंदाज़ न लगाएँ तो बेहतर, 'वह' आज की तारीख़ में इस फ़ानी दुनिया को छोड़कर जा चुकी है। उसकी स्मृतियों का एहतराम और सम्मान करें।

यह पुस्तक किसी भी तरह की कोई स्वीकारोक्ति, स्पष्टीकरण या श्वेत-पत्र जैसी कोई चीज़ नहीं है। न ही यह कोई शोधपत्र अथवा उस तरह का कोई दस्तावेज़ है । इस पुस्तक का उपयोग किसी वैधानिक दस्तावेज़ की तरह, किसी सामान्य अथवा विधिक मामले या प्रकरण में न किया जाये, न ही यह पुस्तक इस योग्य है।

कुछ जगहों पर अपनी बात को थोड़ा मज़बूत करने या फिर उस के संदर्भ में जहाँ मुझे उचित लगा वहाँ कुछ जानकारी मैंने शामिल की है, यदि आपको अनुचित लगे तो दर किनार करें, सही न प्रतीत हो तो मुआफ़ करें। ऐसी सारी जानकारियाँ 'नेट' पर उपलब्ध हैं- मैंने भी वहीं से ली हैं। सो उन्हें उसी नज़र से देखें, और उसके लिये भी 'क्षमा' करें।

जो भी घटनाएँ या वृतांत या वर्णन इस पुस्तक में मुद्रित हैं, वे व्यक्तिगत स्मृति अथवा व्यक्तिगत संपर्क एवं इसी तरह से प्राप्त सूचनाओं पर पूर्णरूपेण आधारित हैं । जो भी इस पुस्तक में लिखा गया है, वह लेखक की स्वयं की अथवा संबंधित व्यक्ति की स्मृतियों और याददाश्त पर आधारित है । समय के साथ स्मृति धूमिल और अस्पष्ट हो जाती है, अतः दिए गए विवरण में कहीं कहीं विसंगति परिलक्षित हो सकती है । यह भी माना जाता है कि कई बार जिस चीज़ को बार बार जिस रूप में याद किया जाता है, वह कालांतर में उसी रूप में स्मृति पटल पर अंकित हो जाती है और वास्तव में घटी हुई प्रतीत होती है , इस पुस्तक में वर्णित वृतांतों और वर्णनों में कहीं किसी किसी स्थान पर ऐसा भी हुआ हो सकता है ।

स्मृति बहुत अजीब चीज़ होती है किसी भी घटना को अपने हिसाब से या तो दृश्य के रूप में या फिर डायलॉग्स के रूप में याद रखती है। दृश्य या बोले और सुने गए संवाद, पल-पल की रिकार्डिंग या शब्दश: वही नहीं होते। स्मृति की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। थोड़ी बहुत कतर-ब्योंत करना उसकी मज़बूरी हो जाती है। जहाँ स्मृति ने कहीं अधबीच में विवशता प्रकट की तो दाल में जितना नमक होता है, उससे भी कम मात्रा में बिना घटना की सच्चाई और उसके निहितार्थ को कोई भी क्षति पहुँचाए, कुछ शब्द, कोई वाक्य या विवरण जोड़ा गया है या कल्पना का सहारा लिया गया है ।

पूरी तरह से ईमानदार कोशिश की गई है कि किसी भी किस्म की कड़वाहट और जो सभी के लिए अच्छा नहीं है, उसे छोड़ दिया जाये। क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य किसी भी तरह की कोई जाँच पड़ताल करना अथवा किसी व्यक्ति या किसी स्थान इत्यादि पर कोई टिप्पणी करना या उसकी परख करके कोई फैसला करना, नीचा दिखाना या अपमानित करना बिलकुल भी नहीं है।

इतना कुछ ऊपर स्वीकार, अस्वीकार करने और लिखने के बाद भी यदि कोई भूल-चूक जो मुझसे हो गई हो और समझ में आ रही हो तो एकबार फिर से तहेदिल से माज़रत चाहता हूँ।

इस किताब को किसी प्रमाणिक अभिलेख या दस्तावेज़ अथवा सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह से न पढ़ा जाए, न ही माना जाए - बल्कि एक क़िस्से और कहानी के रूप में ही माना और पढ़ा जाये।

- लेखक

(07,08.2026, बैंगलोर)

आभार

उन सभी का जिन्होंने
प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष
रूप से,
अपनी साकार उपस्थिति
और साथ से या
स्मृतियों में आ-आ कर,
लगातार प्रेरित किया-
सहयोग किया;
जिससे 'आधार' को
'आकार' मिला।

क़िस्सों का अता-पता

1 आधार-शिला (मॉडल हाई स्कूल के दिन)..... 1
2 संस्कार और संस्कृति (घर-आँगन, तीज-त्योहार और उत्सव)..... 83
3 हॉकी (मैदान, मित्र और सपनों की दौड़) 128
4 शब्द-तिलिस्म (ज़िंदगी के समानांतर शब्दों की जादुई दुनिया) 166
5 रेडियो (ध्वनि तरंगों पर तैरती स्मृतियाँ)..... 263
6 रंग और आकार (अभिव्यक्ति का त्योहार)..... 323
7 झिलमिल सितारों का आँगन (कुछ सपने, कुछ सितारे, कुछ मजबूरियाँ)..... 375
8 सिनेमा (रजत पट पर ज़िंदगी की धूप-छाँव)..... 453
9 मदन महल की पहाड़ियाँ (काली चट्टानों के मौन से संवाद)..... 545
10 अभियांत्रिकी (ड्रॉइंग बोर्ड से ज़िंदगी के नक्शे तक)..... 589

1

आधार-शिला

(मॉडल हाई स्कूल के दिन)

मॉडल हाई स्कूल का संबंध मेरे जीवन की उस आधार-भूमि से है, जहाँ मेरे व्यक्तित्व की पहली स्पष्ट रेखाएँ उभरनी शुरू हुई थीं। बचपन के शुरुआती दिन वैसे तो बहुत कोमल और कुछ-कुछ अनगढ़ होते हैं, पर सच तो यह है कि मनुष्य के भीतर सबसे पहले संस्कारों, आचार-विचार और जीवन-दृष्टि के बीज उसी समय चुपचाप पड़ने लगते हैं। फिर भी, सोचने का ढंग, दुनिया को देखने की नज़र और अपने भीतर बनती हुई समझ का वास्तविक रूप तब आकार लेता है, जब बच्चा घर की चौखट से बाहर निकलकर पहली बार एक बड़े संसार से परिचित होता है।

अधिकतर बच्चों की तरह मेरे लिए भी घर से बाहर की दुनिया का पहला दरवाज़ा पढ़ाई के माध्यम से ही खुला। यदि इसे थोड़ी गहराई से देखूँ, तो जीवन-आधार के निर्माण की वह प्रक्रिया तो प्राथमिक शाला से ही प्रारंभ हो गई थी। वहीं मैंने पहली बार परिवार, विशेषकर माता-पिता से कुछ समय के लिए दूर रहना सीखा। उस छोटी-सी दूरी में ही आत्मनिर्भरता की पहली आहट छिपी थी। उसी समय मन ने बाहर से आने वाले ज्ञान, अनुभव और नए वातावरण को ग्रहण करना शुरू किया। निस्संदेह, यह सब मैं अपने ही जीवन के संदर्भ में कह रहा हूँ। यह उन दिनों की बात है, जब मैंने पहली बार प्राथमिक शाला में प्रवेश किया था। हाँ, इतना अवश्य है कि प्राथमिक विद्यालय के प्रथम वर्ष का आरंभिक समय मैंने घर पर रहकर ही शिक्षा ग्रहण करते हुए बिताया था। उस प्रसंग का उल्लेख मैं 'आरंभ' में विस्तार से पहले ही कर चुका हूँ।

परन्तु, जैसा कि मैं पहले भी इशारा कर चुका हूँ, मेरे जीवन की वास्तविक 'आधारशिला' का निर्माण मॉडल हाई स्कूल में ही हुआ। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो महसूस होता है कि वह केवल एक विद्यालय नहीं था, बल्कि मेरे व्यक्तित्व को मेरी शख़्सियत को भीतर ही भीतर गढ़ने वाला एक जीवंत परिवेश था। उस कालखंड में संस्कारों, आचरणों और जीवन की कैसी भी परिस्थिति किसी भी इम्तेहान का सामना करने की ताक़त और सलाहियत के सूक्ष्म बीज चुपचाप बो दिए जाते हैं।

यदि उस समय के मॉडल हाई स्कूल को ठीक से समझना हो, तो उसे एक प्रकार के आधुनिक गुरुकुल के रूप में देखा जा सकता है - और यह मिसाल मैंने यूँ ही नहीं दी है; उसके पीछे मेरी गहरी अनुभूति और अनुभव की सच्चाई है।

□□

सुबह 10:20 बजे से लेकर शाम 04:20 बजे तक हम वहीं रहते थे। यह केवल पढ़ाई का समय नहीं था, बल्कि एक ऐसा परिवेश था जिसमें जीवन के छोटे-बड़े संस्कार अनजाने ही भीतर उतरते चले जाते थे। उस पूरे समय के दौरान स्कूल का वातावरण किसी पारंपरिक गुरुकुल की तरह ही अनुशासित किन्तु सहज और आत्मीय होता था - बस अंतर इतना था कि यहाँ वृक्षों की छाया के नीचे नहीं, बल्कि पक्के कमरों में कक्षाएँ लगती थीं, और जमीन के स्थान पर लकड़ी की सुदृढ़ डेस्कों पर हम बैठते थे।

यदि बारीकी से देखा जाए, तो वैदिक गुरुकुल और इस आधुनिक गुरुकुल के बीच कई भिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देंगी - परंतु उनकी आत्मा में एक अद्भुत समानता भी थी। वह समानता थी – मॉडल हाई स्कूल केवल ज्ञान और जानकारी प्रदान करने वाली संस्था मात्र नहीं था , बल्कि इसके साथ-साथ हर विद्यार्थी के जीवन की दिशा निर्धारित करना उसका लक्ष्य था।

यह 1967 से 1972 के बीच का समय था -मेरे जीवन का वह कालखंड जब मैंने छठी से ग्यारहवीं कक्षा तक की शिक्षा वहीं प्राप्त की। इसलिए यह कहना मेरे लिए केवल एक भावनात्मक आग्रह नहीं, बल्कि एक अनुभूत सत्य है कि मॉडल हाई स्कूल उस

समय सचमुच एक गुरुकुल की तरह था। आगे की स्मृतियों में यह बात और अधिक ज़ाहिर और साफ़ होती जाएगी।

हालाँकि समय के साथ बहुत कुछ बदल गया। धीरे-धीरे वह वातावरण भी मुंतक़िल या रूपांतरित होने लगा। आज भी कुछ परंपराएँ जीवित हैं, पर उनका स्वरूप बदल चुका है। शिक्षक और विद्यार्थियों के संबंधों की प्रकृति भी अब वैसी है या नहीं-यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

एक बड़ा परिवर्तन यह भी हुआ है कि अब वहाँ बालक और बालिकाएँ साथ-साथ शिक्षा ग्रहण करते हैं। और स्कूल, जिसे हम कभी मॉडल हाई स्कूल के नाम से जानते थे, अब पंडित लज्जा शंकर झा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रूप में जाना जाता है।

परन्तु अब जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो यह बात स्पष्ट होती है कि मेरे जीवन की असली शुरुआत-या कहूँ, उसका ढाँचा-मॉडल हाई स्कूल में ही बना था। उस समय यह बात समझ में नहीं आती थी। वह बस एक स्कूल था, जहाँ रोज़ जाना होता था। पर अब लगता है, वह केवल एक जगह नहीं थी- मेरी ज़िंदगी का एक नया आयाम था, जिसमें मैं हर दिन कुछ और बनता जा रहा था।

सुबह साढ़े दस बजे से लेकर शाम साढ़े चार बजे तक का वह समय. . . लंबा अवश्य था किन्तु जैसे पता ही नहीं चलता था, कब बीत गया। दिन का एक बड़ा हिस्सा वहीं गुजरता था, और शायद इसीलिए धीरे-धीरे वह जगह घर जैसी लगने लगी थी - या शायद घर से अलग एक दूसरी दुनिया, जिसमें अपने नियम थे, अपनी चुप्पियाँ और अपनी संयमित गतिविधियाँ।

उसे गुरुकुल कहना शायद एक सीधा-सा निष्कर्ष लगे, पर उस समय के अनुभव को किसी एक शब्द में बाँधना आसान नहीं है। हाँ, इतना जरूर है कि वहाँ एक तरह की एकाग्रता थी - एक अदृश्य सीमा बद्ध मर्यादा, एक कड़ा किन्तु मन को संतोष देने वाला अनुशासन - जो किसी ने हम पर बलपूर्वक थोपा नहीं था, पर फिर भी हम उसका बहुत ध्यान पूर्वक पालन करते थे। हमारी वहाँ की दिनचर्या का एक नक़्शा हर

वक़्त हमारे भीतर बना रहता था। हम सभी छात्र यहाँ तक कि सारे शिक्षक और अन्य सभी भी उस नक़्शे के अनुसार ही आगे बढ़ते थे।

अंतर भी थे। हम पेड़ों के नीचे नहीं बैठते थे। हमारे पास कमरे थे-दीवारों से घिरे हुए, और लकड़ी की डेस्कें, जिन पर हम दिन भर टिके रहते थे। गुरुकुलों की तरह हम शिक्षा पूर्ण होने तक वहाँ नहीं रहते थे। निश्चित समय पर हम वापस अपने घरों को लौट जाते थे, और दूसरे दिन नियत समय पर पुनः उपस्थित हो जाते थे। सब कुछ अधिक व्यवस्थित था, अधिक आधुनिक भी। लेकिन उस व्यवस्था के भीतर भी कुछ ऐसा था, जिसने आधुनिकता की चमक-दमक और बदलते समय की तेज़ रफ़्तार के बीच भी विद्या दान और विद्या अर्जन के प्राचीन भारतीय मूल्यों को कहीं गहरे सँजो कर रखा था। वह कोई लिखित नियम नहीं था, न किसी पाठ्यक्रम का हिस्सा, न दीवारों पर टँगा कोई आदर्श वाक्य। वह तो जैसे वातावरण में घुला हुआ एक मौन संस्कार था - बहुत पुराना, लगभग अनकहा-सा।

हर क्लास रूम के ब्लैक-बोर्ड पर सबसे ऊपर बीचों बीच एक सफ़ेद पट्टिका चस्पाँ थी जिसपर अँग्रेज़ी में लाल रंग से मोटे मोटे अक्षरों में लिखा हुआ था - ***"Punctuality is the key to success."*** जिसका हिन्दी में मतलब होता है -***"समय का पाबंद होना सफलता की कुंजी है।"*** इस सूक्त वाक्य को हमने छह वर्षों तक लगभग प्रतिदिन पढ़ा था। इस तरह से ये हम सभी विद्यार्थियों के मन, मस्तिष्क और हृदय तीनों जगह स्थायी रूप से अंकित हो गया था। समय की पाबंदी या वक़्त की कीमत जिसने जान ली वो सफल हो जाएगा। इस बात पर मुझे पूरा यकीं है। मैं कितना सफल हूँ ये अलग बात है , एक भिन्न विषय है, परंतु मैंने अपने घर के हर एक कमरे में यहाँ तक कि किचिन या रसोईघर में भी एक-एक बड़ी दीवार घड़ी टाँग रखी है।

गुरु और शिष्य के बीच का संबंध वहाँ केवल पाठ पढ़ाने और परीक्षा देने तक सीमित नहीं था। उसमें आत्मीयता थी, विश्वास था, और ज्ञान को जीवन का प्रकाश मानने की वह परंपरा थी, जो सदियों से भारतीय चेतना में बहती आई है। शिक्षक जब कुछ सिखाता था, तो केवल जानकारी नहीं देता था; वह अपने अनुभव, अपनी दृष्टि और अपने भीतर संचित जीवन-बोध का भी अंश सौंपता था। और विद्यार्थी भी केवल अंक

प्राप्त करने के लिए नहीं सीखता था, बल्कि भीतर कहीं यह अनुभव करता था कि ज्ञान मनुष्य को अधिक विनम्र, अधिक संवेदनशील और अधिक मनुष्य बनाता है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था की औपचारिकताओं के बीच भी वह पुरानी गुरुकुल परंपरा किसी सूक्ष्म धागे की तरह उपस्थित थी। कई बार किसी शिक्षक का एक साधारण-सा वाक्य, किसी ग़लती पर किया गया शांत संकेत, या पीठ पर रखा गया स्नेहिल हाथ जीवन भर के लिए दिशा दे जाता था। वहाँ विद्या केवल पेशा या साधन नहीं थी; वह एक नैतिक और सांस्कृतिक उत्तरदायित्व भी थी।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है कि वही अनकहे मूल्य उस पूरी व्यवस्था की आत्मा थे। वही उसे केवल 'शिक्षा' से आगे ले जाकर 'संस्कार' बनाते थे।

यह 1967 से 1972 के बीच का समय था। उन्हीं वर्षों में मैंने छठी से ग्यारहवीं तक की पढ़ाई पूरी की। इतने वर्षों के बाद अब यह कह पाना आसान है कि वह जगह मेरे भीतर कहीं रह गई है - जैसे कोई बात जो पूरी तो हुई किन्तु फिर भी अधूरी सी लगे, जो हर समय याद आए और कहे - वह यात्रा जो मॉडल हाई स्कूल में आरंभ हुई थी अभी भी जारी है और यूँ ही चलती रहेगी।

अंत तक - जैसे सांस चलती है।

□□

अब सुनता हूँ कि बहुत कुछ बदल गया है।
मॉडल हाई स्कूल अब पंडित लज्जा शंकर झा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय कहलाता है।
लड़के और लड़कियाँ साथ पढ़ते हैं। समय तो अपनी गति से आगे बढ़ता रहा है, और उसके साथ ये सब बदलाव स्वाभाविक भी हैं। जीवन एक स्थान पर ठहरा तो नहीं रहता; वह अपने साथ व्यवस्थाएँ, नाम, तरीके - सब बदलता चलता है।

पर उन सबके बीच एक बात है, जो आज भी मेरे भीतर प्रश्न बनकर ठहरी हुई है। वह जो वहाँ कभी था - जिसे मैं अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो 'गुरुकुल' कहने का मन करता है - क्या वह अब भी वहाँ बचा है ?

मैं भवनों की बात नहीं कर रहा, न पाठ्यक्रमों की, न यूनिफ़ॉर्म की, न अनुशासन के उन बाहरी नियमों की जिन्हें समय बार-बार बदल देता है। मैं उस अदृश्य वातावरण की बात कर रहा हूँ, जिसमें शिक्षक केवल अध्यापक नहीं होते थे, और विद्यार्थी केवल परीक्षा देने वाले छात्र नहीं। उनके बीच एक आत्मीय सेतु था - अकथ, अनौपचारिक, परंतु जीवंत।

वहाँ शिक्षा केवल पुस्तकों से नहीं मिलती थी; वह व्यक्तित्व से छनकर आती थी। कई बार एक नज़र से, कई बार मौन से, कई बार किसी छोटी-सी डाँट या अप्रत्याशित प्रशंसा से।

विद्या वहाँ केवल विभिन्न विषयों का संसार ही नहीं थी - बल्कि संस्कार भी थी।

आज सोचता हूँ, शायद वही तत्व –

"किसी भी विद्यालय को मात्र संस्था होने से बचाकर 'गुरुकुल' बनाता है। यदि वह अब भी वहाँ शेष बचा है, शिक्षक अब भी मात्र शिक्षक न होकर गुरु हैं छात्र महज़ विद्यार्थी न होकर शिष्य हैं , उस परिसर में केवल अध्यापन और अध्ययन नहीं वरन् विद्यार्थियों के जीवन की दिशा भी निर्धारित की जा रही हो, वहाँ बरामदों में, कक्षों में, हॉकी ग्राउन्ड में बहती हवाओं में अनुशासन, संस्कार, मर्यादा की वही पुरानी महक अब भी घुली होगी तो समझिए कि समय, सब कुछ बदलकर भी सबसे मूल्यवान चीज़ को नहीं बदल पाया।"



शायद वह केवल उस समय में था. . . . या शायद केवल हमारे भीतर।

अब भी उस समय खंड के कुछ टुकड़े बादलों की तरह आस पास तैरते रहते हैं. . . . एक दम साफ़, उजले, धवल, उनके आकार बदलते हैं पर किस्से वही रहते हैं. . . .

पूरा दिन वहीं बीतता था-
कक्षाओं में, डेस्कों पर झुके हुए. . . .

पर पढ़ाई ही सब कुछ नहीं थी।
कुछ और भी था, जो शब्दों में नहीं आता था-
शायद वही, जिसे अब 'गुरुकुल' कह देना आसान लगता है।

पर मैंने बताया न, यह गुरुकुल वैसा नहीं था जैसा किताबों में पढ़ा था।
यहाँ पेड़ नहीं थे, उनकी छाया भी नहीं…
दीवारें थीं, कमरे थे, और लकड़ी की सख्त डेस्कें-
जिन पर बैठकर हम धीरे-धीरे अपने ही भीतर बैठना सीख रहे थे।

कभी-कभी लगता है, असली शिक्षा वही थी-
जो कही नहीं जाती थी।
जो बस, दिन भर के बीच-बीच में . . .
किसी खामोश क्षण में, अपने आप उतर आती थी।

1967 से 1972 . . .
पाँच साल-कहने में बहुत छोटे लगते हैं।
पर शायद वही सबसे लंबे थे।
वहीं कुछ ठहरा हुआ है आज भी . . .

और वहीं से कुछ चलता भी रहता है - अब तक। विस्मय होता है अब भी बहुत कुछ तय होता है वहीं से वे संस्कार और आदतें, वहीं से संदेश भेज देती हैं - अब क्या करना है! या क्या करना उचित होगा। वह काल खंड पचास बरसों से अधिक पुराना हो गया है पर ज़िन्दा है। बीच के सालों को भेदता हुआ, पहुँच जाता है मुझ तक। और मैं मानता हूँ कि ऐसा सिर्फ़ मेरे ही नहीं मॉडल हाई स्कूल के सभी छात्रों के साथ होता होगा।

मॉडल हाई स्कूल - यह नाम जैसे मेरे भीतर किसी बहुत पुराने बंद कमरे का दरवाज़ा खोल देता है।
वह कमरा, जहाँ मेरे होने की पहली आहटें दर्ज़ हैं-धीमी, लगभग अनसुनी।

बचपन के वे शुरुआती दिन…
जब सब कुछ आकार ले रहा होता है, पर किसी स्पष्ट रूप में नहीं।
जैसे गीली मिट्टी-जिसमें उँगलियों के निशान तो बनते हैं, पर वे किसी निश्चित आकृति का वादा नहीं करते।
संस्कार, आचरण, कुछ अनकहे नियम-सब कुछ जैसे बिना आवाज़ के भीतर उतरता जाता है।

हालाँकि, शुरुआत में मैं घर से पूरी तरह अलग नहीं हुआ था।
प्राथमिक विद्यालय के पहले वर्ष का एक हिस्सा मैंने घर पर ही बिताया-
जैसे किसी नदी को बहने से पहले
थोड़ी देर अपने ही स्रोत के पास ठहरना होता है।

शायद वही ठहराव मुझे तैयार कर रहा था-
उस बहाव के लिए, जो आगे आने वाला था।

पहला दिन…
अब सोचता हूँ, तो वह किसी तिथि या घटना से ज़्यादा एक एहसास था-
जैसे भीतर कुछ अनजाना धीरे-से सरक रहा हो।

स्कूल की इमारत एक बहुत बड़े क्षेत्र में फैली हुई थी,
जो उस समय वह मुझे किसी विशाल संसार की तरह लगी थी-
जहाँ हर चेहरा नया था, हर आवाज़ अनजानी।
मैं अपने ही कदमों की आहट सुनता हुआ
उस भीड़ में शामिल हो रहा था,
पर भीतर कहीं एक संकोच था-
जैसे मैं अभी पूरी तरह वहाँ का नहीं हुआ हूँ।

पहली झिझक…
वह केवल दूसरों से नहीं थी,
खुद से भी थी।

क्या मैं यहाँ फिट हो पाऊँगा ?
क्या मेरी आवाज़ सुनी जाएगी ?
या मैं बस एक और चेहरा बनकर रह जाऊँगा?

धीरे-धीरे, कुछ चेहरे परिचित होने लगे।
पहले दोस्त -
वे शायद नामों से नहीं,
बल्कि साझा झिझक से जुड़े थे।
हम सब उस नई दुनिया में
एक-दूसरे के लिए छोटे-छोटे सहारे थे -
बिना कहे, बिना जताए।

कभी-कभी, उस भीड़ के बीच
एक अजीब-सी तनहाई भी घेर लेती थी-
जैसे सबके बीच होते हुए भी आप अपने ही भीतर कहीं खड़े हों। पर शायद वही क्षण थे,जब भीतर एक नई आवाज़ जन्म ले रही थी-
अपनी पहचान की।

उस समय घटी हर घटना जो उस समय छोटी लगी हो, पर आज गहन अर्थों से भरी दिखाई देती है।
वहीं से मेरे जीवन में मेरी कहानी और भी जीवंत होना आरंभ हुई।

दिनेश गुप्ता , मेरे साथ मेरी डेस्क पर बगल में बैठने वाला मेरा पहला दोस्त, जो मुझे अच्छा लगा। अपना सा भी। ढेर सारे अनजाने चेहरों के बीच मैंने उसे अपने बगल में, अपनी डेस्क पर बैठा पाया।
हमने एक-दूसरे से बहुत कुछ नहीं कहा था -
शब्द जैसे अभी भी थोड़े संकोच में थे।
पर उसके होने में एक सहजता थी,
जैसे बिना बोले भी एक समझ बन रही हो।

वह स्कूल में मेरा पहला दोस्त था-
या यूँ कहूँ, वह पहला व्यक्ति, जिसने उस नए संसार को थोड़ा कम अपरिचित बना दिया।

हम एक ही डेस्क पर बैठे रहते -
कभी किताबों में झुके हुए,
कभी यूँ ही इधर-उधर देखते हुए,
और कभी बिना किसी कारण के हल्की-सी मुस्कान बाँटते हुए।

अजीब बात है,
कि दोस्ती की शुरुआत हमेशा बड़ी घटनाओं से नहीं होती-
कभी-कभी वह बस
दो लोगों के एक साथ बैठने से जन्म लेती है।

आज सोचता हूँ,तो लगता है-
उस दिन, उस डेस्क पर सिर्फ दो बच्चे नहीं बैठे थे, बल्कि एक अनजानी जगह में पहली आत्मीयता की नींव रखी जा रही थी।

दिनेश गुप्ता को पढ़ने का एक अलग ही शौक था-
पाठ्यक्रम से परे, जैसे किताबें उसके लिए केवल पढ़ाई नहीं,
एक दूसरी दुनिया के दरवाज़े हों।

कक्षा की पढ़ाई में भी वह तेज़ था-
हम दोनों ने छठवीं की परीक्षा में अच्छे अंकों के साथ कक्षा में चौथा और पाँचवाँ स्थान प्राप्त किया था।
एक सधी हुई प्रतिस्पर्धा थी हमारे बीच , पर उसमें ईर्ष्या का कोई रंग नहीं था, बस साथ-साथ आगे बढ़ने की एक शांत लय थी।

लेकिन इससे परे उसका एक रूप और था। वह कक्षा में जासूसी उपन्यास में डूब जाता।

और तब पढ़ते समय उसके चेहरे पर एक अलग ही चमक दिखती थी।

कक्षा के आख़िरी पीरियड तक आते-आते
वह पूरी किताब ख़त्म कर देता।
और मैं…
मैं उस कहानी का एक चुप-सा किरदार बन जाता-
एक चौकीदार।
मेरी निगाहें किताब पर नहीं,
कक्षा के दरवाज़े और शिक्षक की आहट पर होतीं-
कि कहीं वह पकड़ा न जाए।

वह पढ़ता रहता और मैं पहरा देता रहता, बिना किसी औपचारिक समझौते के, जैसे यह हमारी दोस्ती का एक अनकहा नियम हो। हालाँकि, यह उसका रोज़ का स्वभाव नहीं था।
वह हर समय उपन्यासों में खोया नहीं रहता था-
पर जैसे ही थोड़ा-सा मौका मिलता, वह उस दुनिया में उतर जाता,
जहाँ रहस्य, रोमांच और कल्पना
उसकी आँखों में एक अलग ही चमक भर देते।

आज सोचता हूँ, तो लगता है-
वह केवल किताबें नहीं पढ़ रहा था,
वह अपने भीतर एक अलग तरह की दुनिया रच रहा था…
और मैं, अनजाने ही, उस दुनिया का पहला साक्षी बन रहा था।

दिनेश गुप्ता…
वह जो कभी जासूसी उपन्यासों में खो जाता था,
आगे चलकर
लारसन एण्ड टूब्रो जैसी विशाल कंपनी में -
प्लानिंग और डिज़ाइन के क्षेत्र में जनरल मैनेजर के पद तक पहुँचा।

उसने गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज से इलेक्ट्रॉनिक्स में बी.ई. की, और मैंने मैकेनिकल इंजीनियरिंग में अपनी राह चुनी। मेरी यात्रा मुझे मध्य प्रदेश पॉवर जनरेटिंग कंपनी के

बड़े पावर हाउसेज़ तक ले गई। जहाँ मैंने असिस्टेंट इंजीनियर से लेकर चीफ इंजीनियर के रूप में काम किया, और अंततः 2015 में 'एग्जीक्यूटिव डायरेक्टर' के पद से सेवानिवृत्त हुआ।

पर समय का अपना एक मौन पक्ष भी होता है। जब तक मैं अपनी मंज़िलों तक पहुँचता, दिनेश इस दुनिया से जा चुका था। जैसे कोई कहानी अचानक ठहर जाए आधी अधूरी। कभी-कभी अब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो वह 'चौकीदार' वाला छोटा-सा प्रसंग अंदर कहीं गहराई में उजाला कर देता है। तब वह बस एक खेल-सा था- एक दोस्त के लिए सतर्क खड़े रहने का। पर शायद, अनजाने में,वहीं से मेरे भीतर एक सजग और सावधान दृष्टा जन्म ले रहा था। वह दृष्टा-जो सिर्फ़ देखता नहीं,आने वाली आहटों को भी सुन लेता है। शायद उसी ने मुझे मेंटेनेंस इंजीनियर के रूप में हर छोटी-सी गड़बड़ी को पहले ही पहचानने की क्षमता दी, और बाद में प्रबंधकीय दायित्वों में हर निर्णय के पीछे छिपे सूक्ष्म संतुलन को समझने का विवेक भी।

कितनी अजीब बात है-
"जीवन के बड़े सत्य अक्सर किन्हीं छोटी, लगभग भुला दी गई घटनाओं में छिपे होते हैं।"

आज लगता है, कि उन दिनों जब मैं एक दोस्त के लिए चुपचाप चौकीदारी कर रहा था, तब दरअसल मैं अपने ही भीतर एक ऐसी आँख जगा रहा था। जो जीवन भर मेरे साथ रहने वाली थी।

कभी-कभी मैं ये भी सोचता हूँ सोचता हूँ-
क्या सचमुच वह "चौकीदार" मैं था?
या वह केवल एक भूमिका थी, जो अस्तित्व के किसी अनजाने प्लान के तहत मुझे निभाना पड़ रही थी।

दिनेश गुप्ता अपनी किताब में डूबा रहता,
और मैं सतर्कता से आस पास, शिक्षक पर या दरवाज़े की ओर देखता रहता अब लगता है,

वह देखना सिर्फ़ बाहर की ओर नहीं था।
वह भीतर भी कुछ जगा रहा था। शायद उन्हीं क्षणों में,
अनजाने ही,
मेरे भीतर "दृष्टा" का बीज पड़ गया था-
और देखने में ही एक अलग तरह की समझ जन्म लेती है।

जीवन के बाद के वर्षों में जब मैं मशीनों, व्यवस्थाओं और ज़िम्मेदारियों के बीच था।
तब भी कहीं वही दृष्टा सक्रिय रहा। वह जो हर आवाज़ के पीछे छिपे संकेत को
सुनता है,हर हलचल के पीछे आने वाली किसी भी संभावना को भाँप लेता है।
दिनेश के साथ बिताए वे छोटे-छोटे पल सिर्फ़ दोस्ती की यादें नहीं थे।
वे एक गहरी आंतरिक यात्रा की शुरुआत भी थे।

जैसे जीवन ने बहुत पहले ही एक संकेत दे दिया था-
कि तुम्हें केवल करना ही नहीं, देखना भी सीखना है। और शायद. . . .
देखना ही सबसे गहरा 'करना' है।

समय की इस गति में , धारा में- कुछ दृश्य ऐसे होते हैं,
जो कभी पूरी तरह बीतते नहीं-
वे हमारे भीतर
एक धीमी रोशनी की तरह जलते रहते हैं।

दिनेश गुप्ता के साथ बिताए वे क्षण-
एक ही डेस्क,
उसका जासूसी उपन्यास पढ़ना , और मेरी वह अनकही चौकीदारी-
आज भी अपनी जगह वैसे ही खड़े हैं, जैसे समय ने उन्हें छुआ ही न हो।

पर अब उनके अर्थ बदल गए हैं - तब वह केवल एक दोस्ती थी , एक मासूम-सा साथ।
पर आज लगता है, वह एक संकेत था, जीवन की किसी गहरी परत की ओर।

हम अक्सर अपने जीवन को
अपने किए हुए कर्मों से मापते हैं-
कहाँ पहुँचे, क्या पाया, क्या खोया।
पर शायद,
जीवन का एक और आयाम भी है-
जहाँ हम केवल 'करते' नहीं,
बल्कि 'देखते' भी हैं।

वही देखना. . . .
जो बिना हस्तक्षेप किए होता है, पर जिसमें एक गहरी सजगता होती है।

शायद वही 'दृष्टा'
धीरे-धीरे मेरे भीतर आकार लेता रहा-
बिना किसी घोषणा के, बिना किसी प्रयास के। और आज जब सब कुछ पीछे छूटता हुआ-सा लगता है। लगता है मैं वही मैं होकर भी 'वह' मैं नहीं बचा हूँ। इतनी लंबी यात्रा में बहुत कुछ पीछे छूट गया लगता है। फिर भी वह 'दृष्टा' शेष है- और साथ भी। शांत, निर्विकार, पर पूरी तरह जागृत।

"कभी किसी और की कहानी की रखवाली करते-करते, मैं अपनी ही कथा का मौन दर्शक बन गया।"

□□

जब हम लोग पश्चिमी घमापुर में रहा करते थे, तब मॉडल हाई स्कूल हमारे घर से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर था। घर से स्कूल तक पहुँचने के दो रास्ते थे। एक सीधा मुख्य मार्ग से जाता था - घमापुर चौक से बाईं ओर मुड़कर ब्योहार बाग होते हुए हाई कोर्ट तक। हाई कोर्ट के ठीक सामने, मुख्य सड़क की दाहिनी ओर, मॉडल हाई स्कूल स्थित था - और आज भी वहीं है।

दूसरा रास्ता कुछ अलग था; जैसे शहर की औपचारिक सड़कों से हटकर पगडंडियों और कच्चे -पक्के सँकरे रास्तों वाला । वह रामलीला ग्राउंड के बीच से निकलता,

फिर वोकेशनल स्कूल के फुटबॉल मैदान और छात्रावास के पास से गुजरते हुए ब्योहार बाग में जाकर मुख्य मार्ग से मिल जाता था। इस रास्ते से लगभग डेढ़ फर्लांग की दूरी बच जाती थी। मैं प्रायः पैदल इसी रास्ते से स्कूल जाया करता था।

मेरे पास कंधे पर टाँगने वाला केनवास का बस्ता नहीं था। उसकी जगह खाकी रंग के कपड़े का एक बड़ा-सा थैला हुआ करता था, जिसमें किताबें, कॉपियाँ और दूसरी छोटी-मोटी चीज़ें रहती थीं। उस थैले की भी अपनी एक दुनिया थी - कागज़, धूल, स्याही और बचपन की मिली-जुली गंध से भरी हुई। चलते समय वह कभी कंधे से टकराता, कभी पीठ पर झूलता रहता, मानो वह भी मेरे साथ रोज़ उसी यात्रा में शामिल हो।

इस छोटे रास्ते को और भी छोटा किया जा सकता था। यदि मैं अपने प्राइमरी स्कूल के सामने से निकलकर रामलीला मैदान को बाइपास करता हुआ सीधे वोकेशनल स्कूल वाले रास्ते पर पहुँच जाता, तो कुछ और दूरी बच जाती थी। आगे छात्रावास परिसर से निकलकर, डॉक्टर पाण्डे अस्पताल के सामने से जाने के बजाय, बीच में पड़ने वाले एक छोटे-से उजाड़ मैदान को पार करके सीधे मुख्य मार्ग पर आया जा सकता था। कई बार मैं यह रास्ता भी चुन लेता था।

मॉडल हाई स्कूल की इमारत मध्य प्रदेश हाई कोर्ट के सामने और आज के डॉक्टर अंबेडकर चौक के बाजू में स्थित है। जब मैं वहाँ पढ़ता था, तब डॉक्टर अंबेडकर की मूर्ति स्थापित नहीं हुई थी। उस समय उस चौराहे को लोग कभी तहसीली चौराहा कहते थे, कभी तार घर चौराहा, तो कभी हाई कोर्ट चौराहा। अब ठीक-ठीक याद नहीं आता कि उन नामों में से कौन-सा सबसे अधिक प्रचलित था।

यदि मॉडल स्कूल की लोकेशन को बिल्कुल सरल और स्पष्ट शब्दों में बताना चाहूँ, तो वह परिसर उस कोने पर स्थित है जहाँ हाई कोर्ट के सामने से डॉक्टर राजेंद्र प्रसाद चौक की ओर जाने वाली सड़क और तहसीली चौक से छोटी ओमती की तरफ़ जाने वाली सड़क एक-दूसरे से मिलती हैं।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, उन रास्तों की असली दूरी किलो मीटरों में नहीं थी। वे रास्ते दरअसल एक उम्र से दूसरी उम्र तक जाते थे- जहाँ एक दुबला-पतला लड़का, खाकी थैला कंधे पर डाले, धूल भरी पगडंडियों और सुनसान मैदानों से गुजरता हुआ धीरे-धीरे अपने ही भीतर की दुनिया की ओर बढ़ रहा था।



इसके अलावा एक और रास्ता भी था। ब्योहार बाग के बाजू से होकर जाने के बजाय, ब्योहार बाग मोहल्ले के भीतर की गलियों से निकलते हुए छोटी ओमती मार्ग पर पहुँचना और वहाँ से मॉडल हाई स्कूल के गेट नंबर एक से स्कूल में प्रवेश करना। इस रास्ते का उल्लेख मैं इसलिए भी कर रहा हूँ क्योंकि उससे जुड़ा एक महत्वपूर्ण प्रसंग मेरे और मॉडल हाई स्कूल के संबंध की उस आरंभिक कथा का हिस्सा है, जिसकी स्मृतियाँ आज भी मेरे भीतर ज्यों की त्यों जीवित हैं।

पाँचवीं कक्षा का परीक्षा परिणाम घोषित हो चुका था, किंतु अंक तालिका अभी तक प्राप्त नहीं हुई थी। गर्मी की छुट्टियाँ प्रारंभ हो चुकी थीं। उन दिनों स्कूलों में 1 मई से 30 जून तक पूरे दो महीने की छुट्टी हुआ करती थी। सामान्यतः परीक्षा फल 30 अप्रैल को घोषित कर दिया जाता और फिर विद्यार्थी सीधे 1 जुलाई को स्कूल लौटते थे। हमारे समय में प्राथमिक शालाओं में पूरक परीक्षा अर्थात सप्लीमेंट्री की व्यवस्था नहीं थी। विद्यार्थी या तो उत्तीर्ण होते थे या अनुत्तीर्ण-सीधे-सीधे पास या फेल। वैसे उस समय पाठ्यक्रम अपेक्षाकृत सरल होता था और पूरे वर्ष विद्यार्थियों से नियमित मेहनत भी कराई जाती थी। इस कारण बहुत कम ही ऐसा होता कि कोई छात्र अनुत्तीर्ण हो। यदि कोई फेल हो जाता, तो उसे अगले वर्ष उसी कक्षा में दोबारा पढ़ना पड़ता था।

मैं बता रहा था कि पाँचवीं का परिणाम तो आ चुका था, पर अंक तालिका अभी स्कूल तक नहीं पहुँची थी। चूँकि पाँचवीं की परीक्षा प्राथमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा आयोजित की जाती थी, इसलिए मार्क शीट भी वहीं से बनकर आनी थी। शायद मई महीने की ही कोई तारीख थी, जो मॉडल हाई स्कूल में प्रवेश फॉर्म जमा करने की अंतिम तिथि थी। लेकिन उस दिन तक भी हमारे स्कूल में पाँचवीं कक्षा की अंक-तालिकाएँ नहीं पहुँची थीं।

घर में पहले से ही यह तय था कि मुझे मॉडल हाई स्कूल में ही दाखिला लेना है। यह जानकारी प्राथमिक स्कूल से मिल चुकी थी कि मैंने परीक्षा में 82 प्रतिशत अंक प्राप्त किए हैं। अंक-तालिका न आने के कारण घर में स्वाभाविक बेचैनी थी। दोपहर होते-होते बाई ने निश्चय कर लिया कि अंक-तालिका आए या न आए, प्रवेश फॉर्म तो भर ही दिया जाए।

हमने प्रवेश फॉर्म भरकर जमा करने की अंतिम तिथि तक इंतज़ार किया। किन्तु तब तक भी अंक- तालिका नहीं आई थी। फिर वे मेरे प्राथमिक स्कूल जाकर मार्क शीट के बारे में पूछताछ करने के बाद सीधे मुझे साथ लेकर मॉडल हाई स्कूल पहुँचीं। प्रवेश फॉर्म हमारे पास पहले से था और लगभग पूरा भरा जा चुका था। वहाँ पहुँचकर यह निश्चित हो जाने के बाद कि फॉर्म जमा करने की अंतिम तिथि नहीं बढ़ेगी - उन्होंने फ़ार्म में उस स्थान पर, जहाँ मुझे प्राप्त अंक भरने थे, अपने हिसाब से अंक लिख दिए। उनका कुल योग 328 बनता था, जो 400 में से ठीक 82 प्रतिशत थे। फॉर्म पूरा भरकर जमा कर दिया गया।

उस समय के नियमों के अनुसार, जिस दिन प्रवेश की अंतिम प्रक्रिया होनी होती थी, उस दिन सभी मूल दस्तावेजों के साथ उपस्थित होना आवश्यक था, जिनमें 'अंक तालिका' सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ मानी जाती थी।

कुछ दिनों बाद अंक तालिका भी आ गई। स्वाभाविक था कि विभिन्न विषयों में प्राप्त वास्तविक अंक, बाई द्वारा अनुमान से भरे गए अंकों से पूरी तरह मेल नहीं खाते थे। कहीं दो-चार अंक अधिक थे, कहीं कम। यह आशंका अवश्य थी कि इसका प्रभाव मेरे प्रवेश पर पड़ सकता है।

लेकिन बाई पूरी तरह निश्चिंत थीं। वे मुझे बार-बार समझातीं-"कुछ नहीं होगा। जो सच है, वही बता देंगे। हमने गलत कुछ नहीं किया। जो किया, मजबूरी में किया। माँ खेरमाई और कन्हैया जी सब ठीक करेंगे।"

उन्हें अपनी माता रानी और कन्हैया जी पर अटूट विश्वास था।

इन्हीं आशंका और उम्मीद से भरे दिनों में एक दिन मॉडल हाई स्कूल के सूचना-पटल पर चयनित विद्यार्थियों की सूची टाँग दी गई। मैं बाई के साथ उसे देखने गया। सूची में मेरा नाम था। मेरा चयन कक्षा छठवीं के 'बी' सेक्शन के लिए हो चुका था।

उस सूची के साथ यह सूचना भी लगी थी कि किस दिन मूल दस्तावेज़ों के साथ प्रवेश प्रक्रिया पूर्ण करने के लिए मॉडल हाई स्कूल में उपस्थित होना है। धीरे-धीरे वह दिन भी आ पहुँचा।

नियत तिथि पर मैं बाबूजी के साथ आवश्यक दस्तावेज लेकर मॉडल हाई स्कूल पहुँचा। यह शायद जुलाई के पहले सप्ताह की बात थी और तब तक बाई का स्कूल खुल चुका था। वे छुट्टी नहीं ले सकती थीं, इसलिए उनकी जगह बाबूजी मेरे साथ गए। उन्होंने उस दिन फैक्ट्री से अवकाश ले लिया था।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है-वह केवल एक स्कूल में प्रवेश लेने की घटना नहीं थी। वह हमारे पूरे परिवार के विश्वास, चिंता, अभाव और आकांक्षाओं का एक छोटा-सा संग्राम था। एक साधारण-सा प्रवेश फॉर्म, उन दिनों हमारे घर में किसी सरकारी दस्तावेज़ से कहीं अधिक महत्व रखता था।

मैं और बाबूजी पैदल ही निकले। मेरी पाँचवीं कक्षा की अंक तालिका, प्राइमरी स्कूल छोड़ने का प्रमाणपत्र और चरित्र प्रमाणपत्र-ये सभी काग़ज़ एक पिन से आपस में नत्थी करके अलग से लपेटे गए एक काग़ज़ी रोल में रखे हुए थे। वह रोल मैंने ही सँभाल रखा था।

हम रामलीला ग्राउंड से होते हुए, वोकेशनल स्कूल के छात्रावास के पास से गुज़रकर, ब्योहार बाग मोहल्ले के भीतर से जाने वाला रास्ता पकड़कर आगे बढ़े। ब्योहार बाग पहुँचते-पहुँचते हल्की फुहार पड़ने लगी। वर्षा अभी इतनी तेज़ नहीं थी कि कहीं रुकना पड़े, इसलिए हम थोड़े तेज़ क़दमों से चलते हुए मॉडल हाई स्कूल पहुँच गए।

जिस कमरे में छठी कक्षा में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के दाख़िले की कार्यवाही चल रही थी, उसका पता हमें शीघ्र ही चल गया। मैं भी बाबूजी के साथ पंक्ति में जाकर खड़ा हो गया। जब हमारा नम्बर आया, तब हम एक मेज़ के सामने थे, जिस पर कई

रजिस्टर रखे हुए थे। उनमें से एक मोटा-सा रजिस्टर खुला पड़ा था। मेज़ के दूसरी ओर दो सज्जन बैठे थे। उनमें से एक श्री आर. के. पाण्डेय थे, जो मिडिल स्कूल में अध्यापक थे-हालाँकि उस समय यह परिचय मुझे नहीं था; यह बात मुझे बाद में मालूम हुई। दूसरे सज्जन कौन थे, यह अब स्मृति से ओझल हो चुका है। उस समय तो दोनों ही मेरे लिए अपरिचित थे।

पाण्डेय सर ने मेरा नाम पूछा, फिर रजिस्टर में देखकर अपने सहयोगी से मेरा फॉर्म मँगवाया। उसके बाद उन्होंने मुझसे पाँचवीं कक्षा की अंक तालिका और अन्य दस्तावेज़ माँगे। मैंने तुरंत धागे से बँधे उस रोल को खोला-लेकिन उसके भीतर कुछ भी नहीं था।

मेरे तो जैसे पैरों तले ज़मीन ही खिसक गई। बाबूजी भी विस्फारित नेत्रों से कभी मुझे, कभी मेरे हाथ में रह गए उस खाली काग़ज़ को देख रहे थे, जो कुछ क्षण पहले तक एक सुरक्षित रोल की शक्ल में था और जिसके भीतर वे सारे ज़रूरी काग़ज़ रखे थे, जिनके सहारे मेरा मॉडल हाई स्कूल में प्रवेश होना था। पर अब वे वहाँ नहीं थे।

पाण्डेय सर भी हम दोनों को और उस खाली काग़ज़ को आश्चर्य से देख रहे थे। कुछ क्षणों तक वह दृश्य जैसे अपनी जगह ठिठका रहा। फिर धीरे-धीरे उस जमे हुए दृश्य में गति लौटी, पर मेरे भीतर सब कुछ अब भी स्थिर था। कानों में अजीब-सी ध्वनियाँ गूँज रही थीं और आँखों के सामने अँधेरा तथा उजाला एक-दूसरे में उलझते प्रतीत हो रहे थे।

तभी मुझे पाण्डेय सर की आवाज़ सुनाई दी। वे कह रहे थे, "शायद रास्ते में कहीं गिर गए होंगे। जाकर देख लीजिए।"

तब तक हमारे पीछे खड़े लोग आगे बढ़ चुके थे। बाबूजी ने मेरा हाथ थामा और हम कमरे से बाहर आ गए। बाहर हम दोनों चुप थे, किन्तु मेरे भीतर भय और आशंका की विचित्र उथल-पुथल मची हुई थी। निश्चय ही बाबूजी के मन में भी कम बवंडर नहीं उठ रहे होंगे। हम उसी रास्ते वापस लौटने लगे, जिससे वहाँ तक आए थे।

अब हम अत्यन्त बेचैनी और चौकन्नी निगाहों से रास्ते के दोनों ओर देखते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। कोई भी हमें देखकर सहज ही समझ सकता था कि हम कुछ खोज रहे हैं। इसी तरह चलते हुए हमने ओमती नाले पर बनी पुलिया पार की। पुलिया के आगे दाहिनी ओर एक जैसे मकानों की कतारें थीं। संभवतः वे सरकारी आवास थे-अँग्रेज़ी खपरैल वाले एक मंज़िला पक्के मकान। उनके सामने मुख्य द्वार थे और बगल में आधी ऊँचाई तक पक्की दीवार और उसके ऊपर लकड़ी की जाफ़री लगी हुई थी। ऐसे मकानों की तीन-चार समानान्तर कतारें थीं, जिनके बीच सँकरी सड़कें बनी हुई थीं।

जिस सड़क से होकर हम स्कूल गए थे, अब उसी पर अपने काग़ज़ात खोजते हुए लौट रहे थे। तभी अचानक दाहिनी ओर के एक मकान का दरवाज़ा खुला और एक सज्जन बाहर आए। उन्होंने पट्टीदार पायजामा और सफ़ेद बनियान पहन रखी थी। उन्होंने हमें आवाज़ देकर बुलाया और सीधे पूछा-

“आप लोग ये काग़ज़ तो नहीं ढूँढ़ रहे हैं ?”

उनके हाथ में जो काग़ज़ थे, वे मेरी अंक तालिका और बाक़ी सारे दस्तावेज़ ही थे। हम उन्हें देखते ही पहचान गए और हमारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। यह सब लगभग एक साथ ही हुआ।

वे जिस बरामदे में खड़े थे, वह सड़क की सतह से तीन-चार सीढ़ियाँ ऊपर था। हम उनकी ओर बढ़े और वे भी सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आ गए। शायद हमारी व्याकुल देह-भाषा ने उन्हें आश्वस्त कर दिया था कि वे काग़ज़ वास्तव में हमारे ही हैं।

उन्होंने बताया कि उनका बेटा बाहर खेलने गया था। बारिश शुरू होने पर जब वह लौट रहा था, तब उसे रास्ते में ये काग़ज़ मिले। उसने उन्हें उठाकर घर ला दिया। बाबूजी ने उन्हें धन्यवाद दिया और संक्षेप में उन काग़ज़ों के महत्व के बारे में बताया।

वे मुस्कराए। उनकी मुस्कान में एक गहरा संतोष और सहज मानवीय आत्मीयता झलक रही थी। मैंने झुककर उन्हें प्रणाम किया, और फिर हम दोनों एक बार फिर मॉडल हाई स्कूल की ओर मुड़ गए।

कुछ समय बाद हम पुनः पाण्डेय सर के सामने उपस्थित थे। उन्होंने जब फॉर्म में भरे हुए मेरे प्राप्तांकों का मिलान मूल अंक तालिका से करना शुरू किया, तो उनकी दृष्टि अंक तालिका पर पड़े पानी की बूँदों के धब्बों पर गई। उस समय बॉल पेन का प्रचलन नहीं था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, हमें बॉल पेन से लिखने की अनुमति भी नहीं थी। विशेषकर परीक्षाओं में उत्तर पुस्तिका में बॉल पेन का प्रयोग पूर्णतः निषिद्ध माना जाता था। अंक तालिकाओं में भी स्याही वाले पेन से ही अंक लिखे जाते थे।

वर्षा की बूँदें पड़ जाने के कारण कुछ अंक धुँधले और अस्पष्ट हो गए थे। कहीं कोई अंक स्पष्ट था तो उसके साथ वाला अंक धब्बे में खो गया था। कुल मिलाकर स्थिति ऐसी थी कि ठीक-ठीक पढ़ पाना कठिन था। अंततः पाण्डेय सर ने फॉर्म में भरे गए अंकों को ही सही मान लिया और मेरे सम्बन्ध में आवश्यक विवरण अपने रजिस्टर में दर्ज़ कर लिया।

वह समय बहुत सरल और सहज था। लोग सामान्यतः एक-दूसरे पर विश्वास करते थे। जो विश्वास करता था और जिस पर विश्वास किया जाता था-दोनों ही विश्वास की कीमत समझते थे, उसकी गरिमा पहचानते थे।

वे दिन फ़ोटो कॉपी के भी नहीं थे। अब यह ठीक-ठीक याद नहीं कि मेरे मूल दस्तावेज़ जमा हुए थे या नहीं। मेरे सारे प्रमाणपत्र और काग़ज़ात एक फ़ाइल में सुरक्षित रखे रहते थे। बाद में, जब मैं नौकरी के सिलसिले में जबलपुर से बाहर रहा, न जाने वह फ़ाइल कहाँ खो गई। यदि कहीं होगी, तो सम्भवतः मेरे छोटे भाई के पास होगी। कॉलेज के दिनों के कुछ दस्तावेज़ अब भी मेरे पास हैं, पर उस समय के बाक़ी प्रमाणपत्र और काग़ज़ कहाँ गए-यह अब मुझे नहीं मालूम।

बात फिर कहीं से कहीं मुड़ गई। पर बातें अक्सर यूँ ही मुड़ जाती हैं। यदि वे इस तरह न मुड़ें, तो केवल 'बात' बनकर रह जाएँ-क़िस्सा न बन पाएँ। और मैं तो अपना एक क़िस्सा सुनाने बैठा हूँ। इसलिए स्वाभाविक है कि बातें इधर-उधर जाएँगी, भटकेंगी, और अपने साथ तुम्हें भी थोड़ा भटकाएँगी।

तो इस पूरे घटना क्रम को इसी तरह से घटित होना था, तो वैसा ही हुआ। "अंत भला सो सब भला" के साथ ही मेरा दाख़िला मॉडल हाई स्कूल में हो गया।

यहाँ एक बात कहे बिना मैं स्वयं को रोक नहीं पा रहा हूँ। बाई ने घर से निकलते समय कहा था-
"माता रानी और कन्हैया जी सब ठीक कर देंगे।"

वे सही थीं, उनका विश्वास अटूट था इस संबंध में- क्या हुआ कैसे हुआ यह तो माता रानी और उनके कन्हैया जी ही बेहतर जानते होंगे।

हाँ, इस घटना से जो सीख मिली, उसे मैंने जीवन भर के लिए गाँठ में बाँध लिया।

□□

मॉडल हाई स्कूल की छठवीं कक्षा के 'बी' सेक्शन में मेरा पहला दिन था।

पहले दिन की झिझक, एक अनाम सा भय, एक बिल्कुल नये संसार में पहला कदम - जिसमें उत्सुकता से अधिक नए परिवेश का सामना किस तरह कर पाऊँगा इस बात की सिहरन और अज्ञात आशंका, इन सब का मिला जुला प्रभाव मुझपर अवश्य पड़ रहा होगा। वैसा निश्चित रहा होगा पर कैसा रहा होगा मैं उस रूप में अपने को देख नहीं पा रहा हूँ। हालाँकि मैं इस बात से भी अच्छी तरह परिचित हूँ कि मुझमें आत्म विश्वास की कमी बिल्कुल नहीं थी। अपनी बात कह सकता था। कुछ भी सुन सकता था और उसका उस उम्र के अनुसार उत्तर भी दे सकता था। अतः हो सकता है वैसा न भी रहा हो जिसकी मैं कल्पना आज कर रहा हूँ।

फिर शुरुआती दो-तीन दिन कब बीत गए पता ही नहीं चला। मैं धीरे-धीरे इस सर्वथा नए परिवेश में घुलता जा रहा था। इस बीच प्रत्येक पीरियड में शिक्षक अपना परिचय देते और फिर सभी विद्यार्थी क्रम से अपना परिचय बताते। किन्तु इतना अवश्य स्मरण है कि उस बीच मैं अत्यन्त बेसब्री से ड्रॉइंग के पीरियड की प्रतीक्षा कर रहा था।

हमारी कक्षा शिक्षिका श्रीमती एम.खुशाल थीं। वे हमें अंग्रेज़ी पढ़ाती थीं। अन्य शिक्षकों में श्री एल. के. श्रीवास्तव सामान्य विज्ञान, श्री पी. के. चौधरी गणित, श्री पी.

एल. तिवारी सामाजिक अध्ययन तथा श्री एम. एन. तिवारी संस्कृत पढ़ाया करते थे। हिन्दी विषय उस समय किस शिक्षक ने पढ़ाया, यह अब ठीक-ठीक स्मरण नहीं हो पा रहा। ऐसा लगता है कि सम्भवतः हिन्दी भी खुशाल मैडम ही पढ़ाती थीं।

छठी, सातवीं और आठवीं कक्षाएँ माध्यमिक शाला अर्थात् मिडिल स्कूल के अंतर्गत आती थीं, जबकि नवमी, दसवीं और ग्यारहवीं कक्षाएँ उच्चतर माध्यमिक अथवा हाई स्कूल का भाग मानी जाती थीं।

मिडिल स्कूल के जिन शिक्षकों के नाम आज भी मेरी स्मृति में सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त शिक्षकों के अतिरिक्त श्री मणि राम विश्वकर्मा, श्री आर. के. पाण्डेय, श्री एन. के. शर्मा, श्री कामता सागर, श्री आर. एस. उपाध्याय, श्री आर. एन. दुबे, श्री यादव, श्री एल. पी. सोंधिया, श्रीमती गायत्री शर्मा और श्रीमती एस. चौधरी प्रमुख हैं।

इसी प्रकार हाई स्कूल के शिक्षकों में श्री जी. एस. दवे, श्री एम. बी. वर्मा, श्री बी. एम. तिवारी, श्री एस. वी. कानडे, श्री एच. एन. शर्मा, श्री वी. डी. दुबे, श्री एम. एम. भार्गव, श्री पी. डी. तिवारी, श्री चौकसे, श्री आर. बी. खरे, श्री वी. एन. तिवारी, श्री आर. के. तिवारी, श्री आर. एस. गोंटिया, श्री के. पी. तिवारी, श्री आर. डी. डबरैया तथा श्री आर. एस. नेमा जैसे नाम आज भी मन में वैसे ही अंकित हैं।

यदि मैं थोड़ा और प्रयास करूँ, तो सम्भव है अधिकांश शिक्षकों के नाम स्मृति में लौट आएँ। किन्तु यह मेरी कहानी है-मॉडल हाई स्कूल पर लिखा कोई शोध ग्रंथ नहीं। इसलिए अब मैं आगे बढ़ता हूँ।

फिर भी यहाँ यह अवश्य कहना चाहूँगा कि भले ही कुछ नाम मेरी स्मृति से ओझल हो गए हों, पर उन सभी शिक्षकों के प्रति-चाहे उनके नाम यहाँ लिखे गए हों या नहीं-मेरे मन में समान आदर और गहरी कृतज्ञता है।

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि मेरे जीवन की अनगढ़ आधार-रचना, उसकी कच्ची नींव, मॉडल हाई स्कूल में ही एक सुगढ़ और दृढ़ स्वरूप ग्रहण कर सकी। वहाँ के सभी शिक्षक, और विद्यालय के छोटे-बड़े समस्त कर्मचारी, किसी न किसी रूप में उस

निर्माण-प्रक्रिया का हिस्सा रहे, जिसने मुझे उस व्यक्ति के रूप में गढ़ा, जिस पर आज भी मैं स्वयं गर्व अनुभव करता हूँ।

मॉडल हाई स्कूल के विद्यार्थी अपने आपको 'मॉडेलियन' कहलाने में विशेष गर्व अनुभव करते हैं। संसार के विभिन्न भागों में फैले हुए मॉडेलियन-चाहे जहाँ रहते हों, चाहे किसी भी पद पर कार्यरत हों-अपनी पहचान बड़े गर्व से इस रूप में देते हैं कि उन्होंने जबलपुर के मॉडल हाई स्कूल से शिक्षा प्राप्त की है।



कक्षा छठवीं-सातवीं में पढ़ाई के दिनों में मेरे पास साइकिल नहीं थी। घर से स्कूल और स्कूल से घर - दोनों यात्राएँ पैदल ही होती थीं।

हमारे स्कूल से लगभग एक फ़र्लांग की दूरी पर ओमती नाला, पुलिस परेड ग्राउंड के बगल से बहता हुआ आता था और घमापुर चौक के मुख्य मार्ग पर बनी बड़ी पुलिया के नीचे से गुज़रकर आगे छोटी ओमती की ओर निकल जाता था। पुलिया के दोनों तरफ़ सड़क की सतह उसकी ऊपरी सतह के बराबर थी - आज भी वैसी ही है। हाँ, नाला अब उस सुरंग के भीतर से होकर बहता है, जो जबलपुर की सीवेज जल प्रबंधन परियोजना के अंतर्गत बनाई गई है। उस परियोजना का सटीक नाम तो स्मरण नहीं, किंतु इतने से यहाँ काम चल जाएगा। जहाँ कभी नाला बहता था, उस भूमि पर अब मध्यप्रदेश राज्य न्यायिक अकादमी, मध्यप्रदेश ग्रामीण विकास अकादमी जैसे संस्थानों के परिसर खड़े हो गए हैं।

वर्षा के दिनों में जब आकाश से पानी बरस रहा होता, तो स्कूल की छुट्टी के बाद मैं और मेरे सहपाठी भीगते हुए ही घर लौटते थे। मेरी कॉपी किताबें बरसात के दिनों में बस्ते के अंदर एक पॉलीथिन की थैली में रखी होती थीं। मेरा बस्ता, खाकी रंग का झोला ज़रूर भीग जाता था परंतु किताबें और कापियाँ भीगने से बच जातीं। मैं मज़े से भीगता हुआ लौटता। उस भीगने में एक अलग ही आनंद था - जिसे शब्दों में बाँधना कठिन है, वह बस अनुभव किया जा सकता है। छठवीं से आठवीं कक्षा तक, मुझे याद

है, मैं अकसर अकेला ही लौटता था। हाँ नौवीं के बाद कुछ सहपाठी जो 'बाई के बगीचे' में रहते थे सब झुंड बनाकर स्कूल से लौटा करते थे।

उसी पुलिया पर, जिसका मैंने अभी ज़िक्र किया है – बरसते हुए पानी के बीच,मैं रुक जाता था। अगर दोस्त साथ होते तो वे भी। सड़क के किनारे बनी दीवार पर हाथ टिकाकर हम खड़े हो जाता और नीचे नाले के पानी को वेग से बहते हुए देर तक देखते रहते। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उस समय नालों का पानी आज सरीखा गंदा और बदबूदार नहीं होता था। खास कर बरसात का पानी मिलकर उसे और साफ़ बना देता था। पुलिया के नीचे और उसके दोनों ओर कुछ दूर तक ग्रेनाइट के पत्थर जमाए गए थे, ताकि पानी का प्रवाह निर्बाध बना रहे। ऊँचे-नीचे ग्रेनाइट के चौकोर पत्थरों से टकराता हुआ पानी बड़े मनोरम दृश्य रचता था - पानी के रेले उछलते, बड़ी-बड़ी बूँदों में बिखरते और फिर सब कुछ भूल-भालकर आगे बढ़ जाते। मैं टकटकी लगाए उस दृश्य में डूबा रहता।

पर वहाँ रुकने का केवल यही एक कारण नहीं था। दूसरा कारण था - कौतूहल।

उस बरसाती मौसम में कुछ लोग नीचे उतरकर पत्थरों पर खड़े हो जाते थे। उनके हाथों में उस ज़माने के चलन के बड़े-बड़े छाते होते। वे उन्हें खोलकर, पाँव की टेक लगाकर, पानी के बहाव के विरुद्ध अड़ा देते। तेज़ धारा में बहती आती मछलियाँ उन खुले छातों में जा फँसतीं। जैसे ही कोई मछली फँसती, वे छाता बंद कर अपने साथी को थमा देते और साथी उन्हें दूसरा खुला छाता पकड़ा देता। वे दो-तीन के समूह में काम करते थे और ऐसे कई समूह एक साथ उस काम में जुटे होते थे। इस जुगाड़ी विधि से वे ढेर सारी मछलियाँ पकड़ लेते। कभी-कभी मछली छाते से उचटकर वापस पानी में चली जाती और बह निकलती। कभी उसे पकड़ने की जल्दबाज़ी में कोई फिसलकर गिर भी पड़ता।

यह सब मुझे किसी मज़ेदार पहेली और खेल का सम्मिश्रण लगता था। और यह तमाशा देखने वाला मैं अकेला नहीं होता था - ऊपर पुलिया पर और भी कई लोग और बच्चे जमा रहते। उनमें से कई तो ऊपर से नीचे वालों की हिम्मत बढ़ाते, उन्हें आवाज़ें लगाते। जैसे तुमने देखा होगा - शतरंज खेलने वालों के इर्द-गिर्द बैठे दर्शक, खिलाड़ियों से

कहीं अधिक उत्तेजित हो जाते हैं - ठीक वैसी ही उत्तेजना उस पुलिया पर फैली रहती। उस अफ़रातफ़री भरे कोलाहल का भी एक अलग ही रस था।

मन में यह भी आता है कि यदि दृश्य वही होता, पर समय आज का होता - तो पुलिया पर वीडियो बनाने वालों की भीड़ होती। छाते से मछली पकड़ने की यह देसी जुगत, रील्स और वीडियो के रूप में बरसात के हर मौसम में सोशल मीडिया पर तैरती मिलती।

जब मुझे अचानक होश आता कि देर हो रही है - मैं चुपचाप घर की ओर चल देता।



मॉडल हाई स्कूल में अनुशासन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी। स्कूल परिसर में विद्यार्थियों की प्रत्येक गतिविधि, क्रिया-प्रतिक्रिया, बोलचाल और आचार-विचार - सब कुछ अनुशासित होना चाहिए, इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसके लिए शिक्षक सदा चौकन्ने रहते और छात्र सावधान एवं सतर्क। अनुशासन की यह अपेक्षा केवल कक्षा की चारदीवारी तक सीमित नहीं थी - स्कूल में प्रवेश करने से लेकर छुट्टी के बाद मुख्य द्वार से बाहर निकलने तक हमें अनुशासन के दायरे में बँधे रहना पड़ता था। प्रारंभिक कुछ दिन कठिन अवश्य लगते, किंतु शीघ्र ही यह आदत में ढल जाता।

गुरुजनों की अपेक्षा थी कि छात्र विद्यालय-समय के बाद भी उतने ही अनुशासित रहें। और सचमुच ऐसा होता भी था। मॉडल हाई स्कूल का विद्यार्थी अपने व्यवहार और बोलचाल से किसी भी स्थान पर पहचान में आ जाता था। इस बात से दूसरे स्कूलों के विद्यार्थी हमसे ईर्ष्या भी करते और अवसर मिलने पर बेसिर-पैर के कटाक्ष करने से भी नहीं चूकते। जब हम किसी प्रतियोगिता में भाग लेने अन्य विद्यालयों में जाते, तो यह प्रायः होता ही था। वहाँ के छात्र विचित्र निगाहों से हमें देखते और फब्तियाँ कसते। परीक्षाओं में - विशेषकर बोर्ड परीक्षाओं में - हमारे स्कूल के विद्यार्थियों की सफलता के बारे में उनकी राय थी कि "मॉडल में बहुत नकल होती है।" वे इसे हमें सुना-सुनाकर

कहते। किंतु सच्चाई हम जानते थे। हम स्वयं जानते थे कि हमारे विद्यालय में कितनी कड़ाई और कठोर नियमों के अंतर्गत परीक्षाएँ संपन्न होती थीं।

पर मैं अनुशासन की बात करते-करते कुछ भटक गया - उसी पर लौटते हैं।

छठवीं से ग्यारहवीं तक के सभी विद्यार्थियों पर गुरुजनों की कड़ी दृष्टि हर समय बनी रहती थी। कोई चूक हो, तो नब्बे प्रतिशत मामलों में किसी न किसी शिक्षक की नज़र पड़ ही जाती। मेरा मानना है कि हमारे गुरुजन भी इसी ताक में रहते थे कि कब कोई छात्र पकड़ में आए और उसे अनुशासन का महत्व भलीभाँति समझाया जाए। कई बार तो चूकने वाले के आसपास बैठे निर्दोष विद्यार्थियों को भी "अनुशासन का महत्व" भली प्रकार समझा दिया जाता था।

ऐसे गुरुजन बहुत कम थे जो केवल वाक्-शक्ति से काम चला लेते। अधिकांश वाक्-शक्ति के साथ-साथ अन्य शक्तियों का भी उपयोग करते थे। कुछ ऐसे भी थे जिनका वाक्-शक्ति पर तनिक भी भरोसा नहीं था - उनका विश्वास केवल और केवल शारीरिक दंड में था। वे अत्यंत शांत भाव से यह कार्य संपन्न करते और जब उन्हें लगता कि "अनुशासन का महत्व" उस छात्र तक पहुँच चुका होगा, तो चुपचाप वहाँ से निकल जाते।

यहाँ यह भी बता दूँ कि मॉडल हाई स्कूल के प्रत्येक शिक्षक को स्कूल परिसर में कहीं भी, किसी भी छात्र को इस प्रकार "समझाने" का अधिकार प्राप्त था। चाहे कक्षा चल रही हो, शिक्षक पढ़ाने में तल्लीन हों - यदि बरामदे से गुज़रते किसी गुरुजी को क्लास रूम के बड़े दरवाज़ों अथवा उन दरवाज़ों के बीच की विशाल खिड़की से किसी छात्र की अनुशासन-हीनता की झलक भर भी मिल जाती, तो फिर. . . वे सीधे कक्षा में प्रवेश करते और उस अभागे की डेस्क तक जा पहुँचते। पढ़ाने वाले गुरुजी तत्क्षण अपना शिक्षण कार्य स्थगित कर देते। तब "अनुशासन का महत्व" समझाने वाली प्रक्रिया प्रारंभ होती। समाप्त होने पर, समझाने वाले गुरुजी शांत भाव से प्रस्थान करते और कक्षा में पुनः पढ़ाई शुरू हो जाती। यह पूरी प्रक्रिया विलक्षण मौन के साथ संपन्न होती थी। बस बीच-बीच में समझाने वाले गुरु जी के सूक्ति वाक्य मंत्रोचारण

की तरह गूँज जाते थे। ऐसी ही एक प्रक्रिया से मैं भी गुज़रा था।

यह दसवीं कक्षा की बात है। हमारे स्कूल में प्रत्येक कक्षा में दो विद्यार्थियों के एक साथ बैठने के लिए लकड़ी की मज़बूत डेस्कें होती थीं। सारी डेस्कें तीन कतारों में जमी होती थीं। क्लास रूम की दीवारों से कुछ हटकर एक- एक कतार और उनके मध्य दोनों तरफ़ आने-जाने का मार्ग छोड़कर बीच की तीसरी कतार।

मैं दसवीं कक्षा के 'बी' सेक्शन में था और अपने सहपाठी सुकुमार दास के साथ बड़ी खिड़की के ठीक सामने वाली डेस्क पर बैठता था - यह कतार बरामदे की ओर की दीवार के निकट थी। कुछ समय बाद दिलावर सिंह भी उसी डेस्क पर आकर बैठने लगा, दिलावर सुकुमार के पुराने स्कूल नवीन विद्या भवन का पुराना मित्र था। इस प्रकार उस डेस्क पर हम तीन जने हो गए। सुकुमार और दिलावर - दोनों नवमी कक्षा में नवीन विद्या भवन से मॉडल हाई स्कूल आए थे। दोनों बड़े हँसोड़ और ख़ुश मिज़ाज लड़के थे - सदा हँसते-हँसाते रहते थे। सुकुमार से तो मेरा संपर्क अभी तक बना हुआ है। अभी भी वह वैसा ही है - हँसता हँसाता ख़ुश मिजाज़ लड़का (?), वैसे वह भी सत्तर साल का हो चुका है।

उस दिन संभवतः कानडे सर का पीरियड चल रहा था। यहाँ यह बताना उचित होगा कि हमारे स्कूल की रासायनिक प्रयोगशाला में हुई एक दुर्घटना में कानडे सर की आँखों को गहरी क्षति पहुँची थी, जिससे उनकी दृष्टि बुरी तरह प्रभावित हो गई थी। वे मोटे काँच का काला चश्मा पहनते और एक छड़ी लेकर चलते थे। उस समय सुकुमार और दिलावर, मुंडियाँ जोड़े, लगभग बिना आवाज़ किए खुसर-पुसर में लगे थे और दबी हँसी हँस रहे थे।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि हमारे स्कूल में प्रत्येक शिक्षक बरामदे से गुज़रते हुए भी चौकन्नी दृष्टि से चारों ओर देखता रहता था। उनके कान किसी भी छोटी-से-छोटी आहट को पकड़ने में सदा मुस्तैद रहते थे। उस दिन बरामदे से गोंटिया सर गुज़र रहे थे। भला यह कैसे संभव था कि सुकुमार और दिलावर की हरकत उनकी कमांडो-दृष्टि से बच जाती? तत्क्षण गोंटिया सर क्लास रूम के अगले दरवाज़े से भीतर आए और उस सुपरिचित "अनुशासन का महत्व" समझाने वाली प्रक्रिया में संलग्न हो गए।

अब एक व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो गई थी। सुकुमार - जो उनके मुख्य निशाने पर था - डेस्क पर खिड़की की तरफ़ बैठा था। बीच में दिलावर था और उसके बाद मैं। नतीजतन गोंटिया सर को सुकुमार तक पहुँचने के लिए अतिरिक्त प्रयास करना पड़ रहा था। दिलावर आँखें बंद किए, अपनी बारी की प्रतीक्षा में, एक प्रकार की अविचल शांति के साथ बैठा था।

यह पूरा दृश्य जिस तरह घटित हो रहा था, उसे देखकर मेरे लिए हँसी पर काबू रखना असंभव हो गया और मैं सिर झुकाकर हँस पड़ा। बस - इसके बाद सुकुमार और दिलावर तो छूट गए और "तू क्यों हँस रहा है?" की मंत्रोचारण सरीखी बार-बार गूँजती ध्वनि के साथ मुझे उस प्रक्रिया का अप्रत्याशित हिस्सा बनना पड़ा. . . . !

यहाँ तुम सवाल कर सकते हो - कहाँ तो मैं एक तरफ़ अनुशासन की बड़ी-बड़ी बातें कर रहा हूँ और कहाँ ये नज़ारे? तो मैं कहूँगा, अनुशासन सर्वथा अलग वस्तु है और शरारत एकदम अलग।

चौदह-पंद्रह वर्ष के किशोर यदि शरारत न करें, तो वे भगवान के बनाए दोषपूर्ण उत्पाद ही माने जाएँगे न। मॉडल हाई स्कूल के सभी विद्यार्थी अनुशासित थे - शरारती भी थे; कुछ थोड़ा ज़्यादा कुछ कम, परंतु उजड्ड , बद तमीज़, फूहड़ या उपद्रवी बिल्कुल नहीं थे।

□□

मैं बार-बार यह बात दोहराता हूँ और शायद दोहराता ही रहूँगा -

मेरी सोचने-समझने की प्रक्रिया को, चीज़ों को देखने के मेरे नज़रिए को, मॉडल हाई स्कूल ने सँवारा। उसने मुझे एक आकार दिया, एक सुघड़ता दी। और स्वाभाविक है कि यह सुनकर तुम्हारे मन में एक प्रश्न उठे -*कैसे?*

तो सुनो , मैं बताता हूँ।

यह जो मैं कहने जा रहा हूँ, यह मेरी अपनी समझ है, मेरे अपने अनुभव की छाया है। हो सकता है कि जिन्होंने उसी मिट्टी में साँस ली हो, उनकी स्मृतियाँ के चित्र कुछ और

हों, उनके रंग कुछ और हों। और वह भी सच होगा - क्योंकि एक ही दीपक की लौ अलग-अलग आँखों में अलग-अलग चमकती है।

तो अब बिना किसी भूमिका के आगे बढ़ते हैं।

मॉडल हाई स्कूल केवल एक विद्यालय नहीं था - वह एक विचार था, एक सपना था, जिसे ईंट-पत्थर में उतारा गया था। बहुमुखी, बहुउद्देशीय और उसी के अनुरूप सुव्यवस्थित। यह बात उसके नाम में भी थी -*"शासकीय मॉडल बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला"*, जबलपुर। अंग्रेज़ी में कहें तो *"गवर्नमेंट मॉडल मल्टी-परपज़ हायर सेकेंडरी स्कूल"*। मैं यह सब भूतकाल में लिख रहा हूँ -क्योंकि ये वे दिन हैं जो सन् 1967-68 से 1972 के बीच मेरे साथ गुज़रे, मेरी साँसों में घुले, और फिर स्मृति बन गए।

आज उस विद्यालय का नाम है -

"पंडित लज्जाशंकर झा शासकीय मॉडल उत्कृष्ट विद्यालय, जबलपुर"।

इस गौरवशाली संस्था का सफ़र सन् 1904 में आरम्भ हुआ था - ब्रिटिश राज के उस दौर में, जब भारत की आत्मा अपनी मुक्ति के लिए तड़प रही थी। उसी दौर में राय बहादुर पंडित लज्जाशंकर झा (1873-1973) ने इस विद्यालय की नींव रखी, या कहें कि एक सपने को ज़मीन पर उतारा। वे ही इसके प्रथम प्राचार्य थे। उन्हीं के नाम पर आज यह विद्यालय जाना जाता है। और यह विद्यालय आज ISO 9001:2015 प्रमाणित है -अर्थात् उत्कृष्टता केवल परम्परा नहीं, प्रमाणित सत्य है।

इस लम्बे और गौरवशाली सफ़र में इस विद्यालय में एक से बढ़कर एक विद्वान शिक्षकों ने अपने ज्ञान, अपने अनुभव और अपनी आत्मा के ताप की आहुति दी । उन्होंने विद्यार्थियों को केवल पाठ नहीं पढ़ाए-जीवन का अर्थ सिखाया, दृष्टि दी, संस्कार दिए। उन्हीं में से श्री एस. पी. निग़म सर, श्री वी. पी. कानडे सर, श्री राम सिंह गोंटिया सर, श्री एल. पी. सोंधिया सर और श्री एन. के. शर्मा सर जैसे शिक्षकों को राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया। यह सम्मान केवल व्यक्तियों का नहीं था, उस सम्पूर्ण शैक्षिक परंपरा का था जिसकी जड़ें इस विद्यालय की मिट्टी में गहरी धँसी

हुई थीं। मुझे जितने नाम स्मरण हैं, उतने ही लिख सका हूँ। यदि कोई नाम छूट गया हो तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ - स्मृति भी समय की धूल से ढँक जाती है, और कुछ शिक्षकों को यह गौरवशाली पुरस्कार मेरे इस स्कूल से अध्ययन पूर्ण कर निकल जाने के बाद प्राप्त हुआ था। प्रयास करूँगा तो उन सभी का नाम भी मिल जाएगा। मैं यहाँ सिर्फ़ पुरस्कृत शिक्षकों को ही नहीं सभी को याद करते हुए नमन करता हूँ। पुरस्कार प्राप्त करना बहुत बड़ी बात होती है, किन्तु बाक़ी के शिक्षकों का योगदान भी किसी भी तरह से कमतर तो नहीं है।

विद्यार्थियों की बात करूँ जिन्होंने इस विद्यालय से केवल शिक्षा ही नहीं पाई, बल्कि आगे चलकर अपनी उपलब्धियों से इस विद्यालय को गौरवान्वित किया तो वह इतनी लंबी फ़ेहरिस्त बन जाएगी कि इस किताब का रूप ही बदल जाएगा। दूसरी उससे भी बड़ी बात ये है कि किसी का नाम छूट जाए तो वह भी सही न होगा।

इसलिए अपने ही बैच की बात-सन् 1972 के पास-आउट विद्यार्थियों की बात करूँगा। मुझे गर्व होता है अपने बैच के सभी सहपाठियों पर, जो जहां भी है उसने अपनी तरह से अपने स्कूल का गौरव बढ़ाया है। फिर भी कुछ बहुत विशिष्ट नाम लेना चाहूँगा - शरत चन्द्र जेठी, आलोक दवे, जितेन्द्र जामदार और राजेश धीरावानी - इन सभी ने न केवल जबलपुर या मध्यप्रदेश में, बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रतिभा और कर्म निष्ठा से अपनी अलग पहचान बनाई है। उनकी सफलताओं में कहीं न कहीं मॉडल हाई स्कूल की वही पुरानी तपस्या, वही अनुशासन और वही संस्कार बोलते दिखाई देते थे, जो हमें हमारे शिक्षकों से विरासत में मिले थे।

जब आज पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है- हमारा स्कूल केवल एक शाला या संस्था या केवल एक इमारत नहीं था। वह एक जीवित परंपरा था, जहाँ शिक्षक दीपक की तरह जलते थे और उसे के आलोक में विद्यार्थियों का ज्ञान और भविष्य पथ प्रकाशित होता था।



यदि मैं अब अपने उन शिक्षकों का ज़िक्र न करूँ, जिनकी आवाज़ें आज भी मेरी स्मृतियों के बरामदों में गूँजती हैं, तो मॉडल हाई स्कूल की यह पूरी कथा जैसे अधूरी रह जाएगी। उस विद्यालय की इमारत केवल ईंट, चूने और लोहे से नहीं बनी थी; उसे भीतर से गढ़ा था उन अध्यापकों ने, जिन्होंने अपने ज्ञान से अधिक अपने स्वभाव, अपने अनुशासन और अपनी आत्मिक निष्ठा से उसे एक जीवित परंपरा बनाया था।

मॉडल हाई स्कूल में हमेशा विद्वान शिक्षक आते रहे-एक से बढ़कर एक। पर अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, उनकी सबसे बड़ी विशेषता उनका विद्वान होना नहीं, बल्कि अपने कर्म के प्रति उनका लगभग तपस्वी-सा समर्पण था। जैसे वे पढ़ाने नहीं, किसी अनगढ़ पत्थर में छिपे आकार को धीरे-धीरे उजागर करने आए हों। स्कूल का वातावरण भी कुछ ऐसा था कि जो भी नया शिक्षक वहाँ आता, बहुत शीघ्र उस वातावरण में घुल जाता। वह केवल नौकरी करने वाला व्यक्ति नहीं रह जाता, उस संस्था की आत्मा का हिस्सा बन जाता। वहाँ की परम्पराएँ, वहाँ की चुप्पियाँ, वहाँ की कठोरता और वहाँ का स्नेह-सब धीरे-धीरे उसके भीतर उतर जाते थे। हम जैसे टेढ़े-मेढ़े, अधबने बालकों को वे अपने धैर्य और विश्वास से आकार देते रहते।

कभी-कभी सोचता हूँ, यदि सचमुच न्याय करना हो, तो मुझे उस स्कूल के प्रत्येक शिक्षक के बारे में लिखना चाहिए। उन सबके बारे में, जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में मेरे भीतर कुछ जोड़ा, कुछ बदला। लेकिन स्मृतियाँ भी एक सीमा के बाद धुँधली होने लगती हैं। इतने वर्षों बाद सबको उसी स्पष्टता से याद कर पाना संभव नहीं। फिर यह पुस्तक भी शायद स्मृतियों के बोझ से इतनी भारी हो जाए कि उसके भीतर की आत्मा कहीं दब जाए। इसलिए मैं केवल उन्हीं का उल्लेख कर पाऊँगा , जो समय की धूल के बावजूद अब तक मेरे भीतर वैसे ही उजले बने हुए हैं।

सबसे पहले स्मरण आता है-'श्री शिव प्रसाद निग़म सर' का। मैं दुर्भाग्यशाली था कि जब तक मैंने मॉडल हाई स्कूल में प्रवेश लिया, वे सेवानिवृत्त हो चुके थे। या फिर वह उनके सेवा निवृत्त होने का अंतिम वर्ष था, मैं बहुत स्पष्ट रूप से अब याद नहीं है। एक तो वह मेरा स्कूल में पहला और डरा सहमा सा साल था दूसरे ये बात 54 बरस पुरानी है। उनसे मेरा सीधा संबंध कभी नहीं बन पाया। परंतु विचित्र बात यह है कि जिन लोगों

से हम कभी मिले नहीं होते, वे भी कभी-कभी हमारी स्मृतियों में उतने ही जीवित रहते हैं जितने वे लोग जिनके साथ हमने वर्षों बिताए हों। निग़म सर हमारे लिए ऐसे ही व्यक्ति थे। वे तब तक एक किंवदंती बन चुके थे। स्कूल की कोई भी पुरानी बात उनसे होकर ही गुजरती थी-चाहे खेलकूद की चर्चा हो, परीक्षा परिणामों की, या किसी उत्सव की। हर कथा का कोई सिरा अंततः उन्हीं तक पहुँच जाता था।

सुना था, वे केवल प्राचार्य नहीं थे-एक ऐसे शिक्षक थे जिनकी दृष्टि में ज्ञान और जीवन एक-दूसरे से अलग नहीं थे। हॉकी के मैदान में वे स्वयं विद्यार्थियों के साथ खेलने लगते थे। निरीक्षण के दौरान किसी भी कक्षा में अचानक पढ़ाना शुरू कर देते थे। मुझे यह सब सुनना किसी कथा की तरह लगता था। जैसे शिक्षा उनके लिए नियमों का नहीं, जीवित संवाद का विषय रही हो। आज सोचता हूँ, किसी विद्यालय की असली पहचान उसकी इमारतों से नहीं बनती; वह उन व्यक्तियों से बनती है जिनकी उपस्थिति वर्षों बाद भी हवा में बनी रहती है। निग़म सर शायद उन्हीं लोगों में थे।

जब मैंने स्कूल में पढ़ना शुरू किया, तब श्री बी. एम. दुबे सर प्राचार्य थे। बाद में श्री जे. पी. बाजपेयी सर आए। समय अपने ढंग से चेहरे बदलता रहा, पर विद्यालय का मूल स्वर कहीं वैसा ही बना रहा। आज (2023-24) जब सुनता हूँ कि श्रीमती बीना बाजपेयी उसी विद्यालय की प्रधानाध्यापिका हैं, तो लगता है जैसे समय ने एक वृत्त पूरा कर लिया हो।

इसके बाद स्मृति में उभरते हैं-'श्री एस. वी. कानडे सर'। उन्हें याद करते हुए सबसे पहले उनकी आँखें याद आती हैं-या यूँ कहूँ, उनकी क्षीण होती दृष्टि। केमिस्ट्री लैब की एक दुर्घटना ने उनकी आँखों को गंभीर रूप से प्रभावित कर दिया था। पर आश्चर्य यह था कि उस क्षति ने उनके भीतर के शिक्षक को तनिक भी प्रभावित नहीं किया। उनकी दृष्टि लगभग समाप्त होने की सीमा तक पहुँच जाने के बावजूद भी जिस नियमितता और आत्मविश्वास से वे पढ़ाते थे, वह हम सबके लिए एक मौन अनुकरणीय पाठ था।

वे गणित और विज्ञान पढ़ाते थे। उन्हीं विषयों पर लिखी उनकी पुस्तकें हमारे और कई अन्य स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों की तरह पढ़ाई जाती थीं। उन्हें अपने विषयों पर ऐसा अधिकार था कि बिना देखे भी ब्लैक बोर्ड पर आकृतियाँ बना लेते थे। हम विद्यार्थियों

के लिए यह किसी चमत्कार से कम नहीं था। लेकिन आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, वह चमत्कार उनके ज्ञान में नहीं, उनके धैर्य में था। वे बिना किसी अन्य का सहारा लिए सिर्फ़ वॉकिंग स्टिक लेकर समय पर कक्षा में पहुँचते, पढ़ाते और फिर उसी शांति से 'विज्ञान कक्ष' लौट जाते। उनके भीतर कहीं कोई शिकायत नहीं दिखती थी। जैसे उन्होंने जीवन की इस विडंबना को सहजता से स्वीकार कर लिया हो। उनके आचार और व्यवहार को देख, कम से कम मुझे तो यही प्रतीत होता था। उन्हें इस तरह शांत और अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ता के साथ एक एक कदम रखते हुए आगे बढ़ते देखना - यह भी तो एक पाठ था।

उन्होंने हमें नवमी से ग्यारहवीं तीनों कक्षाओं में पढ़ाया। फिजिक्स, केमिस्ट्री, गणित - सब। इनमें से एक विषय हर साल। उस उम्र में हम शायद केवल पाठ समझते थे; मनुष्य को नहीं। अब लगता है, उनसे हमने विषयों के ज्ञान से कहीं अधिक कर्म की गरिमा सीखी थी। और यह भी कि मनुष्य की सीमाएँ ही कभी-कभी उसकी सबसे बड़ी शक्ति बन जाती हैं।

फिर आते हैं-'श्री बी. एम. तिवारी सर'। वे जैसे किसी दूसरे ही समय के व्यक्ति थे। लंबे, गंभीर, संयत। मैंने उन्हें शायद ही कभी हँसते देखा हो। उनकी उपस्थिति मात्र से कक्षा में एक अनुशासन उतर आता था। वे अंग्रेज़ी पढ़ाते थे, संगीत जानते थे, प्रार्थना में हारमोनियम बजाते थे-पर उनके भीतर जो सबसे प्रबल था, वह था विद्यार्थियों को भीतर से गढ़ने का आग्रह।

उनका क्रोध छात्रों के बीच लगभग एक किवदंती की तरह फैला हुआ था। वे केवल व्यवहार नहीं, भाव-भंगिमा तक पढ़ लेते थे। यदि किसी छात्र की देह भाषा में भी असंयम दिख जाए, तो वे तुरंत कठोर हो उठते। उस समय हमें उनका यह स्वभाव भयावह लगता था। पर अब समझता हूँ, वे दरअसल हमारे भीतर किसी गहरी सजगता को जगाना चाहते थे।

ग्यारहवीं में उन्होंने स्वयं हमारी कक्षा की 'क्लास टीचरी' ली। हमारा 'बी' सेक्शन तब तक थोड़ा कुख्यात हो चुका था। हमारी कक्षा में जहाँ एक से बढ़कर एक पढ़ाकू छात्र थे, उतने ही प्रतिभावान और शरारती छात्र भी थे। मध्यप्रदेश के दसवीं बोर्ड और

ग्यारहवीं बोर्ड परीक्षा में पूरे मध्य प्रदेश में पहला स्थान प्राप्त करने वाला शरत, शरत जेठी हमारी कक्षा का ही विद्यार्थी था। ग्यारहवीं कक्षा के पहले दिन जब वे पहली बार कक्षा में आए, उन्होंने कहा-"इस बार मैं तुम लोगों का क्लास टीचर हूँ।" और थोड़ी देर बाद, जैसे किसी अप्रत्याशित मोड़ की तरह बोले-"मैं तुम्हें अंग्रेज़ी नहीं, हिंदी पढ़ाऊँगा।"

वे हम सब के लिए न केवल विस्मय के क्षण थे बल्कि हम भीतर ही भीतर कुछ भयभीत भी हो उठे थे। हम सभी को जानकारी थी कि वे 'अंग्रेज़ी' के विद्वान थे और केवल 'अंग्रेज़ी' ही पढ़ाया करते थे , साथ ही उन्होंने 'हिन्दी' कभी नहीं पढ़ाई थी और न ही कभी किसी कक्षा के क्लास टीचर बने थे। परंतु वैसा हो रहा था। इसके पीछे अस्तित्व की कोई न कोई प्लानिंग तो रही होगी। हमें उन जैसे "क्लास-टीचर" की आवश्यकता रही होगी तभी अस्तित्व द्वारा वह व्यवस्था बनाई गई। जहाँ तक सवाल 'हिन्दी' विषय का है वह भी उन्होंने उतनी ही शिद्दत से पढ़ाई जितने अधिकार से वे अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। दसवीं कक्ष में हम उनसे अंग्रेज़ी पढ़ चुके थे।

ग्यारहवीं कक्षा में उन्होंने हमें हिंदी पढ़ाई-और केवल भाषा नहीं, भाषा के भीतर छिपी आत्मा भी। एक दिन वे आए और ब्लैकबोर्ड पर बड़े अक्षरों में एक शेर लिखा-

"मिटा दे अपनी हस्ती को अगर जो मर्तबा चाहे
कि दाना ख़ाक में मिलकर गुल-ए-गुलज़ार होता है।"

उस पूरे पीरियड में वे उसी शे'र का अर्थ समझाते रहे। यह ख़ूबसूरत शे'र किस शायर का है उस समय मुझे मालूम न था। उस दिन पहली बार हमने उनके भीतर के दार्शनिक को देखा। वह पाठ शायद पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं था, पर वही सबसे गहरे उतर गया। मुझे वह शे'र आज भी वैसे ही याद है। शायद इसलिए कि उस दिन पहली बार लगा था-शिक्षा केवल परीक्षा पास करने का साधन नहीं, स्वयं को थोड़ा-थोड़ा मिटाकर कुछ और व्यापक हो जाने की प्रक्रिया भी है।

और फिर स्मृति के एक कोने में बहुत स्नेह के साथ दिखाई देते हैं-'श्री एल. पी. सोंधिया सर'। वे हमारे सातवीं 'बी' सेक्शन के कक्षा शिक्षक थे। अंग्रेज़ी पढ़ाते थे, हॉकी खेलते

थे, और विद्यार्थियों के साथ उनका व्यवहार कठोर अनुशासन से अधिक आत्मीय संकेतों का था। मैं उनका प्रिय छात्र था-शायद इसलिए कि पढ़ाई, चित्रकला और हॉकी-तीनों में मेरी रुचि थी।

मुझे आज भी वह दिन साफ़ याद है जब वे स्पेलिंग टेस्ट ले रहे थे। वे शब्द बोलते जाते और हम कॉपियों में लिखते जाते। मेरी डेस्क के पास रुककर उन्होंने एक शब्द दो-तीन बार दोहराया। मैं उनका संकेत समझ नहीं पाया। बाद में जब उन्होंने मेरी कॉपी में लाल गोला बनाकर मुस्कराते हुए देखा, तब समझा कि मैं 'could' की स्पेलिंग ग़लत लिख रहा था। वे कुछ बोले नहीं-बस एक विशेष ढंग से सिर हिलाया। जैसे कह रहे हों-"ध्यान दो।"

वह एक बहुत छोटी-सी घटना थी। पर स्मृतियाँ हमेशा बड़ी घटनाओं से नहीं बनतीं। कभी-कभी किसी शिक्षक का हल्का-सा इशारा, किसी शब्द पर खींचा गया लाल गोला, या बिना बोले कही गई बात जीवन भर साथ चलती रहती है। शायद इसलिए कि उन क्षणों में शिक्षा केवल ज्ञान नहीं रहती-वह गुरु और शिष्य का एक अलौकिक संबंध और जीवन की सार्थकता का एक गहन स्पर्श बन जाती है।

एल.पी.सोंधिया सर को भी राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त हुआ था। पर सन् उन्नीस सौ बहत्तर के पश्चात् की बात है, जब हम मॉडल हाई स्कूल में पढ़ाई पूरी कर चुके थे।

एक और शिक्षक थे - श्री एम. बी. वर्मा, जो मुझे बहुत प्रिय थे और वे भी मुझे बहुत चाहते थे।

दसवीं कक्षा में वे हमारे क्लास टीचर थे। उनका मुख्य विषय रसायन शास्त्र था, पर उनका व्यक्तित्व किसी एक विषय की सीमा में नहीं समाता था। जब भी स्कूल में कोई सांस्कृतिक, साहित्यिक या चित्रकला से जुड़ी गतिविधि होती जिसमें हमारी कक्षा को भी भाग लेना होता, वे सीधे मुझसे बात करते। इस सिलसिले में उन्होंने मुझे एक प्रकार का एकाधिकार-सा दे रखा था - पर मैंने कभी उसका अनावश्यक लाभ नहीं उठाया। हमारे कक्षा-नायक शरत चन्द्र जेठी और दूसरे सम्बन्धित छात्रों के साथ मिल-जुलकर ही किसी भी मुहिम को अंजाम दिया।

शरत मेरे बहुत अच्छे मित्र थे - तब भी, आज भी। उनके बारे में अलग से लिखना होगा। एक-दो पंक्तियों में उनकी बात पूरी नहीं होगी। शायद एक से अधिक जगह उनके ज़िक्र के बिना काम भी न चले। पर अभी प्रतीक्षा करनी होगी।

तो हम वर्मा सर की बात कर रहे थे।

उनका पूरा नाम था - मुकुट बिहारी वर्मा। जब से मैंने उन्हें देखा, उनके सिर पर बाल नहीं थे। एक कनपटी के ऊपर के लम्बे किए गए बालों को वे घुमाकर दूसरी ओर ले जाते थे - इस तरह सिर पर बालों की एक पट्टी-सी बन जाती थी। वे हमेशा थोड़ा ढीला-ढाला बुशशर्ट पहनते थे। सर्दियों में पूरी बाँहों का स्वेटर, या कभी-कभी कोट-पैंट भी।

मेरी जानकारी में उन्हें कभी गुस्सा नहीं आया। जहाँ गुस्से की बात होती, वहाँ वे स्वयं ही क्षुब्ध-से हो जाते थे - बस इतना ही।

उनकी एक बात है जो मैं आज भी अनेक सन्दर्भों में उद्धृत करता रहता हूँ। एक बार कक्षा में उन्होंने कहा था - *"कक्षा का हर विद्यार्थी पढ़ना चाहता है, अच्छे अंक पाना चाहता है। किसी भी छात्र की मंशा पर सन्देह नहीं किया जा सकता। यह अलग बात है कि सब एक साथ प्रथम नहीं हो सकते - पर प्रयास सभी एक-सा करते हैं। बहुत-से दूसरे कारण हैं जो हर किसी के रास्ते में आते हैं।"*

यह एक ईमानदार गुरु का दृष्टिकोण था - जो शिष्य की असफलता को अपनी असफलता मानने में नहीं हिचकता इतने बरसों बाद भी वे याद आ जाते हैं। उनसे जुड़ी कई स्मृतियाँ हैं। यहाँ उन यादों को विराम देता हूँ - आगे जहाँ उनकी बात होगी, फिर याद करूँगा।

"राम सिंह गोंटिया सर " का ज़िक्र किए बिना मॉडल हाई स्कूल के उन अध्यापकों की सूची कभी पूरी नहीं हो सकती, जिनका नाता स्कूल की सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक गतिविधियों से था।

वे इतिहास के अच्छे शिक्षक तो थे ही - पर साथ में लेखक और कवि भी। उन्होंने कई नाटक लिखे, उनका निर्देशन किया। उनके लिखे नाटक स्कूल के विभिन्न कार्यक्रमों

में खेले जाते थे, दूसरे स्कूलों में भी मंचित होते थे। अन्तर्शालेय नाट्य प्रतियोगिताओं में उनके नाटकों पर कई बार पुरस्कार भी मिले। सांस्कृतिक गतिविधियों का संचालन वे जिस कुशलता और रोचकता से करते थे, वह अपने आप में एक कला थी। फ़ोटोग्राफी में भी उन्हें अच्छी दक्षता थी और वे उसका प्रशिक्षण भी देते थे। उन्हें भी राष्ट्रपति पुरस्कार मिला था। वे एक विद्वान और अच्छे शिक्षक होने के साथ-साथ लेखक और कवि भी थे, इसलिए उन्होंने अपना तखल्लुस रखा था -*'श्री मृत'*।

हमारे स्कूल में महापुरुषों की जयंतियाँ और पुण्यतिथियाँ मनाई जाती थीं। इन कार्यक्रमों में जहाँ विद्यार्थियों को अपने विचार रखने का अवसर मिलता, वहीं प्रायः गोंटिया सर मुख्य वक्ता होते थे। वे सदा खादी का सफ़ेद कुर्ता-पाजामा पहनते थे - और केवल यही। इसके अतिरिक्त किसी और पोशाक में मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।

एक बात और - जो बताना भूल रहा था।

दोपहर की छुट्टी के बाद, जब पढ़ाई फिर से शुरू होती थी, उससे पहले सभी विद्यार्थी मैदान पर एकत्र होते थे। कक्षाओं के क्रम से पंक्तिबद्ध होकर दोपहर की प्रार्थना होती थी। उस मंच पर, तीन-चार छात्रों के साथ, गोंटिया सर बिना किसी नागा रोज़ उपस्थित रहते और प्रार्थना का गायन करते थे।

वह प्रार्थना - जो अब भी कहीं भीतर बची हुई है - यहाँ लिख देता हूँ :

"मनसा, वाचा, कर्मणा, सब को सुख पहुँचाय।
अपने मतलब कारने, दुःख न दे तू काय।।

यदि सुख तू नहिं दे सके, तो दुःख काहू न देय।
ऐसी रहनी जो रहे, सोई आत्म रस लेय।।"

यह प्रार्थना हमें बार बार प्रतिदिन स्मरण कराती थी कि हमारा व्यवहार और आचरण कैसा होना चाहिए। यह प्रार्थना हमारे रोम रोम में बस गई है। व्यवहारिक जीवन में कितनी उतर पाई है, इसे मेरे आस पास रहने वाले अच्छी तरह से बता सकेंगे। अपने जाने तो मेरा सदा इसी राह पर चलने का प्रयास होता है।

जाने किस प्रेरणा से मैं इस प्रार्थना का भावार्थ यहाँ अंकित कर देना चाहता हूँ, शायद एक बार फिर अपने संकल्प को दोहराने –

"हमें अपने विचारों, वाणी और कार्यों से हमेशा सभी को सुख और आनंद पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए। अपने निजी स्वार्थ, मतलब या फायदे के लिए किसी भी जीव (चाहे वह इंसान हो या पशु-पक्षी) को कभी कोई दुःख या कष्ट नहीं देना चाहिए। यह जीवन का एक बहुत ही व्यावहारिक और सरल नियम है - अगर आपके पास सामर्थ्य नहीं है और आप किसी की मदद नहीं कर सकते या किसी को सुख नहीं दे सकते, तो कम से कम उसे कोई दुःख भी मत दीजिए। जो मनुष्य अपने जीवन में इस प्रकार का आचरण (रहनी) रखता है - यानी जो मन, वचन और कर्म से पवित्र है, निस्वार्थ है और किसी को दुःख नहीं देता - वही व्यक्ति वास्तव में 'आत्म रस' (सच्चा आत्मिक आनंद या मोक्ष) प्राप्त करता है। संक्षेप में कहें तो यह दोहा अहिंसा, करुणा और मानवता का संदेश देता है। यह हमें सिखाता है कि एक अच्छा इंसान बनने की शुरुआत इस बात से होती है कि हमारे होने से किसी को तकलीफ न हो। जब हम दूसरों को सुख देते हैं और किसी को दुःख नहीं पहुँचाते, तो ईश्वर की कृपा और आत्मिक शांति हमें स्वतः ही मिल जाती है।"

इसी प्रार्थना के साथ गोंटिया सर की बात को यहाँ विराम देता हूँ। आगे जब उनकी स्मृति को टटोलने की ज़रूरत होगी - ज़रूर याद करूँगा। और यह भी बताता चलूँ कि इस दोपहर की प्रार्थना के बारे में, और सुबह पढ़ाई शुरू होने से पहले होने वाली प्रार्थना के बारे में - आगे लिखूँगा।



श्री एम. एम. भार्गव सर ने हमें नवमी कक्षा में भौतिक शास्त्र पढ़ाया था। दसवीं और ग्यारहवीं में भी उनसे पढ़ा, गणित और भौतिक शास्त्र पर उन कक्षाओं में इन विषयों के कौन से प्रभाग पढ़ाए थे -यह स्मृति अब धुँधला चुकी है। वे विज्ञान के अध्यापक थे, मूलतः और स्वभावतः भी।

मेरा ननिहाल जबलपुर में कमानिया गेट के पास था (अभी भी है)। पुरानी फल मंडी में उनका घर था -इतना निकट कि जब भी ननिहाल जाता, मन में आता कि चलूँ, मिल आऊँ। पर पाँव कभी उठे नहीं। हिम्मत और संकोच -दोनों एक साथ आड़े आते रहे। यह बात अपने आप में बड़ी नहीं थी, लेकिन भार्गव सर को याद करते-करते स्मृतियों के बीच से निकलकर सामने आ गई।

और उनके साथ यह भी याद आया कि उन्हें अनुशासन प्रिय था, किसी भी तरह से किसी भी छात्र को वे अनुशासन भंग करते नहीं देख सकते थे। इस बात पर उन्हें बहुत जल्दी क्रोध आता था। वे उन अध्यापकों में थे जिनके सामने विद्यार्थी सदा कुछ सहमे-सहमे रहते। पढ़ाते वे बहुत अच्छा थे -परिश्रम और लगन से। पर जब क्रोध में आते तो . . . .

एक बार भौतिक शास्त्र के कालखंड में वे पढ़ा रहे थे और मेरी आँखें श्याम पट पर टिकी थीं। पर आँखों का श्याम पट पर होना और ध्यान का वहाँ होना -ये दो अलग-अलग बातें हैं। उस दोपहर मेरे साथ यही हो रहा था। मैं किसी और ही दुनिया में था-अपनी कल्पना के किसी शांत, निर्जन कोने में। तभी भार्गव सर की आवाज़ ने उस संसार को तोड़ा। उन्होंने कुछ पूछा था। मुझे प्रश्न भी सुनाई नहीं दिया था, उत्तर देना तो दूर रहा। मैं हकबका कर खड़ा हुआ। उन्होंने बस इतना कहा -"मुझे लग रहा था, कक्षा में सबसे अधिक तुम्हीं को समझ आ रहा है। बैठ जाओ।"

बस इतना ही।

शेष पूरा कालखंड मैं भीतर-ही-भीतर सिकुड़ा बैठा रहा। लगता था -कुछ तो दंड मिलना चाहिए था। उनके स्वभाव के अनुसार क्रोध आना चाहिए था। पर वे केवल क्षुब्ध दिखे -चुपचाप, कुछ खिन्न-से। और वह एक वाक्य कहकर आगे बढ़ गए।

वही फाँस आज तक कहीं गड़ी हुई है। शायद इसीलिए यह बात आधी सदी बाद भी जीवित है- क्योंकि वह चोट क्रोध से नहीं, उपेक्षा से भी नहीं, बल्कि एक शांत निराशा से लगी थी। और ऐसी चोटें देर तक नहीं भरतीं। शायद कभी नहीं।

श्री एल.एन.अवस्थी सर जबलपुर के एन.सी.सी. विभाग के चीफ़ भी रहे थे और हमारे विद्यालय में भी इसी विभाग के प्रमुख थे। खेल प्रकोष्ठ का दायित्व भी उन्हीं के पास था। विद्यालय परिसर में एन.सी.सी. की एक छोटी सी इमारत थी- सामने एक छोटा-सा बग़ीचा था, जो किसी भी बड़ी उपस्थिति के बिना भी कुछ कहता-सा लगता था। उसी इमारत से खेलकूद की गतिविधियाँ भी संचालित होती थीं।

अवस्थी सर विद्यालय की 'ए' ग्रेड हॉकी टीम के मुख्य प्रभारी थे। उनसे जुड़ी कुछ और यादें उस अध्याय में आएँगी जब हॉकी की बात होगी।

श्री एन. के. शर्मा सर को भी राष्ट्रपति पुरस्कार से अलंकृत किया गया था। वे संस्कृत और गणित पढ़ाते थे, आठवीं कक्षा में उन्होंने हमें संस्कृत पढ़ाई थी। उन से मेरा जुड़ाव किसी और ही ढंग से हुआ। तब तक विद्यालय में यह बात फैल चुकी थी कि मैं चित्र बनाता हूँ- और अच्छे चित्र बना लेता हूँ। हमारे स्कूल के एक दम पास ही प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय स्थित था। वहाँ के छात्र छात्राएँ अपनी ट्रेनिंग के दौरान और परीक्षा के समय हमारे स्कूल प्रायोगिक तौर पर पढ़ाने आते थे। उन 'प्रशिक्षु शिक्षकों' को हम लोग ‘प्यूपिल टीचर’ कहते थे। उस समय ध्यान नहीं दिया- क्यों ? पर मैं आज भी नहीं जानता- क्यों ?

कई बार वे अपने पीरियड में मुझे घर की चाबी थमाकर भेज देते थे। उनके घर में उस समय कोई नहीं होता था। वहाँ मुझे प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय के उन प्रशिक्षु शिक्षकों की परियोजना-फ़ाइलें बनानी होती थीं जो बी.एड. या एम.एड. कर रहे होते। उन फ़ाइलों में चित्र, रेखा चित्र, नक़्शे, चार्ट, इत्यादि विषय के अनुसार या दिए गए संदर्भ के अनुसार बनानी होती थीं। जिसमें फ़ाइल का मुखपृष्ठ भी बनाना होता था। जिनके लिए मैं फ़ाइलें बनाता, उनसे मेरी कभी भेंट नहीं हुई। वे शर्मा सर के परिचित या रिश्तेदार होते थे- इस बारे में मैं सदा अनजान रहा, और इस बारे में कभी पूछा भी नहीं।

ऐसी कई फ़ाइलें बनाईं। बड़ी ड्राइंग शीटों पर भी चार्ट और चित्र बनाए। कुछ और शिक्षक भी ऐसे काम करवाते थे -वे मुझे पिछली पंक्ति में बिठा देते और मैं पढ़ाई के

स्थान पर चार्ट बनाता रहता। कभी-कभी प्रशिक्षु शिक्षक सीधे मुझसे भी संपर्क करते थे।

एक बात और -इन सब कार्यों के लिए मैंने कभी कोई पारिश्रमिक नहीं लिया। प्रस्ताव हुए, पर भीतर से मन इस बात की आज्ञा नहीं देता था। उनकी कृतज्ञता-भरी मुस्कान ही पर्याप्त थी। साथ ही मुझे लगता मैंने किसी के लिए कुछ किया। पर आज सोचता हूँ- तो ये भी लगता है मेरी पढ़ाई का तो नुकसान हो रहा था। पर कोई क्षति कभी नहीं हुई। मैं कैसे भी करके संभाल लेता था।

"कर भला, तो हो भला" की तर्ज़ पर सब संभल जाता था।

पर बात भटक गई। लौटना होगा।

शर्मा सर भी अपने क्रोध के लिए जाने जाते थे। जब किसी छात्र पर कुपित होते, तो पहले कलाई से घड़ी उतारते, फिर पूरी बाँह की क़मीज़ की आस्तीन चढ़ाते। यह एक अनुष्ठान की तरह था -और हम सब जानते थे कि इसके बाद क्या होगा।

श्री आर.पी.यादव सर लंबे क़द के और हँस मुख स्वभाव के अध्यापक थे। संस्कृत और हिंदी को छोड़कर प्रायः सभी विषय पढ़ाते थे। सातवीं कक्षा में उन्होंने हमें गणित पढ़ाया था- अंकगणित। मैं 'ब' वर्ग में था; वे उस वर्ष सातवीं 'अ ' के कक्षा-अध्यापक थे।

वे मुझे जिस कारण याद हैं, वह एक छोटी-सी घटना है।

सातवीं की अर्धवार्षिक परीक्षा के बाद एक दिन वे हमारी कक्षा की बरामदे वाली खिड़की से झाँककर बोले कि उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँची जा चुकी हैं, कल मिल जाएँगी। शायद उनके ही विषय की पुस्तिकाएँ देनी बची थीं, इसी से परिणाम में देरी हो रही थी। स्वाभाविक रूप से किसी ने पूछा कि सर्वाधिक अंक किसे मिले हैं। उन्होंने कुछ नहीं बताया। छात्र पूछते रहे, वे केवल मुस्कराते रहे। एक-दो विद्यार्थियों ने कुछ नाम लिए। उन्होंने सिर हिलाकर नकारा -और चले गए।

कक्षा में उस समय कोई अध्यापक नहीं था। लड़के कुछ देर अनुमान लगाते रहे -पंकज धगट, रवि गुप्ता, मनोहर मुले, सुरेश चोपड़ा -फिर अपनी-अपनी बातों में लग गए।

अगले दिन जब पुस्तिकाएँ मिलीं, मुझे पचास में से उनचास अंक मिले थे -कक्षा में सर्वाधिक।

पंकज और रवि गुप्ता उन दिनों प्रथम और द्वितीय स्थान पाते रहे थे। सुरेश चोपड़ा कक्षा-मॉनिटर था। मैं स्वयं छठी की वार्षिक परीक्षा में चौथे स्थान पर रहा था, पर सातवीं की त्रैमासिक परीक्षा में मेरा प्रदर्शन अच्छा नहीं था। इसीलिए शायद किसी ने मेरे नाम का अनुमान नहीं लगाया था।

यह एक छोटी-सी घटना थी। पर स्मृति में ठहर गई। उसमें कुछ ऐसा था जो उसे जीवित रखे रहा -आधी सदी तक। और अब जब यह लिखा जा चुका है, तो शायद और भी देर तक रहे।

श्री कामता सागर सर चित्रकला के शिक्षक थे। पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाया गया था कि विद्यार्थियों को चित्रकला की आधारभूत समझ प्राप्त हो सके। उस समय चित्रकला, जिसे सामान्यतः 'ड्रॉइंग' कहा जाता था, केवल मिडिल स्कूल तक ही पढ़ाई जाती थी। चूँकि बचपन से ही मेरी रुचि चित्र बनाने में थी, इसलिए धीरे-धीरे उनसे मेरा संबंध अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा कुछ अधिक आत्मीय हो गया। हालांकि यह निकटता एक दिन में नहीं बनी। पहले उन्होंने मेरे बनाए चित्र देखे, फिर विभिन्न विद्यालयों और संस्थाओं द्वारा आयोजित चित्रकला प्रतियोगिताओं में मुझे पुरस्कार प्राप्त करते देखा। उसके बाद उन्होंने मुझे अलग से मार्गदर्शन देना आरम्भ किया।

उन्होंने सुप्रसिद्ध सर जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से शिक्षा प्राप्त की थी। उन दिनों हम विद्यार्थियों को उनकी दक्षता किसी जादू जैसी प्रतीत होती थी। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समझ पाता हूँ कि वे सचमुच अत्यंत प्रतिभाशाली चित्रकार थे। विद्यालय में वे जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स द्वारा आयोजित एलीमेंट्री और इंटरमीडिएट ग्रेड ड्रॉइंग परीक्षाओं की तैयारी भी करवाते थे और परीक्षाओं का संचालन भी करते थे। उनका

स्वभाव कुछ मूडी था। कक्षा में वे प्रायः एक कठोर और संयत मुद्रा में दिखाई देते। उनके बारे में विस्तार से आगे किसी और प्रसंग में कहूँगा।

जैसा कि मैं पहले भी कई बार लिख चुका हूँ, हमारे विद्यालय में एक से बढ़कर एक विद्वान, अपने कार्य में निपुण, ईमानदार और समर्पित शिक्षक थे। आज भी निश्चय ही "पंडित लज्जा शंकर झा शासकीय मॉडल उच्चतर माध्यमिक उत्कृष्ट विद्यालय में ऐसे ही शिक्षक" अध्यापन कर रहे होंगे। पर मैं उस समय की बात कर रहा हूँ, जब वे हमारे शिक्षक थे और हम उनके विद्यार्थी।

कुछ अध्यापक जीवन में इस तरह आए कि वे केवल शिक्षक नहीं रहे, स्मृतियों का हिस्सा बन गए। कुछ घटनाएँ, कुछ छोटे-छोटे प्रसंग, समय के धुँधलके में भी वैसे ही चमकते रहते हैं, जैसे बरसों पुरानी स्लेट पर खड़िया की फीकी रेखाएँ अब भी बची रह जाती हैं। उन स्मृतियों में कई और नाम भी दर्ज़ हैं-हमारे पी. टी. शिक्षक श्री गौतम सर, श्री मार्कंडेय सर, बेसिक शिक्षा और क्राफ्ट के श्री कटारे सर, संगीत विभाग की वे विदुषी शिक्षिका जिनका नाम अब याद नहीं, किन्तु चेहरा और स्वर आज भी स्मृति में स्पष्ट हैं। कभी-कभी सोचता हूँ, यदि आज भी संपर्क में बचे सहपाठियों के साथ बैठकर उन दिनों की बातें करूँ, तो स्मृतियों की पोटली से न जाने कितने और प्रसंग बाहर आ जाएँ। हर व्यक्ति के पास अपना अलग आकाश होता है, और हर स्मृति में कुछ न कुछ मणि-माणिक्य छिपे रहते हैं। पर मैं यहाँ केवल उन्हीं रास्तों पर चल रहा हूँ, जिन्हें मेरी अपनी स्मृति अब भी पहचानती है।

हाँ, एक नाम और है, जिसका उल्लेख किए बिना यह प्रसंग अधूरा रह जाएगा- "श्रीमती खुशाल मैडम"। वे हमारी छटवीं कक्षा की क्लास टीचर थीं। हममें से अधिकांश विद्यार्थी अपने-अपने मोहल्लों की छोटी प्राथमिक शालाओं से निकलकर पहली बार इतने बड़े और प्रतिष्ठित विद्यालय में आए थे। नए वातावरण का संकोच भीतर कहीं चुपचाप बैठा रहता था। कम-से-कम मेरे भीतर तो था ही।

खुशाल मैडम इतनी सहज और सरल थीं कि उनके रहते हमें उस नए वातावरण में घुलने-मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई। बहुत जल्दी हम सब उस अपरिचित संसार का हिस्सा बन गए। वे उन अध्यापिकाओं में थीं जो विद्यार्थियों से कभी क्रोध में बात

नहीं करती थीं। वे नाराज़ होती थीं, पर उस नाराज़गी में भी अपनापन बना रहता था। आज भी मुझे लगता है-क्रोध और नाराज़गी एक नहीं होते। क्रोध में दूरी होती है, नाराज़गी में संबंध बचा रहता है।

वे विद्यार्थियों की भूल पर अप्रसन्न अवश्य होतीं, किन्तु कुछ ही देर बाद उसी सहजता से समझाने लगतीं। उनमें मुझे एक मातृ सुलभ स्नेह दिखाई देता था। थोड़ा स्थूल शरीर, हल्का साँवला रंग और सदैव मुस्कराता चेहरा-उनकी यही छवि स्मृति में आज भी सुरक्षित है। अपने सरल और हँस मुख स्वभाव के कारण वे विद्यालय की अन्य अध्यापिकाओं से अलग दिखाई देती थीं। वे नाटकों में अभिनय भी करती थीं, और उनके कुछ नाटक शहीद स्मारक रंगशाला में भी मंचित हुए थे।

उनसे जुड़ी एक घटना आज भी मेरे भीतर जस की तस सुरक्षित है। हमारी अर्धवार्षिक परीक्षाएँ समाप्त हो चुकी थीं। अंग्रेज़ी विषय में हमारी प्रगति उतनी नहीं हुई थी, जितनी उन्हें अपेक्षित थी। आगे की पढ़ाई और कठिन होने वाली थी, और प्रत्येक पाठ समझाने में बहुत समय लग रहा था। उनका चिंतित होना स्वाभाविक था।

उस दिन उन्होंने पढ़ाया नहीं। कभी समझातीं, कभी हल्की नाराज़गी प्रकट करतीं, और बीच-बीच में हमारी अंग्रेज़ी की पुस्तक 'इंग्लिश रीडर' के पन्ने उलटती-पलटती रहतीं। अंत में उन्होंने कहा-"अब मैं बाक़ी के लेसन जल्दी-जल्दी पढ़ाऊँगी, तुम लोगों को समझ में आए या न आए।"

हम सब मौन बैठे रहे। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। पीरियड समाप्त हुआ और वे उसी उदास मन से कक्षा से बाहर चली गईं। यह एक बहुत सामान्य-सी घटना थी, जैसी प्रायः हर विद्यालय में घटती रहती है। आज भी शायद घटती होगी। लेकिन पता नहीं क्यों, वह क्षण मेरे भीतर कहीं गहरे अटक गया। शायद इसलिए कि पहली बार किसी शिक्षक की चिंता में मैंने अपने छात्रों के लिए स्नेह की ध्वनि सुनी थी।

हालाँकि बाद में वैसा कुछ नहीं हुआ, जैसा उन्होंने कुछ कुछ निराश होकर कहा था। पाठ्यक्रम समय पर पूरा हुआ और वार्षिक परीक्षा में हम सबने अच्छा प्रदर्शन भी किया।

अब जब मैं स्वयं जीवन के सत्तरवें वर्ष की देहरी पर खड़ा हूँ, तो अक्सर उन गुरुजनों की याद आती है जिन्होंने प्राथमिक शाला से लेकर हाई स्कूल तक मुझे शिक्षित किया। उनमें से अधिकांश इस संसार से विदा ले चुके हैं, और अब इस पृथ्वी पर नहीं होंगे। जो स्मृति में बचे हुए हैं, और जो स्मृति से ओझल हो चुके हैं- मैं उन सबका ऋणी हूँ।

एक श्रेष्ठ शिक्षक केवल पुस्तकों में संचित सूचनाओं का वाहक नहीं होता; वह मनुष्य के भीतर सोई हुई चेतना को स्पर्श करने वाला वह सूक्ष्म प्रकाश होता है, जो जीवन को केवल जीवित रहने की क्रिया से उठाकर अर्थपूर्ण अस्तित्व में रूपांतरित कर देता है। ज्ञान तो पुस्तकें भी दे सकती हैं, समय भी दे सकता है, अनुभव भी दे सकता है; परंतु मनुष्य को मनुष्य बनने की दिशा कौन देता है - यह कार्य गुरु का है।

शिक्षक वह है जो विद्यार्थी को केवल उत्तर नहीं देता, बल्कि उसके भीतर प्रश्न करने की क्षमता जगाता है। वह केवल यह नहीं बताता कि संसार क्या है, बल्कि यह भी सिखाता है कि संसार को कैसे देखा जाए। वह बुद्धि को जानकारी से भरने के बजाय विवेक को जाग्रत करता है। सही और गलत का भेद केवल नैतिक शिक्षा का विषय नहीं, बल्कि आत्मा की जागृति का विषय है। एक सच्चा शिक्षक उसी जागृति का माध्यम बनता है।

जीवन में ऐसे क्षण बार-बार आते हैं जब मनुष्य ज्ञान के बावजूद दिशाहीन हो जाता है। वहाँ पुस्तकें मौन हो जाती हैं, पर गुरु की दी हुई दृष्टि भीतर से बोलती रहती है। शिक्षक विद्यार्थी को जीवन की कठिनाइयों से बचाना नहीं सिखाता, बल्कि उन्हें स्वीकार कर उनके बीच अपना मार्ग खोजने का साहस देता है। वह यह समझाता है कि असफलता अंत नहीं, बल्कि आत्मबोध की एक और सीढ़ी है; कि मनुष्य का वास्तविक संघर्ष बाहर की दुनिया से पहले अपने भीतर के अंधकार से होता है।

भारतीय परंपरा में गुरु को केवल अध्यापक नहीं माना गया, बल्कि चेतना के सेतु के रूप में देखा गया है। गुरु वह है जो अज्ञान के अंधकार से ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाए। 'गु' अर्थात अंधकार और 'रु' अर्थात उसका निवारण। इसलिए गुरु का अर्थ केवल पढ़ाने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि वह उपस्थिति है जो भीतर की धुंध हटाकर आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराए।

इसी भाव भूमि पर कबीर दास जी ने कहा था-

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥"

यहाँ गुरु को भगवान से ऊपर रखने का आशय किसी तुलना से नहीं, बल्कि उस अनुभूति से है कि ईश्वर तक पहुँचने की दृष्टि भी गुरु ही देता है। परम सत्य यदि सूर्य है, तो गुरु वह खिड़की है जिससे पहली बार उसका प्रकाश भीतर प्रवेश करता है।

वास्तव में, एक महान शिक्षक समय के पार जीवित रहता है। उसकी कही हुई बातें भूल सकती हैं, पर उसका स्पर्श, उसका विश्वास, उसकी दी हुई दृष्टि जीवन भर मनुष्य के भीतर एक धीमी लौ की तरह जलती रहती है। वर्षों बाद भी जब कोई व्यक्ति अपने भीतर करुणा, सत्य, साहस या विनम्रता का उदयन महसूस करता है, तो अक्सर वहाँ कहीं न कहीं किसी शिक्षक की अदृश्य छाया उपस्थित होती है।

शिक्षक इसलिए महान नहीं कि वह ज्ञान देता है; वह इसलिए महान है क्योंकि वह हमारे भीतर उस संभावना को पहचान लेता है, जिसे स्वयं हम भी नहीं देख पाते।

अपने सभी गुरुजनों की स्मृतियों को प्रणाम करते हुए मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। वे जहाँ कहीं भी हों, शांति और आनंद में हों- इसी मंगलकामना के साथ इस प्रसंग को यहीं विराम देता हूँ।

□□

मैंने पहले उल्लेख किया है कि हमारा विद्यालय लगभग एक गुरुकुल के सदृश था।

'लगभग' शब्द का आशय भी मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूँ, फिर भी उसे दोहरा देना आवश्यक लगता है। कम-से-कम तब तक, जब तक हम शाला-परिसर में रहते थे, हमें सचमुच ऐसा ही अनुभव होता था मानो किसी गुरुकुल में हों। वहाँ कुछ भी केवल औपचारिकता निभाने के लिए नहीं होता था, न ही रस्म-अदायगी के लिए; हर व्यवस्था, हर आयोजन, हर गतिविधि का उद्देश्य हमें शिक्षा और संस्कार देना होता

था। विद्यालय का समूचा वातावरण जैसे हमें हमारी संस्कृति, हमारी जड़ों और हमारे भीतर सोई हुई उस भारतीय चेतना से जोड़ने के लिए रचा गया था।

हमारे विद्यालय में केवल राष्ट्रीय पर्व ही नहीं मनाए जाते थे, बल्कि अनेक महापुरुषों, मनीषियों और विभूतियों की जयंती तथा पुण्यतिथियाँ भी श्रद्धा और गरिमा के साथ आयोजित होती थीं। उन लोगों की, जिन्होंने अपने विचारों और कर्मों से समाज को दिशा दी, संस्कृति का पोषण किया और देश को गौरवान्वित किया। ऐसे अवसर केवल समारोह भर नहीं होते थे; वे हमारे भीतर किसी शांत, अदृश्य ढंग से काम करते थे। वे हमें अपने इतिहास से परिचित कराते, हमारी दृष्टि को परिष्कृत करते और कर्तव्यों के प्रति एक सूक्ष्म जागरूकता जगाते थे।

हमारे समय में एक नई परंपरा का आरम्भ भी हुआ था। शिक्षा-सत्र के प्रारम्भिक दिनों में ही हमें पूरे वर्ष के कार्यक्रमों का एक विस्तृत कैलेंडर मिल जाया करता था। उसमें वर्ष भर होने वाले सभी आयोजनों का पूरा विवरण रहता-कार्यक्रम का नाम, तिथि, समय, स्थान, यहाँ तक कि उनके प्रभारी अध्यापकों के नाम भी। जो विद्यार्थी जिस कार्यक्रम में भाग लेना चाहता, वह समय रहते संबंधित शिक्षक से संपर्क कर अपनी तैयारी आरम्भ कर देता।

जयंती और पुण्यतिथि के अवसरों पर प्रायः भाषण हुआ करते थे। विद्यार्थी और अध्यापक दोनों अपने विचार व्यक्त करते। नाट्य-प्रस्तुति, कविता-पाठ, सुभाषित-वाचन, श्लोक-पाठ, तात्कालिक भाषण और वाद-विवाद जैसी प्रतियोगिताएँ भी आयोजित होती थीं। कुछ विशेष अवसरों पर बाहर से विद्वान अतिथियों को आमंत्रित किया जाता। कई प्रतियोगिताओं के निर्णायक अन्य विद्यालयों के अध्यापक या नगर के वरिष्ठ गुणी जन होते थे।

श्रद्धेय हरिशंकर परसाई भी अनेक बार हमारे विद्यालय में मुख्य अतिथि के रूप में आए थे। वे कभी इस विद्यालय में अध्यापक भी रह चुके थे, यद्यपि वह समय मेरे मॉडल हाई स्कूल में प्रवेश लेने से बहुत पहले का था।

अपनी पुस्तक "जाने पहचाने लोग" में उन्होंने लिखा है-

"जबलपुर के प्रसिद्ध सरकारी स्कूल मॉडल हाई स्कूल में मेरी नियुक्ति हो गई। उस स्कूल की पूरे प्रदेश में इतनी पवित्रतामय प्रतिष्ठा थी कि उसमें अध्यापक होने का अर्थ था मनुष्य से देवता बना दिया जाना।"

छठी या सातवीं कक्षा में चित्रकला के लिए 'चन्द्र मंडल' का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार पुरस्कार मुझे उन्हीं के कर-कमलों से प्राप्त हुआ था। वे कुछ क्षण आज भी मेरी स्मृतियों की दराज़ में वैसे ही सहेजे हुए हैं, जैसे पुरानी किताबों के बीच रखा कोई सूखा हुआ फूल-जिसकी गंध भले क्षीण पड़ जाए, पर उसका स्पर्श कभी नहीं मिटता। 'चन्द्र मंडल' के बारे में भी आगे बताऊँगा-थोड़ी देर बाद।

डॉ.शिवमंगल सिंह 'सुमन' भी एक बार हमारे विद्यालय पधारे थे। उनका ओजस्वी कविता-पाठ और ऊर्जस्वित उद्बोधन सुनने का सौभाग्य हम सब विद्यार्थियों को मिला था। वे क्षण भी मेरे जीवन के उन दुर्लभ अनुभवों में हैं, जिन्हें समय की धूल ढँक तो सकती है, मिटा नहीं सकती। तब उनकी आयु काफी हो चुकी थी। उन्होंने लकड़ी के एक सोफ़े पर बैठे-बैठे ही हम सबको संबोधित किया था। प्रार्थना-सभा के मैदान में सम्पन्न उस कार्यक्रम की धूप, हवा और शब्द तो नहीं परंतु भाव सब आज भी मेरे भीतर कहीं सुरक्षित हैं।

अब एक और विलक्षण व्यक्तित्व का स्मरण करता हूँ-'ओशो' का। तब वे 'ओशो' नहीं, केवल रजनीश थे। दुर्भाग्य से उनके प्रत्यक्ष दर्शन मुझे कभी नहीं हुए। शायद वह मेरे भाग्य में नहीं था। कभी-कभी सोचता हूँ, यदि ऐसा हुआ होता, तो संभव है जीवन की बहुत-सी खींचतान, बहुत-सी उलझनें, जो बाद के वर्षों में हुईं और अब भी कहीं-न-कहीं चल रही हैं, वे कुछ कम हो जातीं। महान आत्माओं की संगति, या केवल उनकी दृष्टि तक, मनुष्य के मार्ग से बहुत-सा कूड़ा-करकट चुपचाप हटाकर किनारे कर देती है। रास्ता सुगम कर देती है। मंज़िल का पता बता देती है। चलना तो हमें ही पड़ता है पर हमें गंतव्य का पता होता है।

मैं थोड़ा भटक गया हूँ-या शायद इसे भटकना भी नहीं कहना चाहिए। ओशो का स्मरण भटकाव कैसे हो सकता है? हाँ, इतना अवश्य है कि उन्हें तीन-चार पंक्तियों में याद नहीं किया जा सकता। न जाने कितने ग्रंथ कम पड़ जाएँ और उनकी बातें समाप्त न हों।

उनके वीडियो, उनकी आवाज़ और उनके शब्दों के साथ मैं वर्षों से जीता आया हूँ। यदि इस समय मैंने स्वयं को रोका नहीं, तो संभव है यह पुस्तक किसी और ही दिशा में मुड़ जाए।

पर यह बताना आवश्यक है कि इस अध्याय में उनका उल्लेख मैंने क्यों किया।

हमारे चित्रकला-शिक्षक कामतासागर सर से मेरा संपर्क मॉडल हाई स्कूल से निकलने के बाद भी बना रहा। सन् 2015 में नौकरी से सेवानिवृत्त होने के बाद तो उनके साथ मैंने काफी समय बिताया। उन दिनों एक बार बातचीत के दौरान ओशो का प्रसंग आया। तब उन्होंने बताया कि रजनीश, जो आगे चलकर 'ओशो' कहलाए, उनसे मिलने विद्यालय आया करते थे।

मैं बताया चुका हूँ, हमारे विद्यालय में एक बड़ा सभागार था, जिसे हम 'ड्रॉइंग हॉल' भी कहते थे। मंच के दाहिनी ओर वाले कमरे का उपयोग कामतासागर सर अपने स्टूडियो की तरह करते थे।

जो विद्यार्थी एलीमेंट्री या इंटरमीडिएट ग्रेड ड्रॉइंग की परीक्षा की तैयारी करते, वे उसी 'सभागार' या 'ड्रॉइंग हॉल' में बैठकर उनसे प्रशिक्षण प्राप्त करते थे।

कामतासागर सर ने मेरी एकल चित्र प्रदर्शनी की तैयारी के दौरान बताया था कि रजनीश जी अकसर वहीं उनसे मिलने आते थे। उनके पास तब एक साइकिल हुआ करती थी। वे सफ़ेद धोती पहनते थे और उसी का एक सिरा अपने ऊपरी शरीर पर ओढ़े रहते। वे प्रायः स्कूल छूटने के बाद आते, जब ड्रॉइंग की अतिरिक्त कक्षाएँ चल रही होतीं। वे अपनी साइकिल हाथ में पकड़े हुए धीरे-धीरे सभागार में प्रवेश करते, कमरे के बाहर दीवार से उसे टिकाते और सीधे भीतर चले जाते।

जब कामतासागर सर ने सहज भाव से कहा था-"तुम लोगों ने तो देखा होगा"-तब कामतासागर सर और मैं, हम दोनों कार में बैठे कहीं जा रहे थे। मैं भीतर-ही-भीतर उस दृश्य की कल्पना कर रहा था। उनके यह कहते ही अचानक मेरे मन में जैसे कोई धुँधली-सी छवि चमकी। जैसे कैमरे की फ़्लैश में कोई दृश्य एक पल के लिए उजला

होकर फिर धुँधले अँधेरे में लौट जाए। कुछ वैसा ही। क्षण-भर को लगा, जैसे सचमुच मैंने उन्हें कहीं देखा है-बहुत दूर, बहुत धुँधले, पर फिर भी देखा है।

यह केवल भ्रम था या स्मृति का कोई बहुत पुराना, लगभग बुझा हुआ कण-मैं नहीं जानता। पर मेरा मन आज भी विश्वास किए बैठा है कि मैंने, किसी न किसी रूप में, **ओशो** को देखा है।

भला फिर इस अध्याय में उनका नाम क्यों न लूँ?



मैंने ऊपर कहा था कि 'चन्द्र मंडल' के बारे में आगे बताऊँगा। तो अब उसी प्रसंग पर लौटते हैं।

विद्यार्थियों की आयु और उनके बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखते हुए, सह-पाठ्य चर्या संबंधी गतिविधियों के संचालन हेतु विद्यालय की कक्षाओं को तीन खंडों में विभाजित किया गया था। प्रथम खंड में छठी और सातवीं कक्षा, द्वितीय खंड में आठवीं और नवमी, तथा तृतीय खंड में दसवीं और ग्यारहवीं कक्षा के विद्यार्थी रखे जाते थे।

सह-पाठ्य चर्या की गतिविधियाँ भी मुख्यतः तीन प्रकार की थीं। पहली साहित्यिक गतिविधियाँ-जिनमें नाट्य-मंचन, संगीत, कविता-पाठ आदि सम्मिलित थे। दूसरी विज्ञान-संबंधी गतिविधियाँ-जिनमें विज्ञान और गणित से जुड़ी प्रतियोगिताएँ, प्रस्तुतियाँ तथा अन्य आयोजन होते थे। और तीसरी थीं खेल-कूद अथवा क्रीड़ा से संबंधित गतिविधियाँ, जिनमें विद्यालय में खेले जाने वाले सभी खेल और शारीरिक स्पर्धाएँ सम्मिलित थीं। हॉकी, क्रिकेट, फुटबॉल, कबड्डी, खो-खो और वॉलीबॉल जैसे खेल तो थे ही; साथ ही विभिन्न प्रकार की दौड़ें, लंबी और ऊँची कूद, गोला-फेंक, भाला-फेंक, तवा-फेंक और शरीर-सौष्ठव जैसी प्रतियोगिताएँ भी आयोजित होती थीं।

अब मूल बात पर आता हूँ -

इन समस्त गतिविधियों को तीनों खंडों में बाँटकर संचालित किया जाता था और उन खंडों को 'मंडल' कहा जाता था। साहित्यिक गतिविधियों के लिए छठी और सातवीं के विद्यार्थियों का समूह 'चन्द्र मंडल' कहलाता था; आठवीं और नवमी का समूह 'बृहस्पति मंडल'; और दसवीं तथा ग्यारहवीं के विद्यार्थियों का समूह 'आदित्य मंडल'।

विज्ञान-संबंधी गतिविधियाँ भी इसी प्रकार संचालित होती थीं, पर वहाँ 'मंडल' शब्द के स्थान पर 'पुंज' का प्रयोग किया जाता था। विद्यार्थियों को 'न्यूट्रॉन', 'इलेक्ट्रॉन' और 'प्रोटॉन' पुंजों में विभाजित किया जाता था। क्रीड़ा-गतिविधियों के लिए फिर एक अलग ही व्यवस्था थी, जहाँ खंडों को 'ग्रेड' कहा जाता था-'सी', 'बी' और 'ए' ग्रेड।

अब सोचता हूँ तो लगता है, यह सब कितना आकर्षक और कल्पनाशील था। अनजाने ही यह व्यवस्था विद्यार्थियों के भीतर जिज्ञासा, रुचि और ज्ञान के छोटे-छोटे अंकुर बोती चलती थी। नामों तक में एक प्रकार की सृजनात्मकता थी-मानो शिक्षा केवल पाठ्य पुस्तकों तक सीमित न होकर, वातावरण और शब्दों के माध्यम से भी विद्यार्थियों के भीतर उतर रही हो।

इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों का एक और प्रकार से वर्गीकरण होता था। वार्षिक खेलकूद और अन्य स्पर्धाओं के लिए, जैसे अन्य विद्यालयों में अलग-अलग दल बनाए जाते हैं, वैसे ही हमारे विद्यालय में भी विद्यार्थियों को विभिन्न दलों में बाँटा जाता था। खेल-कूद संबंधी गतिविधियों के लिए 'हनुमान दल', 'भीम दल', 'अर्जुन दल' और 'रुस्तम दल' हुआ करते थे। विद्यार्थी इन्हीं दलों के अंतर्गत विभिन्न क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं में भाग लेते थे।

इसके अतिरिक्त जो अन्य शालेय प्रतियोगिताएँ होती थीं, उनके लिए 'उज्जयनी', 'अवंतिका', 'वैशाली', 'नालंदा', 'तक्षशिला' और 'अजंता' निकेतन बनाए गए थे। ये केवल नाम भर नहीं थे; वे अखंड भारत की उस सांस्कृतिक स्मृति के प्रतीक थे, जिसने कभी ज्ञान और सभ्यता के आलोक से संसार को प्रकाशित किया था। स्वाभाविक ही था कि विद्यार्थी इन नामों से अपने को जुड़ा हुआ अनुभव करते। धीरे-

धीरे उनके भीतर इनके इतिहास को जानने की उत्सुकता जागती और फिर उसी के साथ अपनी जड़ों, अपने अतीत और अपने सांस्कृतिक गौरव के प्रति एक मूक गर्व भी जन्म लेने लगता।

पूरे शिक्षा-सत्र के दौरान विद्यार्थी इन निकेतनों, मंडलों, पुंजों और ग्रेडों में बँटकर विभिन्न गतिविधियों में भाग लेते हुए अपना पाठ्यक्रम पूरा करते थे। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता था कि हर विद्यार्थी का बहुमुखी और सर्वांगीण विकास सहज रूप से होता चलता था।

यह सब तो शालेय स्तर की व्यवस्थाएँ थीं। कक्षा-स्तर पर भी विद्यार्थियों को विभिन्न समितियों में बाँटा जाता था। ये समितियाँ थीं-साहित्य समिति, विज्ञान समिति, क्रीड़ा समिति, सामाजिक अध्ययन समिति, उद्यान समिति और चित्रकला समिति। प्रत्येक समिति में प्रायः सात या आठ विद्यार्थी होते थे; कभी-कभी संख्या नौ तक भी पहुँच जाती। कुल मिलाकर स्थिति यह रहती कि हर विद्यार्थी किसी-न-किसी समिति का सदस्य अवश्य होता।

विद्यार्थी अपनी अभिरुचि के अनुसार समिति चुनते थे। कभी संख्या को लेकर असंतुलन उत्पन्न हो जाता, तब विद्यार्थी और कक्षा-नायक आपस में सलाह-मशविरा कर संतुलन बना लेते। कभी-कभी कक्षा-शिक्षक को भी हस्तक्षेप करना पड़ता था और तब उनका निर्णय अंतिम माना जाता।

इसके बाद समितियों के सदस्य अपने अध्यक्ष का चुनाव करते। यह कार्य भी अधिकतर आपसी सहमति से ही संपन्न हो जाता था। कभी-कभी कक्षा-शिक्षक की राय के अनुसार भी किसी विद्यार्थी का चयन कर लिया जाता। एक बार छठी कक्षा में समितियाँ बन जाने के बाद प्रायः सातवीं और आठवीं में वही क्रम चलता रहता था। ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था कि परिवर्तन नहीं हो सकता, पर सामान्यतः बदलाव कम ही होते थे।

अपने नामों के अनुरूप समितियाँ कार्य करती थीं। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि इन समितियों के गठन का उद्देश्य केवल विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास

नहीं था, बल्कि उनकी व्यक्तिगत अभिरुचियों को पहचानना और उन्हें भीतर से विकसित होने का अवसर देना भी था।

केवल शास्त्रीय और परंपरागत पाठ्यक्रम से किसी विद्यार्थी का सम्पूर्ण विकास संभव नहीं होता। उसकी मानसिक संरचना, उसकी वैचारिक क्षमता और जीवन-दृष्टि का भी पोषण आवश्यक है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह मनुष्य को केवल जीविका अर्जित करने योग्य न बनाए, बल्कि उसे इस योग्य भी बनाए कि वह अपने जीवन को संतुलित, सुव्यवस्थित और समाज के साथ सामंजस्यपूर्ण ढंग से जी सके।

ऐसे बीजों के रोपण के लिए माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक विद्यालय का समय शायद सबसे उपयुक्त होता है। उसी आयु में मन सबसे अधिक ग्रहणशील होता है। बाद में, महाविद्यालय पहुँचते-पहुँचते, जीवन के अनेक आकर्षण सामने खुलने लगते हैं। मनुष्य की तार्किक क्षमता विकसित हो जाती है और उसके भीतर एक 'क्यों ?' जन्म लेने लगता है। यह 'क्यों ?' कई बार उसकी ग्रहण शीलता के द्वार पर किसी अड़ियल चौकीदार की तरह बैठ जाता है। तब किसी बात को सहज रूप से स्वीकार कर पाना कठिन हो जाता है।

साथ ही एक और परिवर्तन भी होता है। वहाँ शिक्षक, शिक्षक न रहकर लेक्चरर, रीडर और प्रोफेसर बन जाता है-जिसका कार्य अधिकतर अपने विषय पर व्याख्यान देने तक सीमित रह जाता है। मैं यह नहीं कह रहा कि महाविद्यालयों में गुरु-तुल्य शिक्षक नहीं होते; अवश्य होते हैं, पर बहुत कम। और यदि किसी विद्यार्थी को वहाँ सचमुच कोई गुरु मिल जाए, तो वह उसके सौभाग्य की बात होती है।

इस विषय पर और भी विस्तार से कहा जा सकता है, पर वह प्रसंगांतर हो जाएगा।

"यहाँ मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि एक विवेकशील, चरित्रवान और संवेदनशील नागरिक की आधार-रचना विद्यालय के स्तर पर अधिक सहजता से की जा सकती है-महाविद्यालय की अपेक्षा। और हमारा मॉडल हाई स्कूल अपने इस दायित्व का निर्वाह अत्यंत निष्ठा और आत्मीयता के साथ करता था।"

अब यह बताना आवश्यक हो जाता है कि ये समितियाँ वास्तव में करती क्या थीं; नहीं तो बात अधूरी रह जाएगी।

उससे पहले एक और बात याद आ रही है। हमारे स्कूल के क्लास-रूमों में पीछे की दीवार पर भी पूरी चौड़ाई में श्याम-पट बना होता था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, केवल सातवीं 'बी' के कक्ष में ऐसा नहीं था। दरअसल, मिडिल स्कूल की कक्षाओं के लिए कुल नौ कमरे बने हुए थे। दोनों ओर से पाँचवाँ, अर्थात बीच का कमरा, अन्य कमरों की तुलना में लगभग डेढ़ गुना बड़ा था-लंबाई और चौड़ाई दोनों में।

बाक़ी कमरों की दाहिनी दीवार और इस बीच वाले कमरे की पिछली दीवार एक सीध में थीं। उनके पीछे लगभग आठ-दस फुट चौड़ी कच्ची ज़मीन छूटी हुई थी, फिर स्कूल की ऊँची बाउंड्री-वाल आती थी। उसके बाद ढलान लिए खाली ज़मीन फैली रहती थी, जो आज के आंबेडकर चौक से छोटी ओमती की ओर जाने वाली सड़क के समानांतर थी-और शायद आज भी है। मिडिल स्कूल के कमरों और बाउंड्री-वाल के बीच की उसी जगह पर वे विद्यार्थी अपनी साइकिलें खड़ी करते थे, जो साइकिल से स्कूल आया करते थे।

मैं बात पीछे वाली दीवार पर बने श्याम-पट की कर रहा था। सातवीं 'बी' के उसी बड़े कमरे में मैंने अपने सहपाठियों के साथ पढ़ाई की थी। यह कमरा अन्य कमरों से न केवल बड़ा था, बल्कि उसकी बनावट भी कुछ अलग थी। उसमें विद्यार्थी प्रार्थना-सभा अथवा हॉकी-ग्राउंड की ओर मुँह करके बैठते थे, जबकि अन्य कक्षाओं में बैठने की दिशा पूर्व की ओर हुआ करती थी।

बात फिर कुछ भटक गई।

लेकिन नहीं-अब इसके पहले कि स्मृतियाँ किसी और गलियारे में मुड़ जाएँ, मूल बात कह ही दूँ। हमारे समय में कक्षा के पीछे वाला वही श्याम-पट, किसी अर्थ में, हमारा 'फेसबुक', 'व्हाट्सएप' और 'इंस्टाग्राम'-सब कुछ था।

मैं आज से लगभग सत्तावन वर्ष पहले की बात कर रहा हूँ। तब संचार-जगत में आज जैसी कल्पनातीत प्रगति की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। पर उपयोगिता की दृष्टि से देखें तो वह श्याम-पट हमारे लिए कुछ-कुछ वैसा ही था।

कैसे?

यह भी बता देता हूँ, यद्यपि यह मेरी अपनी अनुभूति है। संभव है किसी को यह तुलना हास्यास्पद लगे। पर उसके लिए मैं क्या कर सकता हूँ? जो जैसा भीतर से उभरा, वैसा ही लिख रहा हूँ। कहानी मेरी है, तो उसकी स्मृतियाँ और उनके अर्थ भी मेरे ही होंगे।

आज इन माध्यमों पर हम अपनी कोई रचना, कोई विचार, कोई ऐसी चीज़ साझा करते हैं जो हमें अच्छी लगती है। फिर घंटों उन्हें देखते, पढ़ते, 'लाइक' करते, टिप्पणियाँ करते रहते हैं। हमारी कक्षा के पीछे वाले श्याम-पट पर भी कुछ-कुछ ऐसा ही होता था। अंतर केवल इतना था कि वह बेचारा निर्जीव श्याम-पट था, कोई चमकती हुई स्क्रीन नहीं। इसलिए वहाँ रंगीन चॉक का सहारा लेना पड़ता था।

दीवार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैले लगभग पाँच फुट चौड़े उस श्याम-पट को सात बराबर भागों में बाँटा गया था। छह खंड छह समितियों के लिए और सातवाँ 'सूचना-पटल' के लिए।

प्रत्येक समिति का दायित्व था कि वह अपने हिस्से में अपनी समिति से संबंधित कोई ज्ञानवर्धक सामग्री चॉक सुलेख में लिखने की व्यवस्था करे और यह सामग्री दो-तीन दिनों के भीतर बदलती रहे। लिखने का काम प्रायः उस विद्यार्थी को दिया जाता, जिसकी हस्तलिपि सबसे सुंदर और संतुलित होती। सामग्री का चयन समिति-अध्यक्ष अपने साथियों के साथ मिलकर करता था। यह आवश्यक नहीं था कि सामग्री केवल उसी समिति के विद्यार्थियों द्वारा लिखी गई हो। कक्षा का कोई भी विद्यार्थी अपनी मौलिक रचना या संकलित सामग्री किसी भी समिति को दे सकता था। केवल एक शर्त होती-वह विषयानुकूल, ज्ञानवर्धक और मर्यादित हो। किसी भी चूक के लिए संबंधित समिति के अध्यक्ष को टोका जाता था। यह टोक-टाक कोई भी शिक्षक कर

सकता था। प्रायः सभी शिक्षक पीछे वाले श्यामपट पर लिखी सामग्री ध्यान से पढ़ते थे। कोई ग़लती अगर हो तो उसे सुधरवा दिया करते थे।

चित्रकला समिति के खंड में प्रायः चित्र बनाए जाते थे। अन्य खंडों में हिंदी या अंग्रेज़ी में विभिन्न रचनाएँ लिखी जातीं। साहित्य समिति के हिस्से में कविताएँ, लघुकथाएँ, सुंदर गद्यांश, सुविचार या सुभाषित-श्लोक स्थान पाते थे। विज्ञान समिति विज्ञान-संबंधी रोचक जानकारियाँ लिखती, सामाजिक अध्ययन समिति इतिहास और समाज से जुड़े प्रसंग, और इसी प्रकार अन्य समितियाँ भी अपने-अपने विषय के अनुरूप सामग्री प्रस्तुत करतीं।

यह सारा कार्य विद्यार्थी प्रायः कक्षाएँ आरम्भ होने से पहले, या भोजनावकाश और खाली पीरियड में किया करते थे। रचना के साथ रचयिता या संकलनकर्ता का नाम भी लिखा जाता था।

'सूचना-पटल' पर कक्षा की गतिविधियों, प्रतियोगिताओं और अन्य घोषणाओं की जानकारी अंकित होती थी। और यदि कोई विशेष सूचना न हो, तो वहाँ कोई सुविचार लिख दिया जाता। इसकी देखरेख कक्षा-नायक या मॉनीटर करता था।

अब मुझे लगता है कि मैं अपनी बात कुछ हद तक सिद्ध कर पाया हूँ कि हमारे लिए कक्षा का वह पिछला श्याम-पट सचमुच उस समय का 'सोशल मीडिया' था। उससे अधिक इस 'जस्टिफिकेशन' को खींचना शायद अनावश्यक होगा।

अब समितियों के अन्य कार्यों की बात कर लेता हूँ।

सभी समितियाँ अपने नामों के अनुरूप कार्य करती थीं। साहित्य समिति विद्यार्थियों में साहित्यिक अभिरुचि जगाने और साहित्य-जगत की विभूतियों से परिचित कराने का कार्य करती थी। यह केवल श्याम-पट तक सीमित नहीं था। समिति विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन भी करती थी, जिनमें मंडल के अनुसार अन्य कक्षाओं के विद्यार्थी भी भाग लेते थे। प्रायः प्रत्येक कक्षा से दो विद्यार्थियों को आमंत्रित किया जाता। प्रश्नोत्तरी, निबंध-लेखन, कथा-लेखन, कविता-पाठ, तात्कालिक भाषण और वाद-विवाद जैसी प्रतियोगिताएँ आयोजित होती थीं।

ये प्रतियोगिताएँ सह-पाठ्य चर्या अथवा खेल के पीरियड में सम्पन्न होतीं। सूचना देने के लिए समिति के दो विद्यार्थी विभिन्न कक्षाओं में जाकर घोषणा पढ़ते। यही सूचनाएँ भोजनावकाश के बाद होने वाली प्रार्थना-सभा में लाउडस्पीकर पर भी सुनाई जाती थीं। परिणाम भी उसी प्रकार घोषित होते।

कभी-कभी विजेताओं को पुरस्कार भी दिए जाते-फ़ाउंटेन पेन, नोटबुक या कोई अच्छी पुस्तक। पुरस्कार-वितरण का वह छोटा-सा समारोह भी दोपहर की सभा में होता था। इस सबकी व्यवस्था समिति-अध्यक्ष अपने साथियों के साथ मिलकर करता था।

अन्य समितियाँ भी इसी प्रकार कार्य करती थीं। खेल समिति कभी-कभी दूसरी कक्षाओं के साथ खेल-प्रतियोगिताएँ आयोजित करती। पर उद्यान समिति के कार्य सबसे अलग और जीवंत थे। एक तो उसके जिम्मे कक्षा के सामने बनी क्यारियों की देखभाल रहती-नए पौधे लगाना, उन्हें पानी देना, उनकी रक्षा करना। दूसरा, और शायद अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था-हाई स्कूल की कक्षाओं के पीछे आवंटित छोटे-छोटे खेतों में सब्जियाँ उगाना।

हर कक्षा को लगभग दस-बारह फुट लंबा-चौड़ा एक टुकड़ा दिया गया था। विद्यार्थी स्वयं उसकी जुताई करते, क्यारियाँ बनाते, बीज बोते, पौधे लगाते और फिर समय-समय पर सिंचाई भी करते। समिति के अतिरिक्त अन्य इच्छुक विद्यार्थी भी इस काम में जुड़ जाते थे। विद्यालय के कृषि-विभाग से उन्हें बीज, पौधे और तकनीकी सहायता मिलती थी। आवश्यकता पड़ने पर वहाँ के कर्मचारी भी मदद करते थे।

जब सब्जियाँ तैयार होकर कक्षा में लाई जातीं, तब विद्यार्थियों का उत्साह देखने योग्य होता था-विशेषकर उन बच्चों का, जिन्होंने अपने हाथों से उन्हें उगाया होता। मेथी, पालक, बैंगन, भिंडी और टमाटर जैसी सब्जियाँ अक्सर उगाई जाती थीं।

हालाँकि हर विद्यार्थी के हिस्से में बहुत कम मात्रा आती थी, पर वे सब्जियाँ अपनी मेहनत की थीं। अपने हाथों से उपजाई हुई किसी चीज़ का स्वाद अलग ही होता है। आज इतने वर्षों बाद भी उस छोटे-से आनंद को शब्दों में पूरी तरह व्यक्त कर पाना मेरे लिए संभव नहीं है।

कक्षा-शिक्षक और कक्षा-नायक यह ध्यान रखते थे कि हर विद्यार्थी किसी-न-किसी रूप में इन कार्यों से जुड़ा रहे। कभी-कभी किसी अधिक शरारती विद्यार्थी को दंड स्वरूप खेत में काम करने या सिंचाई करने की जिम्मेदारी भी दे दी जाती थी।

पर अब सोचता हूँ, वह दंड कम, जीवन से जोड़ने वाली शिक्षा अधिक थी।



विद्यालय स्तर पर भी विभिन्न समितियाँ हुआ करती थीं। प्रत्येक समिति का अपना अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य पदाधिकारी होते थे। इन्हीं समितियों के अंतर्गत अलग-अलग मंडलों के प्रतिनिधि भी कार्य करते थे। शाला में होने वाले विविध सांस्कृतिक, साहित्यिक, क्रीड़ा और शैक्षणिक गतिविधियों के लिए पृथक बजट का प्रावधान रहता था।

प्राचार्य महोदय की अध्यक्षता में एक केंद्रीय समिति गठित होती थी, जिसमें वरिष्ठ शिक्षक गण, शाला-नायक, उप-शाला-नायक और अन्य प्रमुख प्रतिनिधि सम्मिलित रहते थे। सत्रारंभ में सभी समितियों के अध्यक्ष और उनके प्रभारी शिक्षक एक विस्तृत बैठक में भाग लेते थे। वहाँ वे पूरे वर्ष प्रस्तावित कार्यक्रमों और गतिविधियों की रूपरेखा प्रस्तुत करते, साथ ही उनके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक बजट का प्रस्ताव भी रखते थे।

पिछले सत्रों के कार्यों की समीक्षा होती, सफलताओं और कमियों पर विचार-विमर्श किया जाता, फिर आने वाले समय की योजनाओं पर चर्चा चलती। अंततः बजट समिति आवश्यक काट-छाँट और संशोधनों के बाद प्रस्तावों को अनुमोदित करती। उस पूरी प्रक्रिया में केवल धन का हिसाब नहीं होता था; वह विद्यार्थियों को उत्तरदायित्व, सहभागिता और सामूहिक निर्णय की एक मौन शिक्षा भी देती चलती थी।

शाला-नायक और उप-शाला-नायक का चुनाव बैलेट-पेपर द्वारा होता था। विद्यालय का प्रत्येक विद्यार्थी चुपचाप अपने मनपसंद प्रत्याशी का नाम कागज़ पर लिखता, उसे मोड़ता और बैलेट बॉक्स में डाल देता। उस क्षण उसके चेहरे पर एक विचित्र

गंभीरता उतर आती थी - मानो वह किसी छोटे-से विद्यालय का विद्यार्थी नहीं, लोकतंत्र का एक सचेत नागरिक हो।

कक्षाओं के विद्यार्थी क्रमबद्ध पंक्तियों में आते, मतदान करते और फिर उसी शांति से अपनी-अपनी कक्षाओं में लौट जाते। यद्यपि अधिकांश अवसरों पर शाला नायक और उप-शाला नायक निर्विरोध ही चुन लिए जाते थे, फिर भी चुनाव की यह पूरी प्रक्रिया अपने भीतर एक अदृश्य गरिमा लिए रहती थी।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि वे सारी गतिविधियाँ केवल विद्यालयी आयोजन भर नहीं थीं। वे जीवन के उन आरंभिक पाठों की तरह थीं, जिनसे मनुष्य धीरे-धीरे समाज, व्यवस्था और अपने भविष्य के दायित्वों से परिचित होता है। विद्यालय हमें केवल पढ़ाता नहीं था; वह अनजाने ही जीवन के विस्तृत प्रांगण के लिए तैयार भी करता चलता था।

□□

अब जबकि मॉडल हाई स्कूल के बारे में मैं इतना कुछ कह चुका हूँ, तो उसके स्थापत्य का उल्लेख किए बिना बात अधूरी-सी लगती है। सच तो यह है कि यह प्रसंग शायद इस अध्याय के आरंभ में ही आ जाना चाहिए था। किन्तु कुछ बातें यदि सहज प्रवाह में आएँ तो अधिक स्वाभाविक और लय पूर्ण लगती हैं। किस्से-कहानियों की अपनी एक चाल होती है; वे सीधी रेखा में नहीं चलते। यदि हर बात को क्रम और अनुशासन में बाँध दिया जाए, तो कथा कहीं न कहीं निबंध बन जाती है।

और फिर किस्सों के लिए थोड़ी-बहुत 'बकर-बकर' भी आवश्यक होती है। हमारी आंचलिक भाषा में इसके लिए एक अधिक सटीक शब्द है, पर उसे यहाँ लिखना शायद उचित न होगा। इसलिए फिलहाल 'बकर-बकर' ही सही।

तो मॉडल हाई स्कूल के स्थापत्य तक पहुँचने के पहले यह छोटा-सा आलाप आवश्यक था। अब सोचता हूँ, 'बकर-बकर' की अपेक्षा 'आलाप' शब्द अधिक उपयुक्त है। जैसे किसी राग के आरंभ में गायक पहले स्वर साधता है - मुख्य गायन के पहले एक धीमा विस्तार। वही शायद यह भी है।

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि हमारा मॉडल हाई स्कूल उस सम कोणीय भूभाग में स्थित था, जो आज के डॉ. अंबेडकर चौक से बाबू राजेंद्र प्रसाद चौक होते हुए पर्यटन भवन की ओर जाने वाली सड़क और दूसरी ओर तहसीली कार्यालय के सामने से छोटी ओमती की दिशा में जाती सड़क के बीच पड़ता था। मोहल्ले के हिसाब से यह पूरा क्षेत्र साउथ सिविल लाइन्स में आता था।

विद्यालय के विपरीत दिशा वाला कोना प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय को छूता था। पूरा परिसर लगभग वर्गाकार था। स्कूल की स्थापना 1904 में हुई थी और उसकी इमारत को देखकर सहज ही लगता था कि आरंभ से वही भवन उसका आश्रय रहा होगा। यद्यपि ऐसा कोई शिलालेख मुझे कभी दिखाई नहीं पड़ा, जो इसकी पुष्टि करता हो।

मगर इमारत को देखकर इतना अवश्य लगता था कि उसे बड़े सलीके और संतुलन से तामीर किया गया था। आज वहाँ कुछ नई इमारतें जुड़ गई हैं - जैसे डॉ. अब्दुल कलाम विज्ञान प्रयोगशाला और ब्रह्मोस छात्रावास। पुराने हिस्सों में मरम्मत और नवीनीकरण भी हुआ है। किन्तु इन परिवर्तनों के बावजूद विद्यालय का पुराना चेहरा आज भी लगभग वैसा ही दिखाई देता है जैसा हमारे समय में था। कम-से-कम बाहर से तो वही।

उस समय डॉ. अंबेडकर चौक अपने वर्तमान रूप में नहीं था। चौक तो था, पर वहाँ डॉ. अंबेडकर की प्रतिमा स्थापित नहीं हुई थी। उस चौक से बाबू राजेंद्र प्रसाद चौक की ओर जाती सड़क के समानांतर हाई स्कूल की कक्षाएँ पंक्तिबद्ध बनी हुई थीं। उसी दिशा की बाउंड्री वाल में विद्यालय का गेट नंबर 2 था, जो आज भी मौजूद है, हालाँकि अब वही मुख्य प्रवेश-द्वार बन चुका है।

दूसरी ओर, छोटी ओमती जाने वाली सड़क के समानांतर और हाई स्कूल की कक्षाओं के समकोण पर मिडिल स्कूल के कमरे बने थे। इसी दिशा में विद्यालय का मुख्य प्रवेश-द्वार 'गेट नंबर 1' स्थित था। उसके आगे छात्रावास था, जो उड़िया मोहल्ले तक फैला हुआ था। छात्रावास के बाद कुछ क्वार्टर बने थे, जिनमें विद्यालय के चपरासी और अन्य कर्मचारी रहते थे।

मुख्य प्रवेश-द्वार से होकर एक पक्की सड़क भीतर जाती थी, जो प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय के बगल से निकलकर घंटाघर रोड में मिल जाती थी। प्रवेश-द्वार से कुछ आगे उसी सड़क के किनारे विद्यालय का विशाल सभागार बना था। सभागार और पीछे बने क्वार्टर्स के बीच की समतल भूमि विद्यार्थियों के खेल मैदान के रूप में प्रयुक्त होती थी।

इसके आगे कृषि विभाग की इमारत थी, जिसके साथ एक गौशाला भी बनी हुई थी। वहाँ कुछ गायें और बैल पाले जाते थे। बैलगाड़ियाँ और कृषि-उपकरण भी वहीं रखे रहते थे। उसके बाद 'बेसिक शिक्षा भवन' था, जहाँ कताई-बुनाई सिखाई जाती थी। तकलियाँ और पोनियाँ हमें स्वयं लानी पड़ती थीं, जबकि चरखे वहीं उपलब्ध रहते थे। करघे भी लगे हुए थे। इस विभाग के प्रभारी श्री कटारे सर थे।

इसके आगे 'बुनियादी स्कूल' था, जो हमारे विद्यालय का हिस्सा नहीं था। कृषि भवन के सामने सड़क के उस पार लोहे का एक बड़ा फाटक था। उस फाटक से मुख्य प्रवेश-द्वार तक लकड़ी की जाफ़री लगी थी और उसके साथ झाड़ीदार पेड़ों की कतारें थीं। बीच में भगवान शंकर का एक छोटा-सा मंदिर भी था - न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा। उसी जाफ़री में लोहे का एक छोटा घूमने वाला फाटक भी लगा था।

कृषि भवन के सामने वाले बड़े फाटक से एक कच्ची सड़क सीधी ग्यारहवीं 'ए' सेक्शन तक जाती थी। उसके दाहिने हाथ प्रशासनिक भवन आरंभ होता था। सबसे पहले ग्यारहवीं 'डी' और 'ई' सेक्शन के कमरे आते थे। उसके बाद एक-दो कक्ष कार्यालय के उपयोग में थे। फिर प्राचार्य कक्ष आता था।

प्राचार्य कक्ष के आगे एक लेक्चर हॉल था, जिसका फर्श सीढ़ीनुमा बना हुआ था। उन चौड़ी सीढ़ियों पर लकड़ी की डेस्क और कुर्सियाँ जड़ी हुई थीं। सामने लंबी लकड़ी की मेज़ और दीवार पर सीमेंट का बना बोर्ड था। इस कक्ष का उपयोग विशिष्ट विद्वानों के व्याख्यानों और विज्ञान विषयक प्रयोगों के प्रदर्शन के लिए किया जाता था।

इसी के आसपास एक कला-वीथिका भी थी, जहाँ समय-समय पर चित्रकला और फ़ोटोग्राफ़ी की प्रदर्शनियाँ लगती थीं। जबलपुर और बाहर से आए अनेक चित्रकारों तथा फ़ोटोग्राफ़रों की प्रदर्शनियाँ मैंने वहीं देखी थीं।

इसके आगे 'शिक्षक कक्ष', 'साहित्य कक्ष', 'संगीत कक्ष' और 'विज्ञान कक्ष' थे। बरामदे के अंतिम छोर पर पहुँचते-पहुँचते यह संरचना कुछ चौड़ी हो जाती थी और सामने रसायन-विज्ञान प्रयोगशाला का द्वार दिखाई देता था।

केमिस्ट्री लैब के बाद एक लंबा किंतु अपेक्षाकृत सँकरा कक्ष था, जहाँ श्री जी. एस. दवे सर बैठते थे। यह भूगोल विषय की सामग्री - नक्शों, उपकरणों और शिक्षण-सामग्री - के लिए निर्धारित कक्ष था। उसका दरवाज़ा हॉकी ग्राउंड की ओर खुलता था। दवे सर भूगोल के विद्वान थे, किन्तु अंग्रेज़ी और हिंदी जैसे अन्य विषय भी पढ़ाते थे।

उन्हीं के मार्गदर्शन में लगभग पंद्रह फुट गुणा पंद्रह फुट का जबलपुर जिले का एक विशाल त्रिआयामी भूगोल-मानचित्र तैयार किया गया था। उसमें पहाड़ियाँ, भूमि के उतार-चढ़ाव, नर्मदा और उसकी सहायक नदियों को यथासंभव वास्तविक अनुपात और सापेक्षीय स्तर के अनुसार उकेरा गया था। पूरी संरचना सीमेंट-कंक्रीट से निर्मित थी और बाद में उसे भौगोलिक मानकों के अनुरूप रंगा गया था। नगर के प्रमुख स्थलों और इमारतों की छोटी-छोटी प्रति कृतियाँ भी उसमें रखी गई थीं। वह निर्माण हमारे ही समय में हुआ था - और तब हमें लगता था, जैसे पूरा जबलपुर किसी जादुई खिलौने की तरह हमारे सामने रख दिया गया हो।

□□

भूगोल कक्ष के बाद मुद्रण-कला कक्ष था। उसका दरवाज़ा पीछे की ओर खुलता था। सामने एक लंबा बरामदा था, जो बाईं ओर थोड़ी दूर जाकर समाप्त हो जाता था और दाहिनी ओर कक्ष के अंत में समकोण बनाते हुए मुड़ जाता था। इसी बरामदे के किनारे हमारे विद्यालय की लाइब्रेरी स्थित थी।

वहाँ काँच के पल्लों वाली बड़ी-बड़ी अलमारियों में असंख्य पुस्तकें करीने से सजी रहती थीं। मुद्रण-कला कक्ष तक पहुँचने के लिए लाइब्रेरी के सामने से होकर गुज़रना पड़ता था। आरंभ में मुद्रण-कला विभाग के प्रभारी श्री ए. बी. निग़ाम सर हुआ करते थे। वे वहीं बैठते और विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देते थे। बाद में उनके सेवानिवृत्त हो जाने पर उस कक्ष में श्री कामता सागर सर बैठने लगे। उन्होंने ड्रॉइंग हॉल वाले कमरे से अपना आवश्यक सामान भी यहीं लाकर रख लिया था।

चूँकि मुझे उनके पास अक्सर आना-जाना पड़ता था, इसलिए लाइब्रेरी के सामने से गुज़रना अनिवार्य था। मैं हर बार बड़ी हसरत से काँच के भीतर सजी किताबों को देखता और उनके शीर्षक पढ़ने की कोशिश करता। विद्यार्थियों को बिना किसी विशेष कारण लाइब्रेरी के भीतर जाने की अनुमति नहीं थी। इसलिए मैं बाहर खड़े-खड़े ही उन किताबों को निहारकर जैसे अपने भीतर की किसी छोटी-सी भूख को शांत कर लिया करता था। विद्यार्थियों के लिए एक छोटी लाइब्रेरी प्रशासनिक भवन के बरामदे में बनाई गई थी। एक लंबी टेबल पर बड़ी अलमारी रखी हुई थी। जिसके भीतर विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य पुस्तकें रखी रहती थीं। दोपहर खाने की छुट्टी के समय वह लाइब्रेरी खुलती थी। किताबें पढ़ने के इच्छुक छात्र गण अपनी पसंद की पुस्तक इश्यू कराते और पढ़ते थे। यह लाइब्रेरी छात्रों के द्वारा ही संचालित होती थी।

किताबों के साथ मेरा वह संबंध आगे किसी और अध्याय में विस्तार से आएगा। अभी तो बस इतना ही कि उन बंद अलमारियों के भीतर रखी पुस्तकें मुझे किसी दूर देश की खिड़कियों जैसी लगती थीं - जिनके भीतर झाँका तो जा सकता था, पर जिनमें प्रवेश का अधिकार अभी प्राप्त नहीं हुआ था।

लाइब्रेरी के बाद वही लोहे का फाटक आ जाता था, जिसके सामने सड़क के उस पार कृषि विभाग का बड़ा-सा कक्ष पड़ता था।

□□

मिडिल स्कूल के पंक्तिबद्ध कमरों, हाई स्कूल की कक्षाओं, प्रशासनिक भवन और मुख्य प्रवेश-द्वार से होकर प्रांतीय शिक्षण महाविद्यालय की ओर जाती सड़क के बीच

जो विशाल चौकोर मैदान बचता था, वहीं हमारे विद्यालय का प्रसिद्ध हॉकी ग्राउंड था। हॉकी मैदान की लंबाई, चौड़ाई, खेल-क्षेत्र और गोल-पोस्ट - सब कुछ निर्धारित नियमों के अनुरूप बना हुआ था।

वैसे तो हमारे विद्यालय में अनेक महापुरुषों की जयंती और पुण्यतिथियाँ मनाई जाती थीं। ऐतिहासिक घटनाओं के स्मृति-दिवस भी आयोजित होते थे और सभी राष्ट्रीय पर्व पूरे उत्साह से मनाए जाते थे। किन्तु 'शहीद दिवस' और जन्माष्टमी - इन दोनों का वातावरण कुछ अलग ही होता था। जिस तरह से इन्हें मनाया जाता था, वह आज भी स्मृति में किसी विलक्षण अनुभव की तरह जीवित है।

पहले शहीद दिवस की बात करूँ। तीस जनवरी उन्नीस सौ अड़तालीस की वह साँझ - जब प्रार्थना सभा की ओर जाते समय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को गोली मारी गई थी - हमारे इतिहास की सबसे करुण संध्याओं में से एक है। उसी दिन को देश भर में 'शहीद दिवस' के रूप में स्मरण किया जाता है।

हमारे विद्यालय में भी उस दिन बापू को श्रद्धांजलि दी जाती थी, पर उसका ढंग बिल्कुल अलग था। अब वह परंपरा शेष है या नहीं, मैं नहीं जानता। उस दिन विद्यालय सामान्य रूप से खुलता था, प्रातःकालीन प्रार्थना भी होती थी; किन्तु उसके समाप्त होते ही समूचे विद्यालय का मौन-व्रत आरंभ हो जाता था।

विद्यार्थी, शिक्षक, कर्मचारी - सभी मौन हो जाते। पाँच या छह पीरियड वैसे ही चलते जैसे प्रतिदिन चलते थे, पर बिना किसी आवाज़ के। शिक्षकों को जो भी निर्देश देना होता, वे ब्लैकबोर्ड पर चॉक से लिख देते और विद्यार्थी चुपचाप अपना कार्य करने लगते। कुछ शिक्षक उस दिन क्लास-टेस्ट लेते, कुछ केवल मौन रहकर पढ़ने के लिए कह देते।

धीरे-धीरे एक-एक कालखंड बीतता रहता और पूरे विद्यालय पर एक अद्भुत शांति उतर आती। उस शांति में पक्षियों की आवाज़ें अधिक साफ़ सुनाई देती थीं। हवा की सरसराहट, पत्तों की खड़खड़ाहट, चलते समय जूतों की पदचाप, या विद्यालय के बीच

से गुज़रने वाली सड़क पर आती-जाती गाड़ियों की ध्वनि - वही उस दिन की भाषा बन जाती थी।

बीच में पंद्रह मिनट का अवकाश भी प्रतिदिन की तरह होता था। विद्यार्थी बाहर चाट के ठेलों तक जाते, कोई कैंटीन की ओर निकल जाता; पर सब कुछ इशारों में होता। कैंटीन वालों और ठेलेवालों को भी मालूम रहता कि आज विद्यालय में मौन-दिवस है। वे भी बिना बोले ही लेन-देन पूरा कर लेते।

विद्यालय के प्रवेश-द्वार और कुछ अन्य स्थानों पर लकड़ी के ब्लैकबोर्ड रख दिए जाते थे, जिन पर चॉक से बड़े अक्षरों में लिखा होता - "आज विद्यालय में मौन-दिवस है।" साथ ही राहगीरों से भी अनुरोध किया जाता कि वे विद्यालय-परिसर से शांतिपूर्वक होकर गुज़रें।

उस दिन हर विद्यार्थी अपनी जेब में एक छोटी डायरी या कागज़ के कुछ टुकड़े और साथ में पेंसिल या पेन अवश्य रखता था, ताकि आवश्यकता पड़ने पर लिखकर अपनी बात कह सके।

यदि भूल वश किसी छात्र का मौन भंग हो जाता, तो प्रायश्चित्त स्वरूप उसे वहीं अपने कान पकड़कर पाँच बार उठक-बैठक करनी पड़ती थी। चाहे वह अकेला हो, या अपने साथियों के बीच। उसके मित्र यह सुनिश्चित करते कि उसने दंड पूरा कर लिया है। प्रायः यह घटनाएँ अवकाश के समय ही होती थीं। कक्षा के भीतर ऐसा कभी मेरे देखने में नहीं आया।

आज सोचता हूँ, तो विद्यालय और महाविद्यालय के बीच का एक सूक्ष्म अंतर वहीं समझ में आता है। यदि किसी कॉलेज में ऐसा मौन-दिवस रखा जाए, तो शायद कोई विद्यार्थी सार्वजनिक रूप से अपनी भूल स्वीकार कर इस तरह उठक-बैठक न लगाए। अपनी ग़लती स्वीकार कर लेने और बिना संकोच उसका प्रायश्चित्त कर लेने का साहस मनुष्य के भीतर बहुत आरंभिक दिनों में ही रोपा जा सकता है। विद्यालय शायद वही जगह है जहाँ ऐसे बीज चुपचाप धरती पकड़ते हैं।

उस दिन अंतिम पीरियड के बाद सभी विद्यार्थी प्रार्थना-स्थल पर एकत्र होते थे। सामने बड़ी दरी बिछी होती। हारमोनियम लेकर बी. एम. तिवारी सर, आर. के. तिवारी सर या गौतम सर में से कोई एक बैठता। माइक्रोफ़ोन के पास गोंटिया सर और कुछ अच्छे गायक विद्यार्थी समूह में विराजते। अन्य शिक्षक भी वहीं दरी पर बैठ जाते।

फिर बापू का प्रिय भजन आरंभ होता -

"रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीता राम ।
सीता राम सीता राम,
भज प्यारे तू सीता राम,
रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीता राम ।

सबको सम्मति दे भगवान,
रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीता राम ।

रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीता राम ।
सीता राम सीता राम,

भज प्यारे तू सीता राम,
रघुपति राघव राजा राम,
पतित पावन सीता राम ।"

और उसी के साथ पूरे दिन का मौन धीरे-धीरे टूटता।

कम-से-कम दस-पंद्रह मिनट तक वह प्रार्थना पूरे वातावरण में किसी शांत नदी की तरह बहती रहती। विद्यार्थी उसमें डूब जाते। ऐसा लगता मानो पूरे दिन का संचित मौन अब संगीत बनकर बाहर आ रहा हो।

सभा समाप्त होने के बाद भी वह शांति तुरंत विदा नहीं होती थी। वह कुछ देर तक हवा में तैरती रहती - एक धीमी, पवित्र निस्तब्धता की तरह। लगता था, जैसे हर विद्यार्थी अपने भीतर कोई छोटा-सा संकल्प लेकर लौट रहा हो।

उस दिन के उद्देश्यपूर्ण मौन से हम सबको कुछ न कुछ अवश्य मिलता था। वह 'कुछ' हर व्यक्ति के लिए अलग रहा होगा, पर वह होता अवश्य था। शायद इसी कारण मॉडल हाई स्कूल से निकलने वाला विद्यार्थी भीतर से कुछ अलग दिखाई देता था।

किसी विद्यालय में गांधीजी को इस प्रकार स्मरण करने की परंपरा अपने आप में अद्भुत थी। यह कहना असंभव है कि किसी मनुष्य में केवल अच्छाइयाँ ही हों और कोई कमी न हो। गांधीजी भी शायद इससे परे न रहे हों। किन्तु अपने जीवन में उन्होंने जिन सद्गुणों को साधा, उन्होंने उन्हें एक जीवित प्रेरणा में बदल दिया।

मुझे सबसे अधिक उनकी सत्य के प्रति निष्ठा ने प्रभावित किया। उन्होंने जैसे यह जान लिया था कि सत्य ही वह एकमात्र तत्व है जो अंततः अस्तित्व वान है। उनका एक वाक्य आज भी भीतर गूँजता है -

"सत्य से बड़ा कोई ईश्वर नहीं।"

सत्य के साथ खड़े रहना, और परिस्थितियाँ कैसी भी हों, उससे विचलित न होना - यही उनके जीवन का मूल मंत्र था। उनके विचार, उनका दृष्टिकोण, उनका दर्शन - सब कुछ जैसे उसी सत्य के प्रकाश से आलोकित था।

मैं इतना बड़ा व्यक्ति नहीं कि गांधीजी पर कोई निर्णायक टिप्पणी कर सकूँ। यहाँ मैं केवल इतना कह रहा हूँ कि उनके जीवन से मैंने क्या ग्रहण किया। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं; मेरे जन्म से आठ वर्ष पहले ही वे जा चुके थे। जो कुछ जाना, पुस्तकों से जाना, या बचपन में बुज़ुर्गों से सुना।

उनका स्वयं का लिखा हुआ साहित्य अथाह है। उन पर भी इतना लिखा गया है कि शायद किसी और व्यक्ति पर इतना न लिखा गया हो। उस विराट भंडार का बहुत छोटा-सा अंश ही मैंने पढ़ा होगा। फिर भी भारतीय सामाजिक जीवन में वे आज भी

किसी जीवित किंवदंती की तरह उपस्थित हैं। मनुष्य चाहे इसे स्वीकार करे या नहीं, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

और हमारे विद्यालय में आयोजित वह मौन-दिवस - जिस आयु में वह हमारे जीवन में प्रवेश करता था - वह अनजाने ही हमारे भीतर सत्य के प्रति आग्रह और उसके साथ दृढ़ता से खड़े रहने का एक बीज रोप देता था।



मैंने दोपहर के भोजन अवकाश के बाद पुनः पढ़ाई प्रारंभ करने के पूर्व जो प्रार्थना की जाती थी, उसके बारे में तो बता दिया है। परंतु प्रतिदिन की पढ़ाई का आरंभ जिस प्रार्थना से होता था, उसके संबंध में कुछ नहीं बताया, स्मृति का वह पन्ना खोलकर अब बता देता हूँ। पहले वह प्रार्थना-

"तेरे चरणों प्यारे ऐ पिता मुझे ऐसा दृढ़ विश्वास हो
जीवन में मेरे सदा आसरा तेरी दया व मेहर की आस हो. . .

चढ़ आये कभी जो दुख की घटा या पाप कर्म कि होए तपन
तेरा नाम रहे मेरे चित बसा, तेरा नाम रहे मेरे चित बसा
तेरा नाम रहे मेरे चित बसा तेरी दया व मेहर की आस हो. . .

यह काम जो हमने है सर लिया करें मिलके हम तेरे बाल सब
यह काम जो हमने है सर लिया, करें मिलके हम तेरे बाल सब

तेरा हाथ हम पर रहे बना, तेरा हाथ हम पर रहे बना
तेरा हाथ हम पर रहे बना तेरी दया व मेहर की आस हो. . .

तेरे चरणों प्यारे ऐ पिता मुझे ऐसा दृढ़ विश्वास हो
जीवन में मेरे सदा आसरा तेरी दया व मेहर की आस हो।"

छह बरस लंबे समय खंड में हर रोज़ घटती, प्रातःकाल की वह घड़ी- आज भी स्मृति में वैसी ही उजली है, जैसे किसी पुराने घर के आँगन में धूप का एक टुकड़े की गरमाहट वर्षों बाद भी अपनी गुनगुनी तपन बचाए रखती है।

स्कूल का विशाल प्रार्थना-स्थल, धीरे-धीरे विद्यार्थियों से भर जाता था। रात की नमी अभी पूरी तरह हवा से विलीन नहीं हुई होती थी। पेड़ों की पत्तियों पर ठहरी हुई ओस, दूर से आती पक्षियों की आवाज़ें और बच्चों की धीमी फुसफुसाहटें मिलकर एक ऐसी निस्तब्धता रचती थीं, जिसमें हर ध्वनि का अपना अलग अर्थ होता था। विद्यार्थी कक्षाओं के क्रम में पंक्तिबद्ध हो जाते।

मंच पर पाँच-छह चुने हुए विद्यार्थी खड़े रहते। हारमोनियम के सामने कभी बी. एम. तिवारी सर, कभी आर. के. तिवारी सर दिखाई देते। कभी-कभी एच. एन. शर्मा सर की उँगलियाँ भी सुरों को सहलाती हुई चलने लगतीं। उस समय संगीत केवल संगीत नहीं रह जाता था; वह जैसे पूरे विद्यालय की साँसों को एक लय में बाँध देता था।

प्राचार्य सर, शाला नायक और प्रार्थना गायक विद्यार्थियों की उपस्थिति में प्रार्थना आरंभ होती। सैकड़ों छात्र एक साथ स्वर मिलाते-

"तेरे चरणों प्यारे ऐ पिता, मुझे ऐसा दृढ़ विश्वास हो..."

इन शब्दों का अर्थ तब शायद पूरी तरह समझ में नहीं आता था, पर उनकी ध्वनि मन के भीतर कहीं उतर जाती थी। ऐसा लगता था मानो कोई अदृश्य शक्ति बच्चों के अनगढ़, चंचल मनों को धीरे-धीरे स्थिर कर रही हो। "दृढ़ विश्वास" केवल ईश्वर में विश्वास नहीं था; वह जीवन की उन अनजानी राहों पर भी भरोसा था, जिनसे होकर हमें गुज़रना था।

जब पंक्ति आती-

"चढ़ आये कभी जो दुख की घटा..."

तो लगता था जैसे जीवन के भविष्य में कहीं छिपे दुःखों और संघर्षों की एक धुंधली झलक इन शब्दों में मौजूद है। उस समय हम बच्चे थे; दुःख का अर्थ भी पूरी तरह नहीं जानते थे। फिर भी प्रार्थना जैसे पहले ही सिखा देती थी कि कठिन समय आने पर भी मन में आशा का दीपक बुझना नहीं चाहिए।

और जब स्वर उठता-

"करें मिलके हम तेरे बाल सब..."

तो प्रार्थना केवल व्यक्तिगत नहीं रह जाती थी। वह हम सबको एक सूत्र में बाँध देती थी। हम अलग-अलग घरों, परिस्थितियों और सपनों से आए बच्चे थे, पर उस क्षण हम केवल विद्यार्थी थे-एक ही परिवार के सदस्य, जो साथ चलना सीख रहे थे।

दिन के मध्य भोजनावकाश के बाद भी यह क्रम दोहराया जाता था। पुनः सभी छात्र प्रार्थना-स्थल पर एकत्र होते। "मनसा वाचा कर्मणा..." के उच्चारण के साथ वातावरण में फिर वही एकाग्रता उतर आती। ऐसा लगता था जैसे दिन की भागदौड़ के बीच कोई शांत जलधारा बह निकली हो, जिसमें मन अपने को धोकर फिर से निर्मल कर लेता हो। उसके बाद द्वितीय सत्र के अंतिम तीन कालखंड आरंभ होते।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उन प्रार्थनाओं ने हमें केवल पढ़ाई के लिए तैयार नहीं किया था। उन्होंने हमारे भीतर धैर्य, विनम्रता, विश्वास और सामूहिकता के वे बीज रोपे थे, जिनका महत्व जीवन की लंबी यात्रा में धीरे-धीरे समझ में आया।

वे शब्द अब भी स्मृति में गूँजते हैं। हारमोनियम के वे सुर, सुबह की वह हवा, सैकड़ों बच्चों के सम्मिलित स्वर-सब कुछ जैसे समय की धूल के नीचे सुरक्षित पड़ा है। शायद यही प्रार्थना का सबसे बड़ा चमत्कार था कि वह उस क्षण समाप्त नहीं होती थी; वह जीवन के भीतर एक धीमी, स्थायी प्रतिध्वनि बनकर रह जाती थी। आज भी वह प्रतिध्वनि गूंज रही है।

□□

अब उस आयोजन की बात, जिसका इंतज़ार उन दिनों पूरे नगर को रहता था।

जन्माष्टमी की झाँकियाँ।

मॉडल हाई स्कूल में श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के अवसर पर सजाई जाने वाली ये झाँकियाँ पूरे जबलपुर में प्रसिद्ध थीं। यह केवल एक सांस्कृतिक कार्यक्रम नहीं था, बल्कि स्कूल के जीवन का एक ऐसा उत्सव था, जिसमें कला, श्रम, श्रद्धा और सामूहिकता-सब एक साथ साँस लेते थे। संभव है, यह परंपरा आज भी किसी न किसी रूप में जीवित हो;

किन्तु मेरी जानकारी के अनुसार उसका स्वरूप अब बहुत बदल चुका है। मैं यहाँ उन्हीं दिनों की बात कर रहा हूँ-उन्नीस सौ सड़सठ से लेकर उन्नीस सौ बहत्तर तक के उस समय की, जो अब स्मृति में किसी पुराने दीपक की लौ की तरह काँपता हुआ बचा है।

वैसे दसवीं और ग्यारहवीं कक्षाओं के विद्यार्थियों को इस आयोजन में शामिल नहीं किया जाता था। कई दूसरी प्रतियोगिताओं से भी उन्हें दूर रखा जाता था, ताकि उनकी पढ़ाई प्रभावित न हो। फिर भी कार्यक्रम देखने से उन्हें वंचित नहीं किया जाता। जिस दिन जन्माष्टमी होती, उस दिन और कई बार उसके अगले दिन तक भी झाँकियों का प्रदर्शन चलता रहता। दर्शकों के लिए समय प्रायः शाम छह या साढ़े छह बजे से दो घंटे तक का होता था, हालाँकि भीड़ के अनुसार उसमें परिवर्तन भी कर दिया जाता। इस पूरे आयोजन के प्रभारी श्री कामता सागर सर हुआ करते थे। छठी से लेकर नवमी तक कुल चौदह झाँकियाँ सजती थीं, और यदि दसवीं को भी सम्मिलित कर लिया जाता, तो उनकी संख्या उन्नीस तक पहुँच जाती।

जन्माष्टमी के लगभग एक सप्ताह पहले से तैयारियाँ आरम्भ हो जाती थीं। सबसे पहले प्रत्येक कक्षा के कक्षा-नायक, चित्रकला समिति के अध्यक्ष और कुछ अन्य विद्यार्थी निर्धारित समय पर कामता सागर सर के पास जाकर अपनी कक्षा की झाँकी का विषय लेते। विषय कुछ इस प्रकार होते- "कारागार में श्रीकृष्ण जन्म","यशोदा द्वारा कृष्ण को झूला झुलाना", "माखन चोरी", "गोचारण", "कालिया नाग का मान-मर्दन", "कंस-वध", "रासलीला", "अर्जुन को गीता-उपदेश", अथवा अंत समय में "बहेलिये द्वारा श्रीकृष्ण के पैर में तीर लगना"। ये सब कृष्ण के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं।

साथ ही यह ध्यान भी रखा जाता था कि विद्यार्थी सीमित साधनों में उन प्रसंगों को मूर्त रूप दे सकें। इसलिए कई अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएँ केवल इसलिए छोड़ दी जातीं कि उन्हें झाँकी के रूप में प्रस्तुत करना कठिन था। फिर भी कृष्ण के जन्म से लेकर उनके अवसान तक की पूरी कथा किसी अदृश्य सूत्र में बँधी हुई-सी वहाँ उपस्थित रहती थी। और सबसे उल्लेखनीय बात यह थी कि इन झाँकियों के निर्माण में केवल उसी कक्षा के विद्यार्थी भाग लेते थे-न बाहर का कोई सहयोग, न किसी प्रकार की अतिरिक्त व्यवस्था। जैसे हर कक्षा अपने भीतर से ही अपनी दुनिया रचती हो।

सभागार की मंच वाली दीवार को छोड़कर शेष तीनों ओर लगभग दस फुट की दूरी पर मोटे लोहे के तार बाँध दिए जाते थे। उन्हीं तारों और दीवारों में पहले से गड़ी कीलों के सहारे जूट या नारियल की रस्सियाँ बाँधकर प्रत्येक कक्षा अपनी झाँकी की सीमा तय करती थी। सभी झाँकियों का आकार लगभग समान होता। विभाजन के लिए विद्यार्थी अपने घरों से चादरें और साड़ियाँ लाते, जिन्हें पिन से टाँगकर परदों की तरह इस्तेमाल किया जाता। पीछे की दीवारें भी उन्हीं से ढँक दी जातीं। सभागार के फ़र्श पर ही पूरी झाँकी निर्मित होती थी।

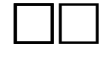
झाँकियों का क्रम विषयानुसार निर्धारित होता था, इसलिए कक्षाओं का क्रम टूट जाता। झाँकी के सामने ऊपर एक मोटी कार्ड-शीट की पट्टी टँगी रहती, जिस पर बड़े अक्षरों में विषय, कक्षा और वर्ग लिखा होता। यह पट्टी कामता सागर सर स्वयं बनाया करते थे। उनकी लिखावट में एक अद्भुत सौंदर्य था-देवनागरी के अक्षर जैसे केवल लिखे नहीं जाते थे, गढ़े जाते थे।

हर झाँकी के पास उसी कक्षा के दो-तीन विद्यार्थी खड़े रहते, जो दर्शकों को झाँकी से जुड़ी कथा सुनाते। कई बार दर्शक प्रश्न भी पूछते, और विद्यार्थी विनम्रता से उत्तर देते। झाँकियों के निर्माण में ईंट, मिट्टी, पत्थर, घास, बाँस की खपचियाँ, रंगीन कागज़, खिलौने, कट-आउट, गमले और मिट्टी की मूर्तियों तक का उपयोग होता। अधिकांश सामग्री स्कूल परिसर या घरों से जुटाई जाती। कुछ वस्तुएँ ख़रीदी भी जातीं, जिसके लिए या तो क्लास-फंड का उपयोग होता या विद्यार्थी स्वयं चंदा इकट्ठा करते।

मैं स्वयं अपनी कक्षा की चित्रकला समिति का अध्यक्ष था, इसलिए हमारी झाँकी का अधिकांश काम मेरे निर्देशन में होता। कई बार विषयानुसार मिट्टी की मूर्तियाँ बाहर से बनवाई जातीं, जो वर्षों तक सुरक्षित रखी जाती थीं। जिस कक्षा ने उन्हें बनवाया होता, वही उनकी देखभाल करती। यदि किसी दूसरे वर्ष वही विषय किसी अन्य कक्षा को मिलता, तो वे मूर्तियाँ उन्हें दे दी जातीं, और कार्यक्रम समाप्त होने के बाद वापस ले ली जातीं। हमारी कक्षा को सर्वश्रेष्ठ झाँकी का पुरस्कार कई बार मिला था। शायद इसलिए नहीं कि हम सबसे अधिक कुशल थे, बल्कि इसलिए कि हम उस काम में अपना मन पूरी तरह लगा देते थे।

मंच के सामने एक विशेष झाँकी भी सजाई जाती थी, जिसमें श्रीकृष्ण की बड़ी प्रतिमा या चित्र स्थापित किया जाता। उसके आसपास गमले, रंगोली और दोनों ओर बड़ी समइयाँ रखी जातीं। यह सब कामता सागर सर के निर्देशन में होता। उन दिनों झाँकियाँ देखने केवल विद्यार्थी ही नहीं आते थे; उनके परिवार, पड़ोसी, पुराने छात्र, नगर के अन्य लोग और अनेक आमंत्रित अतिथि भी आते। सभागार के बाहर और भीतर देर तक चहल-पहल बनी रहती। अगले दिन अख़बारों में भी इस आयोजन का विस्तार से उल्लेख छपता।

झाँकियों का प्रदर्शन भले ही एक-दो दिन का होता, पर उसकी तैयारी कई दिनों तक चलती रहती थी। कक्षा का लगभग प्रत्येक विद्यार्थी किसी न किसी रूप में उससे जुड़ जाता। यह कार्यक्रम केवल कलात्मक प्रतिभा को सामने नहीं लाता था; वह बच्चों को साथ मिलकर काम करना, अपनी कल्पना को आकार देना और श्रम में आनंद खोजना भी सिखाता था। उस समय शायद हम यह सब समझते नहीं थे, पर आज पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है-वे झाँकियाँ केवल कृष्ण की कथा नहीं थीं; वे हमारे भीतर बनती हुई मनुष्यता की भी झाँकियाँ थीं।



इसी तरह की दो और प्रमुख गतिविधियाँ हर वर्ष हुआ करती थीं, जिनका उल्लेख बचा रह गया है -

एक, 'कक्षा सजावट' और दूसरी, कक्षा की 'हस्तलिखित पत्रिका' का निर्माण।

कक्षा सजावट को एक प्रतियोगिता का रूप दिया गया था। उसके परिणाम पंद्रह अगस्त को होने वाले कार्यक्रम में घोषित किए जाते थे। उसी दिन विभिन्न मंडलों की विजेता कक्षाओं को 'शील्ड' या 'कप' प्रदान किए जाते। शिक्षा सत्र की यह पहली बड़ी प्रतियोगिता होती थी। इसकी घोषणा प्रायः जुलाई के दूसरे या तीसरे सप्ताह में कर दी जाती और फिर पढ़ाई के साथ-साथ उसकी तैयारियाँ भी आरम्भ हो जातीं। निरीक्षण की तिथि पंद्रह अगस्त से एक-दो दिन पहले घोषित की जाती, ताकि निर्धारित समय

तक सजावट का कार्य पूरा हो सके। निर्णायक मंडल में कम-से-कम तीन सदस्य होते थे, जिनमें कामता सागर सर और गोंटिया सर प्रायः अनिवार्य रूप से शामिल रहते थे।

अब यह भी बता देना आवश्यक है कि कक्षा सजावट किस प्रकार की जाती थी।

हमारा स्कूल सन् 1904 में स्थापित हुआ था। उसकी मुख्य इमारत ब्रिटिश कालीन स्थापत्य शैली में निर्मित थी। ऊँची-ऊँची दीवारें, लकड़ी के बड़े और मज़बूत दरवाज़े-खिड़कियाँ, ऊपर रोशनदान, बाहर लंबा बरामदा-जिसे पत्थर के आधारों पर टिके लकड़ी के स्तम्भ सँभाले रहते थे-और बरामदे के बाहर की ओर झुका हुआ छाजन। कमरों की दीवारें उस छाजन से भी ऊपर उठती चली गई थीं, जहाँ रोशनदान बने हुए थे। छतें बीच से दोनों ओर ढलान लिए रहतीं और उन पर अंग्रेज़ी खपरे जड़े होते। कमरे बड़े थे, दीवारें ऊँची थीं; इसलिए सजावट की पर्याप्त गुंजाइश भी रहती थी।

किन्तु सजावट कैसी होनी चाहिए, इसके स्पष्ट निर्देश थे। कक्षाओं में केवल महापुरुषों, प्राकृतिक दृश्यों, फूल-पौधों, पशु-पक्षियों, ऐतिहासिक इमारतों अथवा शैक्षणिक विषयों से सम्बद्ध चित्र और चार्ट ही लगाए जा सकते थे। चित्र या तो छपे हुए होते, या विद्यार्थियों द्वारा हाथ से बनाए गए। स्वनिर्मित चित्रों को विशेष वरीयता दी जाती थी। फ्रेम किए हुए चित्र लगाने की अनुमति नहीं थी।

ब्लैक कार्ड-शीट को सावधानी से काटकर उसके ऊपर उचित मार्जिन छोड़ते हुए चित्र चिपकाए जाते। उन दिनों आटे की लेई या साधारण गोंद ही काग़ज़ चिपकाने के काम आती थी। बाज़ार में बनी-बनाई गोंद की शीशियाँ भी मिल जाती थीं। चित्रों को दीवारों पर इस तरह लगाया जाता कि उनकी क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर रेखाओं का संतुलन बना रहे। संख्या भी इतनी न हो कि कमरा भरा-भरा या बोझिल लगे। छोटी कीलों की सहायता से चित्र टाँगे जाते और पूरी सजावट में एक प्रकार की सादगीपूर्ण सुरुचि दिखाई देती थी। निर्णायक मंडल इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर निरीक्षण करता था। हमारी कक्षा को इस प्रतियोगिता में भी कई बार मंडल-स्तर पर पुरस्कार प्राप्त हुए थे। चित्रकला और पेंटिंग्स के विषय में आगे किसी अन्य अध्याय में विस्तार से चर्चा करूँगा।

अब इस प्रसंग को यहीं विराम देकर दूसरी महत्त्वपूर्ण गतिविधि की ओर बढ़ते हैं-

कक्षा की 'हस्तलिखित पत्रिका'। साहित्यिक और कलात्मक अभिरुचि रखने वाले विद्यार्थियों के लिए यह अत्यंत प्रेरक और उत्साहवर्धक गतिविधि होती थी, जो कई महीनों तक चलती रहती। मेरी स्मृति के अनुसार दीपावली की छुट्टियों के बाद इसकी औपचारिक घोषणा कर दी जाती थी। संभवतः जनवरी माह की किसी निश्चित तिथि तक हमें अपनी हस्तलिखित पत्रिका प्रतियोगिता प्रभारी शिक्षक के पास जमा करनी होती थी। विजेताओं की घोषणा 26 जनवरी, अर्थात् गणतंत्र दिवस के अवसर पर की जाती।

हस्तलिखित पत्रिका, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, हाथ से लिखी हुई पत्रिका होती थी। उसमें कहानियाँ, कविताएँ, लघुकथाएँ, संस्मरण, यात्रा-वृत्तांत, निबंध, चुटकुले, प्रेरक सूक्तियाँ-सब कुछ रहता। साथ ही विद्यार्थियों द्वारा बनाए गए चित्र भी उसमें शामिल होते। जिन छात्रों की हस्तलिपि सुगढ़ और सुंदर होती, उन्हें चयनित रचनाएँ लिखने का कार्य सौंपा जाता। पत्रिका में अस्सी-नब्बे तक पृष्ठ होते थे, इसलिए एक से अधिक विद्यार्थियों को इस काम में लगना पड़ता। वे खाली पीरियडों में या घर ले जाकर यह कार्य पूरा करते थे।

लिखने के लिए काग़ज़ स्कूल से दिए जाते, ताकि सभी पत्रिकाओं में आकार की एकरूपता बनी रहे। पृष्ठों की संख्या अवश्य अलग-अलग होती थी। पढ़ाई के अतिरिक्त यह एक अलग उत्तरदायित्व था, इसलिए प्रत्येक कक्षा केवल एक ही पत्रिका तैयार करती। इस प्रतियोगिता का उद्देश्य विद्यार्थियों में साहित्यिक और कलात्मक अभिरुचि उत्पन्न करना था। साहित्य और कला मनुष्य की सोच, दृष्टि और सामाजिक जीवन को कितनी गहराई से प्रभावित करते हैं, इस पर विस्तार से बात की जाए तो विषय बहुत दूर तक चला जाएगा। इसलिए अभी केवल आवश्यक बातें ही कहता हूँ।

जो पन्ने स्कूल से मिलते थे, उनके चारों ओर लाल स्याही से सुंदर बॉर्डर बनी होती थी। ऊपर बीच में स्कूल का 'लोगो' अंकित रहता था।

अब जबकि 'लोगो' की बात निकल ही आई है, तो उसके बारे में भी यहीं बता दूँ। यदि अभी न कहूँ तो संभव है आगे भूल जाऊँ, और एक महत्त्वपूर्ण बात छूट जाए। गोलाकार लोगो के बीच लहरों के ऊपर चौकड़ी भरता हुआ एक हिरन बना था। चारों ओर बनी वृत्ताकार पट्टी में नीचे विद्यालय का नाम लिखा रहता, ऊपर 'सत्य-संध', और नीचे लहरों के बीच '1904'-विद्यालय की स्थापना का वर्ष। आज भी लोगो वही है, केवल विद्यालय का नाम बदल गया है और उसके साथ 'जबलपुर' भी जोड़ दिया गया है। पहले वह एक ही रंग में मुद्रित होता था; अब बहुरंगी हो गया है। पर भागता हुआ हिरन, लहरें और सबसे ऊपर लिखा 'सत्य-संध'-सब वैसे ही हैं।

कभी न कभी हमने अपने सहपाठियों के बीच इस लोगो पर चर्चा अवश्य की होगी। किसी शिक्षक ने भी शायद इसके अर्थ के बारे में बताया होगा। पर वह सब अब स्मृति से धुँधला चुका है। इस समय, इन पंक्तियों को लिखते हुए, जो अर्थ मेरे भीतर उभर रहा है, वही यहाँ लिख देता हूँ। उससे सहमत होना या असहमत होना पाठक पर निर्भर है।

मेरी समझ से चौकड़ी भरता हिरन जीवन में सतत आगे बढ़ते जाने की आकांक्षा का प्रतीक है। लहरें जीवन के उतार-चढ़ाव की। और सबसे ऊपर लिखा 'सत्य-संध'-उसका अर्थ अपने आप खुलता चला जाता है। सत्य का अर्थ अलग से क्या बताया जाए? सत्य केवल सत्य है-जो है, वही। उसका विलोम असत्य है, अर्थात् जो है ही नहीं। सत्य अपने आप में पूर्ण है-न टूटा, न अधूरा। इतना विशाल कि उसे 'विशाल' कहना भी शायद उसकी सीमा बाँधना हो। हमारी बुद्धि जितने अर्थों में उसकी कल्पना कर सकती है, वे सब उसमें समाए हुए हैं। और 'संध'-अर्थात् संधि, योग, जुड़ाव या धारण करना। मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है 'सत्य-संध' को समझने के लिए। विद्यालय मानो सत्य की पताका लेकर आगे बढ़ता हुआ एक संस्थान था, और प्रत्येक 'मॉडेलियन' सत्य को धारण करने वाला विद्यार्थी। भौतिकता की धुँध कभी-कभी उस सत्य को ओझल अवश्य कर सकती है, पर उसे नष्ट नहीं कर सकती।

बात थोड़ी गंभीर हो गई। पर कुछ बातें हल्की होकर कही भी नहीं जा सकतीं।

बहरहाल हम हस्तलिखित पत्रिका की चर्चा कर रहे थे। उन दिनों स्टेशनरी की दुकानों पर मोटे गत्तेनुमा काग़ज़ पर गहरी नीली रेखाओं वाली फुलस्केप शीटें मिल जाती थीं। उन्हें लिखने वाले पन्ने के नीचे रखने से ऊपर की शीट पर रेखाएँ दिखाई देतीं और एक समान अंतराल में लिखना आसान हो जाता। इसी तरह पत्रिका के पृष्ठ तैयार किए जाते थे।

अपनी कक्षा की बात करूँ तो रचनाओं के शीर्षक के लिए आवश्यक स्थान पहले से छोड़ दिया जाता था। बाद में मैं ब्रश से शीर्षक लिखता। कविताओं के साथ बनने वाले रेखाचित्रों के लिए कितनी जगह छोड़ी जानी है, यह भी पहले तय कर दिया जाता। आज जिसे 'फ़ॉर्मेटिंग' कहा जाता है, उसका काम उन दिनों इसी प्रकार होता था। पत्रिका की सज्जा और कभी-कभी कुछ रचनाएँ लिखने का कार्य भी मैं ही करता था। मेरे और कुछ अन्य विद्यार्थियों के बनाए चित्र भी बीच-बीच में लगाए जाते। हर कक्षा अपनी पत्रिका का एक सुंदर नाम रखती थी।

पत्रिका निर्माण की समस्त गतिविधियों के संचालन, रचनाओं के चयन, आवश्यक संशोधन और पत्रिका के नामकरण के लिए किसी एक योग्य विद्यार्थी को 'सम्पादक' चुना जाता था। प्रायः कक्षा शिक्षक ही उस विद्यार्थी का मनोनयन करते। जब लेखन और सजावट का कार्य पूरा हो जाता, तब पत्रिका को बाइंडिंग के लिए किसी दुकान पर भेजा जाता। उसके ऊपर काले रंग के गत्ते या कार्ड-शीट का कवर चढ़ाया जाता, जैसा कि उस समय की परम्परा थी। कवर पर पत्रिका का नाम, सम्पादक का नाम, कक्षा, वर्ग और निर्माण-वर्ष रंगों तथा ब्रश की सहायता से कलात्मक ढंग से लिखा जाता। अपनी कक्षा की पत्रिका के लिए यह कार्य प्रायः मैं ही करता था। कुछ कक्षाएँ यह काम कामता सागर सर से करवाती थीं। अंत में पीले या नारंगी रंग का पारदर्शी जिलेटिन पेपर कवर के ऊपर चढ़ा दिया जाता। शुरुआत में मैं इसके पक्ष में नहीं था, क्योंकि उससे रंग दब जाते थे; किन्तु बहुमत के आगे मेरी नहीं चली और बाद में मैंने विरोध करना ही छोड़ दिया।

पत्रिका पूरी तरह तैयार हो जाने के बाद कक्षा शिक्षक उसका अवलोकन करते और फिर उसे प्रतियोगिता हेतु साहित्य कक्ष में जमा कर दिया जाता। हमारी कक्षा को इस

प्रतियोगिता में भी कई बार पुरस्कार मिले थे। बाद में ये पत्रिकाएँ वापस नहीं की जाती थीं। वे साहित्य कक्ष में सुरक्षित रखी जातीं। कुछ विशेष पत्रिकाएँ काँच के पल्लों वाली बड़ी अलमारियों में सजाकर भी रखी जाती थीं। उन अलमारियों के भीतर वे पत्रिकाएँ किसी और समय की चुप स्मृतियों की तरह दिखाई देती थीं-स्थिर, शांत, पर भीतर से जीवित।

हमारे समय की पत्रिकाएँ क्या अब भी बची होंगी।

क्या इस संबंध में सोचना चाहिए ?

बचे रहने की आकांक्षा ही तो हमारी सबसे बड़ी भूल नहीं है क्या ?

इस बात को इस दार्शनिक मोड़ पर छोड़ते हैं और दूसरी राह पकड़ते हैं।



ऊपर वर्णित ये गतिविधियाँ शिक्षा सत्र के आरम्भ से ही शुरू हो जाती थीं और एक के बाद एक प्रायः जनवरी माह तक चलती रहती थीं। उसके बाद, वार्षिक परीक्षाओं के निकट आ जाने के कारण, वातावरण धीरे-धीरे बदलने लगता था। फिर ध्यान केवल पढ़ाई पर केंद्रित हो जाता। विद्यार्थी तो अपने-अपने ढंग से उसमें जुटते ही थे, अध्यापक गण भी एक अलग प्रकार की कठोर गंभीरता के साथ पढ़ाने में लग जाते थे। जैसे पूरे स्कूल पर अचानक एक शांत अनुशासन उतर आया हो।

इस बीच खेल प्रतियोगिताएँ दिसंबर तक समाप्त हो जाती थीं। शाला-स्तरीय और अंतर्शालेय स्पर्धाएँ भी जनवरी के अंत तक पूरी हो जातीं। उन दिनों जबलपुर में 'मिलन' नाम की एक सामाजिक और सांस्कृतिक संस्था बहुत सक्रिय हुआ करती थी। शायद आज भी उसका अस्तित्व हो, किन्तु तब उसकी उपस्थिति शहर के सांस्कृतिक जीवन में स्पष्ट महसूस होती थी। नगर के विभिन्न विद्यालयों के बीच अनेक प्रतियोगिताओं का आयोजन उसी संस्था द्वारा किया जाता था। मॉडल हाई स्कूल में एक बड़ा और सुव्यवस्थित सभागार था, इसलिए 'मिलन' संस्था के अधिकांश कार्यक्रम और प्रतियोगिताएँ हमारे ही स्कूल में सम्पन्न होती थीं।

इन प्रतियोगिताओं में नाट्य-मंचन, विज्ञान-नाटक, भाषण, कविता-पाठ, वाद-विवाद, गायन, तात्कालिक भाषण और तात्कालिक निबंध जैसी अनेक स्पर्धाएँ शामिल होती थीं। खेल-कूद प्रतियोगिताओं में जे.ई.ई.ए. द्वारा आयोजित हॉकी, फ़ुटबॉल और एथलेटिक्स प्रमुख थे। खेल प्रतियोगिताएँ दिसंबर समाप्त होने से पहले ही पूरी हो जाती थीं।

मेरी रुचि चित्रकला में अधिक थी। उसके बाद साहित्यिक गतिविधियाँ आती थीं। इसलिए खेलों का विस्तृत वर्णन मैं शायद न कर पाऊँ। हाँ, हॉकी मैंने प्राथमिक शाला के दिनों से खेलना आरंभ कर दिया था जो सिलसिला हाई स्कूल नाक निर्बाध चलता रहा। स्कूल की हॉकी टीमों-ग्रेड 'बी' और ग्रेड 'ए'-दोनों में मैं नियमित रूप से खेला। पर उन बातों को आगे कभी उस अध्याय में कहूँगा, जहाँ केवल हॉकी की बातें होंगी।

अभी-अभी अनायास एक और प्रसंग याद आ गया। वह भी एक प्रतियोगिता से जुड़ा हुआ है। पर वह प्रतियोगिता केवल एक ही वर्ष हुई थी-1969 में। तब मैं नवमी कक्षा में था। वह वर्ष मानव इतिहास में एक असाधारण वर्ष के रूप में दर्ज़ हो चुका था। नील आर्मस्ट्रॉन्ग पहली बार चन्द्रमा पर पहुँचे थे। 20 जुलाई 1969 , यू.टी.सी. के अनुसार समय था-02:56. पहली बार किसी मनुष्य ने चन्द्रमा की धरती पर अपना पाँव रखा था। वह क्षण केवल वैज्ञानिक उपलब्धि नहीं था; जैसे मनुष्य ने अपनी कल्पना की एक पुरानी सीमा को पार कर लिया हो।

नील आर्मस्ट्रॉन्ग ने उस समय कहा था-

"That's one small step for man, one giant leap for mankind."

"यह मनुष्य के लिए एक छोटा सा कदम है, लेकिन मानव जाति के लिए एक बहुत बड़ी छलांग है।"

(यह प्रसिद्ध कथन नील आर्मस्ट्रांग ने 20 जुलाई 1969 को कहा था, जब अपोलो 11 मिशन के दौरान उन्होंने चंद्रमा की सतह पर अपना पहला कदम रखा था।)

हमारे स्कूल ने इसी विषय पर एक एल्बम प्रतियोगिता आयोजित की थी। विद्यार्थियों को पत्र-पत्रिकाओं, अख़बारों और अन्य स्रोतों से चित्र और फ़ोटोग्राफ़ एकत्र कर उन्हें

कलात्मक ढंग से एक एल्बम में इस प्रकार सजाना था कि मानव के चन्द्र-विजय अभियान की पूरी कहानी उसमें क्रमबद्ध रूप से उभर आए।

उन दिनों हमारे घर 'सोवियत रूस' पत्रिका नियमित आती थी। 'स्पान' में भी इस विषय पर सुंदर रंगीन चित्रों के साथ सामग्री प्रकाशित हो रही थी। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसी पत्रिकाएँ भी लगातार चन्द्र-अभियान से जुड़ी ख़बरें और फ़ोटोग्राफ़ छाप रही थीं। मैंने भी इस प्रतियोगिता में भाग लिया। चित्र इकट्ठे किए। ब्लैक कार्ड-शीट से एक एल्बम बनाया और चित्रों को क्रमवार चिपकाया। प्रत्येक चित्र के साथ छोटी-छोटी पर्चियों पर आवश्यक जानकारी लिखकर लगाई।

अपोलो के प्रारम्भिक अभियानों से लेकर अपोलो-11 तक की पूरी यात्रा को मैंने उसमें संजोने की कोशिश की थी-नील आर्मस्ट्रॉन्ग, बज़ एल्ड्रिन और माइकल कॉलिन्स की वह यात्रा, जिसमें दो मनुष्य चन्द्रमा की सतह पर उतरे और तीसरा अंतरिक्ष यान में बैठा चन्द्रमा की परिक्रमा करता रहा। उस समय हम इन घटनाओं को केवल पढ़ नहीं रहे थे; उन्हें अपने भीतर किसी विस्मय की तरह महसूस भी कर रहे थे।

उस प्रतियोगिता में मुझे द्वितीय पुरस्कार मिला था। प्रथम पुरस्कार मेरे सहपाठी सुनील सचदेव को प्राप्त हुआ था।

मॉडल हाई स्कूल की बातें जैसे समाप्त होने का नाम ही नहीं लेतीं। और अजीब बात यह है कि मुझे बार-बार लगता है-अभी तो बहुत कुछ कहना शेष है। शायद इसलिए कि मेरे जीवन की जो बुनियाद बनी, उसकी मिट्टी वहीं से आई थी। स्वाभाविक है, उससे जुड़ी स्मृतियाँ भी असंख्य होंगी।

विज्ञान कहता है कि किसी भी संरचना का आधार यदि उसके ऊपर खड़े अवयवों की तुलना में अधिक विस्तृत और गहरा हो, तो वह संरचना अधिक स्थिर होती है। कभी-कभी मुझे लगता है, मेरे जीवन की जो भी स्थिरता है, उसका आधार उन्हीं वर्षों में कहीं बन गया था। उसकी पहचान शायद मैं अपनी कहानी की तीसरी किताब में कराऊँगा। वह अभी बहुत आगे की बात है।

अभी तो उन सहपाठियों की बातें भी शेष हैं, जो मॉडल हाई स्कूल की उस यात्रा में मेरे साथ थे। उनमें से कुछ इतने प्रतिभाशाली थे कि आज भी उन्हें याद करना भीतर

एक प्रेरणा-सी जगा देता है। मुझसे पहले के कई वरिष्ठ विद्यार्थियों ने भी स्कूल का नाम केवल नगर या प्रदेश में ही नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर तक पहुँचाया। उन सबकी चर्चा किए बिना मेरी यह कथा अधूरी रह जाएगी।

उन सबके बारे में धीरे-धीरे कहूँगा। स्मृतियाँ भी शायद इसी तरह आती हैं-एक साथ नहीं, बल्कि धूप में धीरे-धीरे खुलते पुराने आँगन की तरह। जैसे-जैसे हम शब्दों की इस राह पर आगे बढ़ेंगे, वे चेहरे, वे आवाज़ें, वे दिन-सब एक-एक करके सामने आते जाएँगे। दरअसल इस पूरी किताब में वे सब कहीं-न-कहीं बिखरे हुए है, जुड़े हुए हैं। इस किस्से या कथा में जहाँ भी मैंने 'हम' या 'हम लोग' कहा है - वह सिर्फ़ मेरी बात नहीं थी सभी मॉडेलियन्स की बात थी, सभी सहपाठियों, सभी पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती छात्रों की बात थी।

अभी फ़िलहाल एक छोटी-सी मज़ेदार बात याद आ रही है। नौकरी लगने के बाद मेरे साथ कुछ ऐसे सहकर्मी भी थे, जो मॉडल हाई स्कूल के ही विद्यार्थी रह चुके थे- कुछ मुझसे वरिष्ठ, कुछ कनिष्ठ। जब कभी किसी छोटी-बड़ी पार्टी या सामूहिक मिलन समारोह में हम इकट्ठा होते, तो थोड़ी ही देर में मॉडल हाई स्कूल की स्मृतियाँ हमारे बीच उतर आतीं। फिर हम सब दुनिया-जहान की बातें भूलकर उन्हीं यादों में खो जाते।

हमारे दूसरे साथी कभी-कभी झुँझला भी जाते थे। तंज़िया लहजे में हँसते हुए कहते- *"अब चलो भाई यहाँ से, इन लोगों का 'मॉडल पुराण' शुरू हो गया है।"*

मॉडल हाई स्कूल की स्मृतियाँ हम तक ऐसे लौटती हैं, जैसे कल की ही बात हो।

"शायद कुछ जगहें समय में पीछे नहीं छूटतीं।"

वे हमारे भीतर चुपचाप चलती रहती हैं, हमारे साथ-साथ –

"हमारी स्मृति का एक जीवंत हिस्सा बनकर हमारी आवाज़, हमारी दृष्टि, हमारी सोच के साथ साथ।" मॉडल हाई स्कूल ऐसी ही एक सांस लेती हुई जगह है मेरे भीतर।

□□□

2

संस्कार और संस्कृति

(घर-आँगन, तीज-त्योहार और उत्सव)

हम सब की ज़िंदगी के रास्ते-ऊबड़-खाबड़, ऊंचे-नीचे, आड़े-तिरछे, कंकरीले-पथरीले और जाने कितनी तरह की अड़चनों, विघ्न-बाधाओं से अटे-पटे होते हैं। कुछ, शायद बहुत कम; ऐसे भी होते होंगे जो बहुत सरलता से ये रास्ता पार कर जाते हैं। पर ऐसे किसी को मैं नहीं जानता। इस तरह से या उस तरह से हर किसी को कभी न कभी कुछ न कुछ परेशानी या दिक्कत आ ही जाती है।

हम सभी में से कोई नहीं चाहता उसके साथ ऐसा कुछ भी हो। कौन चाहेगा कि उसके हिस्से में असफलताएँ आएँ, बेचैनियाँ आएँ? पर हम सभी से परे कोई है, जो इस सारी उठा-पटक को चुपचाप देखता रहता है-बल्कि लगता है उसी ने ये खिलवाड़ रचा है, मानो हमारी उलझनों में ही उसका कोई गहरा, रहस्यमय मनोरंजन छिपा हो। बहरहाल जबरन की फ़िलॉसफ़ी छोड़कर, वो बातें करें जिन्हें इस चैप्टर में सँजोया जाना है।

मतलब, तीज-त्योहार की बातें करें।

यहाँ मुझे एक दृश्य दिखलाई पड़ता है। गिरते-पड़ते, रपटते-फिसलते लोग चले जा रहे हैं-ठीक वैसे ही रास्ते पर जिस किस्म के रास्ते का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है। तेज़ चिलचिलाती धूप में थककर चूर, पसीने से लथपथ। फिर एक बड़ा सा छायादार वृक्ष रास्ते में आ जाता है। प्यासे को जैसे शीतल जल मिल जाए, पसीने में लथपथ मुसाफिर कुछ पलों के लिए उस विशाल और सघन वृक्ष की छाँव में ठहर जाते हैं। उनकी सारी परेशानियाँ, सारी थकन; जैसे जादू के ज़ोर से गायब हो जाती है।

तीज-त्योहार, हमारी ज़िंदगी में कुछ इसी तरह से आते हैं।

या यों कहें मनुष्य ने ईश्वर को चुनौती दे डाली – तू डाल-डाल तो हम पात-पात।

उसने उत्सवों, त्योहारों को रच दिया। भागती-दौड़ती ज़िंदगी के रास्ते में किनारे पर लगे छायादार वृक्षों की तरह। जिनकी ठंडी छाँव में कुछ पल अपनी मर्ज़ी से जीने को मिल जाता है। उस वृक्ष की टहनियों पर सबकी अपनी-अपनी खुशियों की पोटलियाँ लटकी होती हैं। सब अपनी पोटली उतारकर उसे खोल लेते हैं। उनमें बीता हुआ सुख बँधा होता है। किसी बीती हुई ख़ुशी की याद। हम उस बीते सुख की धुन बीत रहे पलों के साज़ पर बजाते हैं। नाचते हैं, गाते हैं, कुछ थोड़े से पलों में अपनी सारी परेशानियाँ भूल जाते हैं। लेकिन एक बड़े नाटक के भीतर की ये लघु नाटिका समाप्त हो जाती है, सुकून और आनंद के ये पल बीत जाते हैं और फिर से वही यात्रा और उसकी उठा-पटक शुरू हो जाती है।

□□

उन दिनों की बात करूँ तो लगता है जैसे किसी और का जीवन था। एक धुंध थी - सुखद, निरापद । विद्यालय की सीढ़ियाँ, महाविद्यालय के लंबे बरामदे, और उनके बीच बीतते हुए वर्ष - सब कुछ एक अजीब स्थिरता में डूबा हुआ था।

झंझटें थीं, उलझनें थीं - पर वे हमारी नहीं थीं। माँ-बाप का साया था, और हम उसकी छाया में खड़े थे, उन दिनों सभी के साथ ऐसा ही होता है। ज़िंदगी के असल पेचदार रास्ते तब हमारे सामने नहीं आए होते हैं। हर मुसीबत झेलने बड़े हमारे साथ होते हैं।

हाँ ! परंतु भविष्य का अदृश्य भय ज़रूर था - वह भय जो रात को नींद से पहले आता है और सुबह चाय की भाप में घुलकर उड़ जाता है। बीमारियाँ भी आती थीं, छोटी-मोटी, जैसे मौसम बदलने की सूचना। लड़ाइयाँ भी होती थीं- किससे, किस बात पर- अब याद नहीं, शायद याद करने लायक थीं भी नहीं। और वो लड़ाइयाँ होती भी कहाँ थीं ! लड़ाइयाँ जैसी लगती थीं पर जैसे उनकी नकल।

और प्रेम ? वह भी था। लघु कथा जितना छोटा सा, और अधूरा भी, जैसे कोई वाक्य बीच में ही छूट जाए - और हम उसे पूरा करने की बजाय अगले पन्ने पर चले जाएँ।

कोई बात जो आधी-अधूरी रह जाए – जिसके बहुत सारे शब्द सुने जाएँ पर उससे भी ज़्यादा अनसुने रह जाएँ और उससे बहुत ज़्यादा अनकहे ही रह जाएँ . . . .

लेकिन बूंद जितनी उम्र का और उतना ही छोटा सा उसका आकार – प्रेम की वह प्रथम अनुभूति क्या जीवन भर साथ नहीं चलती। चलती है। चलती ही है। कभी तुम उसे पहचान पाते हो, कभी नहीं; कभी-कभी पहचानने के बाद भी अनजान अजनबी बने रहते हो। स्मृति और वर्तमान के बीच एक बहुत महीन सा परदा पड़ा होता है। उस परदे के पीछे कुछ एल्बम ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम बस एक तरफ़ पड़ा रहने देते हैं कभी खोलते नहीं। पर उस एल्बम में लगी हुई तस्वीरें हमें शिद्दत से याद आती रहती हैं। यदि हिम्मत हुई तो उस एल्बम को खोलूँगा और उसमें चिपकी हुई तस्वीरों के किस्से, प्रेम की उस लघु कथा के हिस्से और किस्से, और उनमें से झाँकते हुए कच्चे समय के अधपके लमहों की अधूरी कविताएँ भी सुनाऊँगा।

□□

त्योहार केवल उत्सव नहीं हैं -वे मानव अस्तित्व की गहरी जिज्ञासाओं का उत्तर हैं।

वैसे तो हम मानते हैं समय एक सतत प्रवाह है-काम, थकान, दोहराव। 'त्योहार' उस प्रवाह में एक सचेत विराम है। यह हमारी घोषणा है कि *"हम केवल थकने के लिए नहीं जीते और हम यंत्र मात्र ही नहीं हैं।"*

हर त्योहार समय को कुछ समय के लिए रोक देता है और हमारा असल हिस्सा तब हमारे बाहर आकर उस रुके हुए समय में उस ढंग से जी लेता है जिस तरह से हम जीना चाहते हैं।

त्योहार में एक अद्भुत विरोधाभास भी होता है -वह पुराने सुखद को याद करने का अवसर है, और साथ ही दुखद को भुलाने का भी। दीवाली में दीपक जलाना केवल राम के लौटने की स्मृति नहीं है; वह अँधेरे को स्वीकार करना और फिर भी प्रकाश चुनने का दर्शन है। त्योहार हमें सिखाते हैं कि जीवन में कुछ चीज़ें याद रखने योग्य हैं, और कुछ छोड़ने योग्य।

हम अपने एकांत में "मैं" हैं। त्योहार में "हम" बन जाते हैं। यह बहुत गहरा रूपांतरण है। जब हज़ारों लोग एक साथ एक लय में नाचते, गाते या प्रार्थना करते हैं, तो व्यक्तिगत अहंकार कुछ समय के लिए गल जाता है। यही समष्टि-चेतना का अनुभव है जिसे दर्शनशास्त्र खोजता है और त्योहार सहज ही दे देता है। त्योहार वह दहलीज़ है जहाँ पवित्र और सांसारिक मिलते हैं। मिठाई खाना भी पूजा बन जाती है, रंग खेलना भी अध्यात्म। यह दर्शाता है कि जीवन स्वयं पवित्र है -बस उसे देखने की दृष्टि चाहिए। त्योहार वही दृष्टि हमें प्रदान करते हैं। हर त्योहार के पीछे कहीं न कहीं मृत्यु की भी छाया है, नष्ट हो जाने का भी छिपा है- पितृपक्ष, होलिका दहन, रावण-दहन। मनुष्य जानता है कि वह नश्वर है, और फिर भी उत्सव मनाता है। यही उसकी सबसे बड़ी बहादुरी है। त्योहार मानो कहते हैं -*"सब कुछ क्षण भंगुर है -इसीलिए इस क्षण को पूरी तरह जियो।"* क्या पता 'कल' हो न हो।

त्योहार दर्शन की पाठशाला नहीं है -वह दर्शन का जीवंत अनुभव है। जो बातें शब्दों में समझाना कठिन है, वे दीपक की लौ में, एक साथ गाए गए गीतों में, और एक थाली में बाँटे गए भोजन में, हथेली पर रखे प्रसाद में स्वयं प्रकट हो जाती हैं।

त्योहार हमारे जीवन के शुरुआती दिनों में हमें जीवन संग्राम में लड़ सकने की, जूझने की हार से भी सीख लेने की सम्पूर्ण ट्रेनिंग देते हैं।

फिर तो इस ट्रेनिंग की स्मृति को खंगालने की

आवश्यकता तो समझ में आती है।

एक रिफ्रेशर कोर्स की तरह।

□□

तो शुरुआत करते हैं सबसे पहले उस त्योहार से, जिसकी मुझे कोई स्मृति नहीं है।

लेकिन बाई और बाबू जी के लिए वह बड़ा, बहुत बड़ा त्योहार था। उस त्योहार का मुझे उस वक़्त भी कुछ अता-पता नहीं था न ही मुझे उसकी कोई स्मृति है। मैं बात कर रहा हूँ अपने जन्म-दिन की । बेशक बाई और बाबू जी के लिए वह दिन त्योहार था, हर माँ बाप के लिए होता है। बाद में भी इस दिन को हर बरस त्योहार

की तरह ही याद किया जाता है। अपवाद स्वरूप इससे इतर भी कुछ हो सकता है, पर अपवाद तो हर जगह होते हैं। अपने जन्म से जुड़ी बातें मैं पहले ही बता चुका हूँ 'आरम्भ' में।

यहाँ बस इतना बता दूँ जिस दिन मेरा जन्म हुआ यानी 21अप्रैल 1956 को, वह शनिवार का दिन था। हिन्दू तिथि गणना के हिसाब से वह विक्रम संवत 2013, चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी थी।

उस दिन "कामदा एकादशी" भी थी।

अब बात कामदा एकादशी की भी कर ही ली जाए।

'कामदा एकादशी' का शाब्दिक अर्थ है - 'इच्छाओं का ग्यारहवाँ दिन'। यह चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को मनाया जाने वाला हिंदू पर्व है, जो चैत्र नवरात्रि के पश्चात् आने वाली प्रथम एकादशी है। इस दिन भगवान वासुदेव तथा माँ लक्ष्मी की पूजा-अर्चना की जाती है। मान्यता है कि इस व्रत के प्रभाव से भक्त की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं, पापों का नाश होता है, तथा धन, ऐश्वर्य और सौभाग्य की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि ब्रह्म हत्या जैसे महा पापों और पिशाच-दोषों से भी मुक्ति मिलती है। इसकी कथा पढ़ने-सुनने मात्र से वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

इस एकादशी की कथा वराह पुराण में वर्णित है, जिसे भगवान कृष्ण ने युधिष्ठिर को सुनाया था। राजा पुंडरीक के समृद्ध नगर रतनपुर में ललित और ललिता नामक गंधर्व दम्पती निवास करते थे। ललित राज दरबार का प्रसिद्ध गायक था और ललिता नर्तकी थी। एक बार दरबार में गायन के समय ललित का मन पत्नी की याद में भटक गया और वह सुर चूक गया। नाग कर्कोटक ने यह बात राजा को बता दी, जिससे क्रुद्ध होकर राजा ने ललित को विकराल नरभक्षी राक्षस बनने का श्राप दे दिया। दुखी ललिता अपने राक्षस-रूपी पति के साथ वन-वन भटकने लगी।

विंध्याचल में श्रृंगी ऋषि से भेंट होने पर ललिता ने उनसे उपाय माँगा। ऋषि ने उसे कामदा एकादशी का व्रत रखने का निर्देश दिया। ललिता ने श्रद्धा पूर्वक व्रत किया और व्रत के पुण्य को पति की मुक्ति हेतु भगवान कृष्ण को समर्पित किया। कृष्ण के

आशीर्वाद से ललित पुनः अपने गंधर्व रूप में आ गया और दोनों दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर स्वर्ग को प्रस्थान कर गए।

संयोगवश, मेरे जन्म की तिथि भी कामदा एकादशी ही है - यद्यपि इसका कोई विशेष अभिप्राय मैं नहीं जानता, न मेरे माता-पिता को इसकी सुध थी। बस इतना ही कहा जा सकता है कि शायद किसी पूर्वजन्म की कोई इच्छा उस दिन पूर्ण हुई हो। किंतु इस कल्पना को यहीं विराम देना उचित है।

बात करें त्योहारों की। आसानी होगी यदि प्रारंभ हमारे नव वर्ष के दिन से करें। हमारा नववर्ष मतलब "भारत देश का नव वर्ष"।

जब भारत वर्ष का नया साल प्रारंभ होता है तब वास्तव में वर्ष के प्रथम मास चैत्र के पंद्रह दिवस बीत चुके होते हैं।

अंग्रेजी कैलेंडर के अनुसार, हर साल 1 जनवरी से नए साल की शुरुआत होती है। लेकिन वहीं, हिंदी कैलेंडर की बात करें तो, इसके अनुसार नया साल चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि से शुरू होता है। जबकि चैत्र मास की शुरुआत होली के अगले दिन से ही हो जाती है। फाल्गुन मास की पूर्णिमा को होलिका दहन होता है, जो कि हिन्दू वर्ष का अंतिम दिन होता है। हिंदी कैलेंडर के अनुसार, होली के अगले दिन से चैत्र का महीना शुरू हो जाता है। लेकिन हिन्दू वर्ष का प्रारंभ चैत्र मास की शुरुआत के 15 दिन बात यानी चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से मानी जाती है। यानी चैत्र मास के शुरुआत के 15 दिनों (कृष्ण पक्ष) को नववर्ष में नहीं गिना जाता है। क्योंकि ये दिन अमावस्या की ओर यानी अंधकार की ओर जाते हैं। हिन्दू कैलेंडर के अनुसार नया साल चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से शुरू होता है सनातन धर्म में अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ने की मान्यता है, इसीलिए शुक्ल प्रतिपदा- जो प्रकाश की शुरुआत है, से हिन्दू नववर्ष का आरंभ माना जाता है।

यह बात अपने आप में कितनी अर्थपूर्ण है कि हमारे पुरा पुरनियों और पुरखों ने यात्रा की शुरुआत अँधियारे से प्रकाश की ओर जाने की सोच रखकर की। यही बात हमारे वेदों में यों कही गई है-

ॐ (ओम) असतो मा सद्गमय।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्मामृतं गमय ॥

ॐ (ओम) शान्ति शान्ति शान्तिः ॥

(इसका अर्थ है कि –

"मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो।

झे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।

मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।"

यह श्लोक 'बृहदारण्यकोपनिषद् ' से लिया गया है।)

"तमसो मा ज्योतिर्गमय" का शाब्दिक अर्थ है तमस अर्थात् अंधकार से, ज्योति अर्थात् प्रकाश की तरफ़ ले चलो। इस श्लोक का गूढ़ अर्थ यह निकाला जा सकता है कि अंधकार यानी कि बुराई और बुरी आदतों को त्यागने में समर्थ होकर प्रकाश यानी कि सत्य के पथ पर उन्मुख हो पाऊँ। यही जीवन की वास्तविक साधना और आध्यात्म है।

हमारे पूर्वजों ने इसका एक कारण और भी बताया है -

चैत्र मासि जगत ब्रह्मा संसर्ज प्रथमेऽहनि,
शुक्ल पक्षे समग्रेतु तदा सूर्योदय सति।।

ब्रह्म पुराण में इस बात का वर्णन मिलता है कि, जब ब्रह्मा जी ने इस सृष्टि की रचना की तब *चैत्र मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि* ही थी। इसलिए इस दिन को बेहद शुभ माना जाता है, और *इसी तिथि से हिंदू नववर्ष की शुरुआत* भी मानी जाती है।

यही दिन चैत्र नवरात्र का प्रथम दिवस भी होता है। नवरात्र पूजन की घट-स्थापना इसी दिन होती है और आदि शक्ति के शैलपुत्री स्वरूप की पूजा की जाती है। कितनी अद्भुत और मन को विभोर करने वाली बात है। हम भारत में अपने नववर्ष का प्रारंभ

आदि शक्ति की पूजा आराधना से करते हैं। जो बात पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अभी कुछ सौ साल पहले जानी, हमारे पूर्वज हजारों साल पहले ही जानते थे। शक्ति ही है जिसने अपने को पदार्थ रूप में व्यक्त किया और उससे संयुक्त होकर अस्तित्व की सृष्टि की रचना की। शक्ति के बिना पदार्थ शव के सामान है। जब शक्ति और पदार्थ का मिलन होता है तब शिव का जन्म होता है। तब सत्य का जन्म होता है, तब बोध का जन्म होता है, तभी अस्तित्व अपना अर्थ ग्रहण करता है। "सत्यम शिवम सुन्दरम" की सूक्ति या सूत्र मात्र शब्दों का संयोजन नहीं है। यह हमारी सृष्टि रचना की सरल तम किन्तु गूढ़ अवधारणा है। बहरहाल यदि हम इसी व्याख्या में संलग्न हो गए तो मार्ग से बहुत अधिक दूर भटक जाएँगे। साथ ही जिसे समझने समझाने में वेद,उपनिषद, पुराण आदि अनेकानेक ग्रन्थ खप गए वह मेरे जैसा मूढ़ मति क्या ही व्याख्यायित कर सकेगा।

सो हम लौटें 'नवरात्र' पर। नवरात्र के प्रथम तिथि कप माँ शैलपुत्री की, द्वितीया तिथि को माँ ब्रह्मचारिणी, तृतीया को माँ चंद्र घंटा, चतुर्थी को माँ कूष्मांडा, पंचमी को माँ स्कंद माता, षष्ठी को माँ कात्यायनी, सप्तमी को माँ कालरात्रि, अष्टमी को माँ महा गौरी और नवमी तिथि को माँ सिद्धिदात्री का पूजन अर्चन होता है। यहाँ पर यह भी बता दूँ कि नवरात्र दो प्रकार की होती हैं। एक तो सामान्य जनों के लिए प्रत्यक्ष नवरात्र दूसरी तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के इच्छुक साधकों के लिए गुप्त नवरात्र। अब एक बात और है कि दोनों प्रकार की नव रात्रियाँ साल में दो बार आती हैं। इस प्रकार कुल चार बार नवरात्र पर्व आता है। परन्तु हम सामान्य जन केवल प्रत्यक्ष नवरात्रियों से सरोकार रखते हैं, जो कि चैत्र और आश्विन माह में पड़ती हैं। आश्विन माह में आने वाली नवरात्र को शारदीय नवरात्र भी कहते हैं, क्योंकि यह शरद ऋतु में पड़ती है। इस तरह से नवरात्र साल में चार बार आती है। चैत्र और आश्विन मास में प्रत्यक्ष नवरात्र तथा आसाढ़ और माघ मास में गुप्त नवरात्र। जिस तरह से प्रत्यक्ष नवरात्र में आदि शक्ति के नौ स्वरूपों की पूजा की जाती है, उसी प्रकार गुप्त नवरात्र में दस महा विद्याओं का पूजन-अर्चन और आराधना होती है। ये दस महा विद्याएँ भी 'आदि-शक्ति' के ही दस अलग-अलग रूप, प्रकार या विग्रह हैं – माँ काली, माँ तारा, माँ त्रिपुर सुन्दरी, माँ भुवनेश्वरी, माँ छिन्नमस्ता, माँ भैरवी या त्रिपुर भैरवी, माँ धूमावती, माँ बगलामुखी,

माँ मातंगी देवी एवं माँ कमला। इन महाविद्याओं की आराधना और साधना 'गुप्त नवरात्र' अत्यंत गुप्त रीति से की जाती है। जैसी कि जानकारी मुझे प्राप्त हुई है उसके अनुसार ये दस महा-विद्याएँ प्रवृति के आधार पर तीन समूहों में स्थापित या बँटी हैं। उग्र कोटि, सौम्य कोटि तथा सौम्य-उग्र कोटि।

काली, छिन्नमस्ता, धूमावती,और बगलामुखी महा विद्या ये चारों उग्र कोटि की महा विद्याएँ मानी जाती हैं। जबकि त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, मातंगी और कमला महा विद्या सौम्य कोटि की महा विद्याएँ हैं। सौम्य-उग्र कोटि में तारा महा विद्या और त्रिपुर भैरवी महा विद्याएँ मानी जाती हैं। हर एक महा विद्या की साधना अलग-अलग फल प्रदान करने वाली होती है। साधक को अपने अभीष्ट के अनुसार महा विद्या का चुनाव कर नवरात्र में निष्ठापूर्वक सम्पूर्ण तांत्रिक विधि-विधान से साधना करनी होती है।

ये तो हुई 'नवरात्र' पर्व के सम्बन्ध में आधारभूत जानकारी, जो मुझे कुछ अपने बुजुर्गों से, कुछ किताबों से और कुछ इन्टरनेट से प्राप्त हुई है। यदि इसमें कोई त्रुटि हो तो वह मेरी क्षुद्र समझ का परिणाम हो सकती है, जिसके लिए मैं; क्षमा प्रार्थी हूँ।

चैत्र-नवरात्र पर्व, सनातन धर्म के प्रथम दिवस से प्रारम्भ होता है, इस प्रथम दिवस को नव-संवत्सर कहते हैं। नव-रात्र के सम्बन्ध में यही दिन बैठकी या घटस्थापना दिवस के नामों से भी जाना जाता है, यह बात ऊपर बताई जा चुकी है। । भारत वर्ष के अलग-अलग क्षेत्रों में यह दिन अलग-अलग नामों से जाना जाता है, और मनाया जाता है। कुछ मुख्य क्षेत्रों या संस्कृतियों की बात करूँ तो – तेलुगु और कन्नड़ समुदायों में या संस्कृतियों में इसे 'उगादि' के नाम से मनाया जाता, मराठी संस्कृति में 'गुडी पडवा', बंगाली संस्कृति में 'पोहेला बैसाख', मलयालम संस्कृति में 'विशु', तमिल संस्कृति में 'पुतांडु', असमी संस्कृति में 'रोंगाली बिहू' के रूप में मनाते हैं। इसके अलावा कश्मीरी नववर्ष, 'नवरेह' या 'नव्रेज' के नाम से और सिंधी संस्कृति में 'चेटीचंड' के नाम से मनाया जाता है। गुजरात में इसे 'नव वर्ष' या 'नव संवत्सर' ही कहते हैं, पर वहाँ, माँ के पूजन अर्चन की पारंपरिक शास्त्रीय विधियों के साथ 'गरबा नृत्य' भी शामिल है। ओडिया संस्कृति में नव वर्ष को 'पणा संक्रांति' 'ओड़िया नववर्ष' कहते हैं। ये सारे त्योहार भले ही अलग-अलग नाम से माने जाते हैं, मनाने

के विधि-विधान, पूजन एवं भोग सामग्री आदि में भी भिन्नता पाई जाती है, किन्तु इन सभी के मनाए जाने की तिथि एक ही है 'चैत्र शुक्ल प्रतिपदा'।

अब यदि इसके आगे भी मैंने इसी तरह से लिखना जारी रखा तो ये किताब कुछ और ही स्वरूप ग्रहण कर लेगी। इसलिए अब बस।



अब कुछ अपनी बात करूँ –

बाई, मेरी माँ ने जबलपुर की 'शासकीय कन्या पाठशाला भानतलैया' में कई वर्षों तक अध्यापन का कार्य किया था। उस दौरान जब मैं भी प्राथमिक पाठशाला में पढ़ता था, तब प्रायः उनके साथ जाया करता था। वे प्रातः कालीन पाली में अध्यापिका थीं। जबकि मेरा स्कूल दोपहर का था। उनके साथ लौट कर आने के बाद मैं अपने स्कूल जाता था। इस सब का मैंने 'आरंभ' में विस्तार से वर्णन किया है। बाई जिस स्कूल में पढ़ाती थीं, उसके एकदम पास जबलपुर का प्रसिद्ध बड़ी खेरमाई मंदिर है। बल्कि मुझे ये कहना चाहिए कि 'बड़ी खेरमाई मंदिर' के एकदम पास भानतलैया की वह शासकीय कन्या पाठशाला थी, आज भी है- जिसमें वे पढ़ाती थीं। बाई के स्कूल का मुख्य दरवाज़ा बड़ी खेरमाई मंदिर के हनुमान ताल की ओर वाले मुख्य द्वार से एक चौथाई फर्लांग से भी कम दूरी पर था। नवरात्र के दिनों में हम सुबह सुबह, बाई का स्कूल आरंभ होने के पहले 'माँ' के दर्शन के लिए जाते थे। कई बार 'माँ' के दर्शन यदि सुबह देर हो जाने के कारण नहीं कर पाते तो फिर स्कूल की छुट्टी के बाद मंदिर से होते हुए घर लौटते थे। नवरात्र के पूरे नौ दिनों तक मंदिर परिसर में मेला भरता था। जिन्होंने यह मंदिर देखा है या जो लोग जबलपुर के हैं, वे जानते हैं, कि बड़ी खेरमाई मंदिर का पूरा परिसर कितने विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है। उस समय मंदिर के दो मुख्य द्वार थे। एक तो वही, जिसके समीप बाई का स्कूल था, दूसरा घमापुर चौक की तरफ़ जाने वाली सड़क के किनारे। तीसरा द्वार या मंदिर पहुँचने का रास्ता इन दोनों द्वारों के विपरीत दिशा में था। अब उस रास्ते या दरवाज़े की आज की तारीख़ में क्या स्थिति है, मुझे ज्ञात नहीं है।

परन्तु बाई के साथ मेला घूमने की साध पूरी नहीं हो पाती थी।

कारण सिर्फ़ समय का अभाव था, बस !

सुबह बाई के स्कूल का समय दोपहर को मेरे स्कूल का समय।

हाँ, बीच-बीच में किसी दिन जब हम बाई के स्कूल से लौटते समय माता रानी के दर्शन करते थे, तब बाई मुझे कुछ खाने के लिए ले देती थीं। मेला देखने तो मैं बुआ के साथ आता था, प्रायः महा-अष्टमी या नवमी के दिन। इन दिनों में स्कूल की छुट्टी रहती थी। वैसे शारदीय नवरात्र के समय तो उन दिनों प्राइमरी, मिडिल और हाई स्कूलों में दीपावली की छुट्टियाँ शुरू हो जाती थीं।

दीपावली की ये छुट्टियाँ पूरे चौबीस दिनों की होती थीं। इन छुट्टियों के समय मौसम न गर्म होता, न सर्द। हम लोगों के ख़ूब जी भर के खेलने, घूमने-फिरने, मस्ती करने के लिए सर्वथा अनुकूल और उपयुक्त।

जब हम छोटे थे, मतलब प्राथमिक शाला में पढ़ाई के समय, तब हमारा समय, रामलीला का खेल खेलते हुए, टीप-रेस, फ़िल्मों की 'स्टोरी' सुनते-सुनाते बीतता था। यहाँ फ़िल्मों की 'स्टोरी' का और खुलासा कर दूँ - असल में तब हम फ़िल्में अपनी मर्ज़ी से नहीं जा पाते थे। या तो पूरा परिवार किसी अच्छी फ़िल्म को देखने टॉकीज जाता था, या फिर बाहर से कोई रिश्तेदार आता तो वह भी कभी-कभी अपने संग ले जाता था। जबलपुर के आस-पास के छोटे शहरों, कस्बों या ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले कई रिश्तेदार केवल सिनेमा देखने के उद्देश्य से भी आ जाया करते थे। तब कई बार ऐसे मौके आ जाते थे। जब भी हममें से कोई सिनेमा देख आता था, तब बाक़ी सभी मित्र उस पिक्चर की कहानी सुनाने के लिए उसके पीछे पड़ जाते थे। एक तरह से पिक्चर की कहानी सुनाना, या जिसे हमारी बोलचाल की भाषा में 'स्टोरी सुनाना' कहा जाता था, एक इवेंट बन जाता था। स्टोरी बार-बार न सुनाना पड़े, इसलिए स्टोरी सुनाने का समय और स्थान तय कर लिया जाता था। सभी जने उस वक़्त उसी जगह इकट्ठा हो जाते और स्टोरी सुनाने वाला मित्र गर्व से पूरे हाव-भाव के साथ स्टोरी सुनाना प्रारंभ करता। बीच-बीच में पिक्चर के ख़ास संवाद अपनी आवाज़ के उतार-चढ़ाव के साथ

यथासंभव उसी अंदाज़ में सुनाने की कोशिश करता, जिस तरह फ़िल्म में एक्टर ने बोले होते थे। सुनने वाले संगी-साथी आँखें फाड़े और मुँह बाए हैरत से स्टोरी का आनंद लेते थे। मैंने कई बार स्टोरी सुनाई भी है और सुनी भी है। इसलिए मैं उस आनंद और उस दुनिया से बहुत अच्छी तरह से वाकिफ़ हूँ, जिसमें स्टोरी सुनते-सुनते हम डूब जाया करते थे। यह रंग-बिरंगा और हैरतअंगेज़ तिलिस्म कभी-कभी अचानक टूट जाता, जब कोई बड़ा चिल्लाकर किसी को बुला लेता। जिसे बुलाया जाता, वह कोई भी हो सकता था - सुनाने वाला या सुनने वालों में से कोई एक। नतीजा एक ही होता था, स्टोरी सुनाने का कार्यक्रम 'बाक़ी बाद में' के साथ स्थगित हो जाता था। हम लोगों का कैशोर्य उसी सामाजिक कालखंड में बीता था, जब फ़िल्में, फ़िल्मी कलाकार और उनका प्रभाव अपने चरम पर था। इसलिए आज भी हमारी पीढ़ी या कुछ आगे-पीछे की पीढ़ियों वाले लोग अक्सर उसी मायावी दुनिया की स्मृतियों की धुंध में सुकून ढूँढ लेते हैं, जब चीज़ें बर्दाश्त से बाहर हो जाती हैं। अपने बारे में तो यह बात मैं दावे से कह सकता हूँ। इस संबंध में विस्तार से बातें करने के लिए एक अलग चैप्टर लिखने की योजना मेरे मन में है। तभी इस सिलसिले से जुड़ी और बातें करेंगे।

जब हम छठवीं, सातवीं कक्षाओं में पढ़ रहे थे, उस दौरान दीपावली की छुट्टियाँ घर पर या घर के आस-पास की गलियों में, परन्तु प्रायः मोहल्ले की हद में ही खेलते-कूदते, घूमते-फिरते और दौड़ते-भागते बीत जाती थीं। मॉडल हाई स्कूल के मंडलीय वर्गीकरण के हिसाब से उस समय हम 'चन्द्र मंडल' में थे, और जिस तरह चन्द्रमा पृथ्वी के चक्कर सतत् लगाता रहता है, उसी तरह हम लोग यानी हमारी मित्र-मंडली के सभी सदस्य मोहल्ले के भीतर अपने-अपने घरों के आस-पास ही पाए जाते थे, या फिर घरों में। घर चाहे स्वयं का हो या मित्रों का।

एक बात वैसे थोड़ी कष्टप्रद थी - मॉडल हाई स्कूल में इन छुट्टियों के दौरान बहुत अधिक 'होमवर्क' मिलता था। जुलाई माह से लेकर इन छुट्टियों तक हर विषय में जितनी पढ़ाई हो जाती थी, वहाँ तक के सभी 'चैप्टर्स' की लगभग सारी अभ्यास-मालाएँ और इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ - गुरुजी लोगों के अपने दिमाग में उपजे प्रश्न तथा अभ्यास कार्य पूर्ण करना होते थे। छुट्टियों के शुरुआती आधे से अधिक दिन

तो कब चुक जाते पता ही नहीं चल पाता था। उसके बाद अचानक कोई याद दिला देता या खुद की स्मृति ही सहसा जाग पड़ती थी। फ़िर, जिस आनंद के 'तरण-ताल' में मैं पिछले एक सप्ताह से अधिक समय से तैर रहा होता था, उसके पानी में जैसे तीखी मिर्च घुल जाती। मैं उचट कर बाहर आ जाता। इसके उपरान्त एक-दो दिन तो सदमे में गुज़र जाते। लेकिन बचाव की कोई सूरत नहीं है, इस सत्य का बोध होते ही, बस्ता खुलता, कॉपी-किताबें खुलतीं और मैं जुट जाता उस काम में जिसे करने का मेरा बिलकुल भी मन नहीं होता था। लेकिन उससे क्या होता? करना तो पड़ता। फिर अब बाई की पैनी नज़र भी मेरी निगरानी करने लगती।

रोज़ शाम को उनके साथ बैठकर पढ़ाई करने का मौसम फिर शुरू हो जाता। छुट्टियों के शुरुआती सात-आठ दिनों का बसंत समाप्त हो जाता। यह सिलसिला मिडिल स्कूल की कक्षाओं तक तो बदस्तूर चलता रहा। जब मैं आठवीं जमात में था, तब हमारे घर में बिजली का कनेक्शन लगा था। इसके बाद मिट्टी के तेल से जलने वाले लैंप के इर्दगिर्द बैठकर पढ़ने की मजबूरी नहीं रही, लिहाज़ा हम भाई-बहन अलग-अलग बैठकर पढ़ने लगे। नवमी कक्षा से मैंने टेबल-कुर्सी पर बैठकर पढ़ना शुरू कर दिया था। हमारे घर पर जो लकड़ी की बड़ी टेबल थी और एक लकड़ी की ही कुर्सी, मेरे उपयोग में आती थी। उस समय हमारे यहाँ तीन कुर्सियाँ हो गई थीं। एक बहुत पुरानी लोहे की 'फोल्डिंग चेयर', जो फोल्ड होना बंद कर चुकी थी। दो लकड़ी की कुर्सियाँ, जो उसके बनिस्बत नई थीं। उस समय आने वाले अतिथियों को हम इन्हीं कुर्सियों पर बैठाते थे। हमारा सोफ़ा सेट, जो लकड़ी का और केन की बुनाई वाला था, उस दौर से थोड़ा सा बाद में ख़रीदा गया था। उस पर रखने वाली गद्दियाँ घर पर ही बनाई गई थीं। गद्दियों के कवर और सोफे तथा उसकी कुर्सियों के बैक कवर भी घर पर ही बाई ने सिले थे। हमारे घर पर पैरों से चलाई जाने वाली सिलाई मशीन थी। इस तरह के सारे काम रविवार की दोपहर को होते थे। दोपहर का खाना हो जाने के बाद। ऐसे कामों में बाबूजी भी पूरा-पूरा सहयोग देते थे। बल्कि मूल डिज़ाइन बाबूजी ही बनाते और बाई से डिस्कस करके फाइनल करते थे।



दीपावली की छुट्टियाँ जैसे-जैसे समाप्ति की ओर बढ़तीं, मेरा तनाव बढ़ता जाता। मैं अपने पुत्र अंकित और पौत्री किट्टू से एकदम उलट था। ये दोनों स्कूल की तरफ़ भागते हैं – माने किट्टू अभी भी और अंकित बारहवीं तक, उसके बाद उसने कॉलेज की पढ़ाई भोपाल से की; उस पीरियड के बारे में मैं नहीं कह सकता। लेकिन मुझे इस तरह का कोई आकर्षण नहीं होता था। किन्तु अनुशासन तो था। साथ ही मेरे मन में यह भी बिठा दिया गया था कि पढ़ाई-लिखाई करना ही जीवन में सफलता की कुंजी है। जिन्होंने पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी थी या सिरे से की ही नहीं थी, ऐसे कुछ महापुरुष-नुमा किशोर या बड़ी कभी कोई ईर्ष्या नहीं हुई, ये बात मुझे अच्छी तरह से याद है। इसका कारण शायद ये भी रहा हो कि कक्का यानी कंधी लाल जी मुझे भी अपने यहाँ पटाखे छोड़ने बुलाते थे। पर मैं शायद एकाध बार ही गया होऊँगा।

अब बात थोड़ा 'दीपावली पूजा' के बारे में कर लें। जहाँ तक मुझे याद है, 'सत्यनारायण की कथा' या 'हरि तालिका व्रत' के सिवाय कभी भी पूजा कराने किसी पुरोहित या पंडित जी को घर नहीं बुलाया जाता था। दीवाली की पूजा भी बाई स्वयं करवा लेती थीं। पूजा बाबूजी करते थे। हम सभी बच्चे आस-पास घेर के बैठे रहते थे। आरती सभी करते थे। पूजा के दौरान बुआ बाहर के कमरे में बैठी रहती थीं। शुरू में मैंने इस पर ध्यान नहीं दिया। पर जब मेरा ध्यान इस बात पर गया तब, मुझे याद है बाई ने बस इतना कहा था – "*वो बाद में करेंगी*"। मैं संतुष्ट हो गया। कुछ और बड़ा होने पर मुझे जो चीज़ें समझ आईं उनका उल्लेख न करूँ तो उचित होगा। क्योंकि मैं ऐसी बातों से सहमत नहीं हूँ। तब भी नहीं था, पर तब बहुत छोटा था।

पूजा घर के रसोई घर में होती थी। लकड़ी का एक 'पीढ़ा', गोबर से लीपे हुए फ़र्श पर गेहूँ के आटे से बने 'चौंक' के ऊपर रख दिया जाता। चौंक शुभ अवसरों पर बनाई जाने वाली रंगोली का सरलतम रूप होता है। उस पर लक्ष्मी जी की मूर्ति और रोज़ की पूजा वाले 'भगवान् जी' को सिंहासन सहित रख दिया जाता था। बाक़ी सब सामग्री, फल-फूल, मिठाई, लाई-बताशे, मिट्टी के छोटे-छोटे रंग-बिरंगे बर्तन, थोड़े से पटाखे, पूजा का सामान, चाँदनी के फ़ूलों से घर में ही बनाए गए हार-'बड़ी पूजा' के लिए उसी 'पीढ़े' के आस-पास जमा दिए जाते।

दिन में पूजा की सारी तैयारी कर ली जाती थी। पूरा खाना भी बन जाता था, जिसमें रोज़ खाए जाने वाले दाल-भात, रोटी-सब्ज़ी के साथ पापड़, पूरियाँ, सूजी का हलवा, बरे, पकौड़ी या भजिये आदि शामिल होते थे। लगभग साढ़े सात या आठ बजे तक पूजा शुरू हो जाती। पहले रोज़ होने वाली पूजा संपन्न होती थी, बाई के अनुसार वह घर के भगवान् जी की पूजा हुआ करती थी - 'घर वाली पूजा'। इस पूजा की "ओम जय जगदीश हरे... " वाली आरती हो जाने के बाद दीवाली वाली पूजा होती। अब लक्ष्मी जी का पूजन होता, पुनः जल, अक्षत, हल्दी, कुमकुम, पुष्प चढ़ाए जाते और भोग लगाया जाता। इस बार भोग में लाई, बताशे, सिंघाड़े, घर के बने पकवान - 'गुझिया', 'बेसन की बर्फी', 'अँदरसे' आदि भी माँ लक्ष्मी को चढ़ाए जाते। बहुत पुराने समय के कुछ चाँदी के सिक्के और बाई के थोड़े बहुत जो भी आभूषण थे वे सभी और मिट्टी के खिलौने वाले बर्तन, थोड़े से पटाखे भी पूजा में रखे जाते; उनका भी पूजन होता था। फिर आरती और हवन होता। इसके बाद 'बड़ी पूजा होती', लक्ष्मी जी के पूजन के बाद एक और पूजा होती जिसे बाई 'बड़ी पूजा' कहा करती थीं। अब पूजन स्थल पर ही पानी छिड़क कर एक और 'चौंक' बनाया जाता, उसपर धुला हुआ - मिट्टी का नया 'कूँड़ा' रखा जाता था। एक कटोरी में शुद्ध घी पिघला कर लिया जाता और अपनी हथेलियों पर घी चुपड़ कर बाबूजी लक्ष्मी जी की मूर्ति के ऊपर दीवार पर एक ऊपर और दो नीचे इस तरह कुल तीन छाप अपनी हथेलियों से लगाते थे। इन्हें 'हाथे' कहा जाता था। इसके पश्चात् इन हाथे की छापों का पूजन होता था। जल, अक्षत, हल्दी, कुमकुम, पुष्प आदि चढ़ाने के साथ घी वाली कटोरी को इन हाथे की छापों के थोड़ा सा ऊपर रखकर और दीवार से सटाकर बाबूजी बाईं से दाहिनी ओर इस तरह से घुमाते थे कि कटोरी में बचा हुआ घी एक क्षैतिज लकीर में बाहर रिसकर नीचे की ओर कई जगहों से बह जाता और हाथे की छापों तक पहुँच जाता था। मैं हर साल इस प्रक्रिया को बड़ी कौतुक भरी नज़रों से देखता था। लेकिन इस मैं ये कभी नहीं पूछ पाया कि ये 'हाथे' तीन ही क्यों होते। ऐसा याद पड़ता है कि बाई ने कभी बातों-बातों में बताया था, ये पुरखे हैं। अब कभी ये विचार या प्रश्न मन में उठता है तो सोचता हूँ - ये शायद मेरे 'आजा' और 'दो आजियों' के प्रतीक हों। जो भी हो ढेरों अनुत्तरित सवालों में से एक सवाल यह भी अनुत्तरित ही बचा रह गया।

इसीलिए तो कहा जाता है पूर्ण सिर्फ़ एक 'वही' है,
उसके अलावा बाक़ी के हम सब तो आधे-अधूरे हैं।

अब फिर से हाथे की छापों का पूजन होता, उसके बाद मिट्टी के नए कूँड़े की पूजा होती थी। फिर उसमें घर का बना खाना, पकवान, मिठाइयाँ, लाई, बतासे, सिंघाड़े आदि बाबूजी दोनों हथेलियों की अंजलि बनाकर सात बार में डालते थे। फिर कूँड़े को एक धुली हुई थाली से ढँक दिया जाता था। अब एक बड़ा दिया जलाकर इस थाली के ऊपर रख दिया जाता था। कूँड़े में जो सामग्री भरी जाना होती थी उसे एक बड़ी थाली में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकालकर पहले से तैयार रखती थीं। अब अंत में फिर से हवन और आरती होती थी। सभी जने बारी-बारी से हवन में आहुति डालते और आरती की थाली भी पकड़ते थे। आरती के पश्चात् बाबूजी सबसे पहले माँ लक्ष्मी को ज़मीन पर सर को टिका के प्रणाम करते, फिर हम सब भाई-बहन, फिर बाई। अब मैं समझ सकता हूँ कि यह पूजा वास्तव में माँ श्री लक्ष्मी के ही एक स्वरूप 'माँ अन्नपूर्णा' का ही पूजन था। इसके बाद बुआ को आवाज़ देकर बुलाया जाता था, वे भी अपने हिसाब से पूजा कर लेतीं। इस तरह दीवाली की पूजा संपन्न हो जाती थी।

पूजा स्थल के आस-पास जलते दियों में से कुछ वहीं रह जाते- बाक़ी घर में बिखर जाते, जैसे रोशनी खुद अपनी जगह ढूँढती हो। बाहर की सीमेंट की पट्टी पर सात-आठ दिए, पीछे आँगन में तुलसी के पास एक, बाजू की कुलिया में एक, आले में एक जहाँ भगवान रहते थे, और एक बगल वाले कमरे की मेज पर। बुआ और छोटी बहनें यह काम करती थीं - चुपचाप, जैसे किसी पुरानी लय को दोहराया जा रहा हो।

तब तक बाबूजी प्रसाद ग्रहण कर चुके होते। हमें भी बुलाया जाता, पर हमारा मन कहीं और होता। गली में पटाखों की गंध पहले से हवा में तैर रही होती थी, और वह गंध प्रसाद से भी ज़्यादा खींचती थी। आकर्षित करती थी।

पर उससे भी पहले पड़ोस में प्रसाद देकर आना होता था। थाली पर साफ़ धुला हुआ थालीपोश ढँका होता या क्रोशिये का बना बड़ा सा ख़ूबसूरत कवर, हाथ सँभले होते। गली में उस रात, समय के उस टुकड़े में एक उत्सवीय चहल-पहल भरी आवाजाही होती - नए कपड़े पहने बच्चे, हाथों में थालियाँ, इस दरवाज़े से उस दरवाज़े तक। यह

सिलसिला थोड़ी देर चलता, फिर थम जाता। जो घर दूर थे, मोहल्ले के बाहर - उनका प्रसाद अगले दिन पहुँचता था। वैसे भी दीपावली त्योहार कम से कम पाँच दिन तो चलता ही था। धन तेरस, छोटी दीवाली, बड़ी दीवाली, गोवर्धन पूजा फिर भाई दूज की एक उत्सवी लड़ी, जिसके इर्द-गिर्द खुशियों की रंग-बिरंगी परछाइयाँ नाचती रहतीं।



इसके बाद हम बच्चों का पटाखे छुटाने का कार्यक्रम शुरू होता था। गली में जहाँ तहाँ पटाखे छूटना शुरू हो जाते। शुरुआत फुलझड़ियों से होती। फिर अनारदाने, ज़मीन चकरी, हाथ चकरी, मेहताब आदि छुटाने से गुज़र कर यह सिलसिला रॉकेट या बाण चलाने से होता हुआ छोटे बम, लक्ष्मी बम, एटम बम तक पहुँच जाता। एक पटक बम भी आता था। मोहल्ले के कुछ थोड़ा बड़े और शरारती लड़के उन बमों को गली में पटक-पटक कर फोड़ते हुए निकलते।

बहुत छोटे बच्चे माँओं की गोद में रहते, ऐसी माताएँ घर के दरवाज़े के भीतर से 'शिशुओं' को छाती से चिपटाए बीच बीच में झाँक लेतीं। कुछ बड़े बच्चे चिट-पिटी फोड़ते या फुलझड़ी जलाते। उनसे बड़े, लड़ी वाले छोटे बम छुटाते। उनसे बड़े- अनार, चकरी, थोड़ा बड़े बम चलाते, उनसे बड़े और बड़े- कांच की खाली बोतल में रखकर रॉकेट छोड़ते और बड़े-बड़े बम छुड़ाते।

इस सब में लड़कियाँ थोड़ा पीछे रहतीं। कुछ घरों से भी उन पर पाबंदी रहती थी, कुछ वे स्वयं भी डरती थीं। बहरहाल लगभग तीन चार घंटों तक धूम-धड़ाम मचा रहता। दूर दूर से बम पटाखों की आवाज़ रात एक डेढ़ बजे तक आती रहती।

दीवाली के दूसरे दिन पता लगता कौन सा बच्चा या किशोर कल पटाखे छुड़ाते समय जला है। मेरे बाल सखा अनिल (दुबे) एक बार हाथ से पकड़ कर रॉकेट छुड़ा रहे थे। सही समय पर रॉकेट हाथ से नहीं छूटा। फिर शायद नहीं ही छूटा, दूसरों ने छुड़ाया। पर तब तक रॉकेट की आग अपना काम निबटा चुकी थी। उसके बाद वे हाथ की गदेली और उसके ऊपर कोहनी तक फफोले लिए बीस पच्चीस दिनों तक विचरते रहे और

शान से बताते रहे मैं तो हमेशा हाथ से रॉकेट छोड़ता हूँ। पता नहीं कैसे इस बार उसने मुझे नहीं छोड़ा। इस समय हम छटवीं या सातवीं कक्षा में पढ़ते थे।

एक दूसरा क़िस्सा भी उन्हीं से वाबस्ता है – उस समय हम नवमी या दसवीं कक्षा में थे। तब तक हम लोग पटाखे छुड़ाने के आकर्षण से लगभग मुक्त हो चुके थे। इसके बजाय मोहल्ले में घूम घूम कर घरों में की गयी सजावट और पटाखे छूटते हुए देखने में हमें ज़्यादा आनंद आता था। कई बार हम साइकिलों से दूर भी निकल जाते थे। कॉलेज के दिनों में तो पूजा के बाद 'सिटी' की तरफ़ निकलना अनिवार्य सा हो गया था। तो जो क़िस्सा मैं सुना रहा था, वो कुछ यों है कि उस दीवाली को वे घूमते हुए हमारे घर आए। उन्होंने अपने पिताजी का कोसे का कुर्ता और सफ़ेद पाजामा पहना हुआ था। मेरे छोटे भाई बहन पटाखे छुड़ा रहे थे। जबकि मैं उनके ही इंतज़ार में गली में ही दो चार दस क़दमों की यहाँ से वहाँ चहल कदमी कर रहा था, उसके बाद हम पैदल ही घूमने निकलने वाले थे। मेरी तीसरे नम्बर की बहन अमिता, शायद दिए से मेहताब जलाने की कोशिश कर रही थी।

उन्होंने उसके हाथ से मेहताब ले लिया बोले – "*ऐसे डर डर के मेहताब नहीं जलेगा ला मुझे बता*"।

फिर भाई दिए के समीप आए और इतना समीप आ गए कि उनके पहने हुए कोसे के कुर्ते के सामने की ओर के झूलते हिस्से ने भक्क से आग पकड़ ली। कुछ सेकंड के लिए आग का भभका सा उठा, कोई कुछ समझ पाता इसके पहले ही बुझ भी गया। सभी लोग जब दो चार पलों के बाद इस अचानक घटित घटना से उबरे तब सबने देखा कोसे के कुर्ते का सामने का हिस्सा गायब था। उन्होंने अन्दर जो बनियान पहनी थी बस वह दिखाई पड़ रही थी। हाँ अनिल कहीं जला नहीं था। कुछ वक़्त तो हम लोगों को जो कुछ एकदम से हुआ उसका मतलब समझने और उसे जज़्ब करने में लगा। जब सब कुछ समझ में आया तब ये समझ नहीं आ रहा था कि कुर्ते का सोग मनाया जाए या अनिल भाई जले नहीं इसकी ख़ुशी। अंत में इसे ही गनीमत माना कि कुर्ता जला सो जला पर अनिल नहीं जले।

दीपावली के दूसरे दिन यानी अमावस्या के बाद उजियारे पक्ष की पहली तिथि कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को गोवर्धन पूजा होती है। गोवर्धन पूजा जिसे 'अन्नकूट' भी कहा जाता है।

इस त्योहार का मुख्य उद्देश्य प्रकृति, पर्यावरण और पशुओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना है।

यह त्योहार भगवान कृष्ण के जीवन की एक अत्यंत प्रसिद्ध घटना से जुड़ा है जिसकी 'कथा' कुछ इस तरह से है -

ब्रज वासी पहले स्वर्ग के राजा इंद्र की पूजा करते थे। श्रीकृष्ण ने लोगों को समझाया कि इंद्र के बजाय हमें 'गोवर्धन पर्वत' की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वही हमारी गायों को चारा देते हैं, वर्षा लाते हैं और पर्यावरण की रक्षा करते हैं। जब ब्रज वासियों ने इंद्र की पूजा बंद कर दी, तो इंद्र ने क्रोधित होकर ब्रज में मूसलाधार बारिश शुरू कर दी। तब श्रीकृष्ण ने ब्रज वासियों और पशुओं की रक्षा के लिए अपनी छोटी उंगली पर पूरे गोवर्धन पर्वत को उठा लिया था। लोकोक्ति है कि इसके बाद इंद्र का अहंकार टूटा और उन्होंने क्षमा मांगी। तभी से प्रकृति -पर्वत और गायों की पूजा करने की यह परंपरा शुरू हुई।

हमारे घर में भी पीछे आँगन में गाय के गोबर से गोवर्धन पर्वत, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बादल, पेड़ आदि की आकृतियाँ बनाई जाती थीं। मोहल्ले की कई महिलाएँ एक साथ जुटतीं और पूजन करती थीं। यह पूजा दिन के पूर्वार्ध में ही हो जाती थी। इसके दूसरे दिन भाई दूज मनाई जाती।

अब दीवाली प्रसंग यहाँ समाप्त करें।

आगे कहीं इस सम्बन्ध में बात निकलेगी तब करेंगे ही।

□□

दीपावली से ग्यारह दिन पश्चात् अर्थात् कार्तिक मास के *शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि* को "देव उठनी ग्यारस" का त्योहार आता है। इसके पूर्व के चार माह यानी आसाढ़

शुक्ला एकादशी से देव उठनी ग्यारस तक के चार माह 'चतुर्मास' या 'चौमासा' कहलाते हैं। इस समय भगवान् विष्णु योग-निद्रा में होते हैं, और कोई भी शुभ कार्य न तो किया जाता है न ही आरम्भ किया जाता है। विवाह इत्यादि भी देव उठनी ग्यारस से ही होना आरंभ होते हैं। यह व्यवस्था हमारे पुरखों ने बनाई थी। जिन चार माहों की यहाँ चर्चा हो रही है, वे वर्षा ऋतु के महीने हैं। जब यह व्यवस्था बनाई गई थी, तब हमारी दैनिक गतिविधियाँ - बारिश, बाढ़, रास्तों के ख़राब होने आदि कारणों से बुरी तरह बाधित हो जाती थीं। ऐसे में किसी भी उत्सव, समारोह आदि का आयोजन करना बहुत ही कठिन हो जाता होगा। मैं सोचता हूँ, हमारे पूर्वजों ने इन चार महीनों के दौरान सारे आयोजन स्थगित रखने के लिए यह तोड़ निकाला होगा। आज भी साधु-सन्यासी, ऋषि-मुनि आदि किसी मंदिर, आश्रम या किसी भक्त अथवा शिष्य के यहाँ ये चार मास बिना कोई यात्रा किए बिताते हैं। अब जो भी जैसा भी हो, बरसात के मौसम की समाप्ति के बाद एक निश्चित तिथि 'देव उठनी ग्यारस' के रूप में त्योहार के रूप में मनाई जाती है। इस दिन जो पूजा होती है उसमें भगवान् विष्णु के चरणों का पूजन होता है। हमारे घर में, बाबूजी एक धुली हुई साफ़-सुथरी थाली में चन्दन घिसकर बनाए गए गाढ़े घोल से भगवान् विष्णु के चरण बनाया करते थे। उनके आस-पास कुछ मंगल चिन्ह और बेल-बूटे भी बना देते थे। चन्दन से बने इन्हीं चरण चिन्हों की पूजा की जाती थी। पूजा में गन्ना आवश्यक रूप से चढ़ाया जाता था। वास्तव में उसकी भी पूजा होती थी। कई लोग इस दिन भगवन विष्णु के शालिग्राम अवतार और तुलसी जी का विवाह भी कराते हैं। बाई (अनिल दुबे की माँ) इस दिन शालिग्राम और तुलसी जी का ब्याह कराया करती थीं। पूरा घर वे गोबर से लीपती थीं। छुई मिट्टी से - जो कि सफ़ेद होती है, सुन्दर बेल-बूटे बनाती थीं। उनके आँगन में जहाँ तुलसी जी का पौधा लगा था वहाँ से, जहाँ उनका पूजा स्थल था और शालिग्राम जी विराजते थे, वहाँ तक छुई मिट्टी के घोल से ही एक रास्ता बनाती थीं। करीब छह या आठ इंच चौड़ाई में दो समानांतर रेखाएँ तुलसी जी के पौधे से चलकर आँगन, सामने का बरामदा पार कर अन्दर वाले कमरे में पूजा स्थल तक पहुँचती थीं। इन रेखाओं के बीच में एक-डेढ़ इंच दूरी पर आड़ी लकीरें भी बनी होतीं। जैसे बाँस की सीढ़ी होती है। हमारे यहाँ जैसा मैंने बताया, भगवान् विष्णु के चरण चिन्हों की ही पूजा होती थी। पूजन में चन्दन, हल्दी, अक्षत,

पुष्प, बेल-पत्र आदि तो आवश्यक सामग्री के रूप में रहते ही थे, साथ ही मौसमी फल जैसे कि अमरूद, सिंघाड़े, सीताफल, बेर और शकरकंद, पान-सुपारी भी चढ़ाए जाते थे। लाई, बताशे और मिष्ठान का भोग तो लगता ही था। इस दिन भी दिये जलाए जाते हैं और पटाखे फोड़े जाते हैं। दूसरे दिन सुबह गन्ने के टुकड़े काट कर हमें दे दिए जाते थे जिन्हें हम सीधे दाँतों से छीलकर चूसते थे या फिर सरौते से छील कर बाई या बुआ गँडेरियाँ बना देती थीं।

कुल मिलकर देव उठनी ग्यारस के दिन जब भगवान् विष्णु योग-निद्रा से जाग जाते उनके संग बाक़ी के देवता भी उठ जाते, तब सामाजिक उत्सवों, समारोहों का श्री गणेश होता। ये पुरातन परंपरा सनातन धर्म के अनुयाइओं में आज भी कायम है।



कार्तिक मास के बाद आता है मार्गशीर्ष या अगहन का महीना। इस महीने को श्री कृष्ण का स्वरूप कहा जाता है। इसी मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को भगवान् श्री कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को 'गीता' का उपदेश दिया था - गीता के दसवें अध्याय के पैंतीसवें श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं –

"बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहम् ऋतुनां कुसुमाकरः।। "

(अर्थात् - गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम और छंदों में
मैं गायत्री छंद हूं तथा महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसंत मैं हूं।)

इस माह के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि पर भगवान श्रीराम और माता सीता की शादी की वर्षगाँठ के रूप में मनाया जाता है। इसे विवाह पंचमी भी कहते हैं। इसी महीने की शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि को 'गीता जयंती' का पर्व मनाया जाता है। मान्यता के अनुसार जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ, इसी दिन भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। इसे 'मोक्षदा' एकादशी भी कहते हैं। शिव पुराण की रुद्र संहिता के मुताबिक, भगवान शिव और माता पार्वती का विवाह भी इसी मार्गशीर्ष महीने के कृष्ण पक्ष की द्वितीया को हुआ था। हालाँकि इनमें से किसी भी तिथि या तारीख़ को

हमारे घर किसी तरह का कोई उत्सव या पूजा पाठ नहीं होती थी,पर चूँकि 'श्रीमत् भगवत गीता' हमारा एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा श्री राम और महादेव हमारे आराध्य हैं, अतः यह जानकारी यहाँ शामिल करना मुझे उचित प्रतीत हुआ।

अगहन मास के बाद पौष मास आता है। हिन्दू पंचांग के मुताबिक, साल का दसवां महीना पौष होता है। यह सर्दियों का पहला महीना होता है। इस महीने में हेमंत ऋतु होती है और ठंड ज़्यादा होती है। पौष शब्द का मतलब उत्सव या पर्व और संघर्ष या लड़ाई भी होता है। अंग्रेज़ी कैलेण्डर के अनुसार यह दिसंबर और जनवरी महीने में पड़ता है। इस मास में बहुत विस्तार में जाएँ तो कई तिथियों को अलग अलग पर्व त्योहार मिलेंगे, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण त्योहार है 'मकर संक्रांति'। जो कि प्रायः 14 या 15 जनवरी को पड़ता है।

पौष मास में जिस दिन सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है उस दिन इस पर्व को मनाया जाता है। पुरातन मान्यता के अनुसार, इस दिन - *"भगवान भास्कर अपने पुत्र शनि से मिलने स्वयं उनके घर जाते हैं। चूँकि शनिदेव मकर राशि के स्वामी हैं, अतः इस दिन को मकर संक्रान्ति के नाम से जाना जाता है। । मकर संक्रान्ति के दिन ही गंगाजी भगीरथ के पीछे-पीछे चलकर कपिल मुनि के आश्रम से होती हुई सागर में जाकर मिली थीं।"*

जब सूर्य एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करते हैं, तो इसे संक्रांति कहते हैं।

हिंदू पंचांग के मुताबिक, हर साल 12 संक्रांतियां होती हैं।

इनमें से *मेष, कर्क, तुला,* और *मकर संक्रांति* सबसे अहम मानी जाती हैं।

संक्रांति वास्तव में यह एक 'खगोलीय घटना' है जो हर वर्ष घटित होती है। पृथ्वी, सूर्य की परिक्रमा साढ़े तेईस अंश के झुकाव पर करती है, एवं सूर्य की किरणें इस वजह से पृथ्वी पर अलग-अलग कोण बनाती हुई पड़ती हैं, परन्तु साल में चार बार ऐसी स्थिति आती है जब सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। इन चार स्थितियों में से एक स्थिति तब आती है, जब सूर्य की किरणें *'मकर रेखा'* पर सीधी पड़ती हैं। इसे *'मकर संक्रांति'* कहते हैं। ऐसी अन्य तीन स्थितियों में से दो स्थितियों में सूर्य की किरणें

सीधे *'भूमध्य रेखा'* पर पड़ती हैं। जबकि एक अन्य स्थिति में सूर्य की किरणें सीधे *'कर्क रेखा'* पर पड़ती हैं। सनातन संस्कृति में 'मकर संक्रांति' का सबसे अधिक महत्व माना जाता है। इस दिन से सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर बढ़ना शुरू करता है। यानी, सर्दियों का अंत होता है और मौसम बदलने लगता है।

'मकर संक्रांति' के दिन को 'पतंग उत्सव' के नाम से भी मनाते हैं। पश्चिमी और उत्तर भारत में इस दिन रंग बिरंगी पतंगें उड़ाई जाती हैं। कई क्षेत्रों में इस दिन गुड़ और तिल के लड्डू भी बनाए जाते हैं। इसलिए इसे 'तिल-संक्रांति' के नाम से भी जाना जाता है। हमारे घर भी मकर संक्रांति के अवसर पर बाई तिल के लड्डू बनाया करती थीं।

दक्षिण भारत विशेषकर तमिलनाडु में मकर संक्रांति को 'पोंगल' के नाम से जाना जाता है। पोंगल को लेकर बड़ा उत्साह होता है इसे पूरे 4 दिनों तक मनाया जाता है। जिसमें पहले दिन *भोगी पोंगल*, दूसरे दिन *सूर्य पोंगल*, तीसरे दिन *मट्टू पोंगल* और चौथे दिन *कन्या पोंगल* के तौर पर आयोजन होता है केरल में इसे *'मकर विलक्कू'* कहते हैं। इस दिन लोग सबरीमाला मंदिर के पास मकर ज्योति के दर्शन करते हैं। कर्नाटक में इसे *'एलु-बिरोधु'* कहते हैं।

उत्तर भारत और बिहार में इसे *'खिचड़ी'* के नाम से जाना जाता है। इस दिन उड़द दाल और चावल की खिचड़ी खाई जाती है। गुजरात और राजस्थान में इसे *'उत्तरायण'* कहते हैं। गुजरात में इसे बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। यहाँ *'पतंग उत्सव'* का आयोजन भी होता है। जबकि पंजाब और हरियाणा में इसे *'माघी-लोहड़ी'* कहते हैं। लोहड़ी का त्योहार मकर संक्रांति से एक दिन पहले मनाया जाता है।

मुख्य बात ये है कि 'मकर संक्रांति' के दिन सभी जगह 'सूर्य पूजा' की जाती है और नई फसल के आगमन पर इसे सर्दियों का त्योहार माना जाता है।

पौष के पश्चात् आता है '*माघ* ' का महीना – यह अंग्रेज़ी कैलेंडर के हिसाब से जनवरी और फरवरी में पड़ता है, और वैदिक पञ्चांग का ग्यारहवाँ महीना है। इस महीने ऐसा कोई तीज त्योहार नहीं पड़ता जिससे मैं अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ सकूँ। वैसे वैदिक पञ्चांग या कैलेंडर के हवाले से कई तीज त्योहार और महत्त्वपूर्ण तिथियाँ मिल

जाएँगी, पर मेरी स्मृति में सिर्फ़ ठण्ड की ठिठुरन और धीरे धीरे नज़दीक आने वाली वार्षिक परीक्षा का खौफ़ ही दिखलाई देता है। एक दो सुनी-पढ़ी कहावतें ज़रूर याद आ रही हैं, सुनिये –

"माघ पूस की बादरी और कुवार का घाम,
इन सब को झेल कर करे पराया काम। "

(नौकरी करना आसान नहीं है इस में माघ और पूस की बारिश कुवार की गर्मी झेलनी पड़ती है तब मालिक का काम होता है, नौकरी में गर्मी सर्दी बरसात सब को झेलना पड़ता है।)

"माघ का जाड़ा जेठ की धूप, बड़े कष्ट से उपजे ऊख। "

(ऊख यानी गन्ने की खेती में बहुत मेहनत करनी पड़ती है, माघ का जाड़ा सहना पड़ता है और जेठ की गर्मी भी तब ऊख उपजती है।)

इन कहावतों का यहाँ उल्लेख कुछ तर्क संगत तो नहीं लग रहा, पर जीवन में सब कुछ कहाँ तर्क संगत होता है। माघ की बात चली तो उससे जुड़ी ये कहावतें भी याद आ गईं, इनमें जेठ की चिलचिलाती धूप भी है और माघ की कड़कड़ाती ठंड भी। ऐसा ही तो जीवन है, इस छोर से उस छोर तक अगरा-बगरा। ये किनारा उस किनारे से बिलकुल उलट, अब दोनों में सामंजस्य बनाना तुम्हारा काम, न माघ जाने न ज्येष्ठ और शायद वो भी जिसने सब कुछ बनाया।

छोड़ो ये जबरन की फ़लसफ़ा बघारती बातें। इन पर ध्यान न देना।

अब आ जाता है साल का आख़िरी महीना यानी *'फागुन'*।

'फागुन' पर तो पूरी किताब लिखी जा सकती है। लिखी क्या जा सकती है ? लिखी जा चुकी हैं, क्या हिंदी, क्या उर्दू, क्या फ़ारसी, क्या अंग्रेज़ी। दुनिया की कौन सी ऐसी भाषा होगी जिसमें 'फागुन' के गुन न गाए गए होंगे।

फागुन का महत्व तो मीरा बाई के एक प्रसिद्ध भजन का यह मिसरा' ही बता देता है

“फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना। ”

बाद की पंक्तियाँ देखिये, फिर इस पर कुछ और बात करेंगे।

बिन करताल पखावज बाजै, अणहद की झण कार रे।
बिन सुर राग छतीसूं गावै, रोम-रोम रणकार रे ।।

सील संतोख की केसर घोली, प्रेम-प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे ।।

घट के पट सब खोल दिए हैं, लोकलाज सब डार रे।
मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे ।।

मीरा ने कहा तो अपने स्वयं से अपने अंतर्मन से है किन्तु सन्देश सभी के लिए है। मैं क्या समझा हूँ वही लिख रहा हूँ। मुझे “जीवन में फागुन” की जगह सम्पूर्ण जीवन ही फागुन, ‘जान’ और ‘समझ’ में आता है। मेरी अपनी समझ के हवाले से इसी सिलसिले में एक शे’र याद आता है –

उम्र-ए-दराज़ माँग के लाए थे चार दिन,
दो आरज़ू में कट गए दो इंतिज़ार में।

(इस शे’र को आखिरी मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फर का शे’र माना जाता है पर ‘रेख्ता’ के मुताबिक़ यह सीमाब अकबराबादी का शे’र है जो उन्होंने अलीगढ़ के एक मुशायरे में भी पढ़ा था। १९४७ में प्रकाशित उनकी एक किताब ‘कलीम-ए-अजम’ में भी ये शे’र उल्लिखित है। पर ज़फ़र के नाम से यह दुनिया भर में बे इंतहा मक़बूल है। बहरहाल विद्वानों की बातें विद्वान जानें, हम तो इतना जानते और मानते हैं कि यह बेहद ख़ूबसूरत और मशहूर शे’र है!)

इस बेहतरीन शे’र का भावार्थ तो सभी को मालूम है, परंतु कुछ बातें जितनी बार कही सुनी जाएँ, हर बार पहले से कहीं अधिक ख़ूबसूरत लगती हैं। "उम्र-ए-दराज़ माँग के लाए थे चार दिन" - यहाँ 'उम्र-ए-दराज़' का मतलब है 'लंबी उम्र'। शायर कह रहा है

कि इंसान खुदा से जो एक लंबी ज़िंदगी मांगकर इस दुनिया में आता है, वह असल में खुदा के घर के हिसाब से या इस कायनात के सामने महज 'चार दिन (बहुत छोटी सी अवधि) जैसी ही है।

"दो आरज़ू में कट गए दो इंतिज़ार में" - उन चार दिनों में से दो दिन तो दिल में नई-नई ख्वाहिशें, उम्मीदें और 'आरज़ू' पालने में बीत गए। और बाक़ी के दो दिन उन ख्वाहिशों के पूरे होने का 'इंतिज़ार' करने में निकल गए।

यह शे'र ज़िंदगी की हकीकत और उसकी नश्वरता, क्षण भंगुरता को बयां करता है। यह हमें याद दिलाता है कि इंसान पूरी ज़िंदगी बस चाहतों और उम्मीदों के पीछे भागता रहता है, और जब तक उसे समझ आता है, तब तक ज़िंदगी का सफर ख़त्म हो जाता है।

अधूरी ख्वाहिशों और वक्त के गुज़र जाने के इस दर्द को इस शे'र में जिस सादगी और गहराई से पिरोया गया है, वही इसे सदाबहार बनाता है।

“ज़िन्दगी चार दिनों की है।“

यह बात कितनी पुरानी है, कितनी बार कही और सुनी जा चुकी है, फिर भी हर बार जैसे किसी नई खिड़की से आती हुई लगती है।

सचमुच, इस विराट और असीम अस्तित्व के सामने मनुष्य की पूरी उम्र कितनी छोटी है।

इतनी छोटी कि कुछ लोगों ने उसे ओस की बूँद कहा, कुछ ने पानी का बुलबुला। शायद दोनों ही उपमाएँ सही हैं, क्योंकि दोनों में एक ही बात छिपी है-क्षण भंगुरता की। उस सौन्दर्य की जो टिकता नहीं और शायद इसी कारण इतना मूल्यवान है।

हसरतों और उन्हें पूरा होने का स्वप्न देखते-देखते पूरी उम्र हाथों की उँगलियों के बीच से रेत की तरह फिसल जाती है।

यह शे'र तो बहुत बाद में कहा गया, उससे पहले ‘मीरा’ ने गया दिया था –

"फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना।"

मीरा की बात मुझे अधिक निकट लगती है। यदि जीवन सचमुच इतना ही छोटा है, तो क्यों न उसे अपनी इच्छा के अनुरूप जिया जाए ? क्यों न चाहा जाए- पूरी निष्ठा, पूरे उन्माद और पूरे समर्पण के साथ ?

बिना इस चिंता के कि वह मिलेगा या नहीं मिलेगा।

क्योंकि चाहना स्वयं में एक अनुभव है; उसका सुख किसी उपलब्धि से कम नहीं।

कभी-कभी तो चाहत का नशा, उसकी प्रतीक्षा, उसके इंतज़ार, उसके ख़यालों में डूबे रहना ही प्राप्ति से अधिक गहरा होता है।

मीरा को देखिए- वे परिणाम की नहीं, समर्पण की भाषा बोलती हैं। वह डूबने की बात करती हैं। ऐसे डूबने की, जिसमें धीरे-धीरे व्यक्ति अपने चारों ओर की दुनिया, उसके नियम, उसकी मर्यादाएँ, यहाँ तक कि स्वयं अपने होने का बोध भी भूलने लगता है। लोक-लाज, मान-अभिमान, हानि-लाभ-सब कुछ जैसे पीछे छूट जाता है। केवल वह एक चाहत बची रह जाती है, जिसके भीतर डूबकर मनुष्य स्वयं को भी विस्मृत कर देता है।

और शायद प्रेम, भक्ति या किसी भी गहन लगाव का अंतिम अर्थ यही है - उस बिन्दु तक पहुँच जाना जहाँ चाहने वाला और चाही हुई वस्तु, दोनों के बीच का भेद धीरे-धीरे विलीन होने लगे।

खुसरो दरिया प्रेम का, उल्टी वा की धार।
जो उतरा सो डूब गया, जो डूबा सो पार।।

- अमीर खुसरो

तो फिर, अब आगे बात करें फ़िलासफ़ी और कविताई बीच में प्रकट हो गई।

लेकिन अगर जीवन में कविता न हो तो जीवन बंजर है।

इसलिए कविता तो आती जाती रहेगी।

कभी हम समझ पाते हैं कभी नहीं, कविता आती है हमारी उलझनों को सुलझ जाने लायक ढीला ढाला करके चुपचाप चली जाती है। हमें उसके आने जाने का पता भी नहीं चल पाता।

'फागुन' का महीना हमारे वैदिक वर्ष का आख़िरी मास होता है।

अंग्रेज़ी कैलेंडर के हिसाब से फरवरी - मार्च का महीना ।

इस माह में वैदिक रीति रिवाज़ों के अनुसार बहुत सारे तीज,त्योहार,व्रत,अनुष्ठान पड़ते हैं। कई व्रत और तिथियाँ तो हर महीने ही मनाई जाती हैं। बहुत से लोग जो धार्मिक कर्म कांडों में विश्वास रखते हैं, इन सबका नियमित और विधिवत् पालन भी करते हैं।

□□

मैं केवल दो मुख्य त्योहारों की बात करूँगा – एक तो *महा शिवरात्रि* और दूसरा *होली का त्योहार* ।

'महा शिवरात्रि' वैसे तो शैवों का त्योहार होना चाहिए, है भी । किन्तु अब आज सामान्य सनातनी समुदाय शैवों, वैष्णवों और शाक्तों में प्रायः बँटा हुआ नहीं दिखाई देता। सभी सामान्य सनातनी जन विष्णु,राम, कृष्ण, शिव और शक्ति सभी की पूजा करते हैं। जबलपुर में महा शिवरात्रि भी बहुत ज़ोर शोर से मनाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि इस दिन भगवान् शिव और माँ पार्वती का विवाह हुआ था। दूसरी कथा यह भी है की 'समुद्र मंथन' से जो 'विष' निकला था उसे इसी दिन भगवान् शिव ने पिया था और 'नीलकंठ' कहलाए थे। इन प्रसंगों की स्मृति में महा-शिव रात्रि का उत्सव मनाया जाता है। हमारे घर में बाई और बुआ यह व्रत रखती थीं और घमापुर की कृष्णा कालोनी में स्थित पानी की बावली के पास बने शिव चबूतरे पर पूजा करने जाती थीं।

सुबह बड़े सबेरे से यहाँ लाउड स्पीकर पर भजनों के फ़िल्मी रिकार्ड बजने लगते थे। जिसकी शुरुआत "आ गयी महा शिव रात्रि पधारो शंकर जी. . . ." गाने से होती थी ।

"आ गई महाशिवरात्रि पधारो शंकर जी,हो
पधारो शंकर जी. . . .
आ गई महाशिवरात्रि पधारो शंकर जी. . . .
आरती उतारें पार उतारो शंकर जी हो पधारो शंकर जी।
तुम नैन नैन में हो मन मन में धाम तेरा,
हे नीलकंठ है कंठ कंठ में नाम तेरा
ओ देवों के देव जगत के प्यारो शंकर जी. . . .
आ गई महा शिवरात्रि हो पधारो शंकर जी।
तुम राजमहल में तुम्हीं भिखारी के घर में,
धरती पर तेरे चरण, मुकुट है अंबर में,
ओ संसार तुम्हारो एक हमारो शंकर जी, हो पधारो शंकर जी. . . .
आ गई महाशिवरात्रि पधारो शंकर जी।
तुम दुनिया बसा कर भस्म रमाने वाले हो
पापी के भी रखवाले भोले भाले हो
ओ दुखियों में भी दो दिन तो गुज़ारो शंकर जी,
हो पधारो शंकर जी. . . .
आ गई महाशिवरात्रि पधारो शंकर जी. . . ."

(ये गीत फ़िल्म 'शिवरात्रि ' के लिए गीतकार गोपाल सिंह नेपाली ने लिखा था, संगीत 'चित्रगुप्त' का है और गाया है आशा भोंसले तथा सह गायिकाओं ने।)

जिस शिव चबूतरे का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है। वह पत्थरों से बना बड़ा सा और ऊँचा चबूतरा था जिसके ऊपर बीच में शिवलिंग तथा उसके चारों ओर माँ पार्वती, भगवान् गणेश, भगवान् कार्तिकेय, नंदी महाराज आदि की प्रस्तर प्रतिमाएँ स्थापित थीं। इस चबूतरे का विस्तृत वर्णन मैंने 'आरंभ' में किया है। अब शायद इस चबूतरे के ऊपर मंदिर बना दिया गया है। उस समय जबलपुर के बेल-बाग़ क्षेत्र में शिव जी की बरात निकाली जाती थी। अब तो शायद एक से अधिक स्थानों पर शिव जी की बरात निकाली जाती है। खटीक मोहल्ला क्षेत्र में शिव जी की बहुत बड़ी और भव्य बरात निकलती है।

चलिए यहाँ हम मान लेते हैं, शिव जी और माँ पार्वती का ब्याह संपन्न हुआ। उस परम अलौकिक विवाह की कथा कौन नहीं जानता। और मेरी इतनी सामर्थ्य कहाँ जो उस का सही सही वर्णन कर सकूँ।

शिवजी, माँ पार्वती को विदा कराकर ले गए अपने कैलाश धाम।

इसलिए अपनी कथा आगे बढ़ाता हूँ।

हम आ जाते हैं 'होली' के त्योहार पर।

कुछ भी कहो, हमारे पूर्वज बहुत ज्ञानवान और समझदार थे।

उन्होंने पूरे साल को तीज त्योहारों से इस तरह से और बहुत सोच समझ कर सजाया था कि सारी तिथियाँ, उत्सव, तीज-त्योहार मौसम के अनुसार मनुष्य के द्वारा सृजित या रचित न लगकर प्रकृतिजन्य ही लगते हैं। किस मौसम में कौन सी फसल आती है, कौन से फल-फ़ूल मिलते हैं, हमारे रहने की जगहों की क्या स्थिति होती है, किस मौसम का हमारे शारीरिक स्वास्थ्य पर और मन पर क्या प्रभाव पड़ता है इन सभी बातों को ध्यान में रखकर ही तय किया गया - कब कौन सा त्योहार मनाया जाए, कैसे मनाया जाए, पूजन तथा उसे उत्सव के मनाने की विधि, आवश्यक सामग्री आदि सभी कुछ। उदाहरण के लिए गर्मी और बरसात में हुई टूट फूट, काई, कीचड़, इकट्ठा हुआ कचरा, मकान की क्षतिग्रस्त दीवारें, छतें, आँगन, बरसात में ऊग आए झाड़ी-झंकाड़, अवांछित पौधे इन सभी की मरम्मत, साफ़ सफ़ाई, रंग-रोगन के लिए दीवाली की तिथि और समय तय किया गया होगा। इसी तरह मानो कड़कड़ाती ठंड के बाद जब हवाएँ गुनगुनी होना शुरू होती हैं तब पानी में घुले रंगों का त्योहार, चैत्र और शारदीय नवरात्रि का समय भी मौसम परिवर्तन के समय, साल में दो बार रखा जाना। ये सब हमारे पूर्वजों द्वारा संरचित हमारे सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था ही प्रतीत होती है। जो हजारों साल बाद भी निरंतर जस की तस प्रचलन में है।

अब आ जाएँ 'होली' पर।

होलक का उद्भव रूप होली है। आधे पके हुए अन्न को होलक कहते हैं।

‘शब्दकल्पद्रुम’ नामक शब्दकोश में अंकित है कि-

"तृणाग्निभृष्ट: अर्धपक्वशमीधान्यं होलक:"

(अर्थात् आधे पके हुए और तिनकों की अग्नि में भुने हुए फल वाले अन्न को होला या होलक कहा जाता है।)

हम आज भी हरे चने या बूंट को फलियों समेत अग्नि में भूँज कर खाते हैं।

जिसे होरा या होला कहते हैं।

वैदिक काल/संस्कृति में होली इसी तरह मनाई जाती थी। फाल्गुन मास की पूर्णिमा के दिन इस प्रकार के अन्न को पकाकर खाने और पकने को तैयार लहलहाती फसल को देखकर ख़ुशी मनाने का पर्व ही होली है। वसंत पंचमी के दिन से लकड़ियों आदि का ढेर एक मैदान में इकट्ठा किया जाता है जो वर्ष के अंतिम दिन फाल्गुन की पूर्णिमा को जलाया जाता है, इसी को 'होली जलाना' या 'संवत् जलाना' कहते हैं, लकड़ियों आदि का वह ढेर, जो उक्त दिन प्रायः रात को एक निश्चित समय पर जलाया जाता है। इसी अग्नि में आधे पके हुए अन्न को भूँजा जाता था। सभी जन फसल कटने के बाद आने वाले ख़ुशी के दिनों का जैसे नाच गाकर स्वागत करते थे।

विद्वानों का मत है कि बाद में इस त्योहार के साथ भक्त प्रह्लाद की कथा भी जोड़ दी गई। वह पौराणिक कथा हम सभी जानते हैं। लेकिन एक बार फिर स्मरण कर लेने में कोई हर्ज नहीं है। तो वह कथा कुछ इस तरह से है कि - ‘हिरण्यकरण वन’ नाम के एक स्थान का राजा ‘हिरण्यकश्यप’ नामक एक राक्षस था। हिरण्याक्ष उसका छोटा भाई था जिसका वध वाराह रूपी भगवान् विष्णु ने किया था। हिरण्यकश्यप के बड़े भाइयों के नाम वज्रांग, अरुण और हयग्रीव थे। हयग्रीव का वध मत्स्य रूपी भगवान विष्णु ने और अरुण का वध भ्रामरी रूपी माता पार्वती ने किया था। हिरण्यकश्यप की पत्नी का नाम कयाधु और उसकी छोटी बहन का नाम होलिका था। हिरण्यकश्यप के चार पुत्र थे जिनके नाम प्रह्लाद,अनुह्लाद, सह्लाद और ह्लाद थे, इनमें प्रह्लाद सबसे बड़े और ह्लाद सबसे छोटा था।

प्रह्लाद विष्णु भगवान् के बहुत बड़े भक्त थे। पर यह बात हिरण्यकश्यप को पसंद न थी। प्रह्लाद को उसने विष्णु भगवान् की भक्ति न करने के लिए बार-बार मना किया परन्तु वे नहीं माने। तब हिरण्यकश्यप ने उन्हें कई बार मारने की कोशिश की लेकिन असफल रहा।

इसी कड़ी में एक बार उसने अपनी बहन होलिका की सहायता ली। उसका विवाह असुर 'विप्रचीति' से हुआ था। होलिका को ब्रह्माजी से वरदान में ऐसा वस्त्र मिला था, जो कभी आग से जल नहीं सकता था। योजना के अनुसार होलिका वह वस्त्र ओढ़कर और प्रह्लाद को गोद में लेकर अग्नि में प्रवेश कर गई। किन्तु विष्णु की कृपा से उल्टा हो गया प्रह्लाद के स्थान पर स्वयं होलिका ही अग्नि में भस्म हो गई जबकि प्रह्लाद जीवित बच गए। बाद में हिरण्यकश्यप का वध विष्णु अवतारी नृसिंह द्वारा किया गया। नृसिंह अवतार की कथा भी यदि यहाँ कहने बैठ जाऊँ तो मैटर थोड़ा नहीं बहुत ज़्यादा ही लंबा खिंच जाएगा, इसलिए उसे छोड़ देते हैं।

कुल मिला कर आज, 'होली' हिंदुओं का एक बहुत बड़ा त्योहार है, जो फाल्गुन मास के अंत में वसंत ऋतु के आरंभ पर चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को मनाया जाता है। होली पर्व वास्तव में दो दिवसीय होता है।

पहले दिन - 'होलिका दहन', फाल्गुन मास के अंतिम दिन फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा, जो वैदिक वर्ष का अंतिम दिन भी होता है; को किया जाता है। साल का अंतिम दिन, पूर्णिमा के चन्द्रमा की स्निग्ध, शीतल और पवित्र चाँदनी तले होलिका दहन सांकेतिक रूप से पूरे साल भर के सारे बुरे विचारों, मन की कटुता -कड़वाहट, व्यवहार में घुली कलुषिता, आत्मा पर पड़ी मलीनता की चादर सभी को भस्मीभूत करना ही तो होता है। ये अलग बात है कि साल के इस अंतिम दिन के एकदम बाद दूसरे दिन से वैदिक वर्ष का प्रारम्भ नहीं होता, क्यों और कब ये मैं पहले ही बता चुका हूँ। अब यह भी बताता चलूँ कि होली का पहला काम झंडा या डंडा गाड़ना होता है। यह कार्य परंपरागत विधि विधान से 'बसंत पंचमी' के दिन किया जाता है। इसे किसी सार्वजनिक स्थल या घर के आँगन में गाड़ा जाता है। इसके आस-पास ही होलिका दहन के लिए लकड़ी एकत्र की जाती है। इसी दिन से होली के उत्सव में गाई जाने

वाली फाग, फगुआ, या होरी, देर शाम या रात्रि के समय लोग इकट्ठा होकर गाने लगते हैं। यह परंपरा शहरों में तो अब लगभग समाप्त हो चुकी है, परन्तु ग्रामीण अंचलों में अभी भी ज़िन्दा है। होलिका दहन के दिन चौराहों पर व जहाँ कहीं अग्नि के लिए लकड़ी इकठ्ठा की गई होती है, वहाँ होली जलाई जाती है। इसमें लकड़ियाँ और उपले प्रमुख रूप से होते हैं। कई स्थलों पर विशेषकर राजस्थान में, होली की आग में भरभोलिए जलाने की भी परंपरा है। भरभोलिए गाय के गोबर से बने ऐसे उपले होते हैं जिनके बीच में छेद होता है। इस छेद में मूँज की रस्सी डाल कर माला बनाई जाती है। एक माला में सात भरभोलिए होते हैं। ये भरभोलिए चक्राकार होते हैं, गोबर से बनाकर इन्हें सुखा लिया जाता है। होली की अग्नि में डालने से पहले से इस माला को बहनें अपने भाइयों के सिर के ऊपर से सात बार घूमा कर फिर अग्नि में भस्मीभूत होने फेंक देती हैं। मान्यता है ऐसा करने से होली के साथ भाइयों पर लगी बुरी नज़र भी जल जाती है। लकड़ियों व उपलों से बनी इस होली का दोपहर से ही विधिवत पूजन आरंभ हो जाता है। घरों में बने पकवानों का यहाँ भोग लगाया जाता है। दिन ढलने पर ज्योतिषियों द्वारा निकाले मुहूर्त पर होली का दहन किया जाता है। इस आग में नई फसल की गेहूँ की बालियों और चने के होले को भी भूना जाता है। होलिका दहन के पश्चात् ही 'उत्सव' प्रारंभ हो जाता है। लोग देर रात तक होली के गीत और फागें गाते हैं तथा सब कुछ भूल-भुला कर आनंद मगन हो नाचते हैं।

दूसरे दिन अर्थात् चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को 'होली' या 'होरी' या 'धुरेड़ी' मनाई जाती है। सारे भेद-भाव, वैमनस्य, लड़ाई-झगड़े, कही–सुनी भुला कर दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं।

"यह भी असत्य पर सत्य की जीत का त्योहार है।"

वैमनस्य से बड़ा असत्य क्या होगा और प्रेम से बड़ा कौन सा सत्य होगा। सभी एक दूसरे के ऊपर रंग-अबीर डालते हैं। हँसते और ठिठोली करते हैं। खास कर देवर-भाभी, जीजा-साली जैसे रिश्ते होली के रंगों की चटख और बढ़ा देते हैं। जिनके बीच आँखों ही आँखों में अब तक आधी-अधूरी बात होकर रह जाती थी, होली की अबीर और

रंगों की फ़ुहार उन बातों के सिरे जोड़ देती है। जाने कितने 'जोड़े' रंग-गुलाल के झीने परदे में राधा-किशन बन कर सार्थक हो जाते हैं।

होली का लाक्षणिक अर्थ हर्ष, आनंद, उत्सव ही माना जाता है।

प्राचीन काल में जो मदनोत्सव या वसंतोत्सव होता था, यह त्योहार उसी की यह परंपरा है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र जी की एक बहुत प्यारी ग़ज़ल याद आ गई।

इसके पहले की ज़ेहन से उतर जाए यहाँ अंकित किए देता हूँ -

गले मुझ को लगा लो ऐ मिरे दिलदार होली में
बुझे दिल की लगी भी तो ऐ मेरे यार होली में |

नहीं ये है गुलाल-ए-सुर्ख़ उड़ता हर जगह प्यारे
ये आशिक़ की है उमड़ी आह-ए-आतिश-बार होली में |

गुलाबी गाल पर कुछ रंग मुझ को भी जमाने दो
मनाने दो मुझे भी जान-ए-मन त्योहार होली |

रसा' गर जाम-ए-मय ग़ैरों को देते हो तो मुझ को भी
नशीली आँख दिखला कर करो सरशार होली में |

- भारतेंदु हरिश्चंद्र।

अब वैसे तो होली की बात जितनी होना थी उससे कुछ अधिक ही हो गई है। फिर भी यह तो होली के सम्बन्ध में निबंध-नुमा जानकारी ही हुई। इस होली में मैं कहाँ हूँ ?

चलिए मैं भी आ जाता हूँ –

बिलकुल बचपन में तो, एकदम सुबह-सुबह बाबूजी मुझे और मेरी छोटी बहन अनिता को लेकर 'कमला बुआ' के घर के सामने रखी गई 'होली' तक ले जाते थे। उस समय हमारे घर के आस-पास तीन चार होली प्रतिमाएँ रखी जाती थीं। एक तो जिसका मैंने अभी नाम लिया, हमारी गली के आख़िरी सिरे के पास। दूसरी अनिल के घर के बाजू

में जो खुली जगह थी, वहाँ। ये सोहन की होली कहलाती थी। क्योंकि इस होली की सारी व्यवस्था मुख्य रूप से वही किया करता था। वह उम्र में हम लोगों से बहुत बड़ा था पर हमारा सहपाठी था। 'आरंभ' में ये विवरण मैं दे चुका हूँ। बाद में उसने पढ़ाई छोड़ दी थी। तीसरी होली 'डेनियल मसीह' के घर के सामने नाले के उस पार रखी जाती थी। इसके अलावा भी एक होली शायद 'रवि नीखरे' के घर के पास वाले खुले स्थान में रखी जाती थी। पर उसका ठीक-ठीक स्मरण नहीं हो पा रहा है। बाबूजी हम लोगों को बड़े सबेरे 'कमला बुआ' के घर के सामने वाली जली हुई होली तक ले जाते, जिसमें अभी भी अधजली लकड़ियाँ सुलग रही होती थीं। हम लोग यानी मैं और मेरी छोटी बहन, हाथ में गोबर से बनी 'भरभोलिए' की माला लिए होते। बाबूजी एक बाँस अपने हाथों में पकड़े होते जिस के सिरे पर गेहूँ की तीन चार बालियाँ बँधी होती थीं। ये बालियाँ उस समय बाबूजी कहाँ से लाते थे ? मुझे नहीं पता। हो सकता है बाज़ार में बिकने आती हों। होली की छोटी सी पूजा कर के आग में भरभोलियों की माला डाल दी जाती, बाँस के सिरे पर बँधी गेहूँ की बालियों को बाबू जी होली की आग की आंच में सेंक लेते थे। भगवान् विष्णु को मन ही मन नमन करके हम वापस घर आ जाते। भुनी बालियों में से गेहूँ के भुँजे हुए दाने घर में सभी प्रसाद रूप में ग्रहण करते थे।

नाश्ता करने यानी चाय और पराँठा खाने के बाद हमारे लिए लोहे की बाल्टी में रंग घोल दिए जाते थे। बाबूजी एक दो दिन पहले ही प्लास्टिक की पिचकारियाँ ले आते थे। हम उनमें रंग भर कर घर के सामने वाली पट्टी पर खड़े हो जाते और आने जाने वालों पर पिचकारी से रंग डालते थे। ये सभी लोग प्रायः मोहल्ले के ही रोज़ के आने जाने वाले लोग होते थे। जो हमारी तरफ़ देख कर मुसकुरा दिया करते थे। कोई कोई बचने की चेष्टा करता दिखाई देता और भागता था तो हमें बड़ा मज़ा आता। कभी कोई दूर से ही आँखें तरेरता निकल जाता, उसे हम फिर पीछे से रंग डालते थे। जो उस तक तो नहीं पहुँचता बल्कि सड़क को गीला कर देता। इस बीच पास पड़ोस के कुछ बच्चे भी आ जाते और सड़क पर एक दूसरे के ऊपर रंग डालने का खिलवाड़ शुरू हो जाता। जो उम्र में बड़े और ताकतवर बच्चे होते वे इस खेल में अपने से छोटों को बुरी तरह रंग डालते थे। कभी कभी छीना- झपटी भी हो जाती, चीख पुकार रोना

चिल्लाना भी हो जाता फिर कोई बड़ा आकर बीच बचाव करता, समझाता और रंगों का खेल फिर आरंभ हो जाता। यह सिलसिला तब तक चला जब तक हम सभी 'बच्चों' में गिने जाते थे और 'लड़के' तथा 'लड़कियों' में वर्गीकृत नहीं हुए थे। यह वर्गीकरण पाँचवीं कक्षा के बाद हो ही जाता था। अर्थात् तब मोहल्ले के लड़के और लड़कियाँ अलग-अलग समूहों में होली खेलते थे। ये व्यवस्था मोहल्ले के खुर्राट बुजुर्गों द्वारा बनाई गई थी, और वे इसपर कड़ी नज़र रखते थे। हम लोग यानी मैं और अनिल अब इस तरह होली मानना प्रायः बंद कर चुके थे। हम बस मोहल्ले में इधर उधर घूमते और बड़ों छोटों को होली खेलते देख कर मज़ा लेते। हम अपने पास गुलाल की छोटी सी पुड़िया रखे होते, कोई बड़ा बुज़ुर्ग रास्ते में मिल जाता उसे गुलाल लगा, चरण छूते और आशीर्वाद प्राप्त करते। हमारी गिनती अब तक मोहल्ले के 'राजा बेटा' टाइप के बच्चों में होने लगी थी। हमारी भरसक कोशिश रहती कि हमारी ये छवि इसी तरह बनी रहे। ये और बात है हमारी बातें इतनी भोली-भाली और सात्विक नहीं होती थीं। आख़िर हम भी तो कैशोर्य की ओर कदम बढ़ाते सामान्य बच्चे ही थे। वैसे हमारे मित्रों में जो उजड्ड और उद्दंड लड़के थे, वे अभी भी होली खेलते थे। परन्तु अब वे रंग और पिचकारियों के बजाय कीचड़, पेन्ट आदि का उपयोग करते थे। हमारी उम्र से और बड़े लड़के किस तरह होली मानते थे इसका विस्तृत वर्णन मैं 'आरंभ' के 'पास-पड़ोस' चैप्टर में कर चुका हूँ।

अब होली से वाबस्ता कुछ और बातें मैं इसी किताब में कहीं अन्यंत्र करूँगा नहीं तो ये चैप्टर अनियंत्रित हो जाएगा।



अब कुछ उन त्योहारों की बातें, जो किसी न किसी बहाने आज भी उसी रूप रंग में याद आते हैं जैसे वे उन दिनों हमारे घर में मनाए जाते थे; जिन दिनों की मैं बात कर रहा हूँ। इन में से एक था 'रक्षा बंधन' का पर्व। मैंने जब से होश संभाला तभी से मुझे राखी बाँधी जाती रही है। पहले मुझसे छोटी अनीता और अमिता, गुड्डो फिर कुछ और सालों के बाद, आशिमा, नमिता तथा उसके ढाई तीन साल बाद अणिमा, पप्पी मुझे राखियाँ बाँधती रहीं। ये आयोजन घर पर ही होता, बाई सबसे पहले पूजा

करके भगवान् जी को राखी अर्पित करतीं फिर चारों बहनें एक एक कर मेरे सर पर नया रूमाल रख मुझे टीका लगा कर राखियाँ बाँधतीं, मिठाई खिलातीं। जब मेरा छोटा भाई अतुल भी हो गया तब वह भी इस उत्सव में शामिल हो गया। वह अनीता और अमिता से छोटा है एवं आशिमा तथा अणिमा से बड़ा। जब तक मेरी नौकरी नहीं लगी तब तक यह त्योहार इसी रूप में अबाध मनाया जाता रहा। किन्तु नौकरी के बाद कई बार छुट्टी न मिलने के कारण डाक के लिफ़ाफ़े में हल्दी और अक्षत के छींटों से सजी धजी राखियाँ मुझ तक पहुँच जातीं। साथ में बाई की सुन्दर लिखावट में लिखा हुआ पत्र जिसमें ढेर सारा प्यार, आशीष और आशीर्वाद रचा बसा होता।

पड़ोस की कुछ और लड़कियाँ भी मुझे राखी बाँधने आया करती थीं। एक लड़की जिसका नाम 'रामसखी' था, उसके घर बुआ मुझे ले जाती थीं और वह मुझे राखी बाँधती। वह मुझसे एक या डेढ़ साल छोटी थी, उसका घर हमारे घर के पीछे वाले बाड़े में था। दरअसल उसके माता पिता, जिनका नाम मैं भूल गया हूँ – घमापुर मोहल्ले के बहुत पुराने रहवासी थे। उनसे बाबू जी और बुआ के सम्बन्ध बहुत पुराने थे, तब के जब कि बाबूजी और बुआ दोनों की शादियाँ नहीं हुई थीं। रामसखी की तरह मुझे राखी बाँधने रणधीर सिंह ठाकुर की दोनों बेटियाँ भी शाम ढलने के बाद हमारे घर आती थीं। वे दोनों मुझसे उम्र में छोटी थीं। बड़ी 'पुष्पा' लगभग दो बरस छोटी रही होगी, जबकि उससे छोटी, जिसका नाम मैं भूल चुका हूँ; उससे भी कम से कम डेढ़ दो साल कम उम्र की थी। उनकी माँ यानी रणधीर सिंह ठाकुर की पत्नी और बाई ने बी.एड. की ट्रेनिंग साथ-साथ की थी, और वे हमारे घर के पास ही रहते थे। हमारी गली के भीतरी छोर के समीप। उनका पूरा परिवार शाम के बाद हमारे घर आता था। राखी बँधने के बाद भी वे सभी जने बहुत देर तक हमारे यहाँ बैठते थे। कई बार रात का खाना खाकर ही लौटते थे।

कैशोर्य के पहले तक तो रक्षाबंधन के इस त्योहार का अर्थ हम बच्चों के लिए, नए कपड़े पहनने, मिठाई खाने, दोपहर के खाने में पूरियाँ शामिल होने, थोड़े से पैसे मिल जाने तक ही सीमित था। लेकिन ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ी तब इस अर्थ में नई बातें और समझ शामिल होती गई। रिश्ते क्या होते हैं ? रिश्ते जो अपने आप बने बनाए मिल

जाते हैं, रिश्ते जो फिर बनते जाते हैं; और रिश्ते जो बनाए जाते हैं। इस सब का ज्ञान होने और इन रिश्तों के बनने बनाने से हमारे व्यक्तित्व की पहचान भी बनती जाती है।

यहाँ पर मैं 'प्रतिमा' और 'संध्या' का ज़िक्र करूँगा।

उनकी बातें किए बगैर मेरी कहानी पूरी नहीं होगी। मेरे शुरुआती मंसूबे के मुताबिक़ इस किताब में मैं एक चैप्टर "एक और मैं" के टाइटल के तहत लिखना चाहता था। बाद में किसी वजह से मैंने अपनी इस ख़्वाहिश को दरकिनार कर दिया। लेकिन इस चैप्टर में जो कुछ लिखा जाना था, वह चूँकि मेरी ज़िंदगी का बेहद अहम हिस्सा है; इसलिए वो सब तो लिखा ही जाएगा परन्तु मुख्तलिफ़ टुकड़ों में जहाँ तहाँ फैला होगा अलग-अलग जगहों पर कहीं कोई ऐसा कोना बनकर जहाँ आप सुरक्षित महसूस करते हैं, कहीं ऐसी छत बनकर जिसके नीचे आप सुकून पाते हैं, कहीं रास्ता बनकर जिसपर चलकर आप अपनी मन मुताबिक़ मंज़िल तक पहुँच पाते हैं. . . .

लेकिन अब 'प्रतिमा' और 'संध्या' की बातें शुरू करने के पहले मुझे "एक और मैं" के संदूक से पहला आइटम निकाल कर उससे आप को परिचित कराना होगा। ये आइटम और कुछ नहीं बस मेरा एक और परिचय है। ये दूसरा परिचय उस घर से वाबस्ता है जिसे मैं अपना दूसरा घर मानता रहा हूँ। अभी भी मानता हूँ, क्योंकि बीता हुआ कितना भी बीत जाए वैसे का वैसा ही राहत है, बल्कि पुराने मुरब्बे की तरह उसके गुणों में इज़ाफ़ा ही हो जाता है। उन दिनों का भविष्य जैसा होना था वैसा नहीं हो सका उसका मलाल तो मुझे है किन्तु ये बात उन मीठी यादों को नष्ट तो नहीं कर पाएगी जो गुड़ से भी मीठी थीं। अभी उन्हीं दिनों की मीठी बातें करूँगा।

मॉडल हाई स्कूल की कक्षा नौ में पढ़ते हुए मेरी जान पहचान एक सहपाठी से हुई जिसका नाम 'अखिलेश कुमार तिवारी' था। कुछ दिनों के पश्चात् ये जान पहचान कुछ और बढ़ी, फिर कुछ और. . . और फिर बढ़ते-बढ़ते इतनी गाढ़ी दोस्ती में बदल गई, जैसी क़िस्से कहानियों में लिखी या फ़िल्मों में दिखाई जाती है। अब हमने ये मान लिया था कि हम दोनों शायद इसी दोस्ती को निभाने के लिए इस दुनिया में आए हुए हैं। इसके साथ ही हमारे घर वालों ने भी ऐसा ही कुछ या इसी के अरीब-करीब का सुसंयोग मान लिया था। मेरे घर में कौन कौन था जो इस दोस्ती का गवाह था ये मैं

बहुत विस्तृत रूप में बता ही चुका हूँ। अखिलेश के परिवार के सदस्यों का मैं कहीं-कहीं पर ज़िक्र कर चुका हूँ, पर अब थोड़ा डिटेल में बताए देता हूँ। सबसे पहले तो उस दूसरे घर का पता ठिकाना। उस घर का पोस्टल एड्रेस तो बहुत संक्षिप्त सा था – 660 मढ़ाताल, जबलपुर। बस ! लिफ़ाफ़े पर बाबू जी का नाम - 'श्री हरि प्रसाद तिवारी' या 'श्री एच.पी. तिवारी' लिखकर नीचे बस 660 मढ़ाताल, जबलपुर (म. प्र.) 482002 लिख देने से पत्र सही पते पर पहुँच जाता था। जबलपुर की ज्योति टॉकीज़ , उस समय हमारे शहर का सबसे अच्छा सिनेमाघर था; अब उस जगह एक विशाल मल्टी-प्लेक्स और मॉल बन चुका है। इसी ज्योति टॉकीज़ से करमचंद चौक जाने वाले रास्ते के लगभग बीच में दाहिनी तरफ़ उस समय की 'प्लाज़ा टॉकीज' जहाँ अब उस जगह पर जयंती कॉम्प्लेक्स बन गया है और जहाँ मुख्य रूप से मोबाइल फ़ोन और उससे सम्बंधित सामान मिलते हैं, से कुछ पहले 'हरि सिंह कॉलोनी' थी वैसे ये कॉलोनी आज भी है, इसी कॉलोनी में - मेन रोड से लगभग आधा फ़र्लांग की दूरी पर दाहिनी ओर यह घर आज भी स्थित है।

हालाँकि अब घर का रंग रूप बिलकुल बदल गया है। पहले दर-असल वे सब मकान जो कॉलोनी में दाहिनी ओर बने थे, रेलवे विभाग के आवास-गृह थे। फिर किस तरह से व्यक्तिगत मालिकाना हक़ उनमें रहने वाले लोगों को मिला, यह सवाल मैंने कभी किसी से नहीं पूछा, बल्कि ये सवाल आज ही मेरे मन में आया है, इसके पहले इस ओर मैंने ध्यान नहीं दिया था।

संक्षेप में अखिलेश के परिवार के बारे में बता दूँ – पहले 'हरि प्रसाद तिवारी' जो अखिलेश के पिता एवं परिवार के मुखिया थे। उनकी पत्नी 'श्रीमति त्रिवेणी तिवारी', अखिलेश की माँ। अखिलेश के दो बड़े भाई 'अशोक कुमार तिवारी' और 'आनंद कुमार तिवारी', एक छोटी बहन 'प्रतिमा तिवारी'। इस तरह कुल छह जने उस मकान में रहते थे। इन सबसे जुड़े क़िस्सों और यादों का अंबार मेरी स्मृतियों के भण्डार में जहाँ तहाँ फैला पड़ा है। जब जैसी बात निकलेगी ये सब क़िस्से मैं सामने लाता रहूँगा। अभी बस इतना ही। क्योंकि ये चैप्टर 'तीज-त्योहार' टाइटल के तहत लिखा जा रहा है, और इस समय बात रक्षाबंधन की हो रही है, साथ ही मैं भी इस परिवार में सिर्फ़

अखिलेश का मित्र बनकर नहीं रह गया बल्कि परिवार के एक सदस्य के रूप में स्थापित हो गया था; अतः 'प्रतिमा' मेरी भी छोटी बहन बन गई। अपने तीनों सहोदर भाइयों के साथ वह मुझे भी अपना चौथा भाई मानती थी और राखी बाँधती थी।

इसी कड़ी में एक मिश्री से मीठी बात याद आ गई जोड़ दूँ-

अम्मा, माने अखिलेश की माँ – वे बेहद सुलझी हुई और मज़बूत महिला थीं; उन्होंने मेरे और अखिलेश के संबंधों तथा रिश्ते को देखते हुए एक बार कहा था – "तुम दोनों अपने मकान आजू-बाजू बनाना जिसकी छत एक ही हो, दोनों बहुएँ साथ-साथ मिलजुल कर साल भर के लिये अचार, मुरब्बा, बड़ी-पापड़ बनाया करेंगी।"

एक माँ की अभिलाषा इससे ज़्यादा क्या हो सकती है। और इस भावना से मीठे भला मिश्री या गुड़ हो सकते हैं क्या ?

चलो बात आगे बढ़ाएँ , इस बात का संबंध एक और बात से है- दरअसल अखिलेश के घर के पड़ोस में दो गुजराती मित्रों ने घर बनाया था। वे शायद हार्डवेयर सामान का व्यापार करते थे। दोनों ने मिलकर एक बड़ा ख़ूबसूरत मकान बनाया था जिसकी छत एक ही थी; नीचे गोदाम एक था नीचे का बाहरी लोहे का प्रवेश दरवाज़ा एक था। और दोनों घर की गृहणियाँ एक खाते पीते गुजराती परिवार की तरह आपस में मिलकर वो सब काम करती थीं जिनका ज़िक्र अम्मा ने किया था। वे बहुत से गुजराती सामान या सूखे पकवान भी साथ-साथ बनाती थीं – जिनके नाम मैं नहीं जानता। शायद उन्हीं दोनों को देख कर अम्मा ने ये कहा होगा।

अम्मा की बात तो जैसे अम्मा के साथ चली गई, अखिलेश और कल्पना, अखिलेश की पत्नी; अमेरिका में बस गए। हालाँकि मैंने जबलपुर में जो मकान बनवाया वह अम्मा की इच्छानुसार ही है। बस इतना फ़र्क था कि एक निचली मंज़िल थी – भूतल और और एक प्रथम-तल, छत एक ही है। प्रव दरवाज़ा एक ही है।

अब इस के आगे की कथा इन क़िस्सों के तीसरे खंड में सुनाऊँगा।

फ़िलहाल, अब बात 'संध्या' की – संध्या अखिलेश के बड़े मामा शंकर दयाल दुबे के पाँच बच्चों में सबसे बड़ी है। उससे छोटा 'प्रदीप', फिर 'सीमा' जिसे 'मीनू'

बुलाया जाता है, 'प्रवीण' जो घर पर मुन्ना कहलाता है सबसे छोटा 'पवन'। संध्या कॉलेज की पढ़ाई के लिए लगभग उसी समय जबलपुर आई थी जब मेरी दोस्ती अखिलेश से हुई थी। जिस तरह 'प्रतिमा' मेरी बहन बनी ठीक उसी तरह 'संध्या' भी।

एक बात यहाँ बता दूँ, मेरा प्रतिमा या संध्या से ये रिश्ता *"ऐसा है, इसलिए ये है"* सरीखा नहीं था; न ही ऐसा अब है। इसलिए मैं जब ज़रुरत पड़ती है, या कोई इस तरह की बात होती है, या जब कहना होता है - तब यही कहता हूँ मेरी छह बहनें हैं।

ये प्रसंग यहाँ छोड़ते हैं। ईश्वर द्वारा प्रदत्त इन दोनों बहनों और अन्यों के बारे में आगे बातें होती रहेंगी।



एक और बहुत बड़ा त्योहार हमारे घर मनाया जाता था, गणेश जी के विग्रह की स्थापना – जो कि गणेश चतुर्थी, भाद्रपद या भादों मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी - को की जाती है और दस दिनों तक वे हमारे घर में निवास करने के उपरान्त 'अनंत चतुर्दशी' को अपने धाम वापस लौट जाते हैं। इस दिन विधि विधान से गजानन भगवान् की विदाई की जाती थी। उनके विग्रह को जल में विसर्जित कर दिया जाता था, अगले बरस फिर पधारने का वादा लेकर। गणेश चतुर्थी के दिन की पूर्ववर्ती रात्रि हमारे घर में तीजा के रूप में मोहल्ले की स्त्रियों और युवतियों द्वारा रतजगा कर गाते बजाते बड़ी धूम से मनाई जाती थी। इसे 'हरि तालिका व्रत' भी कहते हैं– जिसे स्त्रियाँ और युवतियाँ पूरे चौबीस घंटे निर्जला रहकर रखती हैं। इन आयोजनों का विस्तृत वर्णन मैं 'आरंभ' में *'बुआ'* और *'गणेश जी की झाँकी'* चैप्टर्स में कर चुका हूँ।

'शारदीय नवरात्रि', 'राम-लीला', 'दशहरा', 'महालक्ष्मी पूजा' आदि का शब्द चित्रण भी मैं 'आरंभ' के विभिन्न अध्यायों में कर चुका हूँ। इसलिए उस सब की पुनरुक्ति अप्रासंगिक होगी।

इन सभी छोटे बड़े तीज त्योहारों के अलावा भी कई और व्रत, पर्व या तिथियाँ आती थीं, जब बाई या बुआ या दोनों ही उपवास रखतीं और पूजन किया करती थीं। इनमें से कुछ के नाम मैं यहाँ लिख देता हूँ – 'वट-सावित्री व्रत' जिसमें वट वृक्ष की पूजा

सूती धागा लपेटते हुए उसकी एक सौ आठ परिक्रमा कर की जाती है। 'हर छट' या 'हल षष्ठी', 'ऋषि पंचमी', 'संतान सप्तमी' आदि अन्य ऐसे ही व्रत-त्योहार थे। एक और बड़े महत्त्वपूर्ण पर्व का नाम यहाँ छोटा जा रहा था – 'कजलियाँ', ये पर्व रक्षाबंधन के दूसरे दिन मनाया जाता है। मैं इसे महत्त्वपूर्ण इसलिए मानता हूँ क्योंकि ये भी मेल-मिलाप, मिलने जुलने का उत्सव है। सामाजिक व्यवस्था में सबसे अधिक ज़रूरी यदि कुछ है तो वह मेल-मिलाप और एक दूसरे से मिलना जुलना ही है। बाक़ी की बातें तो बाद में शुरू होती हैं। आप जब एक दूसरे से मिलेंगे जुलेंगे तभी न एक दूसरे का सुख-दुःख बाँट सकेंगे। तभी एक सुद्रढ़ सामाजिक व्यवस्था का सक्रिय हिस्सा बन सकेंगे।

सच कहूँ तो त्योहार हमें जीवन को हर परिस्थिति में खुलकर जीने और आपसी मतभेदों को मिटाने की सीख देते हैं। त्योहारों का असली दर्शन यही है कि जीवन के हर रंग, सुख-दुख, उतार-चढ़ाव को स्वीकार किया जाए और नफ़रत को भुलाकर प्रेम का रंग अपनाया जाए।

एक ग़ज़ल जो यहाँ रखी जा सकती है, लिख रहा हूँ; शायद तुम्हें भी अच्छी लगे –

-ये रिश्ते, ये मुहब्बत, ये सहारे सब हमारे हैं,
ये आँसू, और ख़ुशी के हँसते इशारे सब हमारे हैं।

-कहीं मिट्टी की ख़ुशबू है, कहीं बारिश की बूँदें हैं,
कहीं बचपन के आँगन के नज़ारे सब हमारे हैं।

-किसी के दर्द में रोना, किसी की जीत में हँसना,
मुहब्बत के यही कानून सारे सब हमारे हैं।

-किसी की आँख के सपने, किसी के हाथ की मेहनत,
जो कल बेहतर बनाएँगे, वो सपने सब हमारे हैं।

-कभी नाराज़गी, और कभी फिर पास आ जाना ,
ये छोटे-छोटे झगड़े मीठे-खारे सब हमारे हैं।

-तुम्हारे घर की खुशियों में हम भी तो शामिल हैं,
ये त्योहार,ये उत्सव, दिलख़ुश नज़ारे सब हमारे हैं।

-न जाने कौन-सी मिट्टी ने हमको जोड़ रखा है,
ये धरती, ये हवा, ये चाँद-तारे सब हमारे हैं।

-जो बाँटें दिल को दिल से, वो लकीरें क्यों बनाएँ हम,
जहाँ इंसानियत बसती हो, वो किनारे सब हमारे हैं।

समूह में रहकर, आस-पास घर बनाकर रहना सदियों से चलता आया है। यह सामूहिक ढंग से सुख शांति की खोज और पूर्णतः या अंशतः प्राप्ति करते हुए जीवन जीना नहीं तो और क्या है ? लेकिन अब ये व्यवस्था धीरे धीरे चरमरा रही है। डिजिटल युग ने जीने का नया ढंग लगभग विकसित कर लिया है। अब 'अड़ोसी- पड़ोसी' या 'नाते रिश्तेदारों' की जगह 'ग्रुप' और 'फ्रेंड सर्कल' ने ले ली है। मोहल्ला-पड़ोस अब 'सोसायटी' में तब्दील हो गया है।

पर यह भी एक परिवर्तन है जिसे स्वीकारना ही होगा।

एक अजीब, अनाम सी धुंध है जो कुछ ही दशकों में चारों तरफ़ फैल गई है। यह जो नया समय है -अपनी चमकती हुई प्रगतिशीलता, खुलेपन और इस बेतहाशा भागती हुई रफ्तार के साथ-अचानक बहुत अजनबी लगने लगता है। सब कुछ इतनी जल्दी बदल गया कि हमारी आँखों में पुरानी दुनिया के जो अक्स थे, वे इस नई रोशनी में कुछ ठिठक से गए हैं।

पर समय सिर्फ़ बदलता नहीं है, वह अपने साथ एक खामोश समझदारी भी ले आता है। हमारी पीढ़ी ने चुपचाप इस असुविधा को ओढ़ना सीख लिया है। एक तरह का मौन समझौता है, जिसे हम शायद 'एडजस्टमेंट' कहते हैं।

किंतु इस सब के अंत में, जब हम अतीत और भविष्य के इस पुल पर खड़े होकर उन्हें देखते हैं, तो कोई कड़वाहट नहीं बचती। एक बुजुर्ग वार गरिमा के साथ मन सिर्फ रीता होना जानता है। वे जैसे भी हैं, जहाँ भी हैं, इस नए समय के सन्नाटे में हमारी तरफ़ से उनके लिए सिर्फ़ एक आशीष है, जो चुपचाप बहता रहता है - कि तुम इस जीवन को उसकी पूरी लंबाई में ख़ुशी ख़ुशी जी सको।

३ जून, २०२६

रात के ग्यारह बजे . . . .

कमरे में खिड़की से आती हवा थोड़ी-थोड़ी ठंडी है, और मेज के ऊपर लगे रैक में फिट रोशनी की पट्टी ने जैसे समय के एक हिस्से को थामा हुआ है। मैं अपने लैपटॉप पर लिख रहा हूँ। यह चैप्टर अब समाप्त करना है। मैं जैसे ठिठक कर सोच रहा हूँ कि यह जो हमारे आसपास का संसार है - इतना आधुनिक, इतना खुला, अपनी पूरी तकनीकी चकाचौंध के साथ - इसने कितनी जल्दी अपनी केंचुल बदल ली। कुछ ही दशकों में एक पूरा युग सरक गया। यह सब मेरी पीढ़ी के बाद की चीजें हैं, इसलिए जब पहली बार इस नई दुनिया से सामना हुआ, तो मन के भीतर एक अजीब सी हिचक थी, एक स्वाभाविक अटपटा पन।

लेकिन समय के साथ हम बदलना सीख जाते हैं। शायद इसे ही जीना कहते हैं। आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है कि हमारी पीढ़ी ने कितनी खामोशी से और कितनी गरिमा के साथ इस नए पन को अपने भीतर जगह दी है। हाँ, थोड़ा असहज जरूर लगता है, पर हम तालमेल बिठा रहे हैं। हमारी ठीक पहली वाली पीढ़ी शायद इस बदलाव के आगे इतनी आसानी से घुटने न टेकती, वे अपनी रूढ़ियों में ही अड़े रहते। पर हम? हम जैसे एक पुल हैं। दो नावों पर सवार यात्री, जिनके एक पैर के नीचे पुरानी व्यवस्था के गहरे संस्कार हैं, और दूसरे पैर के नीचे आने वाले कल की यह तेज-तर्रार डिजिटल संस्कृति।

शायद हर पीढ़ी का यही शाश्वत भाग्य होता है। हर दौर अपने साथ एक नया व्याकरण लेकर आता है और उसे ही हम जीवन का विकास मान लेते हैं। कल हमारी लड़ाई

किसी और मोर्चे पर थी, आज के बच्चों के सामने चुनौतियाँ कुछ और हैं। उनके संघर्ष अदृश्य हैं, पर कमतर नहीं हैं।

*इस सब के बीच, एक पिता या पिता समान होने के नाते, मन में कोई शिकायत नहीं बचती। बस एक गहरी, निर्मल आत्मीयता जागती है। वे जिस दुनिया को रच रहे हैं, वह उन्हीं की है। हम तो बस इस छोर पर खड़े होकर उन्हें दुआ दे सकते हैं। वे जहाँ भी रहें, जैसे भी रहें, बस मुसकुराते रहें। मन के सबसे पवित्र कोने से यही प्रार्थना निकलती है – **"जीवन को उत्सव बनाकर त्योहार की तरह जियो - सुखी रहो, प्रसन्न रहो, स्वस्थ रहो, आयुष्मान रहो"।***

□□□

3

हॉकी

(मैदान, मित्र और सपनों की दौड़)

हमारे जीवन के मूल तत्त्व जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि और आकाश माने गए हैं। बचपन से हम इन्हीं के बारे में सुनते आए हैं, मानो इन्हीं पाँच धागों से जीवन की पूरी चादर बुनी जाती हो। पर कभी-कभी मन में एक संदेह उठता है-क्या सचमुच इतना ही काफ़ी है? क्या केवल इन तत्त्वों के संयोग से यह चलता-फिरता रहस्य, यह मनुष्य नाम का तिलिस्म जन्म ले लेता है?

मान लिया कि जीवन की चादर इन्हीं तत्त्वों के करघे पर बुनी जाती है। पर फिर उस पर उभरने वाले रंग कहाँ से आते हैं? वे अनगिनत आकृतियाँ, वे बारीक बेल-बूटे, वे अँधेरे और उजाले, जो हर मनुष्य को दूसरे से अलग बना देते हैं, वे किस करघे पर रचे जाते हैं?

जब मैं प्रकृति को देखता हूँ तो एक विचित्र बात ध्यान में आती है। वृक्षों की असंख्य जातियाँ हैं, पक्षियों और पशुओं की भी। वे आकार में छोटे-बड़े हो सकते हैं, रंगों में कुछ भिन्नताएँ भी हो सकती हैं, किन्तु उनके स्वभाव और उनके धर्म में एक अद्भुत एकरूपता दिखाई देती है। एक गौरैया, दूसरी गौरैया से बहुत अलग नहीं होती; एक पीपल, दूसरे पीपल से अपना चरित्र नहीं बदलता।

पर मनुष्य. . . वह जैसे प्रकृति की सबसे बड़ी पहेली है।

दो मनुष्य कभी एक जैसे नहीं होते। उनके चेहरे ही नहीं, उनके भीतर की दुनिया भी अलग होती है। एक ही घर में जन्मे, एक ही अन्न खाए, एक ही हवा में साँस ली, एक

ही विद्यालय में पढ़े दो भाई भी कितने भिन्न निकलते हैं। एक के भीतर करुणा का अथाह स्रोत बहता है, दूसरे के भीतर महत्वाकांक्षा की आग। कोई स्मृतियों में बसता है, कोई सपनों में; कोई संसार को जीतना चाहता है, कोई स्वयं को समझना।

तब लगता है कि जीवन की चादर केवल पाँच तत्त्वों से नहीं बनती। उसमें कुछ और भी घुला होता है-शायद स्मृतियाँ, शायद अनुभव, शायद दुःख, शायद प्रेम, शायद वे अदृश्य स्पर्श जिन्हें हम भाग्य, संस्कार या आत्मा जैसे नामों से पुकारते हैं। यही वे रंग हैं जो एक ही चादर को हर बार नया रूप दे देते हैं।

और शायद इसी कारण मनुष्य को समझना इतना कठिन है। वह मिट्टी से बना हुआ होते हुए भी केवल मिट्टी नहीं है; वह जल, वायु और अग्नि का बना हुआ होते हुए भी उनसे कहीं अधिक है। उसके भीतर कुछ ऐसा है जो हर परिभाषा से बाहर रह जाता है-एक अनकहा रहस्य, जो जन्म से मृत्यु तक उसके साथ चलता है।

शायद यही वह करिश्मा है-

जो मनुष्य को सृष्टि का सबसे परिचित और सबसे अपरिचित जीव बना देता है।



विज्ञान शायद इस रहस्य का उत्तर कुछ इस तरह देने की कोशिश करेगा कि मनुष्यों के बीच जो यह अनन्त भिन्नता दिखाई देती है, उसका स्रोत उनका मस्तिष्क है। अरबों तंत्रिकाओं से निर्मित वही जटिल संरचना, जो स्मृतियों को सँजोती है, अनुभवों को आकार देती है और व्यक्ति के स्वभाव का निर्माण करती है।

आध्यात्म इसका उत्तर किसी और दिशा में खोजेगा। वह कहेगा कि इस भिन्नता का मूल कारण मस्तिष्क नहीं, चेतना है। वही चेतना जो शरीर और मन के पीछे कहीं एक मौन साक्षी की तरह विद्यमान रहती है।

लेकिन यहीं से एक विचित्र उलझन आरम्भ होती है।

यदि मस्तिष्क ही सब कुछ है, तो उसके निर्माण के मूल घटक तो लगभग एक जैसे ही हैं। उसकी कार्यप्रणाली के नियम भी कमोबेश समान हैं। फिर यह फ़र्क़ या असमानता

कहाँ से आती है? और यदि आध्यात्मिक मनीषियों की बात मान लें कि मूल चेतना एक ही है, अविभाज्य और सार्वभौमिक, तो फिर उससे जन्म लेने वाले अनुभव, व्यक्तित्व और जीवन इतने भिन्न इतने मुख़्तलिफ़ कैसे हो जाते हैं?

ऐसा लगता है कि इस रास्ते पर चलते हुए उत्तर कम मिलते हैं, प्रश्न अधिक।

एक प्रश्न का हाथ पकड़ते हैं और वह हमें किसी दूसरे, अधिक गहरे प्रश्न के सामने लाकर खड़ा कर देता है। जैसे किसी अँधेरे गलियारे में एक दरवाज़ा खुलता है और उसके पीछे एक और दरवाज़ा दिखाई देने लगता है।

शायद इसी कारण जिन लोगों ने इस रहस्य की किसी झलक को छुआ भी होगा, वे उसे शब्दों में बाँध नहीं सके। उन्होंने संकेत तो दिए, रूपक गढ़े, उपमाएँ रचीं, पर अन्ततः एक जगह आकर रुक गए। मानो उन्हें स्वीकार करना पड़ा हो- **"जो जाना गया है, वह कहा नहीं जा सकता; और जो कहा जा सकता है, वह पूरा जाना हुआ नहीं है।"**

कभी-कभी मुझे लगता है कि शब्दों की यही विवशता मुझे भी घेर लेती है।

ऐसा नहीं कि मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिल गया है। सच तो यह है कि जितना इसे समझने की कोशिश करता हूँ, उतना ही यह अपनी नई परतें खोलता जाता है। यह किसी गणितीय समीकरण की तरह नहीं है, जो अन्ततः हल होकर एक निश्चित परिणाम दे दे। यह तो उस धागे की तरह है, जिसे सुलझाने बैठो तो उसके भीतर से और धागे निकल आते हैं।

इसलिए शायद यहाँ थोड़ी देर रुक जाना चाहिए।

कुछ बातों को, कम-से-कम अभी के लिए, मान लेना होगा-विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि एक कार्यकारी परिकल्पना की तरह। क्योंकि जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, तब तक उस संसार में प्रवेश ही नहीं कर पाएँगे, जिसकी दहलीज़ पर हम इस समय खड़े हैं- और जिसके बारे में मैं आगे तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।



तो! बात शुरू करें –

लेकिन असल बात से पहले फ़िर थोड़ी-सी बात. . .

मेरी समझ और मेरे जानने के अनुसार हमारे भीतर कोई होता है, जो हममें जुनून नाम की चीज़ पैदा करता है।

किसी काम के प्रति बहुत गहरा लगाव या उत्साह. . .

उत्कट रुचि और आवेग एक तरह की दीवानगी।

यह मात्र शौक नहीं होता।

यह किसी काम के प्रति गहरा लगाव और आंतरिक प्रेरणा होता है।

हम उसे केवल समय बिताने के लिए नहीं, बल्कि दिल से करना चाहते हैं। इसमें अक्सर समर्पण, लगन और लक्ष्य भी जुड़ा होता है। कई बार ये जुनून या पैशन आगे चलकर कॅरियर या जीवन का उद्देश्य भी बन सकता है।

मेरे भीतर भी बहुत बचपन से हॉकी खेलने के प्रति ऐसा ही जुनून पैदा हुआ था।

ये और बात है कि आगे चलकर यह जुनून क़ायम न रह सका, अपने उस रूप में, जिसमें यह बना रह सकता था। इसके कई कारण हैं, जिन्हें मैं अच्छे से जानता हूँ; पर विस्तार में न जाकर संक्षेप में बता दूँ, या एक महत्वपूर्ण कारण बताए देता हूँ - मेरी कक्षा ग्यारहवीं और उसके बाद कॉलेज की पढ़ाई।

अब तुम बेशक ये सवाल करोगे - यदि हॉकी खेलना 'पैशन' था तो वह पढ़ाई के आगे हल्का क्यों पड़ गया। दरअसल ज़िंदगी हर आने वाले पल हमारे सामने 'च्वाइस' की पहेली रख देती है। साथ ही, हमारी समझ को भी अपने हिसाब से चुपचाप उसकी मर्ज़ी वाली एक दिशा में मोड़ देती है, जिसे हम जान नहीं पाते। वह यह सब इतनी सफ़ाई से करती है कि हम इसे अपनी ही च्वाइस मान लेते हैं। इस गुरिल्ला युद्ध में ज़िंदगी हमारे ख़िलाफ़ जिन अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करती है, उनमें सबसे शक्तिशाली और सटीक मार करने वाला अस्त्र अथवा शस्त्र होता है-हमारे पेरेंट्स की हमसे अपेक्षा। दूसरा, हमारे भीतर वह शक, दुविधा, उलझन, कशमकश, असमंजस, संशय, द्वंद्व जैसे

एजेंट्स छोड़ देती है। विरले ही इस अदृश्य युद्ध में ज़िंदगी से जीत पाते हैं, और मैं उन विरलों में से नहीं था।

नतीजतन मैं हॉकी खिलाड़ी की जगह मेकेनिकल इंजीनियर बन गया।

बहरहाल बात उन दिनों की करना है जब पेंटिंग और पढ़ने के साथ साथ 'हॉकी खेलना' मेरा जुनून या पैशन था।



हॉकी खेलने का जुनून कैसे पैदा हुआ –

जब मैं तीसरी क्लास में रहा होऊँगा, तब अपने आस-पास के परिवेश को अच्छी तरह से समझने लगा था। मतलब, उस उम्र के बच्चे को जितनी समझ में आना चाहिए, उतनी समझ और विवेक मुझमें विकसित हो गया था। मैंने अपने मोहल्ले घमापुर में देखा, प्रायः सभी युवा और कुछ प्रौढ़ भी हॉकी खेलते हैं। उनका हॉकी खेलना उस मोहल्ले की दिनचर्या का एक अटूट हिस्सा था। वे नियमित हॉकी खेलते थे। यह भी घमापुर मोहल्ले के लिए एक वरदान सरीखी चीज़ थी कि यहाँ बड़े मैदानों की कमी न थी। हॉकी खेलने के लिए यदि नियमों के मुताबिक लंबाई-चौड़ाई का मैदान न भी हो, तो भी कम-से-कम इतनी जगह तो चाहिए ही कि एक साथ पंद्रह-बीस लोग दो टीमों में बँटकर खेल सकें। वैसे तो दो टीमों में बाईस खिलाड़ी होने चाहिए-ग्यारह प्रत्येक टीम में। खिलाड़ी गेंद लेकर ड्रिब्लिंग करते हुए भाग सकें, लंबे हिट मार सकें, लंबा स्कूप कर सकें, छोटे-बड़े पास दे सकें, रणनीति बनाकर मूव बना सकें और विपक्षी टीम पर हमला कर सकें, विपक्षी हमले का योजनाबद्ध तरीक़े से बचाव कर सकें। इतना सब न हो, तो फ़िर हॉकी खेलने का आनंद कहाँ?

परंतु हमारे मोहल्ले के विस्तृत क्षेत्र में, खासकर पश्चिमी घमापुर के हिस्से में, छोटे-बड़े कई मैदान थे, जहाँ इस बेहतरीन खेल को बख़ूबी खेला जा सकता था। लिहाज़ा, खेला भी जाता था। इस बाबत मैं 'आरंभ' के 'पास-पड़ोस' चैप्टर में काफ़ी कुछ लिख चुका हूँ। लेकिन यहाँ बात सीधे-सीधे 'हॉकी' की हो रही है, तो फ़िर से उस विवरण को दोहराने की यह एक माक़ूल वजह अपने आप बन जाती है।

चलो, शुरू करते हैं। पहला और सबसे बड़ा मैदान था स्माइथ स्कूल के सामने वाला। इस मैदान में हमारे मोहल्ले की सबसे सीनियर टीम प्रैक्टिस करती थी। ये उन युवकों और कुछ-कुछ प्रौढ़ हो चले लोगों का ग्रुप था, जिनकी उम्र चौबीस -पच्चीस बरस से ज़्यादा, या उसके आस-पास थी। इस टीम का नाम 'सेंट पॉल क्लब' था। चूँकि पश्चिमी घमापुर का यह हिस्सा क्रिश्चियन-बहुल क्षेत्र था और जहाँ यह मैदान स्थित था, वह "सेंट पॉल चर्च, चर्च ऑफ़ नॉर्थ इंडिया, घमापुर, जबलपुर" का विशाल परिसर था। जो कि तीन ओर से एक मजबूत दीवार से घिरी थी और गाढ़े मैरून-लाल रंग से पुती हुई थी। उस समय उस परिसर में इस चर्च के अलावा पादरी का बड़ा बंगला, स्माइथ स्कूल और उसका हॉस्टल, एक कोने में कुछ खपरैल वाले, किन्तु बड़े मकान थे, जिनमें कुछ चायनीज़ क्रिश्चियन परिवार रहते थे। इसके बाद जो जगह बचती थी, उसमें तीन समतल क्षेत्र थे। एक, स्कूल के सामने सबसे बड़ा, सपाट, बिना घास का मैदान, जिसका उपयोग दिन में स्माइथ स्कूल के बच्चे अपने खेल के मैदान की तरह करते थे। सुबह और शाम को इसी ग्राउंड में सेंट-पॉल क्लब के सदस्य हॉकी खेलते थे। दूसरा, स्कूल के दाईं तरफ़ स्कूल का लंबा-चौड़ा खो-खो ग्राउंड। इस ग्राउंड में खो-खो सेंटर लाइन के दोनों सिरों पर नियमानुसार दूरी पर लगभग डेढ़ मीटर ऊँचे लकड़ी के दो मज़बूत स्तम्भ लगे थे। मैदान पर चूने से खो-खो खेल के लिए मार्किंग्स भी बनी होती थीं। स्तम्भों और इस मार्किंग को नज़रअंदाज़ करते हुए एक तरह से सेंटपॉल क्लब की 'बी' टीम के युवक हॉकी खेलते थे, जिनकी उम्र पंद्रह-सोलह से सत्रह-अठारह बरस या थोड़ा ज़्यादह के आस-पास हुआ करती थी।

सेंटपॉल क्लब की जो बड़ी टीम थी, उसमें जो लोग खेलते थे, उनमें से कुछ नाम मुझे अब भी याद हैं। सनी मसीह उस टीम के कप्तान थे, उनके बड़े भाई विक्टर भी थे। दोनों भाई अच्छी हॉकी खेलते थे और साथ ही उनका हमारे मोहल्ले में अच्छा दबदबा भी था। जहाँ सनी सेंटर फ़ॉरवर्ड की पोजीशन पर खेलते थे, वहीं विक्टर फ़ुल बैक हुआ करते थे। इनके अलावा मुझे जो नाम याद हैं, उनमें न्यूटन डेनियल इनसाइड लेफ्ट या लेफ्ट-इन, अमर सिंह सेंटर हॉफ़, पम्मी भैया फ़ुल बैक, छोटे भैया गोलकीपर, मक्खन रजक लेफ्ट हॉफ़ या राइट हॉफ़ में से किसी एक जगह, किशन रजक राइट-आउट, जेमा लेफ्ट-आउट पोजीशन पर प्रायः खेलते थे। एक नाम और याद आया, पर वह भी

उनका असली नाम नहीं था। मुझे उनका असली नाम तब भी पता नहीं था। जिस नाम से लोग उन्हें बुलाते थे, मैं उनका वही नाम जानता था और वही अब याद आ गया है-'जालिम'। वे गोलकीपर थे और उनकी ख्याति जबलपुर के बहुत अच्छे गोलकीपरों में होती थी। कुछ लोगों का मानना था कि वे जबलपुर की सभी हॉकी टीमों में सबसे अच्छे गोलकीपर थे। उनकी अनुपस्थिति में छोटे गोलकीपर की पोजीशन पर खेलते थे। एक और गोलकीपर थे-'गामा'। मैं उन्हें इसी नाम से जानता हूँ। वे भी अच्छे खिलाड़ी थे। हाँ, एक और बढ़िया फ़ुलबैक और हॉफ़ लाइन के खिलाड़ी थे-'पीटर'। अक्सर पम्मी भैया और पीटर लेफ्ट फ़ुलबैक और राइट फ़ुलबैक पोज़िशनों पर खेलते थे। अमर सिंह और सनी भैया जबलपुर की गन कैरिज फ़ैक्ट्री में काम करते थे। वहाँ की भी एक शानदार हॉकी टीम थी। दोनों उस टीम में खेलते थे, परंतु उस टीम के कप्तान अमर सिंह थे। सेंटपॉल क्लब का जब भी कोई मैच किसी मज़बूत टीम से होता, तो आवश्यकता पड़ने पर गन कैरिज फ़ैक्ट्री के कुछ खिलाड़ी सेंटपॉल क्लब की तरफ़ से खेल जाते थे। किसी-किसी टूर्नामेंट में, जब सेंटपॉल क्लब और गन कैरिज फ़ैक्ट्री दोनों की टीमें भाग लेती थीं, तब ज़रूर दिक्कत होती थी। तब सनी भैया और अमर सिंह की जगह दूसरे खिलाड़ियों को मौका मिल जाता था। पर तब सेंटपॉल क्लब की टीम थोड़ा कमज़ोर पड़ जाती थी।

ये सब बातें मैं बहुत शुरुआती दौर की बता रहा हूँ। मतलब जब मैं प्रायमरी स्कूल में पढ़ता था। मिडिल स्कूल तक हमारी भी एक बहुत अच्छी टीम बन चुकी थी। उसके बारे में कुछ देर में बताऊँगा। कक्षा दसवीं के बाद मेरा हॉकी खेलना छूट गया था। उस समय की जो बातें जो नाम याद रह पाए हैं उन्हीं को यहाँ बता पा रहा हूँ। ग्यारहवीं की पढ़ाई ने हॉकी खेलने से दूर कर दिया। स्कूल में भी ग्यारहवीं के विद्यार्थियों को, लगभग सभी को-केरीकुलर ऐक्टिविटीज़ से दूर कर दिया जाता था। सिर्फ़ और सिर्फ़ पढ़ाई पर ध्यान देना विद्यार्थियों की एक मात्र गतिविधि रह जाती थी। हमारे समय में बारहवीं कक्षा नहीं हुआ करती थी। एक आध साल यह प्रयोग किया गया था। पर दसवीं की बोर्ड परीक्षा देकर जब हम ग्यारहवीं में पहुंचे तब ग्यारहवीं पुनः अंतिम क्लास बन गई। अतः हम लोगों ने लगातार दो साल बोर्ड परीक्षा दी। चूंकि ग्यारहवीं के बाद सीधे महाविद्यालय में प्रवेश लेना होता था तथा मेडिकल कोर्स के अलावा किसी और

कोर्स के लिए कोई प्रवेश परीक्षा नहीं होती थी। अतः ग्यारहवीं में प्राप्त अंकों को ही अच्छे महाविद्यालयों में प्रवेश का आधार बनाया जाता था। इसलिए ग्यारहवीं कक्षा में बस पढ़ाई – और कुछ नहीं।

असल बात तो मैंने बताई ही नहीं ! कि मेरे भीतर भी हॉकी खेलने का जुनून कैसे पैदा हुआ ?

जिस मोहल्ले में मैं पला-बढ़ा, वहाँ हॉकी केवल एक खेल नहीं थी- वह एक तरह की साँस थी, जो आठ-नौ बरस के लड़कों से लेकर पच्चीस-तीस या उससे भी अधिक उम्र के लोगों के भीतर एक समान चलती रहती थी। उन दिनों भारत में हॉकी की जो प्रतिष्ठा थी, वह किसी गौरव-गाथा से कम न थी। अन्तर्राष्ट्रीय मैदानों पर भारतीय खिलाड़ियों के खेल-कौशल का डंका बजता था, और उसकी अनुगूँज जबलपुर की गलियों तक पहुँचती थी।

जबलपुर उन दिनों हॉकी के रंग में रँगा हुआ था। जैसे किसी शहर में कोई चीज़ इस तरह रच-बस जाती है कि उसे अलग करके देखना सम्भव नहीं रहता। ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्री खमरिया, गन कैरिज फ़ैक्ट्री, आर्मी वर्कशॉप 506, सिग्नल्स ट्रेनिंग कोर -इन सबकी अपनी-अपनी टीमें थीं। रेलवे की टीम थी, पुलिस की टीम थी, मध्य प्रदेश विद्युत मण्डल की टीम थी। जबलपुर विश्वविद्यालय, रॉबर्ट्स क्लब सदर, ए.पी. नर्मदा क्लब, इंडिपेंडेंट क्लब छोटी ओमती, सेंट पॉल क्लब घमापुर -ये सब नाम उस समय किसी पहचान की तरह थे, जिन्हें सुनते ही मन में एक खास तरह का उत्साह जाग उठता था। इनमें रेलवे, जी.सी.एफ., इंडिपेंडेंट क्लब और सेंट पॉल क्लब घमापुर की विशेष ख्याति थी -इन्होंने जबलपुर के भीतर ही नहीं, बाहर के टूर्नामेंटों में भी अपना नाम किया था।

ऐसे में मेरे भीतर हॉकी की जो हसरत जन्मी, वह शायद कुदरती तौर पर अनिवार्य थी।

हाँ, आज भी जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो एक बात पर अचरज होता है -कि कबड्डी, गिल्ली-डंडा, कुश्ती, कंचे या पतंग की ओर मेरा मन कभी नहीं गया। हॉकी ने जैसे मुझे पहले ही चुन लिया था। मैंने लगभग नौ बरस तक यह खेल खेला- बड़े प्रेम से,

बड़े जतन से। मॉडल हाई स्कूल की 'बी' ग्रेड और फिर 'ए' ग्रेड की टीम में अपनी मनपसन्द पोजीशन पर। 'सी' ग्रेड की सीढ़ी लाँघकर सीधे 'बी' ग्रेड में जगह मिली- यह एक छोटी-सी बात थी, पर उस उम्र में इसका अपना एक गर्व था।

अब क्योंकि मैंने अपनी मनपसंद पोजीशन की बात की है, तो कुछ उसके बारे में भी बता दूँ।

उस समय, जब मैंने हॉकी खेली-यानी साठ और सत्तर के दशक में-तब भारत में पारंपरिक हॉकी ही खेली जाती थी, जिसमें पाँच फ़ॉरवर्ड, तीन हॉफ़ लाइन खिलाड़ी, दो फ़ुलबैक और एक गोलकीपर हुआ करता था। पूरे विश्व में जो भी देश हॉकी खेलते थे, सभी जगह इसी तरह 5-3-2 और गोलकीपर शैली में हॉकी खेली जाती थी।

मैं इन पाँच फ़ॉरवर्ड अर्थात अग्रिम आक्रामक पंक्ति में से एक अति महत्वपूर्ण स्थान पर खेलता था। उस समय उस पोजीशन को 'लेफ्ट-इन' या 'इनसाइड लेफ्ट' कहा जाता था। यह मेरे स्वयं के द्वारा अपने लिए चुनी गई पोजीशन थी, जिस पर मैं हमेशा खेलता रहा, जब तक मैंने हॉकी खेली। मुझे किसी ने या स्कूल टीम के कोचेज़ ने कभी पोजीशन बदलने को नहीं कहा।

अब आधुनिक हॉकी में खेल की रफ़्तार बहुत बढ़ गई है।

आधुनिक हॉकी पारंपरिक हॉकी से पूरी तरह बदल गई है। यहाँ तक कि पहले सामान्य मिट्टी के समतल मैदान पर हॉकी खेली जाती थी; अब 1970-80 के दशक से वह एस्ट्रो टर्फ पर खेली जाने लगी है।

इन बदलावों के बारे में भी बताऊँगा पर पहले 'लेफ्ट इन' या 'इनसाइड लेफ्ट' –

पारंपरिक फील्ड हॉकी में, खासकर पुराने 5-3-2 ढाँचे में, इनसाइड लेफ्ट अग्रिम पंक्ति का बहुत महत्वपूर्ण खिलाड़ी माना जाता था। यह खिलाड़ी लेफ्ट-आउट और सेंटर-फॉरवर्ड के बीच खेलता था। उसकी भूमिका केवल गोल करना नहीं, बल्कि पूरे आक्रमण को जोड़ना, दिशा देना और तेज बनाना भी होती थी।

इनसाइड लेफ्ट, लेफ्ट विंग से आने वाले हमले को सेंटर-फॉरवर्ड तक पहुँचाने की कड़ी होता था।

यह खिलाड़ी छोटे-छोटे पास, वन-टू, थ्रू बॉल और त्रिकोणीय मूव बनाकर विरोधी रक्षा को तोड़ता था। कई बार यह स्वयं गोल करता था, और कई बार सेंटर-फ़ॉरवर्ड या लेफ्ट-आउट के लिए अवसर बनाता था।

विरोधी सर्कल के बाहर और भीतर गेंद को सँभालना, सही समय पर पास देना और सही जगह पहुँचना इसकी खास जिम्मेदारी थी। गेंद खोने पर यह पीछे आकर लेफ्ट हाफ की भी मदद करता था, इसलिए इसमें सहनशक्ति भी ज़रूरी होती थी।

एक अच्छे इनसाइड लेफ्ट में सामान्यतः बेहतरीन स्टिक-वर्क, तेज़ और सटीक पासिंग, मैदान की समझ, सही समय पर सही जगह पहुँचने की क्षमता, गोल सूँघने की समझ, आक्रमण और रक्षण-दोनों में योगदान देने का स्वभाव-ये सारे गुण होने चाहिए। इस पोजीशन का महत्व इसलिए बहुत अधिक था क्योंकि:

यह लेफ्ट विंग और सेंटर अटैक के बीच पुल का काम करती थी। टीम के आक्रमण को रफ़्तार और रचनात्मकता देती थी। यदि इनसाइड लेफ्ट अच्छा खेलता, तो पूरी लेफ्ट साइड जीवंत हो जाती। यह खिलाड़ी केवल 'फ़ॉरवर्ड' नहीं, बल्कि एक तरह का आक्रमणकारी शिल्पकार होता था।

सरल शब्दों में यदि इस बात को कहें तो:

"अगर सेंटर-फॉरवर्ड को गोल करने वाला मुख्य भाला मानें, तो इनसाइड लेफ्ट वह खिलाड़ी है जो उस भाले को सही दिशा और सही समय देता है। यानी यह पोजीशन सिर्फ स्कोरिंग नहीं, बल्कि पूरे आक्रमण की बुद्धि और लय से जुड़ी होती है।"

आज की आधुनिक हॉकी में इस पोजीशन के पुराने नाम 'लेफ्ट-इन' का कम उपयोग होता है, लेकिन उसकी भूमिका पूरी तरह ख़त्म नहीं हुई। अब यह काम अक्सर: अटैकिंग मिडफील्डर, लेफ्ट इनर चैनल प्लेयर या लेफ्ट-साइड अटैकर निभाते हैं।

लेफ्ट-इन की जगह मैदान पर केवल एक खिलाड़ी की जगह नहीं होती थी, वह आक्रमण की बुनावट में छिपा हुआ वह कोमल किन्तु निर्णायक स्पर्श था, जो खेल को केवल वेग नहीं, अर्थ भी देता था। वह बाएँ छोर की हवा को अपने साथ लेकर बीच की ओर उतरता, मानो हरियाली पर कोई राग धीरे-धीरे आकार ले रहा हो। उसकी स्टिक से निकला पास केवल गेंद का स्थान-परिवर्तन नहीं होता था, वह साथियों के बीच एक मौन विश्वास का संचार होता था। सेंटर-फॉरवर्ड के लिए अवसर रचना, लेफ्ट-आउट की दौड़ को दिशा देना, और रक्षा-पंक्ति की दरारों में क्षण-भर का उजाला खोज लेना - यही उसका कौशल था, यही उसका सौंदर्य। वह प्रायः सबसे अधिक दिखाई नहीं देता था, पर आक्रमण की आत्मा उसी में धड़कती थी; जैसे किसी कविता में वे शब्द, जो ऊँचे स्वर में नहीं बोले जाते, फिर भी पूरी कविता का अर्थ अपने भीतर सँजोए रहते हैं।

कभी-कभी मुझे लगता है, लेफ्ट-इन मैदान पर नहीं, किसी अदृश्य कविता की पंक्ति में खेलता था। वह दौड़ता नहीं था, जैसे घास पर एक लय बहती थी; वह पास नहीं देता था, जैसे समय की सिलवटों के बीच से कोई अर्थ निकलकर अपने नियत स्थान तक पहुँच रहा हो। जब वह बाएँ किनारे से भीतर की ओर मुड़ता, तो लगता मानो खेल अपने बाहरी आकार से निकलकर अपने भीतरी संगीत में प्रवेश कर रहा है। उसके पैरों के साथ मैदान की मिट्टी, उसकी स्टिक के साथ गेंद, और उसकी दृष्टि के साथ साथियों की आकांक्षाएँ चलती थीं। वह शोर का नायक नहीं था; वह उस निस्तब्धता का साधक था, जहाँ से सबसे सटीक आक्रमण जन्म लेते हैं। गोल यदि उत्सव था, तो लेफ्ट-इन उस उत्सव से पहले का वह मौन निमंत्रण था, जिसमें पूरी टीम का भरोसा, कौशल और स्वप्न एक क्षण के लिए एक ही दिशा में एकत्र हो जाते थे।

जीवन में भी शायद इनसाइड लेफ्ट की एक गहरी, लगभग अदृश्य जगह होती है- वही, जहाँ मनुष्य स्वयं फल का अधिकारी बनने से पहले, किसी और की संभावना के लिए पथ प्रशस्त करता है। कुछ लोग नियति के उजले शिखरों पर दिखते हैं, पर कुछ ऐसे भी होते हैं जो दृश्य के किनारे रहकर उसकी लय, उसका संतुलन और उसका अर्थ रचते हैं। वे जानते हैं कि हर उपलब्धि का एक मौन आधार होता है, और हर

प्रकाश के पीछे किसी अनाम छाया का श्रम। इनसाइड लेफ्ट मानो जीवन का वही सूक्ष्म धर्म है, जो हमें सिखाता है कि अस्तित्व केवल स्वयं को सिद्ध करने का नाम नहीं; कभी-कभी स्वयं को थोड़ा पीछे रखकर, किसी बड़े संपूर्ण के लिए अनुकूल स्थान बना देना भी उतना ही सार्थक, और शायद अधिक मानवीय होता है।

यदि उपनिषदों की छाया में इस स्थान को देखें, तो इनसाइड लेफ्ट जीवन के उस मौन कर्मयोग की याद दिलाता है, जहाँ कर्ता स्वयं को केंद्र में रखकर नहीं, एक व्यापक लय में विलीन होकर काम करता है। वह जानता है कि हर सफल प्रहार के पीछे कोई अदृश्य संयोग, कोई शांत संयोजन, कोई अनाम साधना काम करती है। जैसे वाणी के पहले एक निःशब्द अर्थ होता है, वैसे ही उपलब्धि के पहले किसी के त्याग, संयम और सजग उपस्थिति का सूक्ष्म स्पर्श। इनसाइड लेफ्ट मानो यही कहता है कि जीवन का सत्य केवल दिखाई देने वाले फल में नहीं, उस अदृश्य समर्पण में भी बसता है, जो बिना नाम चाहे, संपूर्ण के लिए अपना स्थान अर्पित कर देता है।

□□

अब आधुनिक और परंपरागत हॉकी में बहुत बड़ा फ़र्क आ गया है। पहले हॉकी घास के मैदान पर खेली जाती थी, लेकिन अब सिंथेटिक एस्ट्रोटर्फ का उपयोग होता है। इस बदलाव ने खेल की पूरी तस्वीर ही बदल दी।

पुराने समय में लकड़ी की भारी स्टिक और चमड़े की गेंद से खेल होता था, जबकि आज हल्की कार्बन-फ़ाइबर स्टिक और प्लास्टिक की गेंद आ गई है। इससे खेल की रफ़्तार कई गुना बढ़ गई है। पहले खेल धीमा और रणनीतिक होता था, लेकिन अब तेज़ स्प्रिंट और तुरंत निर्णय लेने की क्षमता ज़रूरी हो गई है।

भारत और पाकिस्तान की मशहूर इंडियन ड्रिब्लिंग शैली, जिसमें दोनों तरफ़ गेंद घुमाई जाती थी, घास के मैदान में बहुत प्रभावशाली थी। लेकिन एस्ट्रोटर्फ आने के बाद यूरोपीय सीधी और तेज़ पास-शैली अधिक कारगर साबित हुई। पेनल्टी कॉर्नर में भी बड़ा बदलाव आया है। अब ड्रैग-फ्लिक तकनीक से लगभग 150 किमी/घंटा की रफ़्तार से गेंद मारी जाती है, जो पहले संभव नहीं था।

नियमों में भी काफ़ी बदलाव हुए हैं। ऑफसाइड नियम हटने से खेल और खुला हो गया है, और अब हर खिलाड़ी को अटैक और डिफेंस दोनों करनी पड़ती है। गोलकीपर भी अब पूरी पैडिंग के साथ आक्रामक तरीक़े से खेलते हैं। सबसे बड़ा बदलाव तकनीक का है। आज जीपीएस ट्रैकिंग, वीडियो विश्लेषण और डेटा एनालिटिक्स से खिलाड़ियों की हर हरकत पर नज़र रखी जाती है, जो पुरानी हॉकी में सोचा भी नहीं जा सकता था।

आधुनिक फील्ड हॉकी में खेल की रफ़्तार बहुत तेज हो चुकी है, इसलिए खिलाड़ियों की पोजीशन और उनकी भूमिकाएं बहुत महत्वपूर्ण हो गई हैं। आमतौर पर एक टीम में मैदान पर 11 खिलाड़ी, 1 गोलकीपर और 10 आउटफील्ड खिलाड़ी होते हैं।

मैदान पर उनकी पोजीशन और भूमिकाओं के बारे में मैं बात करूँगा , किन्तु ये भी बताता चलूँ कि आजकल पोजीशन बहुत लचीली या फ्लेक्सिबल हो गई हैं। एक मिडफ़ील्डर ज़रूरत पड़ने पर फ़ॉरवर्ड या डिफेंडर की भूमिका भी तुरंत संभाल लेता है। हाँ, गोलकीपर इसका अपवाद है। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर गोलकीपर को मैदान के बाहर बुलाकर उसकी जगह फील्ड पर कोई दूसरा ग्यारहवाँ खिलाड़ी भेजा जा सकता है।

आधुनिक फील्ड हॉकी में 'रोलिंग सब्स्टीट्यूशन' का नियम है, जिसका मतलब है कि खिलाड़ी मैच के दौरान बार-बार बदले जा सकते हैं। इस वजह से अब किसी एक खिलाड़ी के एक ही पोजीशन पर एक ही भूमिका में खेलने की आवश्यकता प्रायः समाप्त हो गई है। हर खिलाड़ी को सामान्यतया हर पोजीशन पर खेलने के लिए स्वयं को तैयार और चुस्त दुरुस्त रखना होता है। वैसे किसी विशेष पोजीशन या ज़रूरत के मुताबिक कुछ खिलाड़ी उस तरह से खेलने में विशेषज्ञ भी होते हैं।

फ़िर भी आधुनिक हॉकी की विभिन्न पोजिशनस् के बारे में बताना तो पड़ेगा।

शुरुआत 'गोलकीपर' से करते हैं -

यह टीम की रक्षा की अंतिम पंक्ति है। इस का मुख्य काम विरोधी टीम के द्वारा किए गए आक्रमण के समय अपनी टीम पर गोल होने से रोकना होता है। वह पूरे मैच में

भारी सुरक्षात्मक गियर (पैड, हेलमेट, चेस्ट गार्ड) पहने रहता है। डी-सर्कल के अंदर गोलकीपर को अपने शरीर के किसी भी हिस्से से गेंद को रोकने या लात मारने की अनुमति होती है।

फ़िर आते हैं –

डिफेंडर्स / रक्षक / फ़ुल बैक्स, जो कि गोलकीपर के ठीक आगे खेलते हैं। इनका मुख्य काम विरोधी फ़ॉरवर्ड्स को रोकना और गेंद को अपने गोल के पास से दूर ले जाना है। फ़ुलबैक मुख्य रूप से रक्षात्मक खिलाड़ी होते हैं, जो विपक्षी स्ट्राइकर्स को टैकल करते हैं। सेंटर बैक रक्षापंक्ति के बीच में खेलता है और पूरी डिफेंस को गाइड करता है।

विंग बैक / स्वीपर बैक्स दाएं और बाएं छोर से होने वाले हमलों को रोकते हैं। कभी-कभी एक 'स्वीपर' भी होता है जो रक्षापंक्ति के ठीक पीछे रहकर बची-खुची गेंदों को 'स्वीप' अथवा क्लियर करता है।

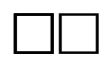
अब आते हैं - मिडफ़ील्डर्स / मध्यपंक्ति / हॉफ़्स : इन्हें टीम का ‘इंजन रूम’ कहा जाता है। ये डिफेंस और अटैक यानी आक्रमण के बीच की सबसे मज़बूत कड़ी होते हैं। इन्हें पूरे मैच में सबसे ज़्यादा दौड़ना पड़ता है क्योंकि इनका काम विपक्षी टीम से गेंद छीनना अर्थात डिफेंसऔर उसे अपने फ़ॉरवर्ड्स तक पहुंचाना अर्थात अटैक दोनों होता है। ये मैदान के बीच में दाएं-राइट मिड, बाएं- लेफ्ट मिड और केंद्र सेंटर मिड में खेलते हैं।

अंत में सबसे महत्वपूर्ण खिलाड़ी होते हैं - फ़ॉरवर्ड्स या आक्रमणकारी – इनका मुख्य काम गोल करना और विरोधी टीम के डिफेंस पर लगातार दबाव बनाना होता है।

सेंटर फॉरवर्ड या स्ट्राइकर, टीम का मुख्य गोल-स्कोरर होता है। यह हमेशा विरोधी टीम के डी-सर्कल के आसपास रहकर गोल करने के मौकों की तलाश में रहता है।

विंग्स और इनर्स दाएँ और बाएँ छोर से तेज़ी से गेंद को आगे बढ़ाते हैं और सेंटर फ़ॉरवर्ड के लिए पास या क्रॉस देते हैं। इन्हीं में से बाईं तरफ़ वाली पोजीशन पर मैं खेलता था।

आधुनिक हॉकी 5-3-2 के स्थान पर 4-3-3 या 3-4-3 के फॉर्मेशन में खेली जाने लगी है।



हॉकी के दिनों की यादों में जब-जब महान खिलाड़ियों का ज़िक्र आता है, तब एक नाम अनायास ही मन में उभर आता है-रूप सिंह। दुनिया के सर्वश्रेष्ठ 'लेफ्ट-इन' खिलाड़ियों की बात हो और उनका नाम न आए, ऐसा शायद ही हो। पुराने समय की हॉकी में खिलाड़ियों की पोज़ीशन आज की तरह स्पष्ट रूप से दर्ज़ नहीं की जाती थी। कई खिलाड़ी कभी फ़ॉरवर्ड कहलाते थे, कभी इनर, तो कभी पूरी आक्रमण-पंक्ति के हिस्से के रूप में याद किए जाते थे। लेकिन रूप सिंह उन गिने-चुने खिलाड़ियों में हैं जिनके बारे में अधिकांश जानकार एक मत दिखाई देते हैं कि वे अपने समय के ही नहीं, बल्कि विश्व हॉकी के सर्वकालिक महानतम लेफ्ट-इन खिलाड़ियों में से एक थे।

बचपन में जब मैंने हॉकी के इतिहास के बारे में पढ़ना शुरू किया, तब यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि महान ध्यानचंद के छोटे भाई होने के बावजूद रूप सिंह ने अपनी अलग पहचान बनाई। वे केवल किसी महान खिलाड़ी के भाई भर नहीं थे; वे स्वयं एक असाधारण खिलाड़ी थे। 1932 के लॉस एंजेलिस और 1936 के बर्लिन ओलंपिक में भारत की स्वर्णिम विजय के वे महत्वपूर्ण स्तंभ रहे। 1932 ओलंपिक में केवल दो मैचों में उनके तेरह गोल, जिनमें अमेरिका के विरुद्ध किए गए दस गोल भी शामिल थे, आज भी उनके अद्भुत आक्रमण-कौशल की कहानी सुनाते हैं।

ध्यानचंद और रूप सिंह की जोड़ी उस दौर की भारतीय हॉकी की सबसे चमकदार जोड़ियों में गिनी जाती है। एक ओर ध्यानचंद का जादुई स्टिक-वर्क, खेल को पढ़ने की विलक्षण क्षमता और अवसरों को गढ़ने की कला थी, तो दूसरी ओर रूप सिंह की तेज़ी, सटीकता और गोल करने की अद्भुत क्षमता। दोनों जब मैदान पर उतरते थे, तो लगता था जैसे कला और शक्ति एक साथ खेल रही हों।

रूप सिंह की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे केवल गोल करने वाले खिलाड़ी नहीं थे। वे पूरे बाएँ आक्रमण की धुरी थे। उनकी स्टिक पर गेंद आते ही आक्रमण में एक

नई जान आ जाती थी। उनकी हिट शक्तिशाली भी होती थी और सटीक भी। पेनल्टी-कॉर्नर पर उनकी दक्षता और अवसरों को गोल में बदल देने की क्षमता उन्हें अपने समकालीन खिलाड़ियों से अलग पहचान देती थी।

आज भी जब भारतीय हॉकी के स्वर्णिम अध्यायों को देखता या पढ़ता हूँ, तो रूप सिंह का नाम बड़े सम्मान के साथ याद आता है। वे केवल एक महान खिलाड़ी नहीं थे, बल्कि उस सुंदर और कलात्मक हॉकी के प्रतीक थे, जिसने कभी पूरी दुनिया को भारतीय हॉकी का मुरीद बना दिया था।

□□

मैंने हमारे मोहल्ले की सीनियर हॉकी टीम के बारे में तो बता दिया, भले ही जितना-जो कुछ भी याद था; परंतु उसके बाद वाली टीम के बाबत कुछ नहीं बताया। इसका एकमात्र कारण यह है कि उस ग्रुप के लड़कों के बारे में मैं बहुत अधिक नहीं जानता था। इसलिए आज भी यादों के इस पृष्ठ पर ज़्यादा कुछ नहीं लिखा है। उनमें से दो-तीन को ही मैं जानता था और जो आज भी याद हैं। एक तो न्यूटन, जो सीनियर टीम में इनसाइड लेफ्ट या राइट पोजीशन पर खेलता था, उसका छोटा भाई। उसका नाम शायद रॉबर्ट था। दूसरे दो भाई-अनिल वांग और सुनील वांग। ये दोनों भाई क्रिश्चियन कम्पाउंड के एक कोने में बने कुछ मकानों में से पहले मकान में रहते थे। अनिल वांग बड़ा था और लेफ़्टी था और बाईं ओर से हॉकी स्टिक पकड़ता था। माने, हॉकी स्टिक पकड़ते वक़्त उसका बायाँ हाथ नीचे रहता था और दायाँ ऊपर की ओर।

उस समय मुझे यह बात केवल इतनी समझ में आती थी कि अनिल वांग बाक़ी खिलाड़ियों से कुछ अलग ढंग से स्टिक पकड़ता है। बाद में जाकर समझ में आया कि फील्ड हॉकी में खिलाड़ी स्वभाव से लेफ्टी हो सकता है, पर खेल मानक स्टिक से ही खेला जाता है। हॉकी की स्टिक का सपाट भाग एक ही ओर होता है, इसलिए आधिकारिक खेल में अलग तरह की "लेफ्ट-हैंडेड" स्टिक मान्य नहीं मानी जाती।

हाँ, इतना अवश्य है कि कोई खिलाड़ी यदि स्वभाव से बाएँ हाथ का अधिक अभ्यस्त हो, तो उसकी पकड़, संतुलन, ड्रिब्लिंग की लय और गेंद पर नियंत्रण का अंदाज़ कुछ

भिन्न दिख सकता है। पर नियम सबके लिए एक ही रहते हैं। इसलिए आधुनिक हॉकी में भी लेफ्टी खिलाड़ी पूरी तरह खेल सकते हैं, बशर्ते वे उसी मानक हॉकी-स्टिक और वैध तकनीक के साथ खेलें, जिस पर पूरा खेल आधारित है।

शायद इसी कारण अनिल का खेल मुझे तब भी कुछ अलग, कुछ याद रह जाने योग्य लगता था, मानो वही परिचित खेल उसके हाथों में एक दूसरी लय पा लेता हो।

सुनील वांग अपने बड़े भाई से स्वभाव और खेल, दोनों में कुछ अलग था। यदि अनिल के खेल में एक विशिष्ट लय थी, तो सुनील के खेल में चपलता की बिजली थी। उसकी ड्रिब्लिंग इतनी सधी हुई और इतनी तेज़ थी कि विपक्षी खिलाड़ी उसके सामने आते ही जैसे एक क्षण को असमंजस में पड़ जाते। वह गेंद को अपने कब्ज़े में रखते हुए जिस फुर्ती से आगे बढ़ता, उसमें केवल अभ्यास नहीं, एक नैसर्गिक कौशल भी दिखाई देता था।

वह प्रायः सेंटर फॉरवर्ड की पोजीशन पर खेलता था, और सच पूछिए तो उस स्थान के लिए उससे अधिक उपयुक्त खिलाड़ी उस छोटे से ग्रुप में कोई नहीं था। सेंटर फॉरवर्ड को केवल गोल के सामने उपस्थित रहना ही नहीं होता, उसे आक्रमण की नब्ज़ भी समझनी होती है-कब भीतर घुसना है, कब पास लेना है, कब विरोधी रक्षा की पंक्ति को चीरते हुए निकल जाना है। सुनील में यह समझ जैसे सहज रूप से थी। वह विपक्षी खिलाड़ियों को छकाते हुए गेंद लेकर जिस तरह बढ़ता, उसे देखकर लगता था कि गेंद उसकी स्टिक से नहीं, उसके मन के इशारे से चल रही है।

हममें से न जाने कितने लड़के उसे खेलते हुए देखकर मन-ही-मन यही सोचते थे कि काश, वैसी ड्रिब्लिंग हम भी सीख पाते। उसके खेल में एक आकर्षण था-केवल इसलिए नहीं कि वह अच्छा खिलाड़ी था, बल्कि इसलिए कि उसके खेल में कौशल और आनंद दोनों एक साथ दिखाई देते थे। वह जब मैदान पर होता, तो खेल केवल खेल नहीं रह जाता; वह देखने वालों के लिए एक तरह का पाठ बन जाता था। हम सब उसकी चाल, उसकी स्टिक की पकड़, उसके शरीर के झटके और गेंद को बचाकर निकाल ले जाने की तरकीबों को गौर से देखते, मानो वहीं से हॉकी का कोई गुप्त व्याकरण सीख लेंगे।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो अनिल और सुनील-इन दोनों भाइयों की छवियाँ मेरे भीतर अलग-अलग रोशनियों की तरह जगती हैं। अनिल के खेल में एक भिन्नता थी, एक ऐसी पहचान जो पहली नज़र में ही ठहर जाती थी; और सुनील के खेल में वह जीवंत फुर्ती, जो आँखों के सामने एक तेज़, चमकती हुई रेखा की तरह दौड़ती चली जाती थी। शायद इसी तरह बचपन की स्मृतियाँ बनती हैं-कुछ चेहरे अपने स्वभाव से याद रह जाते हैं, और कुछ अपनी गति, अपनी लय और अपने खेल की अद्भुत छाप से।

उन दिनों हम छोटे लड़कों की भी अपनी एक दुनिया थी, जो इन बड़े और कुशल खिलाड़ियों को देखते-देखते धीरे-धीरे आकार ले रही थी। हम मैदान के किनारों पर खड़े केवल दर्शक भर नहीं रहते थे; भीतर ही भीतर अपनी एक टीम, अपने-अपने स्थान और अपने खेल के छोटे-छोटे स्वप्न भी गढ़ रहे होते थे। किसी को सेंटर फॉरवर्ड बनना था, किसी को फुलबैक, और मैं जाने कब से अपने लिए उस जगह की पहचान करने लगा था जहाँ से खेल केवल खेला नहीं जाता, रचा भी जाता है। शायद इसी से मेरा मन बार-बार लेफ्ट-इन की ओर खिंचता था। हमारी अपनी टीम अभी बन ही रही थी, पर उसके बनने से पहले ही उसके भीतर मेरे खेल की एक आकांक्षा जन्म ले चुकी थी।

धीरे-धीरे वह घड़ी भी आ गई जब केवल बड़े खिलाड़ियों को देखकर संतोष कर लेने से बात आगे नहीं बढ़ सकती थी। भीतर जो आकांक्षा थी, वह अपने रूप की माँग करने लगी। सो हमारी भी एक टीम बनने लगी-पहले अनगढ़, फिर थोड़ी सँवरी हुई, और देखते-देखते अपने ढंग की एक सचमुच की टीम। कोई एक दिन ऐसा नहीं था जब हमने औपचारिक घोषणा की हो कि आज से हमारी टीम बन गई; वह तो जैसे रोज़ शाम के जुटने, साथ खेलने, छोटी-छोटी बहसों, अपनी-अपनी जगह तय करने और एक-दूसरे के खेल को पहचानने की प्रक्रिया में धीरे-धीरे बनती चली गई। पहले हम केवल लड़के थे; फिर एक दिन लगा कि हम एक टीम हैं।

उस टीम में मेरे कई हमउम्र और कुछ मुझसे ज़रा बड़े लड़के थे-डेनियल मसीह, रवि नीखरे, अशरफ़ी लाल नीखरे, मुन्ना गुप्ता, अनिल दुबे, रिचर्ड, सम्पतलाल रजक,

इमालबिन, छोटा डेनियल, सुरेश खराटे, पॉल मसीह, कुशल रजक, श्यामलाल चंदेल, किशन चंदेल, रवि श्रीवास्तव, अनिल पापा और मैं। इसके अलावा भी कुछ और लड़के थे, पर अब उनके चेहरे तो स्मृति-पटल पर उभर रहे हैं, किन्तु नाम धुँधले पड़ गए हैं। मेरे इन साथी खिलाड़ियों की छवियाँ नामों से अधिक उनके खेल के साथ सामने आती हैं। कोई बहुत तेज़ दौड़ता था, कोई दूर तक हिट मार सकता था, किसी की रक्षात्मक समझ अच्छी थी, कोई गोल के सामने अवसर भाँपने में निपुण था। हम सबके गुण अलग-अलग थे और शायद इसी भिन्नता से हमारी टीम का छोटा-सा संतुलन बनता था। मैदान पर हम केवल दोस्त नहीं रहते थे; वहाँ हम एक-दूसरे की कमी पूरी करने वाले साथी बन जाते थे। यही साथ धीरे-धीरे हमें खेल का अर्थ भी सिखाता था-कि कोई टीम केवल खिलाड़ियों से नहीं बनती, आपसी भरोसे से बनती है।

डेनियल मसीह हमारी टीम का कप्तान था और सेंटर फॉरवर्ड पोज़ीशन पर खेलता था। वह मैदान पर जितना कुशल था, उतना ही स्वभाव से भी सहज और मिलनसार था - एक सच्चे कप्तान की तरह, जो टीम को जोड़कर रखता था। मैं लेफ्ट-इन और अनिल दुबे लेफ्ट-आउट पोज़ीशन पर खेलते थे। हम तीनों की आपसी समझ और दोस्ती इतनी गहरी थी कि मैदान पर बिना कुछ कहे ही एक-दूसरे का इरादा भाँप लेते थे - और यही हमारे संयोजन से बने मूव कई बार विपक्षी टीम के विरुद्ध गोल में परिणत हो जाते थे।

राइट-इन पोज़ीशन पर मुन्ना गुप्ता खेलता था, जबकि रिचर्ड - जो न्यूटन का तीसरे नंबर का भाई था - राइट-आउट पोज़ीशन का खिलाड़ी था। रिचर्ड का मैदान पर उतरना मानो पूरी टीम में एक नई ऊर्जा भर देता था। सेंटर हाफ पोज़ीशन पर अशरफी लाल और संपत लाल तथा इमानबेल फुलबैक की भूमिका निभाते थे। ये सभी न केवल मैदान के भरोसेमंद खिलाड़ी थे, बल्कि मैदान के बाहर भी उतने ही करीबी दोस्त थे। गोलकीपर के रूप में पॉल मसीह अथवा छोटा डेनियल खेलते थे - दोनों ही गोल के सामने दीवार की तरह खड़े रहते थे।

इस पूरी टीम को एक नाम और एक पहचान की ज़रूरत थी। मेरे सुझाव पर हम सबने मिलकर अपनी टीम का नाम 'फ्रेंड्स क्लब' रखा - और यह नाम केवल एक क्लब का नाम नहीं था, बल्कि हमारी उस दोस्ती का प्रतीक था जो हॉकी स्टिक थामने से कहीं पहले से चली आ रही थी। अलग-अलग धर्मों और परिवारों से आए हम सब, मैदान पर उतरते ही एक हो जाते थे।

यही हमारी टीम थी, जो अपने स्तर के टूर्नामेंट खेलने उतरती थी और जब कभी हम किसी अन्य मोहल्ले की टीमों से मैच खेलते थे। ऐसे मैचों में दोनों टीमों के सभी खिलाड़ी चंदा करके कोई ट्रॉफी खरीद लाते थे और फिर उसी के लिए मुकाबला होता था। तुलसी मोहल्ला/बाई का बगीचा, शीतला माई क्षेत्र, करिया-पाथर या पूर्वी घमापुर आदि की टीमों से प्रायः हम ये मैच खेलते रहते थे।

ये मैच अधिकतर पुलिस ग्राउंड पर होते थे, जो पुलिस लाइन में स्थित था और नियमानुसार निर्मित हॉकी स्टेडियम था। कई बार मॉडल हाई स्कूल या रेलवे ग्राउंड पर भी हमने मैच खेले। जीत हो या हार, मैच के बाद हम सब साथ बैठते, हँसते, एक-दूसरे की गलतियों पर हँसी-ठिठोली करते - क्योंकि हम केवल एक टीम नहीं, सच्चे दोस्त थे। मेरी स्मृति में हमने अपने अधिकांश मैच जीते थे - और जो मैच हारे, उनकी याद भी उतनी ही मीठी है।

□□

जहाँ तक मेरे अपने खेल का प्रश्न है, लेफ्ट-इन की जगह मुझे शुरू से ही अपनी लगती थी। उस स्थान पर खेलते हुए मुझे लगता था कि मैं केवल गेंद का पीछा नहीं कर रहा, बल्कि पूरे आक्रमण की बुनावट में अपना एक सूक्ष्म धागा जोड़ रहा हूँ। बाएँ किनारे से भीतर की ओर उतरते हुए, लेफ्ट-आउट और सेंटर-फॉरवर्ड के बीच तालमेल बैठाना, सही समय पर पास देना, और मौका मिले तो स्वयं आगे बढ़कर आक्रमण को धार देना-इन सबमें मुझे एक विशेष आनंद मिलता था। मैं स्वभाव से केवल बल-आधारित खिलाड़ी नहीं था; मुझे खेल की रचना, उसकी लय और उसके भीतर छिपी समझ अधिक आकर्षित करती थी। शायद इसी कारण लेफ्ट-इन की भूमिका मेरे स्वभाव से मेल खाती थी।

हमारे अभ्यास और मैचों का अपना एक अलग ही रंग था। शाम ढलने लगती, मैदान की मिट्टी पर पैरों की आवाज़ें गूँजतीं, और देखते-देखते खेल की वह छोटी-सी दुनिया जीवित हो उठती। कभी हम पूरा मैच खेलने के उत्साह में उतरते, कभी केवल पासिंग, ड्रिब्लिंग और हिट का अभ्यास करते, और कभी किसी एक मूव को बार-बार दोहराते रहते जब तक वह मनमाफ़िक न हो जाए। उन खेलों में न दर्शकों की भीड़ होती थी, न किसी पुरस्कार का आकर्षण; पर जो तन्मयता वहाँ होती थी, वह किसी बड़े मुकाबले से कम न थी। पसीने, पुकारों, हँसी, छोटी-छोटी झुँझलाहटों और अचानक उमग पड़ने वाली ख़ुशी के बीच हमारी टीम केवल खेल नहीं रही थी-वह हमारे भीतर एक अनुशासन, एक आत्मीयता और एक साझा स्वप्न भी रच रही थी।

□□

हॉकी की बहुत सारी बातें हो चुकी हैं - पर वह असली शुरुआत, वे दिन जब हम सब ने अपने खेलने के लिए अपना मैदान बनाया था, उसकी कहानी अभी बाक़ी है।

शुरू एक दम शुरुआत से करते हैं।

हाथ में हॉकी स्टिक पकड़ने से पहले हमने खजूर की सूखी डाल से हॉकी खेलना शुरू किया था।

हमारे मोहल्ले में खजूर के पेड़ बहुतायत में थे। एकाध पेड़ घरों की दीवारों के पास अकेले खड़े थे, पर अधिकतर खुले मैदानों में - तीन-चार या उससे भी ज़्यादा के झुंडों में, जैसे आपस में कोई पुरानी बात करते हों। उनकी बड़ी-बड़ी डालें - एक से डेढ़ मीटर तक लम्बी, एक सिरे पर जिस हिस्से से वे खजूर के पेड़ के ऊँचे तने से जुड़ी होती थीं ; हॉकी स्टिक की तरह स्वाभाविक रूप से मुड़ी होती थीं। मानो प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए ही गढ़ा हो। जब कोई तेज़ आँधी आती, तो ये डालें - जिन्हें घमापुरिया भाषा में *खरेंटा* कहते थे - धड़ाम से गिर पड़ती थीं। सूखी और हल्की, पर भीतर से कड़ी।

घमापुर में जब बच्चे हॉकी सीखते थे, तो उनका पहला साथी यही 'खरेंटा' होता था। उसे छील-छालकर, थोड़ा घिसकर - हम उसे हॉकी स्टिक का दर्जा दे देते थे।

हमने छः-सात वर्ष की उम्र में हॉकी खेलना शुरू किया था। असली स्टिक तो बहुत बाद में आई - तब तक खरेंटा ही हमारी हॉकी स्टिक थी। उस नन्ही उम्र में उसे थामकर गेंद घसीटते थे, हाथ छिल जाते थे, कभी-कभी खून भी निकल आता था - पर खेल नहीं रुकता था। हॉकी से जो लगाव था, वह दर्द से बड़ा था।

मैं पहले ही बता चुका हूँ, घमापुर में हर उम्र के लड़के हॉकी खेलते थे - बच्चे भी, युवा भी। हर किसी की अपनी टीम थी, अपना ग्रुप था। सुबह और शाम - दोनों वक़्त क्रिश्चियन कम्पाउंड के तीनों ग्राउंड भरे होते थे। रामलीला ग्राउंड भी भरा रहता था। जहाँ भी हॉकी खेली जा सकती थी हर उस जगह, जहाँ देखो, स्टिकें चमकती थीं, गेंदें दौड़ती थीं।

पर हम सबसे छोटे थे। हमारे लिए कहीं जगह नहीं थी। कुछ दिन मोहल्ले के भीतर ही छोटी छोटी खाली जगहों पर या गली में ही खरेंटा लेकर दौड़ते भागते बीते।

हमारे ग्रुप में सात-आठ से लेकर दस-ग्यारह वर्ष के लड़के थे। गली में या मोहल्ले के भीतर मकानों के बीच खेलने से बात बन नहीं रही थी। बड़ों की डाँट भी पड़ जाती थी, खेलते-खेलते कई बार बीच में मन मारकर खेल रोकना भी पड़ता था। जल्दी ही हम सभी ने सामूहिक निर्णय लिया और फ़िर उसे अमल में लाने के लिए जुट गए। मोहल्ले में एक ही जगह बची थी, जहाँ कोई और नहीं खेलता था। हमने उसे अपने खेल का मैदान बनाने की ठान ली-'कालूराम आयल मिल का मैदान'। थोड़ा दूर था, थोड़ा अलग-थलग-पर हमारी मजबूरी थी, और शायद हमारी क़िस्मत भी। हमारे मोहल्ले में जो नाला बहता था, उसके पार, नाले से लगभग एक चौथाई किलोमीटर दूरी पर।

वह मैदान असली हॉकी के मैदान से लगभग तीन-चौथाई था। उसके बीच से एक पगडंडी गुज़रती थी - कांचघर रोड का एक छोटा-सा बाईपास, जिस पर दिनभर लोगों का आना-जाना लगा रहता था। ज़मीन समतल नहीं थी - जेलर के बँगले की तरफ़ थोड़ी ऊँचाई थी, तलैया की ओर ढलान। जगह-जगह छोटे-बड़े गड्ढे थे। और पूरे मैदान में फैले हुए थे *चकौड़े* के पौधे - डेढ़ से ढाई फुट ऊँचे, मेथी जैसी पत्तियों वाले, कड़वी फलियों से लदे। उनके बीच-बीच में *धतूरे* के पौधे भी उगे थे - काँटों से भरे,

पत्ते कँटीले, फल कँटीले, जैसे हर तरफ़ से खुद को बचा रहे हों। शायद इन्हीं काँटों और ऊबड़-खाबड़ होने के कारण किसी और ने उस मैदान की तरफ़ आँख नहीं उठाई थी।

पर हम उन दस-बारह लड़कों ने उसे चुना। और फिर उसे बनाया।

कई दिनों तक, लगातार, हम वहाँ पहुँचते-स्टिक नहीं, हाथों में कुदाल और पत्थर लेकर। चकौड़े और धतूरे के पौधों को जड़ से उखाड़ा। पत्थरों से पीट-पीटकर ज़मीन समतल की। चकौड़े के पौधों को इकट्ठा बाँधकर झाड़ू बनाई-उसी से मैदान बुहारा, बड़े-बड़े कंकड़-पत्थर हटाए। ऊँचे हिस्सों को खोदकर समतल किया, वही मिट्टी गड्ढों में भरी। इस सब में हम सभी ने जी-तोड़ मेहनत की। हफ़्ते भर में उसे खेलने लायक बना डाला। शुरू-शुरू में चकौड़े के पौधे बार-बार उगते रहते थे-दो-तीन दिन खेलो, फिर दो-तीन दिन सफ़ाई। लेकिन धीरे-धीरे यह अड़चन भी बहुत कम हो गई।

मैदान की रेखाएँ खींचने के लिए चूना नहीं था हमारे पास। पर मोहल्ले में राम नारायण दुबे जी का संगमरमर पीसने का कारखाना था - वहाँ से *गोरा पत्थर* का पाउडर मिल जाता था। उसी से सेंटर लाइन, हाफ लाइन, 'डी' और बाउंड्री खिंची। उस मैदान में अपने हाथों से बनाई उन सफ़ेद रेखाओं को देखकर जो संतोष होता था, वह किसी और चीज़ में नहीं मिला। जल्दी ही 'खरेंटा स्टिक्स' भी 'हॉकी स्टिक्स' में बदल गईं। गुरन्दी बाज़ार की पुरानी, सेकंड-हैंड स्टिकें। उन्हें हम मिलकर ठीक करते थे, मज़बूत बनाते थे, रंगते-सँवारते थे। मेरे पास गुरन्दी बाज़ार से और बाबूजी की फ़ैक्ट्री की नीलामी से आई दो-तीन स्टिकें थीं - उन्हें मैं सबसे ज़्यादा सँभालकर रखता था।

चार-पाँच साल तक हम नियमित उसी मैदान में खेलते रहे। जब-जब ज़रूरत पड़ी, सबने मिलकर मेहनत की, मैदान को सँभाले रखा।

हम तब तक खेलते थे जब तक गेंद दिखती रहती थी। अँधेरा उतरता था धीरे-धीरे - पहले मैदान की रेखाएँ धुंधलाती थीं, फिर गेंद, फिर एक-दूसरे के चेहरे। जब कुछ भी नहीं दिखता था, तब खेल रुकता था - उससे पहले नहीं।

उसके बाद कम से कम आधे-पौने घंटे का विश्राम - वहीं, उसी मैदान पर, गोल घेरे में बैठकर। ठंड होती तो चकौड़े की सूखी झाड़ियाँ जलाकर आग सुलगाई जाती। हमारे ग्रुप में एक-दो लड़कों के पास माचिस होती थी - या फिर वह *'तिघरा '* के पास किसी पत्थर की आड़ में छिपी मिल जाती थी। आग के इर्द-गिर्द बैठकर जो बातें होती थीं, वे हॉकी से शुरू होती थीं और न जाने कहाँ-कहाँ पहुँच जाती थीं।

□□

मुझे उन साथियों की याद बहुत शिद्दत से आ रही है, जिन्होंने उस ऊबड़-खाबड़, पत्थरों और झाड़ियों से भरी ज़मीन को अपने हाथों से सँवारा था। आज जब स्मृतियों की परतें खुलती हैं, तो लगता है कि वे केवल एक मैदान नहीं बना रहे थे, वे अपने लिए एक संसार गढ़ रहे थे-एक ऐसा संसार, जहाँ सपनों को दौड़ने की जगह मिल सके।

उन दिनों हमारे पास साधन कम थे, लेकिन उत्साह की कोई कमी नहीं थी। जिस उम्र में बच्चे केवल खेल के बारे में सोचते हैं, उस उम्र में वे फावड़े, तसले और कुदालें भी उठाते थे। सुबह या शाम, जब भी समय मिलता, वे उस ज़मीन पर जुट जाते। कोई पत्थर बीन रहा होता, कोई गड्ढे भर रहा होता, कोई काँटेदार झाड़ियाँ उखाड़ रहा होता। धूल उड़ती थी, हथेलियाँ छिलती थीं, कपड़े मिट्टी से भर जाते थे, लेकिन किसी के चेहरे पर शिकायत नहीं होती थी।

अब सोचता हूँ, तो लगता है कि शायद वे जानते भी नहीं थे कि वे कोई असाधारण काम कर रहे हैं। उनके लिए यह सब उतना ही स्वाभाविक था, जितना मैदान में दौड़ना या हॉकी स्टिक थामना। खेल शुरू होने से पहले मैदान बनाना भी खेल का ही एक हिस्सा था। वे श्रम और खेल के बीच कोई दीवार खड़ी नहीं करते थे। उनके लिए दोनों एक-दूसरे में घुले हुए थे।

कई बार ऐसा होता कि घंटों की मेहनत के बाद वे वहीं बैठ जाते। थके हुए, पसीने से तर, लेकिन आँखों में एक अजीब-सी चमक लिए। उनके सामने अभी भी एक अधूरा मैदान होता, पर उनकी कल्पना में वहाँ पहले से ही मैच चल रहा होता। गेंद दौड़ रही

होती, खिलाड़ियों की आवाज़ें गूँज रही होतीं और गोल होने पर उठने वाला शोर हवा में तैर रहा होता।

आज जब उस मैदान को याद करता हूँ, तो उसकी मिट्टी से ज़्यादा उन हाथों की याद आती है जिन्होंने उसे आकार दिया था। मैदान तो समय के साथ बदल जाते हैं, उनकी घास बदल जाती है, उनकी सीमाएँ बदल जाती हैं; लेकिन उन्हें बनाने वालों का श्रम स्मृति में वैसे ही सुरक्षित रहता है। वह श्रम केवल मिट्टी को समतल करने का श्रम नहीं था, वह एक सामूहिक स्वप्न को आकार देने का श्रम था।

शायद इसी कारण उन साथियों की याद आज भी मन में इतनी गहरी उतरती है। उन्होंने हमें केवल हॉकी खेलना नहीं सिखाया, उन्होंने यह भी सिखाया कि किसी भी सपने तक पहुँचने से पहले उसकी ज़मीन तैयार करनी पड़ती है। और कभी-कभी, उस ज़मीन को अपने ही हाथों और अपने ही पसीने से बनाना पड़ता है। यही उनकी असली जीत थी, और शायद वही उनका सबसे सुंदर खेल भी।

□□

अब जब उन दिनों की तरफ़ लौटकर देखता हूँ, तो लगता है कि हम केवल एक मैदान नहीं बना रहे थे - हम अपने भीतर कुछ और भी बना रहे थे, जिसका नाम तब हमें नहीं पता था। शायद यही जीवन का सबसे बड़ा विरोधाभास है - जो चीज़ें हम सबसे अधिक चाहते हैं, उनके लिए हमें पहले वह ज़मीन तैयार करनी पड़ती है जो हमें मिली ही नहीं होती। जो मैदान हमें दिया नहीं गया, वही मैदान हमने बनाया - और शायद इसीलिए उससे एक अलग ही तरह का रिश्ता बन गया था, जो किसी बने-बनाए मैदान से कभी नहीं बनता। चकौड़े के काँटे और धतूरे की कड़वाहट - वे केवल उस ज़मीन की बाधाएँ नहीं थीं, वे हमारी परीक्षा थीं। और हम उस उम्र में, बिना जाने, बिना समझे, उस परीक्षा में बैठ गए थे। हर उखड़ा हुआ पौधा, हर भरा हुआ गड्ढा, हर खिंची हुई सफ़ेद रेखा - वे सब हमारे भीतर भी कहीं अंकित होती जा रही थीं। बाद के वर्षों में जब जीवन ने कोई समतल रास्ता नहीं दिया, जब ज़मीन ऊबड़-खाबड़ निकली और रेखाएँ धुंधली - तब शायद उसी बचपन की आदत ने थामे रखा। क्योंकि हमने बहुत

पहले सीख लिया था कि खेलने से पहले मैदान बनाना पड़ता है, और मैदान बनाने के लिए - सबसे पहले - साथ चाहिए।



अब बहुत थोड़े-से शब्दों में हॉकी का बड़ा-सा इतिहास बताता हूँ-

हॉकी का इतिहास लगभग 4000 वर्ष पुराना माना जाता है। प्राचीन मिस्र, ईरान और यूनान में डंडे और गेंद से खेले जाने वाले खेलों के प्रमाण मिलते हैं। आधुनिक फील्ड हॉकी का विकास 19वीं शताब्दी में इंग्लैंड में हुआ, जहाँ इसके नियम बनाए गए और क्लब स्थापित हुए।

-1849 में इंग्लैंड के ब्लैकहीथ क्लब को शुरुआती हॉकी क्लबों में गिना जाता है।

-1876 में आधुनिक नियमों का प्रारूप तैयार हुआ।

-1908 के लंदन ओलंपिक्स में हॉकी पहली बार ओलंपिक खेल बना।

-1924 में अंतरराष्ट्रीय संस्था इंटरनेशनल हॉकी फेडरेशन 'आई पी एच' की स्थापना हुई।

-1928 से हॉकी ओलंपिक का स्थायी खेल बन गई।

हॉकी भारत में ब्रिटिश सेना के माध्यम से 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पहुँची। शीघ्र ही यह देश का सबसे लोकप्रिय खेल बन गई। कोलकाता में प्रारम्भिक क्लब बने और प्रतिष्ठित टूर्नामेंट जैसे 'बीटन कप' आदि आयोजित होने लगे।

-1925 में 'इंडियन हॉकी फेडरेशन'की स्थापना हुई।

-1928 के एम्स्टर्डम ओलंपिक्स में भारत ने पहला ओलंपिक स्वर्ण पदक जीता।

-1928 से 1956 तक भारत ने लगातार छह ओलंपिक स्वर्ण पदक जीतकर विश्व हॉकी पर प्रभुत्व स्थापित किया।

-भारत ने कुल 8 ओलंपिक स्वर्ण पदक जीते हैं, जो पुरुष हॉकी में एक ऐतिहासिक उपलब्धि है।

-1975 में भारत ने पुरुष हॉकी विश्व कप जीता।

भारत की स्वर्णिम सफलता में 'मेजर ध्यान चंद' का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। उनकी अद्भुत स्टिक-वर्क और गोल करने की क्षमता के कारण उन्हें 'हॉकी का जादूगर' कहा जाता है।

विश्व में हॉकी का आधुनिक स्वरूप इंग्लैंड में विकसित हुआ, किंतु 20वीं शताब्दी के मध्य में भारत ने इस खेल को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया। एक समय ऐसा था जब विश्व हॉकी का पर्याय भारत माना जाता था। आज भी भारत विश्व हॉकी की प्रमुख शक्तियों में गिना जाता है और उसकी गौरवशाली परंपरा नई पीढ़ियों को प्रेरित करती है।

किन्तु-

1956 से 1976 का काल भारतीय हॉकी के इतिहास में एक संक्रमणकाल माना जाता है। 1956 तक भारत विश्व हॉकी का निर्विवाद सम्राट था, लेकिन अगले दो दशकों में उसकी सर्वोच्चता धीरे-धीरे चुनौती के घेरे में आने लगी।

1956 के मेलबर्न ओलंपिक में भारत ने लगातार छठा ओलंपिक स्वर्ण पदक जीता। यह भारतीय हॉकी के स्वर्ण युग का चरम था। उस समय भारतीय खिलाड़ियों की ड्रिब्लिंग, स्टिक-वर्क और गेंद पर नियंत्रण की दुनिया भर में मिसाल दी जाती थी।

1960 के रोम ओलंपिक में भारत पहली बार ओलंपिक फाइनल हारा। ध्यान चंद के युग के बाद उभरती हुई पाकिस्तानी टीम ने भारत को पराजित किया। यह हार केवल एक मैच की हार नहीं थी; इसने संकेत दिया कि विश्व हॉकी में अन्य देश भी भारत की बराबरी करने लगे हैं।

"भारत ने 1964 के टोक्यो ओलंपिक में पाकिस्तान को हराकर स्वर्ण पदक वापस जीत लिया। इससे यह सिद्ध हुआ कि भारतीय हॉकी अभी भी विश्व की अग्रणी शक्ति थी।"

मेक्सिको (1968) और म्यूनिख (1972) ओलंपिक में भारत को केवल कांस्य पदक से संतोष करना पड़ा। यूरोपीय और ऑस्ट्रेलियाई टीमें अधिक फिटनेस, रणनीति और वैज्ञानिक प्रशिक्षण के साथ आगे बढ़ रही थीं।

"1975 में भारत ने पुरुष हॉकी विश्व कप जीतकर एक बार फिर अपनी महानता का परिचय दिया। फाइनल में पाकिस्तान को हराकर भारत विश्व चैंपियन बना। आज तक यही भारत का एकमात्र पुरुष हॉकी विश्व कप खिताब है।"

1976 के मॉन्ट्रियल ओलंपिक में पहली बार एस्ट्रोटर्फ (कृत्रिम घास) का प्रयोग हुआ। भारतीय टीम को इस नई सतह का लगभग कोई अनुभव नहीं था। भारतीय शैली प्राकृतिक घास पर आधारित थी, जबकि एस्ट्रोटर्फ पर गति, शारीरिक क्षमता और सीधे खेल को अधिक महत्व मिला। परिणामस्वरूप भारत सातवें स्थान पर रहा और पहली बार ओलंपिक पदक से वंचित रह गया।

संक्षेप में कहें तो

1956 से 1976 तक की भारतीय हॉकी की कहानी एक ऐसे राजा की कहानी है जो अभी भी शक्तिशाली था, पर उसके चारों ओर दुनिया बदल रही थी। 1956 का अजेय भारत, 1960 के दशक में चुनौती झेलता है, 1975 में विश्व कप जीतकर अपनी चमक दिखाता है, और 1976 में बदलती तकनीक तथा खेल की नई आवश्यकताओं के सामने संघर्ष करता दिखाई देता है। यही वह कालखंड है जहाँ भारतीय हॉकी का स्वर्ण युग समाप्त होता है और आधुनिक हॉकी का नया अध्याय आरम्भ होता है।

भारतीय हॉकी के स्वर्णिम युग (खासतौर पर 1928 से 1956 और उसके आसपास) के कुछ बहुत महत्वपूर्ण खिलाड़ियों के नाम लूँ, तो बेशक पहला नाम मेजर ध्यानचंद का ही होगा, जिन्हें "हॉकी का जादूगर" माना जाता है। फ़िर ध्यानचंद के भाई, शानदार फ़ॉरवर्ड और बेहतरीन गोलस्कोरर-रूप सिंह। के. डी. सिंह 'बाबू' अपने अद्भुत स्टिकवर्क और खेल-समझ के लिए प्रसिद्ध हुए जबकि बलबीर सिंह सीनियर, भारत के महानतम सेंटर-फॉरवर्ड्स में एक, जिन्होंने ओलंपिक फाइनल में कई यादगार प्रदर्शन किए। इसके बाद लेस्ली क्लॉडियस, वे भारतीय हॉकी के सबसे सफल

ओलंपियनों में माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने भारत के लिए चार ओलंपिक पदक जीते- तीन स्वर्ण (1948, 1952, 1956) और एक रजत (1960)। अपनी निरंतरता, उत्कृष्ट मिडफ़ील्ड खेल और लंबे समय तक शीर्ष स्तर पर योगदान के कारण वे भारतीय हॉकी के महानतम खिलाड़ियों में गिने जाते हैं। उधम सिंह जो कि एक बहुमुखी और बेहद प्रभावशाली खिलाड़ी थे, रिचर्ड एलन - महान गोलकीपर, उन्होंने शुरुआती ओलंपिक जीतों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। किशन लाल कप्तान और बेहतरीन विंगर के रूप में प्रसिद्ध हुए। केशव दत्त जो कि 1948 और 1952 ओलंपिक स्वर्ण जीतने वाली टीम के सदस्य थे और बहुत प्रतिभाशाली खिलाड़ी थे।

फ़िर मैं नाम लूँगा रणधीर सिंह जेंटल का, जो फ़ुल-बैक थे और जिन्होंने 1956 ओलंपिक फ़ाइनल में निर्णायक गोल के लिए प्रसिद्धि पाई थी।

यदि 1957 से 1976 तक के महान भारतीय खिलाड़ियों के नाम लूँ तो लेस्ली क्लॉडियस और उधम सिंह की परंपरा के बाद चरणजीत सिंह, पृथीपाल सिंह, शंकर लक्ष्मण, गुरबख्श सिंह और हरबिंदर सिंह जैसे नाम सामने आते हैं, जिन्होंने 1960 और 1964 के दौर में भारतीय हॉकी की प्रतिष्ठा बनाए रखने में बड़ी भूमिका निभाई। इसके बाद अजित पाल सिंह का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है, जिन्होंने 1975 के विश्व कप विजेता दल की कप्तानी की। उनके साथ अशोक कुमार, बी. पी. गोविंदा, एम. पी. गणेश, सुरजीत सिंह, वरिंदर सिंह और एच. जे. एस. चीमा जैसे खिलाड़ी भी इस संक्रमणकाल के गौरवशाली नाम हैं। इन खिलाड़ियों ने ऐसे समय में भारतीय हॉकी की लौ जलाए रखी, जब विश्व हॉकी की शैली बदल रही थी, प्रतिस्पर्धा कठिन होती जा रही थी और भारत अपने पुराने स्वर्णिम प्रभुत्व से एक नए युग की ओर बढ़ रहा था।

1977 से 2000 के बीच भारतीय हॉकी में कई ऐसे खिलाड़ी हुए, जिन्होंने अलग-अलग दौरों में अपनी प्रतिभा, निरंतरता और नेतृत्व से विशेष पहचान बनाई। इस कालखंड के प्रमुख नामों में ज़फ़र इक़बाल, मोहम्मद शाहिद, एम. एम. सोमैया, चरणजीत कुमार, जूड फ़ेलिक्स, परगट सिंह, धनराज पिल्लै, मुकेश कुमार, आशीष बल्लाल, दिलीप तिर्की और बलबीर सिंह, इस बाद के दौर के खिलाड़ी शामिल हैं।

इन खिलाड़ियों में ज़फ़र इक़बाल और मोहम्मद शाहिद ने अपनी तेज़, कलात्मक और दर्शनीय हॉकी से भारतीय खेल-शैली की पुरानी चमक को लंबे समय तक जीवित रखा; परगट सिंह ने रक्षा-पंक्ति में साहस, आक्रामकता और नेतृत्व का नया मानदंड स्थापित किया; जूड फ़ेलिक्स ने मिडफ़ील्ड की लय और संयोजन को नई धार दी; जबकि धनराज पिल्लै अपनी विस्फोटक गति, अद्भुत ड्रिब्लिंग और गोल की तीव्र भूख के कारण इस पूरे दौर के सबसे चमकदार भारतीय सितारों में गिने गए। इनके साथ मुकेश कुमार, आशीष बल्लाल और दिलीप तिर्की जैसे खिलाड़ियों ने भी उस समय भारतीय हॉकी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मान दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जब खेल की रफ़्तार, तकनीक और प्रतिस्पर्धा पहले से कहीं अधिक कठिन हो चुकी थी।

यदि 2001 से 2026 तक के महान भारतीय खिलाड़ियों के नाम लूँ तो सबसे पहले दिलीप तिर्की का स्मरण होता है, जिनकी रक्षण-कला, धैर्य और दीर्घ निरंतरता ने आधुनिक भारतीय हॉकी को एक दृढ़ आधार दिया। इसके बाद सरदार सिंह का नाम आता है, जिन्होंने मिडफ़ील्ड में अपनी खेल-बुद्धि, संतुलन और नेतृत्व से भारतीय टीम को एक नई पहचान दी। फिर पी. आर. श्रीजेश का व्यक्तित्व उभरता है, जो केवल एक महान गोलकीपर ही नहीं, बल्कि आधुनिक भारतीय हॉकी के पुनर्जागरण के प्रतीक भी बने; टोक्यो 2020 और पेरिस 2024 के ओलंपिक कांस्य पदकों में उनकी भूमिका असाधारण रही। मनप्रीत सिंह ने संघर्षशील कप्तान के रूप में टीम को नई दृढ़ता दी, जबकि हर्मनप्रीत सिंह ने अपने गोलों, ड्रैग-फ्लिक की शक्ति और नेतृत्व से इस युग पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। इनके साथ रुपिंदर पाल सिंह, अमित रोहिदास, हार्दिक सिंह, विवेक सागर प्रसाद, ललित उपाध्याय, मंदीप सिंह और सुमित जैसे खिलाड़ियों ने भी भारतीय हॉकी को उस समय नई ऊँचाई दी, जब विश्व हॉकी पहले से कहीं अधिक तीव्र, वैज्ञानिक और प्रतिस्पर्धी हो चुकी थी। इन सबके बीच यह पूरा कालखंड भारतीय हॉकी के लिए केवल संघर्ष की धधकती हुई सुरंग नहीं रहा, बल्कि बार-बार गिरकर फिर उठ खड़े होने, अपनी गौरवशाली परंपरा को नई तकनीक और नई गति के साथ जोड़ने, और विश्व मंच पर अपना सम्मान पुनः अर्जित करने की एक मार्मिक, प्रेरक और उज्ज्वल गाथा बन गया।

“भारतीय हॉकी की असल शक्ति केवल उसके स्वर्णिम अतीत में नहीं, बल्कि हर गिरावट के बाद फ़िर से उठ खड़े होने के उसके अदम्य साहस में बसती है।

अपने इस कथन के साथ मैं अपनी प्रार्थना और शुभकामना भी जोड़ना चाहूँगा- भारतीय हॉकी एक बार फ़िर से पूरी आन, बान और शान के साथ सारी दुनिया पर राज करे। भारतीय हॉकी का स्वर्ण युग एक बार फ़िर विश्व हॉकी के आकाश में भारतीय हॉकी का परचम लहराए।

□□

धीरे-धीरे ऐसा लगता है जैसे हम इस अध्याय के अंतिम पृष्ठों के निकट पहुँच गए हैं। शब्दों की यह यात्रा अब उस मोड़ पर खड़ी है जहाँ आगे केवल विराम दिखाई देता है। लेकिन स्मृतियों का अपना स्वभाव होता है-वे किसी पुस्तक के अनुशासन को नहीं मानतीं। वे यह स्वीकार नहीं करतीं कि किसी अध्याय का अंत केवल इसलिए हो जाए क्योंकि पृष्ठ समाप्त हो रहे हैं।

मैं कई बार इस अध्याय को यहीं बंद कर देने का निश्चय करता हूँ, पर तभी भीतर कहीं कोई धीमी-सी दस्तक सुनाई देती है। जैसे यादों की उस पुरानी, विशाल इमारत में कोई खिड़की अभी भी खुली रह गई हो। जैसे किसी कमरे में हल्की-सी रोशनी जल रही हो और कोई अदृश्य स्वर कह रहा हो-"अभी सब कुछ कहा कहाँ गया है?"

वह इमारत अब भी मेरे भीतर वैसी ही खड़ी है-लम्बे बरामदे, धूल भरी सीढ़ियाँ, बंद दरवाज़े और उनके पीछे ठहरी हुई अनगिनत स्मृतियाँ। उन कमरों में से एक कमरा हॉकी का भी है। बरसों से बंद पड़ा हुआ, फिर भी अजीब बात है कि उसका दरवाज़ा खोलते ही भीतर की हवा में वैसी ही गंध मिलती है जैसी कभी हमारे किशोर दिनों में हुआ करती थी। वहाँ अब भी मिट्टी की गंध है, पसीने की हल्की नमकीन महक है, सीटी की आवाज़ें हैं, साथियों की हँसी है, हार के बाद की चुप्पियाँ हैं और जीत के बाद का वह अनगढ़ उत्साह भी, जिसे शब्दों में पूरी तरह बाँधा नहीं जा सकता।

मुझे लगता है, उस कमरे में अभी भी कुछ कोने ऐसे हैं जहाँ मेरी दृष्टि नहीं पहुँची। कुछ अलमारियाँ हैं जिनके कपाट अब तक बंद हैं। कुछ स्मृतियाँ हैं जो शायद संकोचवश पीछे खड़ी रह गई थीं और जब मैं उन्हें लिखने बैठा, तब वे सामने नहीं आईं। वे आज भी वहीं हैं-किसी पुरानी हॉकी स्टिक से लिपटी हुई , किसी धूल भरे शेल्फ़ पर किसी ट्रॉफ़ी को पकड़ कर बैठी हुई, या किसी फीकी पड़ चुकी तस्वीर के पीछे छिपी हुई।

स्मृतियाँ भी क्या जीवित प्राणियों की तरह नहीं होतीं ? उन्हें पुकारना पड़ता है। उनका हाथ पकड़कर धीरे-धीरे वर्तमान में लाना पड़ता है। वे स्वयं सामने नहीं आतीं; उन्हें विश्वास दिलाना पड़ता है कि उनकी उपस्थिति अब तो और भी आवश्यक है, समय ने उन्हें भले ही बीता हुआ बताकर पीछे छोड़ दिया हो पर अब उनकी भूमिका दोस्त की बन चुकी है। ऐसा दोस्त जो बस हाथ थाम कर वो सब कुछ दे देता है जो कहीं और से नहीं मिल पाता।

तो फिर क्यों न एक बार फिर उस इमारत की ओर चला जाए?

क्यों न उन सीढ़ियों पर दोबारा चढ़ा जाए जिन पर कभी हम दौड़ते हुए गुज़रे थे? क्यों न उस कमरे का दरवाज़ा फिर खोला जाए जहाँ हॉकी की स्मृतियाँ अब भी चुपचाप हमारा इंतज़ार कर रही हैं?

आख़िर हमें कौन रोक रहा है?

समय? वह तो स्वयं स्मृतियों के सहारे ही जीवित रहता है।

और यदि कुछ देर के लिए हम वर्तमान की देहरी छोड़कर अतीत के उस कमरे में लौट जाएँ –

तो शायद वहाँ कोई भूली-बिसरी घटना हमारा इंतज़ार कर रही हो;

कोई चेहरा, जिसका नाम याद नहीं रहा लेकिन मुस्कान अब भी याद है;

कोई आवाज़, जो वर्षों पहले खो गई थी पर आज भी भीतर कहीं गूँजती है।

आओ चलो , एक बार फिर उस कमरे का दरवाज़ा खोलते हैं।

ज़रूर हमें वहाँ कुछ न कुछ ऐसा मिल जाएगा ऐसा मूल्यवान जो अनकहा रह गया हो।

जानते हो न ! जीवन की सबसे मूल्यवान स्मृतियाँ वही होती हैं जो आख़िरी क्षण में, विदा लेने से ठीक पहले, चुपचाप हमारे सामने आ खड़ी होती हैं।



मैंने कहा था न, कुछ तो मिलेगा।

जो कुछ मिला, अब एक एक करके बताऊँगा।

'शास्त्री क्लब' छूट गया था !! उसे के बारे में बताता हूँ।

जैसा कि अक्सर हर संस्था या टीम या समिति में होता है एक बार सेंटपॉल क्लब में भी एक विभाजन जैसा कुछ हुआ। कुछ असन्तुष्ट खिलाड़ियों ने एक दो नए खिलाड़ियों के साथ मिलकर एक नई हॉकी टीम बना ली। इस नई टीम का नाम रखा गया 'शास्त्री क्लब'। जो खिलाड़ी बाहर से जबलपुर आए थे वे भी सेंटपॉल क्लब में अपना वह स्थान नहीं बना पा रहे थे जो वे चाहते थे। इन लोगों ने जबलपुर सेंट्रल जेल की ऊँची दक्षिणी दीवार के बाजू में जो खाली मैदान पड़ा था उस में खेलना शुरू किया। इस टीम में कुछ पुलिस लाइन के लड़के भी शामिल हो गए। घमापुर में खेलने वाली सभी टीमों से एक-एक, दो-दो लड़के वहाँ पहुँच गए। कुछ दिन अनिल दुबे भी वहाँ गया। मुझसे तो उसकी रोज़ मुलाकात होती थी। भले ही वह हम लोगों के साथ नहीं खेल रहा था। उसी ने मुझे बताया कि 'शास्त्री क्लब' के मुख्य फ़ाउंडर का नाम रूबिन है। वही उस टीम का मुख्य कर्ता-धर्ता है। राइट-आउट पोजीशन पर खेलता है और गेंद लेकर बिजली की सी गति से भागता है। यदि उसे सही पास मिल जाए तो खेल शुरू होने के शुरुआती मिनिटों में ही गोल कर देता है। रूबिन के साथ जहाँ तक मुझे याद है कुछ समय तक न्यूटन भी उस टीम में चला गया था। ये मेरे हॉकी खेलने के अंतिम दिन थे। हमारा यानी 'फ्रेंड्स क्लब' और शास्त्री क्लब के एक दो मैच भी पुलिस परेड ग्राउन्ड पर हुए थे। उन मैचों में मैंने रूबिन का खेल देखा था। वह सचमुच राइट आउट के स्थान पर बहुत तेज गति से बाल लेकर भगत था। सेंटपॉल क्लब और शास्त्री क्लब दोनों ने कुछ टूर्नामेंट्स में भाग भी लिया था। पर कुछ दिनों में ही दोनों टीमों के समझदार

खिलाड़ियों को समझ में आ गया कि इस विभाजन से न तो 'शास्त्री क्लब' मजबूत टीम के रूप में उभर पाई है और न ही 'सेंटपॉल क्लब' अपनी मजबूती कायम रख पाई है। कुछ दिनों में फिर से दोनों टीमों के खिलाड़ी साथ साथ अभ्यास करने लगे। सेंटपॉल क्लब का थोड़ा बहुत नया स्वरूप बना। 'शास्त्री क्लब' का अस्तित्व बना रहा पर वह अब सेंटपॉल क्लब की 'बी' टीम के रूप में भी जानी जाने लगी। ये वो समय था जब मैं इंजीनियरिंग कॉलेज पहुँच चुका था और मेरा हॉकी खेलना बंद हो चुका था। अतः इस समय का ये घटना क्रम बस सुनी हुई बातों के आधार पर ही लिख रहा हूँ।

यहाँ 'न्यूटन'का नाम भी सामने आया है। नाम तो पहले भी आया था पर, कुछ बताना छूट गया था।

यदि मुझे सही सही याद है तो 'न्यूटन डेनियल' उसका पूरा नाम था।

ये न्यूटन डेनियल वही थे जिनकी माँ श्रीमती सरोज़ डेनियल के बड़े से पुराने बंगले में मैं दूसरी कक्षा से पाँचवीं कक्षा तक प्राइमरी स्कूल में पढ़ा था। नगर निग़म जबलपुर ने उसे किराये पर लिया था- और उसमें 'शासकीय पश्चिमी घमापुर प्राथमिक शाला' का संचालन होने लगा था। आज भी वह स्कूल वहीं पर है। मैं तीन चार साल पहले वहाँ गया था। अब अच्छी हालत में है। शायद नगर निग़म ने वह इमारत खरीद ली हो। मैंने इस बाबत पता नहीं किया। न्यूटन से छोटे तीन भाई थे – रॉबर्ट, रिचर्ड और एक सबसे छोटा जिसका नाम मैं भूल गया हूँ। ये तीनों भी हॉकी खेलते थे। रिचर्ड या रिच्चू हमारी फ्रेंड्स क्लब टीम का राइट-आउट या राइट-इन खिलाड़ी था। वो इन दोनों पोजिसंस पर खेल लेता था। बात न्यूटन की करना थी मैं हमेशा की तरह भटकने लगा।

न्यूटन के बारे में मुझे ये बताना था कि वह सेंटर फारवर्ड , लिफ्ट-इन और राइट-इन तीनों स्थानों का शानदार खिलाड़ी था। सेंटपॉल क्लब और जी. सी. एफ. टीमों से खेलता था। मेरी जानकारी और याददाश्त के अनुसार वह 'भारतीय राष्ट्रीय हॉकी टीम' की ट्रायल्स तक पहुँच गया था।

वैसे मॉडल हाई स्कूल के सनकादिक सिंह और एक और छात्र थे जिनके सही नाम के बारे में मैं आश्वस्त नहीं हूँ, इसलिए लिखने से बच रहा हूँ। पर ये दोनों मॉडेल हाई स्कूल के भूतपूर्व छात्र तो भारतीय हॉकी टीम में खेले भी थे।

मॉडेल हाई स्कूल में पढ़ते हुए मैंने सिक्स्थ क्लास में अपनी कक्षा की ओर से हॉकी खेली थी, परंतु उस साल 'सी' ग्रेड के खिलाड़ियों का चयन कब हो गया इस बात का मुझे पता ही नहीं चल पाया। वैसे भी उस टीम में सातवीं कक्षा के छात्रों का ही दबदबा था। हाँ ! सेवन्थ क्लास में मेरा चयन सीधे 'बी' ग्रेड में हो गया था। मैं अपनी लेफ्ट-इन की ही पोजीशन पर खेलता रहा। एक बार अभ्यास के दौरान हमारे सीनियर कोच एल.एन. अवस्थी सर ने मुझे बुलाकर टोका भी था – "तुम गेंद ज़्यादा देर अपने पास रखा करो, मूव बनाकर पास दे देते हो और कई बार वो मूव बेकार हो जाता है।"

हम फ्रेंड्स क्लब की टीम में व्यक्तिगत खेल के बजाय टीम की जीत के लिए खेलते थे। मेरे बनाए मूव्स पर अक्सर डेनियल गोल कर देता था। इसी तरह अनिल भी। परंतु मॉडल हाई स्कूल की टीम में सामूहिक अभ्यास का कम समय मिलने के कारण सटीक ताल मेल नहीं बैठता था। नौवीं और दसवीं क्लास में मैं 'ए' ग्रेड की मुख्य टीम में खेला। मेरे पोजीशन वही रही लेफ्ट-इन या इन साइड- लेफ्ट।

मैंने 'बी' और 'ए' ग्रेड में खेलते हुए अंतर्शालेय टूर्नामेंट मैच और अन्य स्कूलों जैसे अंजुमन स्कूल, ए.पी. नर्मदा स्कूल, नवीन विद्या भवन स्कूल, हितकारिणी स्कूल आदि से अभ्यास मैच ख़ूब खेले। जब मैं दसवीं में था या ग्यारहवीं में ठीक से याद नहीं, क्योंकि मैं कह चुका हूँ कि ग्यारहवीं के छात्रों को पढ़ाई के अलावा हर गतिविधि से दूर रखा जाता था। परंतु यहाँ मैं स्मृति की धुंध में भ्रमित हो रहा हूँ, बहरहाल वह नवीन विद्या भवन की टीम से हमारा 'ए' ग्रेड की टीम का फाइनल मैच था। हम वह मैच एक गोल से हार गए थे। पर मुझे वह मैच इसलिए याद है कि हमारी टीम जब एक गोल से पिछड़ रही थी तब अंतिम मिनिटों में मैं ड्रिबलिंग करता हुआ सेंटर लाइन से सीधा नवीन विद्या भवन टीम की 'डी' या स्ट्राइकिंग सर्कल में घुस गया था और अंतिम समय पर वहाँ मेरा कोई साथी खिलाड़ी नहीं था जिसे मैं पास दे पाता। न ही इस ऊहापोह में मैं स्वयं गोल कर पाया इतनी देर में विपक्षी रक्षा पंक्ति के खिलाड़ियों

ने फ़ाउल करके खेल की गति तोड़ दी। मेरी ड्रिबलिंग और विपक्षी टीम के खिलाड़ियों को छकाते हुए मैं कैसे आगे बढ़ता गया मुझे स्वयं कुछ नहीं दिख रहा था या समझ में नहीं आ रहा था, बस इतना याद है कि दर्शक छात्र बहुत शोर कर रहे थे, तालियाँ बज रही थीं। इस दृश्य का वर्णन बाद में अखिलेश ने मुझसे किया था। यहाँ मैं ये भी बता दूँ कि नवीन विद्या भवन में एक खिलाड़ी बहुत प्रसिद्ध था। 'अरुण यादव' वो बाद में रेल्वे की राष्ट्रीय टीम में भी खेले। अरुण यादव की छोटी बहन 'मधू यादव' भारतीय महिला टीम में खेल चुकी हैं। एक भाई 'सुनील यादव' भी काफ़ी ऊपर पहुँच था। वह 'बाई के बगीचे/ तुलसी मोहल्ले' की टीम से राइट आउट खेलता था। कई मैचों में मेरा और उसका, अपनी अपनी खेलने की पोजीशन की वजह से आमना सामना हुआ था। बात सुनील के बड़े भाई अरुण यादव की करूँ तो, उसे लोग 'लड्डू' कहकर भी बुलाते हैं। वो अभी जय प्रकाश नगर-अधारताल, जबलपुर में ही रहता है। बड़ी विचित्र बात है कि 'लड्डू भैया' की बहुत अच्छी दोस्ती मेरे छोटे भाई से है। मेरी भी 'उनसे' बीच बीच में मुलाकात हो जाती है।

मेरे लिए हॉकी सिर्फ़ एक खेल नहीं है, एक शब्द नहीं है- मेरे अपने भीतर बसी हुई एक जीवित दुनिया है। जिन्हें मेरे अतीत का अता पता नहीं है वे बाहर बाहर से आज मुझे देखकर नहीं जान पाते कि मेरे भीतर हॉकी की एक 'आकाश गंगा' भी मौजूद है।

एक और मज़ेदार या बहुत अर्थपूर्ण बात बताऊँ – जब रात को मुझे नींद नहीं आती तब मैं बिस्तर पर पड़े पड़े मन ही मन हॉकी खेलना शुरू कर देता हूँ। ड्रिबलिंग करता हुआ गेंद लेकर भागता हूँ। मूव बनाता हूँ। विपक्षी टीम पर आक्रमण करता हूँ। अपनी टीम पर होने वाले विपक्षी आक्रमण को क्लीयर करता हूँ। मेरी टीम वही रहती है- 'फ्रेंड्स क्लब'। विपक्षी टीमें बदलती रहती हैं। उन खिलाड़ियों के चेहरे भी साफ़ साफ़ नज़र नहीं आते। इसी तरह खेलते खेलते कब नींद की दुनिया में प्रविष्ट हो जाता हूँ, पता ही नहीं चलता। ऐसा अभी भी होता है।

□□

मैंने इस चैप्टर की शुरुआत में ही कहा था-यह जो 'मैं' नाम का बोध है, वह केवल शरीर और मन का योग नहीं है। उसके भीतर कुछ और भी है, जिसे शब्दों में बाँधना

आसान नहीं। यदि हम उसका विश्लेषण करने बैठें तो बात बहुत दूर तक चली जाएगी। इसलिए फिलहाल इतना ही मान लेते हैं कि 'मैं' शरीर, मन और चेतना से तो निर्मित है ही, पर इनके अलावा भी उसके कुछ ऐसे हिस्से होते हैं जो स्वयं में स्वतंत्र होते हुए भी हमारे अस्तित्व में घुल-मिल जाते हैं। वे हमारे स्वभाव को आकार देते हैं, हमारे धर्म को परिभाषित करते हैं, हमारी आत्मा को एक विशिष्ट लय प्रदान करते हैं।

मेरे भीतर ऐसा ही एक हिस्सा 'हॉकी' के रूप में धड़कता है।

यह बात अलग है कि अब कई वर्षों से मैंने हॉकी स्टिक हाथ में नहीं उठाई। मैदानों की वह भाग-दौड़, वह सीटी की आवाज़, वह गेंद का घास पर फिसलना-सब धीरे-धीरे समय की धुँध में कहीं पीछे छूट गया है। पर आश्चर्य यह है कि हॉकी मुझसे कभी नहीं छूटी। वह आज भी मेरे भीतर उसी तरह जीवित है, जैसे शरीर का कोई अनिवार्य अंग, जिसकी उपस्थिति का एहसास हमें हर पल नहीं होता, लेकिन जिसके बिना जीवन की कल्पना भी संभव नहीं।

कभी-कभी लगता है, हॉकी केवल एक खेल नहीं थी; वह मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में शामिल एक मौन शक्ति थी। उसने मुझे केवल खेलना नहीं सिखाया, उसने मुझे जीना सिखाया।

"लक्ष्य क्या होता है और उसे आँखों से ओझल हुए बिना कैसे देखा जाता है- यह मैंने हॉकी से सीखा। अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ किसी उद्देश्य के लिए जुट जाना, हार की संभावना के बावजूद प्रयास करते रहना, गिरना और फिर उठ खड़ा होना, अपने हिस्से का संघर्ष करना और साथ ही अपने साथी के लिए भी जगह बनाना-ये सब पाठ किसी पुस्तक ने नहीं, हॉकी ने पढ़ाए।"

मैदान में कोई अकेला नहीं जीतता। वहाँ सफलता हमेशा साझा होती है और असफलता भी। शायद इसी कारण हॉकी ने मुझे यह भी सिखाया कि जीवन में आगे बढ़ना दरअसल दूसरों के साथ मिलकर आगे बढ़ना है। सहायता देना और सहायता स्वीकार करना, दोनों ही मनुष्य होने के आवश्यक गुण हैं। अपनी रक्षा करना जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण है अपने साथ चल रहे लोगों की रक्षा करना। एक

टीम की तरह जीवन की अनिश्चितताओं के सामने खड़ा होना-यह शिक्षा भी मुझे उसी मैदान से मिली थी।

धैर्य, अनुशासन, संयम, प्रतीक्षा, संघर्ष और पुनः प्रयास-ये शब्द बाद में शब्दकोशों में मिले; इनके अर्थ तो बहुत पहले हॉकी के मैदान में समझ आ गए थे।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, जीवन के अनेक निर्णयों में, अनेक कठिन मोड़ों पर, कहीं न कहीं वह खिलाड़ी अब भी मेरे भीतर मौजूद रहा है। वही खिलाड़ी जिसने हार के बाद भी अगला मैच खेलने का साहस नहीं खोया था।

इसलिए हॉकी मेरे 'मैं' का केवल एक हिस्सा नहीं है।

वह मेरे भीतर जीवित एक स्मृति है, एक संस्कार है, एक दृष्टि है।

और शायद एक कोच, एक गुरु भी- जो अब मैदान में दिखाई नहीं देता, पर आज भी मेरे भीतर कहीं खड़ा है, चुपचाप, और हर कठिन क्षण में कुछ न कुछ सीख दे देता है, मैं कहाँ ग़लती कर रहा हूँ , अपने किस एक्शन में मुझे क्या सुधार करना है। किस कमी को कैसे सुधारना है - सब कुछ सहजता से बता देता है।

सबसे बड़ी बात तो ये है कि वो हमेशा याद दिलाता रहता है –

"खेल अभी समाप्त नहीं हुआ है।"



4

शब्द-तिलिस्म

(ज़िंदगी के समानांतर शब्दों की जादुई दुनिया)

यदि मुझे शब्दों की बात करनी हो, तो उसकी शुरुआत भी शायद पिछले जन्मों से करनी होगी। ऐसा लगता है मानो मनुष्य शब्दों के साथ ही पैदा होता है, बल्कि उन्हें अपने साथ कहीं बहुत दूर से लेकर आता है। जैसे स्मृतियाँ आती हैं, जैसे कोई अनकहा संगीत भीतर पहले से बजता रहता है।

बोले हुए शब्दों से पहले हमारे पास आते हैं-सुने हुए शब्द।

हम दुनिया को देखने से पहले उसे सुनना सीखते हैं। माँ की लोरी, पिता की आवाज़, घर की बातचीत, पक्षियों का कलरव, मंदिर की घंटियाँ, बारिश की रुनझुन-सब मिलकर हमारे भीतर शब्दों का पहला घर बनाते हैं। उन शब्दों का अर्थ तब भले न समझ आता हो, पर उनकी ध्वनि हमारे भीतर उतर जाती है। वे हमारी चेतना की मिट्टी में चुपचाप बीज की तरह दब जाते हैं।

फिर आते हैं-बोले हुए शब्द।

वे भी कहीं बाहर से नहीं आते। वे उन्हीं सुने हुए शब्दों की संतान होते हैं। बच्चा पहले दूसरों की भाषा उधार लेता है, फिर धीरे-धीरे उसमें अपना स्वर मिला देता है। एक दिन उसे लगता है कि वह बोल रहा है, जबकि सच यह है कि शब्द ही उसके माध्यम से स्वयं को व्यक्त कर रहे होते हैं।

इसके बाद आते हैं-लिखे हुए शब्द।

यहीं से संसार थोड़ा बदल जाता है। अब शब्द केवल सुने हुए नहीं रहते। कुछ नए शब्द हमारे सामने आते हैं-ऐसे शब्द जिन्हें हमने कभी किसी से सुना नहीं था। वे किसी पुस्तक के पन्नों से निकलते हैं, किसी कविता की पंक्ति से, किसी उपन्यास, किसी दर्शन या किसी अनजान लेखक की कलम से। वे एकदम नए-नकोर होते हैं। पहले वे अजनबी लगते हैं, फिर धीरे-धीरे हमारे अपने हो जाते हैं।

यहीं से शब्दों का असली जादू आरम्भ होता है।

यह जादू हर व्यक्ति के सामने एक ही रूप में प्रकट नहीं होता। किसी के लिए शब्द केवल संवाद का माध्यम बने रहते हैं; किसी के लिए वे जीविका का साधन बन जाते हैं; किसी के लिए ज्ञान का द्वार खोलते हैं; और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके लिए शब्द ही उनका पूरा ब्रह्मांड बन जाते हैं।

कुछ लोग इस मायाजाल में ऐसे फँसते हैं कि फिर जीवन भर बाहर नहीं निकल पाते। बल्कि एक समय ऐसा आता है जब वे बाहर निकलने की इच्छा ही छोड़ देते हैं। उन्हें शब्दों की उस रहस्यमयी दुनिया में साँस लेना अधिक सहज, अधिक स्वाभाविक और अधिक सुखद लगने लगता है। वे उसी तिलिस्म में रहते हुए जीवन के मौसम बदलते देखते हैं। बाहर की दुनिया में वे केवल उतनी देर के लिए आते हैं, जितनी देर रोटी, रिश्तों और रोज़मर्रा की ज़रूरतों को निभाना आवश्यक हो। उसके बाद वे फिर लौट जाते हैं-अपनी उसी दुनिया में।

वह दुनिया, जो ईंट-पत्थरों से नहीं, कल्पनाओं, विचारों, स्मृतियों और संवेदनाओं से बनी होती है; और जिसका एक-एक कण शब्दों से निर्मित होता है।

मैं यहाँ 'भाषा' की नहीं, 'शब्दों' की बात कर रहा हूँ।

भाषाएँ बदल जाती हैं। लिपियाँ बदल जाती हैं। समय के साथ उच्चारण भी बदल जाते हैं। पर शब्दों की आत्मा बनी रहती है। वे मनुष्य के अनुभवों, उसके दुख-सुख, उसके प्रेम, उसकी जिज्ञासा और उसके अकेलेपन को अपने भीतर सँजोए चलते हैं। शब्द केवल अर्थ नहीं देते; वे स्मृतियाँ भी देते हैं, गंध भी, रंग भी, और कभी-कभी पूरा का पूरा जीवन भी।

अब यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं कि मैं भी शब्दों की उसी ऐंद्रजालिक दुनिया का एक निवासी हूँ।

सब कुछ लगभग डिजिटल हो जाने के बाद भी मुझे शब्दों को पढ़ने में आनंद आता है; उन्हें देर तक मन में उलट-पलट कर सोचने में आनंद आता है; उनके अर्थों की परतें खोलने में, उन्हें बोलने में, दूसरों को समझाने में और अंततः उन्हें लिखकर एक नया जीवन देने में आनंद आता है।

कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि मैं शब्दों को नहीं लिखता, शब्द ही मुझे लिखते हैं। मैं केवल उनकी उँगली पकड़कर चलता हूँ। वे जहाँ ले जाते हैं, मैं चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल पड़ता हूँ।

बचपन को लगता है कि उसने अपने शब्द खोज लिए हैं, जबकि सच तो यह है कि वह केवल उन शब्दों को लौटा रहा होता है जिन्हें उसने दुनिया से उधार लिया था। हमारे पहले वाक्य हमारे नहीं होते; वे हमारे चारों ओर फैले संसार की प्रतिध्वनियाँ होते हैं।

लिखना तो बहुत बाद में आता है।

लिखते समय पहली बार ऐसा होता है कि शब्द केवल हमारे पास नहीं आते, वे हमारे भीतर भी उतरने लगते हैं। किताबें तब केवल पढ़ी नहीं जातीं; वे हमें पढ़ने लगती हैं। कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जिन्हें हमने पहले कभी सुना नहीं था। वे किसी कविता के पन्ने से निकलकर आते हैं, किसी उपन्यास की खिड़की से भीतर प्रवेश करते हैं, किसी दार्शनिक की चुप्पी से जन्म लेते हैं। वे अपरिचित होते हैं, लेकिन अजीब बात यह है कि उन्हें पढ़ते ही लगता है-हम इन्हें बहुत पहले से जानते थे। जैसे किसी पुराने मित्र से अचानक बरसों बाद मुलाक़ात हो गई हो।

यहीं से शब्द अपना असली रूप दिखाने लगते हैं।

वे केवल अर्थ नहीं देते; वे संसार रचते हैं।

कुछ लोग उनके पास से गुज़र जाते हैं, जैसे किसी नदी के किनारे से गुज़रते हैं-पानी को देखते हैं, उसकी ठंडक महसूस करते हैं और आगे बढ़ जाते हैं।

कुछ लोग उस नदी में उतरते हैं, थोड़ा तैरते हैं, फिर किनारे लौट आते हैं।

और कुछ ऐसे होते हैं जो उसी नदी को अपना घर बना लेते हैं।

शब्दों के साथ भी यही होता है।

कुछ लोग उनके मायाजाल में ऐसे प्रवेश करते हैं कि फिर लौटना नहीं चाहते। धीरे-धीरे उन्हें बाहर की दुनिया कुछ अधिक शोर भरी और भीतर की दुनिया कुछ अधिक सच्ची लगने लगती है। वे शब्दों के बीच वैसे ही रहने लगते हैं जैसे मछली पानी में रहती है-उसे पानी दिखाई नहीं देता, पर वही उसका जीवन होता है।

बाहर की दुनिया उन्हें पुकारती रहती है। वे वहाँ जाते भी हैं-अपनी जिम्मेदारियों, अपने संबंधों और अपनी रोज़मर्रा की आवश्यकताओं के कारण। पर लौटते समय उनके पाँव अनायास उसी अदृश्य लोक की ओर मुड़ जाते हैं जहाँ विचार रहते हैं, स्मृतियाँ रहती हैं, कल्पनाएँ रहती हैं और उन सबके बीच शब्द अपनी धीमी रोशनी में चमकते रहते हैं।

वह संसार किसी नक्शे में नहीं मिलता। उसका कोई भूगोल नहीं है। उसका एकमात्र पदार्थ शब्द हैं और उसकी एकमात्र जलवायु संवेदना।

मैं फिर से कहूँगा, मैं यहाँ भाषा की बात नहीं कर रहा।

भाषाएँ मनुष्य बनाता है; शब्द शायद मनुष्य को बनाते हैं।

भाषाएँ समय के साथ बदलती रहती हैं। उनके व्याकरण बदलते हैं, उनकी लिपियाँ बदलती हैं, उनके उच्चारण बदलते हैं। लेकिन कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो युगों तक अपने भीतर मनुष्य की धड़कन सँजोए रहते हैं। वे केवल बोले नहीं जाते; वे जीए जाते हैं।

अब यह स्वीकार करने में मुझे कोई संकोच नहीं कि मैं भी उसी अदृश्य लोक का एक निवासी हूँ।

आज जब लगभग सब कुछ डिजिटल हो चुका है, तब भी किसी पुस्तक का पन्ना पलटना मुझे स्क्रीन पर उँगली फेरने से अलग अनुभव देता है। किसी सुंदर वाक्य के सामने ठिठक जाना, किसी शब्द को देर तक मन में घुमाते रहना, उसके अर्थ के पीछे छिपे दूसरे अर्थ को खोजते रहना-यह मेरे लिए किसी साधना से कम नहीं।

कई बार तो लगता है, मैं शब्दों को नहीं खोजता। शब्द ही मुझे खोज लेते हैं।

मैं उन्हें लिखता कम हूँ, उनके आने की प्रतीक्षा अधिक करता हूँ।

और जब वे आते हैं, तब वे मेरे जीवन की कहानी नहीं लिखते; वे धीरे-धीरे मुझे ही लिखने लगते हैं।



मैंने कौन से शब्द पहले पहल सुने और कौन से बोले, ये स्मृतियाँ तो किन्हीं घुप्प अँधेरों में छिपी हुई हैं। अंदाज़ा लगाया जा सकता है। बाई, बाबू जी और बुआ ने प्यार से पुकार होगा, बाई, बुआ और नानी ने लोरियाँ भी सुनाई होंगी। लेकिन उन्हें ढूंढ़ना, उन तक पहुँचना अब नामुमकिन जैसी बात है। सो, उसे छोड़ें – हिन्दी भाषा के स्वर और व्यंजनों के परिचय के पहले ढ़ेर सारे शब्द सुन चुका था, बोलने भी लगा था। फिर घर पर ही अ, आ, इ, ई, उ, ऊ . . . और क, ख, ग, घ . . . . के स्वरों और ध्वनियों से बाई ने परिचित करा दिया। लिखे हुए शब्दों के रूप में सबसे पहले पढ़ा-

"अमर घर चल, चल घर अमर . . . ."

कच्ची पहली की पहली किताब में सबसे पहले यही पढ़ा। फिर ये भी पढ़ा –

"एक बीज के भीतर गुप चुप
मिट्टी की तह में कुछ नीचे
पड़ा हुआ था आँखें मीचे
बूंदें बोलीं उठो उठो जी
बोलीं उठो किरण की परियाँ
उठा देखने तब झटपट वह
कैसी है बाहर की दुनिया. . ."

और इस तरह शब्दों से मेरी पहली जान-पहचान हुई। पहले वे केवल ध्वनियाँ थे-हवा में तैरते हुए, किसी और के होंठों से निकलकर मेरे भीतर उतर जाने वाले। फिर वे धीरे-धीरे पहचान में बदल गए। पहचान से अपनापन बना और अपनापन जाने कब दोस्ती में बदल गया। शायद जीवन की हर बड़ी शुरुआत इतनी ही चुपचाप होती है कि उसके घटित होने का पता भी बहुत बाद में चलता है।

इसके आगे का क़िस्सा सचमुच बहुत सीधा-सादा है। इतना सीधा कि उसे दो वाक्यों में समेटा जा सकता है। वैसा ही जैसे बचपन में हम राजा-रानी की कहानी सुनकर हँस दिया करते थे-

"एक था राजा, एक थी रानी,
दोनों मर गए, ख़त्म कहानी।"

कहानी सचमुच इतनी ही छोटी है। उसके फैलाव में शायद केवल एक शब्द के लिए जगह बचती है-'दोस्ती'।

न उससे एक अक्षर अधिक, न एक अक्षर कम।

लेकिन जीवन का विचित्र व्यंग्य यही है कि जो बातें सबसे छोटी दिखाई देती हैं, वे भीतर सबसे अधिक जगह घेर लेती हैं। 'दोस्ती' भी ऐसा ही एक छोटा-सा शब्द है। चार-पाँच अक्षरों का एक साधारण-सा पुल, जिस पर चलते हुए पता ही नहीं चलता कि कब हम अपने अकेलेपन के किनारे से किसी दूसरे मन की धरती पर पहुँच गए।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, मित्र पहले कभी व्यक्ति नहीं होते। वे पहले शब्द होते हैं। कोई एक वाक्य, जो पहली बार सुनते ही अपने-सा लगने लगे। कोई हँसी, जो अपने भीतर की चुप्पी को पहचान ले। कोई संबोधन, जो भीड़ में भी केवल तुम्हारे लिए बचा रह जाए। उसके बाद ही चेहरे आते हैं, नाम आते हैं, स्मृतियाँ आती हैं।

शायद इसी कारण शब्द कभी केवल शब्द नहीं रहते। वे अपने भीतर उन सभी लोगों की आहट सँजोए रहते हैं, जिनसे हमारा जीवन कभी छुआ था। किसी पुराने मित्र का नाम लेते ही उसकी आवाज़ भी लौट आती है। उसकी हँसी, उसकी झुँझलाहट, उसकी

चिट्ठियाँ, उसके साथ बिताई दोपहरें-सब कुछ जैसे उसी एक शब्द के भीतर दुबका बैठा रहता है। शब्द किसी पुराने घर की तरह होते हैं। बाहर से छोटे दिखाई देते हैं, लेकिन भीतर प्रवेश करते ही कमरों पर कमरे खुलते चले जाते हैं।

कभी-कभी मुझे लगता है कि शब्दों का अपना कोई भूगोल नहीं होता। वे नक्शे पर नहीं मिलते। उनका देश स्मृति में बसता है। वहाँ समय भी घड़ी से नहीं चलता। वहाँ वर्षों पहले कही गई कोई साधारण-सी बात आज भी उतनी ही ताज़ी मिल सकती है, जितनी उस दिन थी। और कल का कोई चमकदार वाक्य कुछ ही दिनों में धूल की तरह बिखर सकता है।

इसीलिए 'दोस्ती' शब्द का भी कोई निश्चित अर्थ नहीं है। हर व्यक्ति उसे अपने जीवन से भरता है। किसी के लिए वह साथ चलने का नाम है, किसी के लिए चुपचाप साथ बैठे रहने का। किसी के लिए वह वर्षों तक पत्र लिखते रहने की आदत है, तो किसी के लिए बरसों बाद अचानक किसी स्टेशन पर मिल जाने की मुस्कान। शब्द वही रहता है, पर उसका आकाश हर बार बदल जाता है।

शायद शब्दों का यही मायाजाल है। वे जितना कहते हैं, उससे कहीं अधिक छिपाए रहते हैं। उनका असली अर्थ शब्दकोशों में नहीं मिलता। वह उन अनगिनत जीवनों में बिखरा रहता है, जिनसे होकर वे गुज़रे होते हैं।

अब कभी-कभी सोचता हूँ कि यह पूरा संसार भी शायद शब्दों से ही बना है। हम एक-दूसरे तक रास्तों से कम, शब्दों से अधिक पहुँचते हैं। प्रेम, विश्वास, विरह, स्मृति, क्षमा-ये सब पहले शब्द बनते हैं, फिर अनुभव। और अनुभव बीत जाने के बाद एक बार फिर शब्दों में लौट आते हैं।

शब्दों का यह संसार किसी ब्रह्माण्ड से कम नहीं। जिस दिशा में निकल पड़िए, एक नई आकाशगंगा सामने खुल जाती है। एक नया अर्थ, एक नई स्मृति, एक नया मनुष्य आपका इंतज़ार करता मिलता है। लगता है जैसे हर शब्द अपने भीतर एक और संसार छिपाए बैठा है, और हर संसार के भीतर फिर एक नया शब्द जन्म लेने को तैयार है।

शायद इसलिए हमारी सबसे लंबी यात्राएँ पैरों से नहीं, शब्दों के सहारे पूरी होती हैं।



जैसे ही मुझे पढ़ना आया। मैंने जहाँ से भी जैसे भी छपे हुए शब्द मिलते मैं पढ़ने लगा। बेशक शुरुआत तो स्कूली किताबों से ही हुई, किन्तु हमारे घर पर मेरे होश संभालने के पहले से ही गीता प्रेस गोरखपुर से निकलने वाली पत्रिका 'कल्याण' आया करती थी। साथ ही दो और पत्रिकाएँ आती थीं – 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया'।

मैं 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया' दोनों पत्रिकाओं के एक बहुत ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दौर की बात कर रहा हूँ। आज लोग 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया' को जिन 'क्राइम, सस्पेंस, सनसनीखेज, और राजनैतिक पत्रिकाओं' रूप में जानते हैं, वह उनका इसके बाद का रूप है। लेकिन 1940 1950 और 1960 के दशक के शुरुआती दौर में इस पत्रिका का स्वरूप और उद्देश्य बिल्कुल अलग था।

'मनोहर कहानियाँ' की शुरुआत सन् 1944 में हुई थी। मेरे जन्म के बारह साल पहले। उस समय देश आज़ादी के मुहाने पर खड़ा था और समाज में बदलाव की एक बयार बह रही थी। शुरुआती वर्षों में इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य पाठकों का स्वस्थ मनोरंजन करना और कहानियों के माध्यम से समाज को एक आईना दिखाना था। शुरुआती दशकों, विशेषकर चालीस, पचास और साठ के दशक के अंकों में छपने वाली कहानियों का मूल तत्व 'सामाजिक यथार्थ' हुआ करता था। इन कहानियों में मुख्य रूप से संयुक्त परिवारों के सुख-दुख: की मर्मस्पर्शी कहानियाँ, नैतिकता और मानवीय मूल्य, ईमानदारी, त्याग और प्रेम जैसे विषयों पर आधारित कहानियां, जो सीधे पाठकों के दिलों को छूती थीं। वे कहानियाँ इस लिए बुनी जाती थीं ताकि समाज को एक सकारात्मक संदेश दिया जा सके।

मित्रा प्रकाशन की दूसरी पत्रिका 'माया' जहाँ गंभीर और बड़े साहित्यकारों, जैसे प्रेमचंद, अमृत लाल नागर आदि की कहानियों के लिए जानी जाती थी, वहीं 'मनोहर कहानियाँ' को थोड़ा हल्का, रोचक लेकिन पूरी तरह मर्यादा के भीतर रहने वाला पारिवारिक रूप दिया गया था।'माया' और 'मनोहर कहानियाँ' का यह साहित्यिक रूप था।

उन दिनों इस पत्रिका को घर के बड़े-बुजुर्ग, महिलाएं और बच्चे सभी बिना किसी संकोच के एक साथ बैठकर पढ़ा करते थे। इसे बाकायदा "पारिवारिक पत्रिका" का दर्जा प्राप्त था।

मेरी जानकारी के अनुसार 1960-70 के दशक के बाद से पत्रिका ने पाठकों की रुचि को और बढ़ाने के लिए सामाजिक कहानियों में थोड़ा रहस्य, रोमांच और जासूसी का पुट डालना शुरू किया। लेकिन उस समय भी इसमें आज जैसी अपराध कथाएँ या सनसनी नहीं होती थी, बल्कि वह शरत चंद्र या देवकी नंदन खत्री की शैली से प्रेरित जासूसी और कौतूहल पैदा करने वाली सामाजिक कहानियाँ होती थीं।

70 और 80 के दशक तक आते-आते जब समाज बदला और बाजार में दूसरी पत्रिकाओं से प्रतियोगिता बढ़ी, तब मित्रा प्रकाशन ने इस पत्रिका को पूरी तरह से "सत्य कथा" और "क्राइम थ्रिलर" (वास्तविक अपराध कथाओं) के रूप में तब्दील कर दिया। यही कारण है कि आज की पीढ़ी इसके उस गौरवशाली, शुद्ध सामाजिक और साहित्यिक अतीत से अनजान है।

मेरे पिता को कोई भी सामान बहुत सहेज कर और संभालकर रखने की बहुत अच्छी आदत थी। हमारे घर पर इन तीनों पत्रिकाओं के साल भर के अंकों के अलग अलग ज़िल्द रखे हुए थे। हार्ड ज़िल्द के ऊपर बाबू जी मोटे काले अक्षरों से पत्रिका का नाम और वर्ष लिख देते थे।

मैं ये सब इसलिए सुना रहा हूँ ताकि तुम्हें इस बात पर कोई आश्चर्य न हो कि क्यों मैं शब्दों के संसार में सहज ही प्रविष्ट हो गया। बाई को और बाबू जी दोनों को पढ़ने का शौक था। बाबू जी प्रायः 'कल्याण' पढ़ा करते थे जबकि बाई 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया'। बीच बीच में बाबू जी 'नवनीत' हिन्दी डाईजेस्ट भी ले आते थे।

इस पत्रिका की शुरुआत जनवरी 1952 में हुई थी। यह भारत की शुरुआती 'डाईजेस्ट' पत्रिकाओं में से एक थी, जिसमें देश-दुनिया के बेहतरीन विचारों, साहित्यों और सांस्कृतिक लेखों का संकलन बेहद सुरुचिपूर्ण ढंग से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता था। बाद में इस पत्रिका का अधिग्रहण प्रसिद्ध संस्था 'भारतीय विद्या भवन' द्वारा कर

लिया गया और तब से वही इसका प्रकाशन कर रही है। अब इसे 'भवन्स नवनीत' के नाम से भी जाना जाता है। यह एक उच्च सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों वाली पत्रिका रही है, जो आज भी अनवरत प्रकाशित हो रही है।

बाद के दिनों में हमारे यहाँ 'सरिता' पत्रिका भी आने लगी थी। तब तक 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया' का स्वरूप बदल चुका था और वे पत्रिकाएँ अब हमारे घर आना बंद हो चुकी थीं।



'माया' में पढ़ी एक कहानी का एक अंश आज भी जीवित है मेरे स्मृति पटल पर।

वह एक रहस्यमय कहानी थी। शायद उसकी पृष्ठभूमि चीनी थी। मुझे बस इतना याद है –

"एक कमरे में एक युवती बैठी हुई है, उस कमरे की दीवार पर एक तस्वीर लगी हुई है जिसमें एक नदी की लहरें अंकित हैं उन लहरों पर तैरती एक नाव है जिसे गोल तिकोनी शंक्वाकार टोपी पहने हुए एक चीनी आदमी पतवार से खे रहा है। शाम का अंधेरा कमरे में धीरे-धीरे फैलता जा रहा है। चित्र में भी शाम हो रही है। कमरे में बैठी युवती एक टक तस्वीर को देख रही है, अचानक नाव नदी की लहरों में धीरे -धीरे आगे बढ़ने लगती है। युवती ने ध्यान से देखा वह चीनी आदमी पतवार चला रहा था। युवती की आँखें अचरज अधिक डर से फटने लगीं। वह कुछ भी सोच पाती इसके पहले नाव उसकी ओर मुड़ने लगी अब नाव सीधी युवती की ओर आ रही थी। युवती चीखना चाहती थी पर उसकी आवाज़ कहीं खो गई थी, वह उठकर भागना चाहती थी किन्तु शरीर ने उसका साथ देने से इनकार कर दिया – उसने अपनी आँखें बंद करनी चाहीं किन्तु आँखें पलकें झपकना तक भूल चुकी थीं।"

इस कहानी का इतना हिस्सा ही मुझे याद है बस, और ये हिस्सा अनेकों बार बहुत अकेले क्षणों में मुझे याद आता रहा है। मुझे लगता है जैसे कमरे में वह युवती नहीं मैं बैठा हूँ। मेरी थरथराती हुई सुधि इसके बाद इस दृश्य को आगे बढ़ाती है। वह चीनी

आदमी नाव से उतरकर मेरे सामने बैठ जाता है। उसकी आँखों में कोई प्रश्न नहीं होता वह बस मुझे खाली खाली नज़रों से ताकता रहता है।

ये सब कुछ जब घटता है तब मैं अपने आप को हमारे घमापुर मोहल्ले में रामलीला ग्राउन्ड के बाजू से बहते नाले के किनारे ऊँचाई पर बने एक बँगले में बैठा हुआ देखता हूँ। ये वही बँगला था जिसमें एक बंगाली दंपति रहते थे और उनके कलकत्ते प्रवास के दौरान बुआ और मैं रात्रि में सोने जाते थे। वह तस्वीर बैठक खाने की सामने वाली दीवार पर लगी होती थी। बाक़ी सब कुछ कहानी की तरह होता – यानी शाम का बढ़ता अंधेरा, कमरे में जैसे सिर्फ़ वह तस्वीर हो और मैं . . . . वह नाव और उसे खेता हुआ आदमी। जो धीरे धीरे नाव खेते हुए मेरी ओर आ रहा होता। मैं फटी फटी आँखों से उसे देख रहा होता।

अचानक सारा कुछ कहीं गायब हो जाता।

बस बचे रह जाते, मैं और मेरी तेज़ तेज़ चलती साँसों के साथ सुनाई देती मेरी दिल की धक धक।

मुझे नहीं मालूम ऐसा क्यों होता है। पर ये सब घट जाने के बाद मुझे राहत सी महसूस होती, जैसे मैं किसी बहुत बड़ी परेशानी या अनहोनी से बच गया हूँ।

□□

यह सब लिखने-सुनाने का उद्देश्य केवल इतना-सा है कि शब्दों और कहानियों की दुनिया मुझ पर किस गहराई से छाई रही है-या शायद कहना चाहिए कि आज भी उसी तरह छाई हुई है। पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, मेरे भीतर शब्दों के प्रति जो आकर्षण पैदा हुआ, वह किसी एक दिन की घटना नहीं था। वह धीरे-धीरे घर की हवा में घुलकर मेरे भीतर उतरता गया था।

ऊपर जिन प्रसंगों का ज़िक्र मैंने किया है, वे उसी वातावरण की छोटी-छोटी झलकियाँ हैं। सच तो यह है कि पढ़ने-लिखने का संस्कार मुझे घर से मिला। बाबू जी बहुत अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। बनखेड़ी गाँव के प्राथमिक विद्यालय तक ही उनकी औपचारिक शिक्षा सीमित रही थी, लेकिन पुस्तकों और लेखन के प्रति उनका अनुराग किसी

विश्वविद्यालय की डिग्री का मोहताज नहीं था। गाँव की रामलीला के लिए वे भजन लिखते, दृश्यों की पटकथाएँ तैयार करते। उनकी अपनी लिखावट में, कई पांडुलिपियाँ मैंने बरसों तक घर में सँभालकर रखी देखीं। उन पीले पड़ते काग़ज़ों पर स्याही की लकीरों में जैसे उनकी आवाज़ अब भी बसी हुई थी।

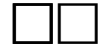
बाई साहित्य विशारद की पढ़ाई कर रही थीं। इसलिए उनके लिए किताबें केवल पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं थीं; वे उनके जीवन का स्वाभाविक विस्तार थीं। बुआ ने भले ही घर पर रहकर शिक्षा पाई थी, लेकिन पढ़ने का उनका शौक किसी नियमित विद्यार्थी से कम नहीं था। वे भी पत्रिकाएँ, पुस्तकें और उपन्यास बड़ी आत्मीयता से पढ़तीं थीं।

हमारे घर की अलमारियों में पाठ्य-पुस्तकों के साथ-साथ साहित्य भी रहता था। वहीं मैंने पहली बार *गुनाहों का देवता*, *झूठा सच* और *तेरी मेरी उसकी बात* जैसे उपन्यास देखे। उनके साथ अनेक संदर्भ-ग्रंथ भी थे। आज भी स्मृति में "*ब्रज माधुरी सार की टीका* "और '*कल्याण* ' के अनेक विशेषांक वैसे ही सुरक्षित हैं, जैसे बाई, बाबूजी, बुआ और नाना की गोद में बिताए क्षण।

शायद यही कारण था कि शब्द मेरे लिए केवल भाषा नहीं रहे। वे धीरे-धीरे घर के एक सदस्य की तरह हो गए। उन्हें सुनना, पढ़ना और फिर अपने भीतर देर तक गूँजते हुए महसूस करना मेरे स्वभाव का हिस्सा बनता चला गया। बाद में यदि साहित्य की ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया, तो उसकी शुरुआत किसी पुस्तकालय से नहीं, अपने ही घर की उन अलमारियों से हुई थी, जहाँ रखी किताबें कब मेरी दोस्त बन गईं मुझे पता ही नहीं चला। आज भी यह ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि उन किताबों में लिखी हुई बातें मुझे उस समय कितनी समझ में आती थीं और कितनी मेरी समझ से बाहर रह जाती थीं। शायद उनका अर्थ मेरी उम्र से कहीं आगे था। फिर भी न जाने किस आकर्षण से मैं उनके पन्ने उलटता रहता। कभी एक-दो पृष्ठ पढ़ लेता, कभी बिना पढ़े ही देर तक उन्हें हाथों में थामे बैठा रहता, जैसे किताबों के भीतर शब्दों से पहले कोई और दुनिया बसी हो, जिसकी आहट मात्र मुझे अपनी ओर खींचती थी।

उनमें से बहुत-सी किताबें मैंने वर्षों बाद फिर पढ़ीं। तब जाकर उनके अर्थ कुछ-कुछ खुलने लगे। लेकिन अब सोचता हूँ कि शायद अर्थ समझ लेने से पहले ही उनके साथ मेरा रिश्ता बन चुका था।

किताबें मुझे शुरू से ही अच्छी लगती थीं। यह कहना शायद अधिक सच होगा कि मुझे किताबों की उपस्थिति अच्छी लगती थी। पुरानी किताबों के पीले पड़ चुके पन्नों से उठती वह हल्की-सी सीलन मिली गंध, जिसमें समय की धूल और अनगिनत अनजाने हाथों का स्पर्श घुला रहता था, या फिर किसी बिल्कुल नई किताब के पन्ने खोलते ही फैल जाने वाली ताज़ी स्याही और काग़ज़ की ख़ुशबू-दोनों में मेरे लिए एक-सा सम्मोहन था। आज भी लगता है, किताबें पहले अपनी गंध से मन में उतरती हैं, शब्द तो बहुत बाद में अपना परिचय देते हैं।



अब बात आगे बढ़ाते हैं।

अब तक जिन पुस्तकों और पत्रिकाओं का मैं ज़िक्र किया है उन्होंने मेरी जान पहचान और मेरे मन में उनके प्रति कौतूहल भरी जिज्ञासा तो पैदा कर दी थी। परंतु मेरे भीतर उनके प्रति प्रेम जागृत किया एक बच्चों की पत्रिका ने जिसका नाम था – 'नंदन'।

ये पत्रिका मुझे मिली थी- केदार के पास, कक्का यानी कंधीलाल जी विश्वकर्मा का दूसरा बेटा; जो मुझसे एक बरस ही बड़ा था। मेरा आना जाना उनके घर इस तरह होता था जैसे मैं अपने ही घर के इस कमरे से उस कमरे जाता था। एक दिन मैंने वह पत्रिका उनके घर की एक लंबी टेबल पर रखी देखी। वह टेबल दरअसल दीवार से लगी एक लंबी अलमारी थी। जिसमें कई जालीदार दरवाज़े थे। अंदर बहुत सारा कभी कभी उपयोग में आने वाला सामान रखा हुआ था। ख़ैर मुझे उस टेबल पर 'नंदन' पत्रिका रखी दिखाई पड़ी। मैंने उसे उठाया। अलटा-पलटा। मुझे वह रंग बिरंगे चित्रों वाली पत्रिका एक नज़र में ही बहुत मज़ेदार और इंटरेस्टिंग लगी। मैं उसकी एक दो कहानियाँ और कुछ अन्य स्तम्भ उसी टेबल पर बैठे बैठे पढ़ गया। बाद में केदार से वह पत्रिका घर ले जाकर पढ़ने मांगी परंतु केदार ने ये कहकर मना कर दिया कि ये उसकी 'श्यामा

बुआ' लाई हैं। मैं कैसे ले जाने दे सकता हूँ। 'श्यामा बुआ' बहुत कड़क स्वभाव की थीं। वे कानपुर में रहती थीं। मेरी भी हिम्मत उनसे सीधे वह पत्रिका मांगने की नहीं हुई। मैं मन मारकर घर वापस आ गया। पर मन में 'नंदन' बसी रही। अगले तीन चार दिनों तक मैं कक्का के घर सिर्फ़ 'नंदन' पढ़ने जाता रहा।

'नंदन' पत्रिका का आरंभ नवंबर 1964 में हुआ था।

(इसकी शुरुआत देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के निधन के बाद उनकी स्मृति में की गई थी, और इसका पहला अंक उन्हीं को समर्पित था। सन् 1958 में एक और बहुत लोकप्रिय बाल पत्रिका 'पराग' भी छपने लगी थी।)

मुझे जब 'नंदन' पत्रिका का वह पहला अंक मिला तब तक उसके पहले हमारे घर पर 'पराग' के अंक भी बीच बीच में आ चुके थे। मैं यहाँ इन दोनों पत्रिकाओं की तुलना नहीं कर रहा। 'पराग' भी मुझे अच्छी लगती थी। किन्तु बहुत संभव है कि 'नंदन' मुझे घर लाने नहीं मिली और उसने मेरे मन में अपने प्रति एक प्यास सी जगा दी थी। इसलिए मुझे वह बहुत अच्छी लगी।

बहरहाल ये दोनों पत्रिकाएँ ही थीं जिन्होंने शब्दों के मेले का रास्ता मुझे दिखाया।

मैं उस समय आठ नौ साल का रहा होऊँगा। शुरू शुरू में पराग की कहानियाँ मुझे बाई पढ़कर सुनाती थीं। फिर धीरे धीरे मैं स्वयं वे कहानियाँ पढ़ने लगा।



इसी दौर या फिर इससे कुछ आगे पीछे- दो और पत्रिकाओं ने मुझे अपनी मुहब्बत की गिरफ़्त में बाँध लिया था। वे पत्रिकाएँ थीं 'चंदा मामा' और 'इंद्रजाल कॉमिक्स'।

'चंदा मामा' भारत की एक बेहद लोकप्रिय और ऐतिहासिक बाल पत्रिका थी, जिसने कई पीढ़ियों के बचपन को संवारा। इसकी शुरुआत जुलाई 1947 में, भारत की आज़ादी से ठीक पहले हुई थी।

इसकी शुरुआत प्रसिद्ध दक्षिण भारतीय फिल्म निर्माता और चक्रपाणि द्वारा की गई थी। यह पत्रिका सबसे पहले तेलुगु और तमिल भाषाओं में शुरू हुई थी, लेकिन बाद

में इसकी लोकप्रियता को देखते हुए इसे हिंदी, 1949 में, और फिर जल्दी ही अंग्रेजी, गुजराती, मराठी सहित 13 भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाने लगा।

चंदा मामा में कहानियों को इस तरह पेश किया जाता था जैसे घर के दादा-दादी या नाना-नानी कहानियां सुना रहे हों। इसकी अनूठी चित्रकारी बच्चों को बहुत आकर्षित करती थी।

इस पत्रिका की कहानियों का मुख्य आधार भारतीय पौराणिक कथाएं, इतिहास, लोककथाएं और पौराणिक चरित्र होते थे, जो मनोरंजन के साथ-साथ बच्चों को नैतिक मूल्य भी सिखाते थे। चंदा मामा की सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय श्रृंखला थी। हर अंक में बेताल राजा विक्रम से एक उलझा हुआ सवाल पूछता था, जिसका जवाब राजा को अपनी बुद्धिमानी से देना होता था। एक और दूसरा पात्र था पन्ना लाल, वह एक बेहद चालाक, बुद्धिमान और हाज़िर जवाब पात्र था। वह अपनी सूझबूझ से कठिन से कठिन पहेलियाँ सुलझा देता था और दुष्टों को सबक सिखाता था। मुझे इस समय बस ये दो ही पात्र याद आ रहे हैं।

साल 2007 में एक डिजिटल कंपनी द्वारा खरीदे जाने के बाद इसे आधुनिक रूप देने की कोशिश की गई, लेकिन किसी कारण से, जो मैं नहीं जानता; मार्च 2013 से इसका प्रकाशन पूरी तरह बंद हो गया। आज भी बहुत से लोग इंटरनेट पर इसके पुराने अंकों को बड़े चाव से पढ़ते हैं।

दूसरी पत्रिका- 'इंद्रजाल कॉमिक्स' भारत के कॉमिक्स इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है। साल 1964 में छपना शुरू हुई इस कॉमिक्स श्रृंखला ने भारत में चित्र कथाओं के प्रति दीवानगी की मजबूत नींव रखी थी। 60, 70 और 80 के दशक में बड़े होने वाले बच्चों और युवाओं के बीच इंद्रजाल कॉमिक्स का जबरदस्त क्रेज था।

इस कॉमिक्स श्रृंखला में कुछ विदेशी किरदारों का भारतीयकरण करके पेश किया जाता था। जिनमें से प्रमुख थे-

'वेताल', मूल रूप से 'द फैंटम' नाम के इस सुपरहीरो को भारत में वेताल या 'चलते-फिरते प्रेत' के रूप में पहचान मिली। वह इंद्रजाल का सबसे लोकप्रिय और पहला

किरदार था। इसके मूल लेखक ली फ़ाक थे। 'जादूगर मैंड्रेक', अपनी सम्मोहन कला और जादू से अपराधियों के छक्के छुड़ाने वाला एक और बेहद लोकप्रिय विदेशी किरदार। 'फ्लैश गार्डन', अंतरिक्ष और विज्ञान फैन्टेसी कहानियों का एक मशहूर नायक।

लगभग 26 सालों तक करोड़ों पाठकों के दिलों पर राज करने के बाद, वीडियो गेम्स, टेलीविजन के बढ़ते चलन और आंतरिक कारणों की वजह से दिसंबर 1989 में इंद्रजाल कॉमिक्स का प्रकाशन हमेशा के लिए बंद हो गया। इसके कुल 805 नियमित अंक प्रकाशित हुए थे। आज भी कॉमिक्स कलेक्टर्स के बीच इंद्रजाल के पुराने अंकों की भारी मांग रहती है और लोग इन्हें बहुत ऊंचे दामों पर खरीदते हैं।

जिन पात्रों का मैंने उल्लेख किया है – मैं सिर्फ़ उन्हीं की कॉमिक्स पढ़ करता था। इसके अलावा भी इस कॉमिक्स के कुछ और पात्र भी थे। लेकिन मुझे सबसे अधिक 'वेताल' की कहानियाँ पसंद थीं। वेताल के कुछ साथी थे, जो आज भी मुझे इस तरह से याद आते हैं जैसे मैं भी उनके साथ उनके बीच रहा हूँ।

'डेविल', वेताल का वफादार भेड़िया, जो दिखने में कुत्ते जैसा था लेकिन दुश्मनों के लिए काल था।

'हीरो', वेताल का वफादार सफेद घोड़ा। *'डायना पामर'*, वेताल की प्रेमिका और बाद में पत्नी, जो संयुक्त राष्ट्र में काम करती थी। *'गुर्रन'*, अफ्रीका के एक काल्पनिक जंगल *'डेंकाली'* के *'बान्दर'* कबीले का प्रमुख और वेताल का सबसे विश्वसनीय और पक्का दोस्त। *'जंगल पेट्रोल'*, एक आधुनिक पुलिस बल, जिसकी स्थापना सदियों पहले एक वेताल ने ही की थी। इसके सिपाही अपने अज्ञात कमांडर, जो कि खुद वेताल था ; के आदेशों का पालन करते थे।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इस सुपरहीरो का नाम 'द फैंटम' या 'मिस्टर वॉकर' है, जिसे 1936 में अमेरिकी लेखक ली फ़ाक ने रचा था। भारत में इंद्रजाल कॉमिक्स ने इसे 'वेताल' नाम दिया। कॉमिक्स में उसे 'चलते-फिरते प्रेत' और 'कभी न मरने वाला पुरुष' जैसी उपाधियों से जाना जाता था।

यदि मैं वेताल के निवास- खोपड़ी नुमा गुफ़ा, उसकी दोनों अंगूठियों, बांदर बौनों, वेताल की अमरता के रहस्य की बातें करने बैठ जाऊँगा, तो ये पुस्तक मेरी नहीं 'मिस्टर वॉकर' के किस्सों की किताब का रूप धारण कर लेगी इसलिए अब वेताल को उसके न भुलाये जा सकने वाली अमर कहानियों में छोड़ देते हैं और शब्दों के मेले में आगे बढ़ते हैं।



इंद्रजाल कॉमिक्स का जादू मुझ पर कुछ इस तरह चढ़ गया था कि उसके नए अंक की प्रतीक्षा मेरे लिए किसी छोटे-से त्योहार की प्रतीक्षा जैसी होती थी। मैं कई दिनों तक एक-एक पैसा जोड़ता रहता। जेब में रखे उन सिक्कों की खनक भी मुझे किसी आश्वासन की तरह सुनाई देती कि अब अगला अंक मेरा होगा।

जैसे-जैसे उसके प्रकाशित होने की संभावित तारीख़ नज़दीक आती, मेरे भीतर एक विचित्र-सी बेचैनी घर करने लगती। उस दिन मैं प्रायः बहुत सुबह उठ जाता। घर के सामने वाली सड़क पर आकर खड़ा हो जाता और दूर तक जाती सड़क को टकटकी बाँधे देखता रहता। उस समय अख़बार वाले केवल अख़बार ही नहीं, पत्रिकाएँ और कॉमिक्स भी साथ लेकर चलते थे। कुछ प्रतियाँ उनके नियमित ग्राहकों के लिए होती थीं और कुछ ऐसी, जिन्हें वे रास्ते में नकद बेच देते थे। मैं उन्हीं राह देखती आँखों में से एक था।

जैसे ही किसी अख़बार वाले की साइकिल दूर दिखाई देती, मेरा दिल अनायास तेज़ धड़कने लगता। मैं दूर से ही हाथ हिलाकर उसे रुकने का इशारा करता। कई बार वह रुक जाता, कई बार बिना मेरी ओर देखे आगे निकल जाता। तब मैं उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ता। दौड़ते-दौड़ते ही हाँफती आवाज़ में पूछता-"भैया, इंद्रजाल कॉमिक्स आई है?"

यदि उसके थैले में वह नया अंक होता, तो वह साइकिल का एक पैर ज़मीन पर टिकाकर रुकता, मैं जल्दी-जल्दी जेब से सिक्के निकालता और वह मुस्कराते हुए

कॉमिक्स मेरे हाथ में थमा देता। उस क्षण लगता, जैसे कोई बहुत बड़ी उपलब्धि मिल गई हो। हाथ में वह पतली-सी पुस्तक नहीं, पूरा एक नया संसार होता।

घर लौटकर मैं उसे तुरंत पढ़ना शुरू नहीं करता था। पहले उसके नए-नए पन्नों की स्याही और काग़ज़ की मिली-जुली ख़ुशबू को देर तक सूँघता। आज भी सोचता हूँ तो लगता है कि नई किताबों की वह गंध भी शायद पढ़ने का एक अलग ही सुख थी, जिसे शब्दों में पूरी तरह बाँधा नहीं जा सकता। फिर मैं उसके चमकीले आवरण को देर तक निहारता, शीर्षक पढ़ता, चित्रों को देखता और बहुत सावधानी से उसके पन्ने पलटता। कभी उत्सुकता रोक नहीं पाता और एक-दो पन्ने पढ़ लेता, लेकिन कई बार उसे जान-बूझकर बंद करके रख देता, ताकि दोपहर की निश्चिंत ख़ामोशी में या रात के सन्नाटे में उसे धीरे-धीरे पढ़ सकूँ। कुछ चीज़ों का आनंद एक साँस में नहीं, ठहर-ठहरकर लेने में होता है।

हाँ, कई बार ऐसा भी होता कि अख़बार वाले के पास नया अंक नहीं आता। उस दिन मन बुझ-सा जाता। लेकिन निराशा अधिक देर टिकती नहीं थी। मुझे मालूम था कि शहर में एक जगह ऐसी है जहाँ नई पत्रिकाएँ सबसे पहले पहुँचती हैं-जबलपुर रेलवे स्टेशन का पुस्तक-स्टॉल।

तब प्लेटफ़ॉर्म पर जाने के लिए टिकट लेने की बाध्यता नहीं थी, विशेषकर मेरी उम्र के बच्चों की ओर कोई विशेष ध्यान भी नहीं देता था। मैं घमापुर से पैदल ही रेलवे स्टेशन तक निकल पड़ता। वह रास्ता मुझे कभी लंबा नहीं लगता था। शायद इसलिए कि मेरे मन में गंतव्य से पहले ही उसकी ख़ुशी चलने लगती थी।

धीरे-धीरे रेलवे स्टेशन का वह पुस्तक-स्टॉल मेरे लिए केवल किताबें खरीदने की जगह नहीं रहा; वह मेरी अपनी छोटी-सी दुनिया बन गया था। जब कोई काम न होता, या यूँ ही मन ऊबने लगता, मैं पैदल-पैदल प्लेटफ़ॉर्म नंबर एक पर पहुँच जाता। वहाँ एक साथ सजी हुई नई-नई पत्रिकाएँ, उपन्यास, बाल-पत्रिकाएँ और कॉमिक्स मुझे किसी रंगीन मेले की तरह दिखाई देती थीं। उन्हें देखते हुए समय का पता ही नहीं चलता था।

मैं अक्सर संकोच से भरा रहता। किताबों को छूने से पहले भी इधर-उधर देख लेता कि कहीं दुकानदार नाराज़ तो नहीं होगा। फिर डरते-डरते किसी पत्रिका का एक पन्ना पलट लेता। उस क्षण मुझे लगता, जैसे मैं केवल काग़ज़ के पन्ने नहीं पलट रहा, बल्कि किसी दूसरी दुनिया की खिड़की धीरे-धीरे खोल रहा हूँ।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उन दिनों मैं केवल इंद्रजाल कॉमिक्स का इंतज़ार नहीं करता था। शायद अनजाने में मैं शब्दों, चित्रों और कल्पना के उस संसार की प्रतीक्षा कर रहा था, जो आगे चलकर मेरी पूरी ज़िंदगी का हिस्सा बनने वाला था। तब कहाँ मालूम था कि नई कॉमिक्स की गंध से शुरू हुई यह यात्रा एक दिन किताबों के अंतहीन संसार तक पहुँच जाएगी।

□□

इंद्रजाल कॉमिक्स से जुड़ी एक छोटी सी किन्तु बड़ी ख़ूबसूरत सी बात सहसा याद आ गई उसे बताता चलूँ। ये बात शायद मेरे मिडिल स्कूल के समय की होगी। बहुत संभव है छटी कक्षा की ही। स्कूल में हम विद्यार्थी इस बात की शेखी भी मारते थे कि हमने वेताल की बहुत पुरानी कौन कौन सी कॉमिक्स पढ़ी हुई हैं। जिन्हें इंद्रजाल कॉमिक्स पढ़ने का शौक होता वे नए अंक तो किसी न किसी तरह पढ़ ही लेते थे। चाहे स्वयं खरीद कर या किसी मित्र से मांगकर या किसी लाइब्रेरी में बैठकर या फिर किराये पर लेकर।

वेताल के शुरुआती इतिहास को विषय बनाकर भी कई अंक निकले थे। उनमें से कुछ तो मुझे 'अन्नू' के पास से पढ़ने मिल गए थे। परंतु उसकी शर्त होती थी कि वह पत्रिका या पुस्तक उसके घर बैठकर की पढ़ना पड़ती थी। पर मुझे इससे फ़र्क नहीं पड़ता था। मैं मज़े से उसके घर पर बैठकर पढ़ लेता था। वह या तो अपना होमवर्क कर रहा होता या फिर रसोई का कोई काम। जब से मैंने उसके घर जाना शुरू किया था उसके कुछ माह पहले उसकी माँ का देहांत हुआ था। पिता किसी ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्री में काम करते थे। बड़े भाई निर्मल जैन उस समय तक इंजीनियरिंग कॉलेज में गणित विभाग में व्याख्याता के रूप में काम करने लगे थे। दोनों भी पढ़ने में बहुत कुशाग्र थे और उनकी मिसालें मोहल्ले में दी जाती थीं। जब तक बड़ा भाई और पिता अपने कार्यस्थल से

लौटते थे तब तक अन्नू जिसका नाम दिनेश था, रसोई के बहुत से शुरुआती काम निपटा लेता था। बाद में पिता आकर खाना बनाते थे। मैं कोशिश करता कि उन दोनों के आने के पहले वहाँ से निकल जाऊँ।

परंतु अन्नू के पास इंद्रजाल कॉमिक्स के बहुत पुराने अंक नहीं थे। मेरे मॉडल हाई स्कूल के सहपाठी एक अंक की विशेष रूप से पूछताछ करते थे-'वेताल की मेखला'। मैं भी किताबों और अपनी पसंद की पत्रिकाओं की खोजबीन में लगा रहता था। मुझे पता चला कि हमारे ही मोहल्ले के विक्रम बाबू के छोटे बेटे के पास 'इंद्रजाल कॉमिक्स' और 'चंदा मामा' पत्रिका के पुराने अंकों का अच्छा संग्रह है। उसका नाम राजेश था और घर पर उसे पप्पू के नाम से पुकारा जाता था। वह मुझसे तीन चार बरस बड़ा था। मेरी पप्पू से कोई विशेष जान पहचान नहीं थी। वैसे भी वह और उसका बड़ा भाई दोनों बहुत ही रिज़र्व नेचर के थे। बड़ा भाई कॉलेज में था जबकि छोटा पप्पू हाई स्कूल में। वे दोनों मोहल्ले में किसी से मिलते जुलते नहीं थे। उनकी दुनिया घर और उनके कॉलेज या स्कूल तक सीमित थी। मैंने पप्पू से जान पहचान करनी शुरू कर दी। वह शतरंज बहुत अच्छी खेलता था। इस खेल में उसने कई इनाम भी जीते थे। एक अजीब संयोग था कि अन्नू भी बहुत अच्छी शतरंज खेलता था। अक्सर कुछ बड़े लड़कों में इस बात को लेकर बहस होती थी कि यदि दोनों का मैच हो तो कौन जीतेगा। ये मैच कभी हुआ या नहीं मुझे तो नहीं पता। हाँ, पप्पू से मैंने थोड़ा बहुत शतरंज खेलना सीख लिया। फिर कई बार मैं अन्नू के साथ खेला और हर बार बुरी तरह हार जाता था। फिर भी दोनों से मैंने बहुत कुछ सीख डाला। लेकिन वह खेल मुझे कभी नहीं भाया। कहाँ हॉकी का तेज़ तर्रार, रफ़्तार और मेहनत वाला खेल जिसमें निर्णय लेने के लिए अक्सर पल भर का भी समय नहीं मिलता था। और कहाँ 'शतरंज' का घंटों सोचने के बाद एक मोहरे की चाल। मैं शतरंज की बुराई नहीं कर रहा बस ये बता रहा हूँ कि क्यों मुझे शतरंज का खेल नहीं भाता था, और हॉकी का खेल इतना पसंद था।

बीच में एक दिन मैंने पप्पू से पूछ ही लिया- "तुम्हारे पास 'वेताल की मेखला' वाला अंक है क्या?"

उसने गौर से मुझे देखा फिर धीरे से कहा – "हाँ है!"

मैं भीतर ही भीतर पुलकित हो उठा, साथ ही आशंकित भी – *पता नहीं ये मुझे देखने भी देगा या नहीं?*

मैंने उससे कहा – "मुझे पढ़ने के लिए दोगे ?"

"निकालना पड़ेगा, किसी दिन टाइम मिलेगा तो निकालूँगा !!" उसके इस उत्तर ने मुझे थोड़ा निराश किया परंतु मैंने हार नहीं मानी- "अभी निकालने में दिक्कत है क्या ?"

उसने कहा- "वो अलमारी में रखी है ढूँढ़ना पड़ेगी। एक दो दिन में ढूँढ़ कर तुम्हें दूँगा।"

मेरे पास सिवाय उसकी बात मानने के कोई और चारा नहीं था।

इसके बाद भी मैंने उसे दो तीन बार और याद दिलाया हर बार में कोई ना कोई बहाना बना देता था। पर मैंने फिर भी हार नहीं मानी। एक रोज़ मैं स्कूल से घर लौट रहा था। वे बरसात के दिन थे। कुछ देर पहले पानी गिरा था। विक्रम बाबू का बँगला मेन रोड ही था। मैं उनके बँगले के सामने से गुज़र रहा था, मुझे पप्पू अपने जाफरी लगे हुए बरामदे से बाहर आ रहा था। मैं उसे देखकर रुक गया। उसने भी मुझे देखा फिर मुझे रुकने को कहा। मैं बँगले के दरवाज़े के भीतर चल गया। थोड़ी ही देर में वह एक ज़िल्द की हुई मोटी सी किताब लेकर बाहर आया। उस किताब में एक काग़ज़ फँसा हुआ था। उसने उस जगह से वह मोटी किताब खोली, वहाँ 'वेताल की मेखला' का अंक बाइंड किया हुआ था। वह पूरे एक साल के इंद्रजाल कॉमिक्स के अंकों की ज़िल्द थी। उसने मुझे वह मोटी किताब पकड़ाई और एक जायज़ सलाह दी – "अनिल इसे संभाल कर रखना, किसी और को मत देना और जल्दी वापस कर देना।"

मैं तो जैसे अपने आप में ही नहीं था। इंद्रजाल कॉमिक्स का वह स्पेशल अंक ही नहीं उस दौर के ग्यारह और अंक मेरे हाथों में थे। मैं रोमांचित था, ये सोच सोचकर कि अपने सहपाठियों को किस तरह से अपनी इस उपलब्धि के बारे में कैसे बताऊँगा।

"जल्दी निकलो कहीं फिर से पानी आ गया तो ये किताब भीग जाएगी।"

मुझे तो और ज़्यादा जल्दी थी घर पहुँचने की।

मैं घर पहुँचा, उसके बाद ही पानी गिरना शुरू हुआ। मैंने किताब टेबल पर रखी, अपना बस्ता खूँटी पर टाँगा। जल्दी से स्कूल की यूनिफ़ॉर्म बदली। और गोद में वह किताब लेकर दीवार से टिक चटाई पर बैठ गया। अभी इतना अंधेरा नहीं हुआ था कि मैं पढ़ नहीं पाता। उस समय तक हमारे घर में बिजली नहीं लगी थी। पर बाहर से आने वाली रोशनी पर्याप्त थी। मैं एक बैठक में ही 'वेताल की मेखला' पढ़ गया।

अब तक अँधेरा घना हो चला था। बाई लैंप जलाने की तैयारी कर रही थीं।

पप्पू के पास विक्रम और वेताल, दुर्गेश नंदिनी जिसके मूल लेखक 'बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय' थे एवं 'नवाब नंदिनी', प्रतापचन्द्र घोष द्वारा लिखा गया उपन्यास था जो 'दुर्गेशनन्दिनी' के ही कथा-प्रसंग और पात्रों को आगे बढ़ाते हुए रचित एक सीक्वल अथवा अनुवर्ती कृति है, आदि की भी बाइन्ड की हुई पुस्तकें थीं जो चंदमामा के पृष्ठों को निकाल कर बनाई गई थीं। मैंने इनमें से विक्रम और बेताल तथा नवाब नंदिनी उससे मांग कर पढ़ी थीं।

अब मैं 'वेताल की मेखला' के बारे में कुछ बता दूँ। मेखला का मतलब होता है बेल्ट। वेताल की पोशाक में उसकी मेखला का बहुत बड़ा महत्व था। वेताल की कहानी के अनुसार यह कोई साधारण बेल्ट नहीं थी, बल्कि सदियों पुरानी परंपरा का हिस्सा थी। इस मेखला के बीचों-बीच खोपड़ी या स्कल का बड़ा चिह्न बना होता था। मेखला के दोनों तरफ़ वेताल की प्रसिद्ध दोनों अंगूठियां और उसकी जुड़वां पिस्तौलें रखने के होल्स्टर या खोल जुड़े होते थे। कहानियों में इस मेखला को वेताल की शक्ति, न्याय और उसके 'कभी न मरने वाले रक्षक' होने के प्रतीक के रूप में दिखाया गया है।

'वेताल की मेखला' कहानी मुख्य रूप से वेताल की इस ऐतिहासिक बेल्ट को केंद्र में रखकर बुनी गई थी। कहानी में कुछ शातिर चोर या दुश्मन वेताल की इस मेखला को चुराने में कामयाब हो जाते हैं। डेंकाली के जंगलों और कबीलों में यह बात फैल जाती है कि चलते-फिरते प्रेत की मेखला चोरी हो गई है। अपराधियों और दुश्मनों को लगता है कि मेखला के बिना वेताल अपनी शक्तियां खो चुका है या वह कमज़ोर पड़ गया है। इसके बाद शुरू होता है वेताल का रोमांचक सफर, जहाँ वह अपनी मेखला को वापस पाने और चोरों को सबक सिखाने के लिए निकलता है। वह बिना अपनी

पारंपरिक पिस्तौलों और बेल्ट के भी केवल अपनी बुद्धिमानी और शारीरिक ताकत के बल पर दुश्मनों के पूरे नेटवर्क को ध्वस्त कर देता है।

इसके अलावा जो ग्यारह अंक थे। वे भी बेहद रोमांचक और वेताल तथा उसके संसार से प्यार करने वालों के लिए किसी खज़ाने से कम नहीं थे। किन्तु मैं यदि उन सबका यदि उल्लेख करने लगा तो – ये पुस्तक मिस्टर वॉकर की की कहानी बन जाएगी।

इसलिए अब मिस्टर वॉकर से विदा लेते हैं।



इसी बीच मुझे ननिहाल के आसपास की कुछ धार्मिक पुस्तकों की दुकानों पर तिलिस्मी किताबें दिखाई दे गईं। उनमें से एक दो किताबें मैंने अपनी नानी से ज़िद करके ख़रिदवाईं। हालाँकि जब नाना ने मुझे उन किताबों को पढ़ते देखा तो थोड़ा सा नाराज़ भी हुए। लिहाज़ा उनके सामने मैंने वे किताबें रख दीं। फिर दोपहर में उन किताबों को लेकर चुपचाप छत वाले कमरे में गया और वहाँ उन्हें पढ़ डाला। मुझे वे तिलिस्मी किताबें अच्छी लगीं। उन किताबों में प्रायः किसी राज्य का एक राजकुमार या युवराज हुआ करता था। जो शिकार खेलने जंगल जाता था। वहाँ उसके सामने किसी अन्य राज्य की बहुत ख़ूबसूरत राजकुमारी का अपहरण कोई जादूगर कर लेता था। फिर अपने साथियों के मना करने के बावजूद भी राजकुमार राजकुमारी को छुड़ाने आगे बढ़ जाता था। इसके बाद जादूगर का तिलिस्मी जाल शुरू होता। राजकुमार सभी तिलिस्मों को एक के बाद एक तोड़ता हुआ पत्थर की मूर्ति में बदल चुकी राजकुमारी तक तो पहुँच जाता पर उसे छुड़वा न पाता। बल्कि खुद कैद हो जाता। तब किसी तरह से उसे पता चलता कि जादूगर को मार के भी कुछ न हो सकेगा। जादूगर की जान तो किसी तोते में बंद है। अब उस तोते को तलाशने वह जादूगर की कैद से भाग निकलता। फिर और अधिक कठिन तिलिस्म और तोते की रक्षा करने एक के बाद एक जादूगर के खतरनाक और मायावी मखलूक या प्राणी मिलते जाते। राजकुमार अपनी ताक़त और बुद्धिमानी के बाल पर इन सारी रुकावटों को पार करता हुआ तोते तक पहुँचता और उसके पिंजरे से उसे निकाल कर उसकी गर्दन मरोड़ देता। जादूगर मार जाता, उसका जादुई संसार समाप्त हो जाता राजकुमार राजकुमारी के सामने अपने आप को

पाता, जो कि अब पत्थर की मूरत से वापस जीती जागती ख़ूबसूरत युवती में बदल चुकी होती। पता नहीं कैसे उसे सब कुछ पता चल जाता कि राजकुमार ने उसे जादूगर की कैद से छुड़ाने के लिए किस तरह अपनी जान दाँव पर लगा दी थी। वह राजकुमार के प्यार में दीवानी हो जाती। दोनों साथ-साथ वापस लौटते फिर उनकी शादी हो जाती।

कहानी में नाम बदल जाते, जादूगर गुफाओं की जगह पहाड़ पर बने तिलिस्मी महल में आ जाता। ऊँचे पहाड़ों की जगह गहरी, तूफ़ानी और घड़ियालों मगरमच्छों से भरी नदी आ जाती। तिलिस्मी जाल रूप बदल लेते। गहने जंगलों की जगह, सुन सपाट जलती रेत के विशाल रेगिस्तान आ जाते। जादूगर की जान तोते के बजाय किसी पुतले, किसी जादुई किताब, किसी दीवार पर लिखे विचित्र मंत्र की पहेली में छिपी होती। पर राज कुमार, राज कुमारी और जादूगर ज़रूर होते थे।

ये किताबें रिसाइकल्ड पेपर पर छपती थीं। इनकी मोटाई अधिक से अधिक पचास साठ पृष्ठ होती थी। मुखपृष्ठ पर खतरनाक सा कोई रंगीन चित्र होता जिसमें राजकुमार, राजकुमारी और खौफनाक जादूगर भी चित्रित होता था।

मैंने इन किताबों को पढ़ने के लिए एक दुकान ढूँढ़ ली थी।

घमापुर वाले हमारे घर से लगभग एक किलोमीटर से कुछ कम दूरी पर लाल माटी में स्थित एक उस समय की चाय, समोसे, आलूबंड़े, नमकीन सेव, मिकश्चर और देशी मिठाइयों की होटल जिसके साथ उसी होटल के मालिक की एक पान की दुकान भी जुड़ी हुई थी। पान की दुकान में वह ऐसी सस्ती तिलिस्मी किताबें भी किराये से पढ़ने देने और बेचने के लिए रखता था। उसने पान की दुकान के बाजू में सामने की तरफ़ एक मजबूत बांस भी गाड़ रखा था जिससे कुछ रस्सियाँ पान की दुकान से जुड़ी थीं। इन रस्सियों पर वह नई किताबें, सस्ती पत्रिकाएं टांग के रखता था। मैं पचास पैसे देकर एक किताब पढ़ लेता था। पचास पैसे बहुत महंगी दर थी जब कि किताब की कीमत केवल पैंसठ या पचहत्तर पैसे हुआ करती थी। किन्तु ये किताबें मैं ख़रीद कर घर नहीं ले जा सकता था।

पर पढ़ना तो होता था।



मेरे पढ़ने की यह रियासत इतनी लंबी-चौड़ी है कि उसका कोई दूसरा छोर आज भी दिखाई नहीं देता। समझ में नहीं आता कि किस सिरे से शुरुआत करूँ और किसे बाद के लिए छोड़ दूँ। इसलिए ठीक यही होगा कि जो स्मृति में जैसे-जैसे उभरता जाए, उसी के क़िस्से सुनाता चलूँ।

हो सकता है, स्मृति के इस धुँधलके में कुछ घटनाएँ आगे-पीछे हो गई हों। तुम्हें लगे कि उम्र और घटनाओं का हिसाब ठीक से नहीं बैठ रहा। लेकिन इतना निश्चित है कि ये सब आठ-नौ वर्ष की उम्र से लेकर तेरह-चौदह वर्ष के बीच की ही बातें हैं। अब हर घटना के साथ अपनी सही-सही उम्र जोड़ने बैठूँगा, तो बातें पीछे छूट जाएँगी और हिसाब-किताब आगे निकल आएगा। इसलिए उस हिसाब को अभी एक ओर ही रहने देते हैं।

हमारे मोहल्ले की गली के बिल्कुल आख़िरी सिरे पर एक अग्रवाल परिवार रहता था। परिवार बड़ा था-चार या पाँच भाई, माता-पिता और शायद एक छोटी-सी बहन। उनका घर भी हमारे घरों की तरह एक ही कमरे का था; हालाँकि उसे कमरा कहना उसके साथ कुछ अन्याय होगा। वह एक बड़ा-सा हॉल था। सामने एक छोटा-सा बरामदा था, जिसके एक कोने में स्नानघर बना था। बड़े हॉल के एक कोने में रसोई थी और बाक़ी जगह को अदृश्य सीमाओं से परिवार के अलग-अलग हिस्सों में बाँट लिया गया था।

उन्हीं भाइयों में से एक, अनिल अग्रवाल, मेरा मित्र बन गया। दोस्ती कैसे हुई, यह आज याद नहीं। इतना याद है कि वह मुझसे तीन-चार वर्ष बड़ा था।

उनके घर एक कैरम बोर्ड था। घर का वह कैरम बोर्ड मानो पूरे परिवार का एक सदस्य था। उस पर अक्सर खेल चलता रहता। अनिल के पिताजी बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। सच तो यह है कि वे दिन का अधिकांश समय उसी कैरम बोर्ड के सामने बैठे दिखाई देते। खिलाड़ी बदलते रहते थे, लेकिन वे जैसे उसके स्थायी साथी थे। मैंने भी उस बोर्ड पर उनके साथ न जाने कितनी बाजियाँ खेली थीं।

अनिल के पिताजी पहले चने, मूंगफली, लाई, गोलियाँ और बिस्कुट का ठेला लगाया करते थे। उम्र बढ़ने पर उन्होंने वह काम लगभग छोड़ दिया था। अब उनके दो बड़े बेटे वही ठेला चलाते थे। बड़े का नाम जय नारायण था और उससे छोटे का नाम नमो नारायण। आज सोचता हूँ तो एक बात अजीब लगती है-जब दो बेटों के नाम जय नारायण और नमो नारायण रखे गए, तो तीसरे का नाम अनिल कैसे और क्यों रखा गया होगा? यह प्रश्न अब जाकर मन में उठता है। उससे पहले कभी इस ओर ध्यान ही नहीं गया। अनिल से छोटा भी एक भाई था, लेकिन उसका नाम अब स्मृति से ओझल हो चुका है।

शायद मुझमें कोई ऐसी बात रही होगी कि जिस परिवार से भी मेरा रिश्ता जुड़ता, मैं धीरे-धीरे उसका ही एक सदस्य बन जाता। अग्रवाल परिवार के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। वे सब मुझे बहुत स्नेह करते थे। छुट्टी का दिन होता या मुझे थोड़ा भी समय मिलता, तो मैं उनके घर पहुँच जाता। और वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले अनिल के पिताजी की आवाज़ सुनाई देती- "आओ, एक बाज़ी हो जाए।" कई बार तो वे केवल मेरे साथ ही कैरम खेलते रहते।

असल में मुझे बात जय नारायण की करनी थी, लेकिन स्मृतियाँ हमेशा सीधे रास्ते कहाँ चलती हैं! वे पहले इधर-उधर भटकती हैं, फिर धीरे से वहीं लौट आती हैं जहाँ उन्हें पहुँचना होता है।

जय नारायण के ठेले के नीचे एक बड़ा-सा खाना बना था, जिसका उपयोग सामान रखने के लिए किया जाता था। लेकिन वहाँ केवल सामान नहीं रहता था। वहाँ किताबें भी रहती थीं-ढेर सारी किताबें। वही उसकी चलती-फिरती लाइब्रेरी थी। उसके कुछ नियमित ग्राहक थे, जिन्हें वह किराये पर किताबें पढ़ने के लिए देता था।

जब मुझे उसके इस छोटे-से पुस्तकालय का पता चला। मैंने भी उससे किराये पर किताबें लेना शुरू कर दिया। उसके पास कुछ पुरानी पत्रिकाएँ भी होती थीं, जिन्हें वह गुरंदी बाज़ार से खरीदकर लाता था; हालाँकि उसके संग्रह में अधिकांश उपन्यास ही थे।

शुरुआत मैंने उन्हीं पत्रिकाओं से की। जब वे समाप्त हो गईं, तो एक दिन उसने किसी अनुभवी पुस्तक-विक्रेता की तरह मेरी ओर देखकर कहा - "अब यह पढ़कर देखो," और मेरे हाथ में टार्ज़न का एक उपन्यास रख दिया।

मैंने उसे बहुत उत्साह से नहीं, बल्कि थोड़ी-सी अनिच्छा के साथ लिया था। शायद इसलिए कि उस समय तक टार्ज़न मेरे लिए केवल एक नाम था। लेकिन जैसे-जैसे पन्ने खुलते गए, एक बिल्कुल नई दुनिया मेरे सामने खुलती चली गई। जंगल, रहस्य, रोमांच और एक अनजान जीवन की गंध - सब कुछ मुझे अपने भीतर खींच ले गया।

उस एक उपन्यास के बाद फिर लौटना संभव नहीं था। जय नारायण के पास टार्ज़न श्रृंखला के जितने भी उपन्यास थे, मैंने एक-एक करके सब पढ़ डाले।

□□

टार्ज़न श्रृंखला समाप्त हुई तो अब इसके बाद जय नारायण ने मुझे एक किताब पढ़ने को दी -

'लाल रेखा', सुप्रसिद्ध और लोकप्रिय उपन्यासकार ‘कुशवाहा कान्त’, कान्त प्रसाद कुशवाहा द्वारा लिखित एक कालजयी और बेहद लोकप्रिय हिंदी उपन्यास है। यह उपन्यास पहली बार 1950 के आसपास प्रकाशित हुआ था और इसने हिंदी साहित्य जगत में पाठकों का एक बहुत बड़ा वर्ग तैयार किया।

'लाल रेखा' को हिंदी उपन्यास जगत में एक मील का पत्थर माना जाता है क्योंकि इसमें उस दौर की हिंदी उपन्यासों की लगभग सभी प्रमुख विधाओं और धाराओं का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। कुशवाहा कान्त अपनी रोमांटिक और भावुक लेखनी के लिए जाने जाते थे, और इस उपन्यास में भी मानवीय संवेदनाओं और प्रेम का बहुत सुंदर चित्रण है। इस उपन्यास में रहस्य और सस्पेंस से भरी कहानी पाठकों को बांधकर रखती है। उपन्यास में देश हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर स्थान दिया गया है। इस उपन्यास में जहाँ एक तरफ़ समाज और व्यक्ति के आपसी हितों और टकरावों को दिखाया गया है, वहीं दूसरी तरफ़ स्त्री और पुरुष की समानता की बात को भी प्रमुखता से उठाया गया है। यह उपन्यास न केवल अपने विषय बल्कि अपनी

बेहद सरल, सशक्त और काव्यात्मक भाषा-शैली के लिए भी जाना जाता है। यही कारण है कि इसे पढ़ते समय पाठक पूरी तरह से कहानी में खो जाता है।

कुशवाहा कान्त ने अपने छोटे से जीवनकाल (33-34 वर्ष की आयु) में कुल 35 उपन्यास लिखे थे, जिनमें से 'लाल रेखा' उनका सबसे लोकप्रिय और सबसे ज़्यादा बिकने वाला उपन्यास माना जाता है। 50 से 80 के दशक तक युवाओं के बीच इस उपन्यास का जबरदस्त क्रेज था।

उस समय कुशवाहा कान्त के उपन्यास केवल वयस्क पाठकों के पढ़ने की चीज़ माने जाते थे। मुझे भी इन उपन्यासों को पढ़ता देख बाई और बाबू जी दोनों ने मना किया था। लेकिन मैंने जय नारायण के पास कुशवाहा कान्त के जितने भी उपन्यास उपलब्ध थे छिपाकर सभी पढ़ डाले।

उनमें से कुछ के नाम मुझे याद हैं – 'लाल रेखा' के अलावा पारस, मंज़िल, जलन, आहुति, बसेरा, कुमकुम, नीलम, विद्रोही सुभाष, अपना पराया और भंवरा; ये सभी मैंने उस उम्र में पढ़ डाले थे।

अब बारी आई 'रांगेय राघव' के उपन्यासों की – जब जय नारायण के पास 'कुशवाहा कान्त' के उपन्यास चुक गए तब उसने 'रांगेय राघव' के उपन्यास शुरू कर दिए।

'रांगेय राघव' का मूल नाम टी.एन. श्रीनिवास आचार्य था। वे हिंदी साहित्य के बेहद प्रतिभाशाली और बहुमुखी लेखकों में से एक थे। उन्होंने बहुत ही कम उम्र, लगभग 39 वर्ष में विशाल मात्रा में साहित्य रचा। उनके उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ, इतिहास, प्रगतिशीलता और शोषित वर्ग के प्रति गहरी सहानुभूति देखने को मिलती है।

'मुर्दों का टीला', सिंधु घाटी सभ्यता/मोहनजोदड़ो की पृष्ठभूमि पर आधारित उनका सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके अलावा कब तक पुकारूँ, लोई का ताना, रत्ना की बात, भारती का सपूत, लखिमा की आंखें, घरौंदे, विषाद मठ, सीधा-साधा रास्ता, हुज़ूर, अंधेरे के जुगनू, उजली धूल आदि।

रांगेय राघव ने इतिहास, संस्कृति और आम आदमी की समस्याओं को जिस गहराई से अपने उपन्यासों में समेटा, वह उन्हें हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान दिलाता है।

इसके बाद 'वृंदावन लाल वर्मा' के उपन्यास जो जय नारायण के पास थे वे उसने मुझे पढ़वाये –

'वृंदावन लाल वर्मा' हिंदी साहित्य के सबसे प्रतिष्ठित ऐतिहासिक उपन्यास कारों में से एक माने जाते हैं। उन्हें बुंदेलखंड के इतिहास, संस्कृति और शौर्य को अपने उपन्यासों में जीवंत करने के लिए जाना जाता है। 'झांसी की रानी', 'मृगनयनी', 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'टूटे काँटे', 'भुवन विक्रम', 'कुंडली चक्र', 'प्रत्यागत', 'सत्य की खोज', 'अचल मेरा कोई' आदि उपन्यास मैंने जय नारायण की ठेले वाली लाइब्रेरी से ही पढ़े थे।

अभी भी उसके पास किताबें समाप्त नहीं हुई थीं। अब उसने मुझे जेम्स हेडली चेइज़ के उपन्यास देना शुरू किया। वे अलग अलग लेखकों द्वारा हिन्दी में अनुवादित उपन्यास होते थे। कुछ में अनुवादक का नाम होता कुछ में नहीं। ये सभी अलग अलग प्रकाशनों की पॉकेट-बुक्स के रूप में रिसाइकल्ड पेपर पर छपते थे।

देखा जाए तो जय नारायण ने अनजाने ही मेरे लिए एक ऐसे दरवाज़े की कुंडी खोल दी थी, जिसके उस पार की दुनिया मेरे हमउम्र बच्चों की दुनिया से बिल्कुल अलग थी। उस समय मुझे इसका कोई अनुमान नहीं था। मुझे तो बस इतना लगता था कि उसने मुझे पढ़ने के लिए कुछ किताबें दे दी हैं। लेकिन आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि वे किताबें नहीं थीं, वे किसी और जीवन की दहलीज़ थीं, जिस पर मेरा पाँव बहुत जल्दी पड़ गया था।

कभी-कभी सोचता हूँ, क्या हर मनुष्य के जीवन में ऐसा कोई क्षण आता है, जब बिना किसी शोर के उसकी दिशा बदल जाती है? उस समय वह क्षण बिल्कुल साधारण लगता है। उसके भीतर भविष्य की कोई आहट सुनाई नहीं देती। लेकिन वर्षों बाद स्मृति उसे छूती है तो मालूम होता है कि जीवन ने वहीं, बिल्कुल चुपचाप, अपना रास्ता मोड़ लिया था।

जय नारायण से मिलना मेरे लिए शायद ऐसा ही एक क्षण था।

मैंने उस समय ढ़ेरों किताबें पढ़ीं, मेरी उम्र के हिसाब से वे आगे की किताबें थीं। ऐसी किताबें जो मुझे कभी बाद में पढ़नी थीं – उन्हें उस नासमझ उम्र में पढ़ गया। उन किताबों ने मुझे कितना समझदार बनाया इसकी कोई नाप-जोख न मैं तब कर सका था, न आज कर पाऊँगा। किन्तु मेरे भीतर ही भीतर एक और ज़िंदगी ज़रूर सांस लेने लगी थी। जो आज भी मेरे अंदर धड़क है। एक ऐसी ज़िंदगी जो हर वक़्त कुछ तलाशती रहती है।

आज लगता है, उन किताबों ने मुझे जितना उस समय नहीं दिया, उससे कहीं अधिक बाद के वर्षों में दिया। वे मेरे भीतर कहीं सुरक्षित पड़ी रहीं। जीवन की कोई घटना, कोई विछोह, कोई प्रसन्नता या कोई अकेली शाम अचानक उनके किसी भूले हुए पृष्ठ को खोल देती। तब समझ में आता कि जिन बातों को मैं बचपन में पढ़कर निकल गया था, वे दरअसल मेरी प्रतीक्षा कर रही थीं।

उन किताबों में पढ़े हुए सफ़हों के अर्थ मुझे उस समय कितने और किन अर्थों में समझ आए थे, वे अर्थ तो उस वर्तमान ने अपने पास बचा कर रख लिया। पर वे सफ़हे मेरे साथ बाँध दिए। वे सफ़हे जैसे समय के किसी सन्दूक में रखे हुए चुपचाप मेरे साथ-साथ चल रहे हैं। अब वर्षों बाद, जीवन के किसी अप्रत्याशित क्षण में लौटकर अपना परिचय देते हैं। जब भी मुझे किसी ऐसे साथी की ज़रूरत महसूस होती है जो सही मशवरा दे, हिम्मत दे, हौसला दे, जीवन की किसी पहेली का हाल सुझाए वे सफ़हे अपने नए नए अर्थों के साथ मेरे संग आ खड़े होते हैं। शायद अच्छी किताबें इसी तरह काम करती हैं। वे पढ़े जाने के साथ-साथ हमें भी भीतर भीतर पढ़ती रहती हैं। वक़्त बे-वक़्त सामने आ जाती हैं दोस्त बनकर मसीहा बनकर मुरशिद बनकर।

जब मेरे हमजोली गली में टीप रेस, पिट्ठू या दूसरे खेलों में मग्न रहते, मैं किसी उपन्यास के पन्नों के बीच खोया रहता। बाहर से देखने वाले को यह अजीब लग सकता था। कई लोगों ने शायद यही सोचा भी होगा कि यह लड़का अपनी उम्र के बच्चों जैसा क्यों नहीं है। लेकिन सच कहूँ तो मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मैं अपने बचपन से दूर जा रहा हूँ। मैं उतनी ही शरारत करता था, उतना ही हँसता था, उतना ही भागता-दौड़ता

था। बस इतना था कि मेरे भीतर एक और दुनिया भी बस गई थी-एक ऐसी दुनिया जहाँ लोग अपने सुख-दुख लेकर चलते थे, जहाँ प्रेम था, अकेलापन था, असफलताएँ थीं, सपने थे और मनुष्य के भीतर छिपी हुई वे अनगिनत आवाज़ें थीं जिन्हें सुनने की आदत मुझे बहुत जल्दी पड़ गई।

मैं समय से पहले सयाना या उम्र दराज़ नहीं हुआ था। बचपन अपनी पूरी शरारत और उजाले के साथ मेरे भीतर मौजूद था। बस उसके साथ एक अतिरिक्त संसार भी जुड़ गया था। शायद मनुष्य का अकेलापन सबसे पहले किताबें ही पहचानती हैं। वे बिना पूछे हमारे भीतर एक ऐसी जगह बना देती हैं, जहाँ हम स्वयं से पहली बार मिलते हैं।

उन दिनों मैंने जिन ढेर सारे और भी लेखकों को पढ़ा उनमें से बहुत-से नाम अब धुँधले पड़ गए हैं। लेकिन उन पुस्तकों का वातावरण आज भी वैसा ही स्पष्ट है - पुराने काग़ज़ों की हल्की-सी गंध, ज़िल्द का खुरदरा स्पर्श, पन्ने पलटने की वह धीमी आवाज़, आस-पास बहती हवा उसकी गरम या शीतल छुअन जो शब्दों और वाक्यों पर नहीं, जैसे समय पर बिखरी रहती थी। शायद स्मृति किताबों को उनके कथानकों से नहीं, उनके आसपास फैले हुए मौन से याद रखती है।

धीरे-धीरे मैंने लोगों को भी वैसे ही पढ़ना शुरू किया, जैसे किताबों को पढ़ता था। कोई आदमी जो कह रहा है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जो नहीं कह पा रहा। किसी चेहरे पर उभरती हुई क्षण-भर की उदासी, किसी वाक्य के बाद आ जाने वाला छोटा-सा मौन, किसी हँसी के भीतर छिपी हुई थकान - ये सब मुझे आकर्षित करने लगे। मनुष्य की विकास यात्रा में शायद साहित्य का पहला संस्कार यही था कि उसने मनुष्य को घटना नहीं, रहस्य की तरह देखना सिखाया।

शायद उसी समय मेरे भीतर यह विश्वास भी जन्म लेने लगा था कि हर आदमी अपने दिखाई देने वाले चेहरे से कहीं अधिक बड़ा होता है। उसके भीतर एक और आदमी रहता है, जो अक्सर चुप रहता है। उपन्यासों के पात्र उसी मौन आदमी से मेरा परिचय कराते थे। मैं उन्हें पढ़ते-पढ़ते जाने कब अपने आसपास के लोगों को भी उसी तरह देखने लगा। बाबूजी, बाई , बुआ, पड़ोसी, अध्यापक, राह चलते लोग - सबके भीतर जैसे कोई अनकहा जीवन साँस लेता दिखाई देने लगा। यह देखने की आदत शायद

किताबों ने ही दी। मेरे भीतर केवल अनुभवों का एक अतिरिक्त कमरा बन गया था। बचपन अपनी जगह मौजूद था; उसके साथ-साथ एक ऐसी खिड़की भी खुल गई थी जहाँ से मैं उन हवाओं को महसूस करने लगा था जो सामान्यतः जीवन में बहुत बाद में आकर छूती हैं। शायद यही कारण है कि बहुत-सी घटनाएँ मुझे दूसरों की तुलना में कुछ अलग ढंग से दिखाई देने लगीं।

जीवन में ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं जो बिना किसी घोषणा के हमारी नियति की दिशा बदल देते हैं। वे स्वयं भी शायद नहीं जानते कि उन्होंने क्या किया है। जय नारायण भी शायद कभी नहीं जान पाया होगा कि उसने मेरे हाथ में केवल कुछ किताबें नहीं रखी थीं; उसने मेरे भीतर शब्दों के प्रति वह भूख जगा दी थी, जो फिर कभी शांत नहीं हुई। उसने मुझे पाठक बनने का अवसर दिया, और शायद उसी के साथ लेखक बनने की पहली, अदृश्य संभावना भी।

आज इतने वर्षों बाद, जब स्मृतियों की धूल के बीच उसका चेहरा उभरता है, तो उसके साथ वे किताबें भी चली आती हैं जिनके पन्नों से पुरानी स्याही और काग़ज़ की मिली-जुली गंध उठती थी। मैं मन ही मन उसके प्रति एक गहरी कृतज्ञता महसूस करता हूँ। जीवन में बहुत-से उपकार समय के साथ भुला दिए जाते हैं, लेकिन कुछ ऋण ऐसे होते हैं जो चुकाए नहीं जाते - सिर्फ़ स्वीकार किए जाते हैं।

जीवन में हम बहुत-से लोगों के ऋणी होते हैं। अधिकांश ऋण समय और परिस्थितियाँ चुका देती हैं। लेकिन कुछ ऋण ऐसे होते हैं जिन्हें चुकाना संभव नहीं होता, क्योंकि वे किसी वस्तु के नहीं, हमारे व्यक्तित्व के निर्माण के होते हैं। जय नारायण का ऋण मेरे ऊपर वैसा ही है। यदि शब्दों ने कभी मेरे भीतर अपना घर बनाया, यदि पुस्तकों ने मुझे जीवन की ओर देखने का दूसरा ढंग दिया, तो उसकी पहली ईंट शायद उसी ने रखी थी - इतनी चुपचाप कि उसकी आवाज़ आज भी केवल स्मृति ही सुन पाती है।



जय नारायण अपना चने, मूंगफली, गोली, बिस्कुट का ठेला लेकर सुबह हमारे घर के सामने से निकलता था। मैं वहीं उसे पुरानी पढ़ी हुई किताब वापस कर नई किताब ले

लेता था। कई बार यदि मैं घर पर नहीं होता तो मुझे पता था, वह तहसीली चौक पर सीटीओ कंपाउण्ड की दीवार से सटकर अपना ठेला लगाता था। मैं वहाँ पहुँच जाता। उन्हीं दिनों के आस पास कमला बुआ के छोटे बेटे, जिन्हें सब 'छोटे' कहते थे; ने भी विक्रम बाबू के बँगले के सामने की खाली ज़मीन पर सड़क के किनारे एक कोने में दस बारह फुट चौड़े और इतनी ही लंबाई की ज़मीन के टुकड़े पर कुछ ईंट की दीवारों, बल्लियों, बाँसों और लकड़ी के फरदों से एक गुमटी नुमा कमरा बना लिया था। बीच में लकड़ी के फरदों से ही रैक बनाया गया था। उस गुमटी को ये रैक एक तरफ़ दरवाज़े जितना हिस्सा छोड़कर दो लगभग बराबर भागों में बाँटता था। एक सामने का हिस्सा और एक पीछे का। दोनों हिस्सों में भी दरवाज़े थे। सामने के हिस्से वाला दरवाज़ा बड़ा था, जबकि पीछे वाला दरवाज़ा अपेक्षाकृत छोटा था। इस लाइब्रेरी का नाम 'छोटे भैया' ने 'राजेश पुस्तकालय' रखा था। अपने मौसेरे भाई के नाम पर।

छोटे भैया की लाइब्रेरी में लुगदी साहित्य की जासूसी और रोमैन्टिक पुस्तकें अधिक थीं। इनमें से अधिकांश इब्ने शफ़ी, वेद प्रकाश कांबोज, राज भारती, प्रकाश भारती, प्रेम वाजपेयी आदि लेखकों की पुस्तकें थीं। उन दिनों 'जासूसी दुनिया' जिसमें मुख्य तया 'इब्ने शफ़ी' के उपन्यास छपा करते थे। वे वास्तव में उर्दू जुबान में लिखते थे फिर उसका तर्जुमा हिन्दी में छपता था। जब इन उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद या रूपांतरण निकहत प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा किया गया, तो किरदारों के नाम बदल दिए गए ताकि वे हिंदी पाठकों को अधिक परिचित लगें। हिन्दी संस्करण में उनके मुख्य पात्र कर्नल विनोद और कैप्टन हमीद हुआ करते थे। जिनके नाम उर्दू संस्करण में अहमद कमाल फ़रीदी या कर्नल फ़रीदी और साजिद हमीद था, हिंदी में साजिद हमीद का केवल उपनाम 'हमीद' और पद 'कैप्टन' बनाए रखा गया था।

उनकी दूसरी सीरीज़ में 'राजेश' मुख्य पात्र के रूप में पेश किए गए थे जिनका नाम मूल उर्दू संस्करण में

अली इमरान था। इब्ने सफ़ी के इन उपन्यासों को हिंदी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के पाठकों ने बेहद पसंद किया। विशेष रूप से कर्नल फ़रीदी या कर्नल विनोद तथा कैप्टन हमीद की जोड़ी जासूसी उपन्यासों के इतिहास में अमर हो गई। मेरी पीढ़ी और मुझसे

आगे पीछे की पीढ़ियों के लोग आज भी उन दिनों को बड़ी मोहब्बत से याद करते हैं जब वे कर्नल विनोद और कैप्टन हमीद के उपन्यास बड़े चाव से पढ़ते थे और उनके नए उपन्यासों का बेसब्री से इंतज़ार करते थे। 'जासूसी दुनिया' के कर्नल विनोद या कर्नल फ़रीदी और कैप्टन हमीद सीरीज़ के कुछ चर्चित उपन्यास थे –'दिलचस्प डाकू', 'मौत की चट्टान', 'नीली रोशनी', 'जहन्नुम की रोशनी', 'खौफ़नाक इमारत' आदि।

'खौफ़नाक इमारत' यह राजेश या इमरान सीरीज़ का पहला उपन्यास था, जहाँ से अली इमरान जो कि हिंदी में राजेश के बेवकूफ़ दिखने वाले लेकिन असल में जीनियस जासूस के किरदार की शुरुआत हुई। 'लकीरें', 'भयानक आदमी', 'चट्टानों में फ़ायर', 'जॉनसन के कारनामे' आदि इस सीरीज़ के कुछ खास उपन्यास थे। मैं यदि अपनी बात करूँ तो मुझे 'विनोद-हमीद' सीरीज़ के उपन्यास ज़्यादा पसंद आते थे बनिस्बत 'राजेश' सीरीज़ के।

□□

इस तरह के दो और पुस्तकालय भी थे। एक बाई के बगीचे की पहली गली और घमापुर चौक के बीच स्थित था। उसका नाम अब स्मृति से ओझल हो चुका है। वह पुस्तकालय तीन-चार वर्षों तक बहुत अच्छी तरह चलता रहा। उसे भी एक युवक ही चलाता था, जिसका नाम अब मुझे याद नहीं रहा। चूँकि मैं उसका नियमित ग्राहक था, इसलिए उससे अच्छी-खासी जान-पहचान हो गई थी।

जब भी कोई नई किताब आती, वह उसे मेरे लिए अलग से रख लेता था। उसके यहाँ नियमित रूप से लगभग सभी लोकप्रिय पत्रिकाएँ आती थीं और लुगदी साहित्य के लगभग सभी प्रकाशनों की किताबें भी मिल जाती थीं। उसी पुस्तकालय से मैंने वेद प्रकाश कांबोज, वेद प्रकाश शर्मा, गुलशन नंदा, ओमप्रकाश शर्मा जैसे अनेक नामचीन लेखकों के जासूसी और सामाजिक उपन्यास पढ़े।

कई बार छुट्टी के दिनों में मैं एक साथ दो-तीन, बल्कि कभी-कभी चार किताबें भी ले जाता था। इस पर भी उसे कभी कोई आपत्ति नहीं होती थी। उसकी एक अच्छी आदत

यह थी कि जब वह किसी किताब को इश्यू करता, तो उस पर पुराने अख़बार का कवर चढ़ाकर देता था, ताकि किताब का मूल आवरण खराब न हो।

वह पुस्तकालय मेरे हाई स्कूल के दिनों तक चलता रहा। फिर न जाने किस कारण बंद हो गया।

इसी तरह का एक और पुस्तकालय तुलाराम चौक पर भी था। वहाँ बाई के बगीचे वाले पुस्तकालय जितनी किताबें तो नहीं थीं, लेकिन नई पत्रिकाएँ वहाँ भी आसानी से मिल जाया करती थीं।



इस बीच गोविंद नाम के एक लड़के से मेरी जान पहचान हो गई। वह मुझसे चार पाँच बरस बड़ा था। वह मेरे मित्र अशरफी लाल के घर के बगल में, घमापुर में ही रहता था। । असल में वे लोग अर्थात उसका बड़ा भाई, पिता और वह अशरफी लाल के पिता पचकौड़ी लाल के मकान में किराये दार के रूप में रहते थे । उसके पास भी बहुत सी जासूसी और सामाजिक किताबें थीं। वह कुछ और काम नहीं करता था, बस अपने घर से ही अपनी लाइब्रेरी चलाता था। जबकि उसके पिता और भाई किसी ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्री में काम करते थे। मैंने उससे भी किताबें लेकर पढ़ी थीं। जब उसे पता चला कि मैं दूसरी पुस्तकालयों से भी किताबें लाकर पढ़ता हूँ तो वह उन किताबों के बदले में अपने पास की किताबें बिना पैसे लिए मुझे पढ़ने देने लगा।

मुझे किताबें पढ़ने का इतना शौक था कि मैं पता करता रहता था कि कहाँ से किताबें पढ़ने के लिए मिल सकती हैं। इस चैप्टर को पढ़ते हुए तुम्हें लगेगा कि पूरे समय मैं सिर्फ़ जासूसी और सामाजिक उपन्यास या पत्रिकाएँ ही पढ़ता रहता था। पर ऐसा बिल्कुल भी नहीं था। मैं अपनी स्कूल, कॉलेज की पढ़ाई और हॉकी खेलने के बाद बचे समय में ही ये किताबें पढ़ता था।

मेरी ये पढ़ाई मुख्य रूप से रात को होती थी। अपनी शैक्षणिक पढ़ाई ख़त्म करके रात को मिट्टी के तेल की ढिबरी, जिसे हम चिमनी कहते थे – की रोशनी में सोने से पहले

मेरी ये पढ़ाई होती थी। घर के सब लोग सो जाते और मैं बिस्तर पर लेता हुआ सिरहाने चिमनी रखकर देर रात तक पढ़ता रहता था।

कई बार बाई या बाबू जी टोकते भी थे। कभी मैं मान जाता कभी यदि पुस्तक में मन लगा रहता तो – "बस, थोड़ी देर और" कहकर पढ़ना जारी रखता।



आठवीं कक्षा से मुझे नेशनल स्कॉलरशिप के बारह सौ रुपये साल के मिलने लगे। उन दिनों ये रकम बहुत बड़ी नहीं तो छोटी भी नहीं थी। पहले साल तो नकद रुपये कार्यालय से मिले थे। फिर नवमी कक्षा से स्कॉलरशिप चेक की शक्ल में मिलने लगी, लिहाज़ा मुझे बैंक में खाता खोलना पड़ा। मैंने स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की तुलाराम शाखा में ये खाता खोला। इसका भी एक कारण था। ये बैंक अखिलेश के घर के नज़दीक था। अब मेरी कॉपी किताबों के खर्चे का बड़ा हिस्सा इस पैसे से पूरा होने लगा। साथ ही अब मैं अपने रंग और ब्रश भी ख़रीद पाता था। इसके अलावा छोटे मोटे खर्चे भी इस पैसे से कर लेता था। जैसे नई पत्रिकाएँ ख़रीदना। इस समय तक 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' और फिल्मी पत्रिका 'माधुरी', कम से कम ये तीन पत्रिकाएं तो मैं बीच बीच में ख़रीद लेता था। तब तक 'कादंबिनी' पत्रिका भी छपने लगी थी। कई बार उसे भी मैं ले लेता था।

इन पत्रिकाओं को ख़रीदने के लिए दो मुख्य दुकानें थीं। एक तो 'साहू न्यूज एजेंसी' जो उस समय 'लॉर्ड गंज' रोड पर पुराने बस स्टैंड के सामने स्थित थी। अब ये दुकान मालवीय चौक की तरफ़ खिसककर सतना बिल्डिंग में आ गई है। दूसरी रोज़ लगने वाली और रोज़ समिटने वाली दुकान थी। यह अँधेरदेव बाजार में लगा करती थी। जबलपुर के अंधेरदेव मार्केट में तुलाराम चौक से तिलक भूमि की तलैया की ओर जाते समय दाहिनी ओर स्थित उस प्रसिद्ध और बड़े बाड़े को दीक्षित बाड़ा के नाम से जाना जाता था। उस समय इस बाड़े का बड़ा सा मेहराबदार पक्का गेट था। अब वह जगह पहचान में भी नहीं आती। इसी मेहराबदार पक्के गेट पर ही अखबारों और पत्रिकाओं की ये दुकान लगा करती थी। दीवार पर कीलें ठोक कर मजबूत रस्सियाँ बाँध दी जाती थीं, उन पर पत्रिकाएँ फँसा दी जातीं या लटका दी जाती थीं। नौवीं

क्लास में अखिलेश से दोस्ती होने के बाद से हम प्रतिदिन शाम को छह साढ़े छह बजे उसके घर से बतियाते हुए पैदल निकलते थे। हमारे मुख्य रूप से दो मार्ग थे। हम करमचंद चौक से मालवीय चौक, तीन पत्ती चौक होते हुए वापस आते या फिर करमचंद चौक से सीधे तुलाराम चौक और फिर अँधेरदेव मार्केट होते हुए लॉर्ड गंज रोड से मालवीय चौक होकर तीन पत्ती निकलते या फिर करमचंद चौक वापस आकर अखिलेश के घर आ जाते। ये दूसरा मार्ग लंबा था और इस पर तभी जाते जब किसी नई पत्रिका के आने की उम्मीद होती थी। इस रास्ते में दीक्षित बाड़े वाली दुकान पड़ती थी।

अखिलेश के घर आने के बाद भी हमारी बातें ख़त्म नहीं होती थीं। कई बार रात के दस साढ़े दस बज जाते और हम अखिलेश के घर के बाहर जो छोटा सा लोहे का गेट था उसके आस-पास या उस पर झूलते हुए अथक बातें करते रहते। शुरू शुरू में अखिलेश के घर से कोई निकालकर टोक देता और हमारी सभा विसर्जित हो जाती। मैं अपनी साइकिल उठा कर अपने घर के लिए निकाल लेता। फिर धीरे धीरे हम ढीठ होते गए। हमें टोकना भी बंद हो गया। हमारी ये बातें और देर तक जारी रहतीं। हमारे साथ कई बार अनिल दुबे भी होता। कभी हमारे गढ़ा के दोस्त भी।

इस समय तक मुझे रात सोने से पहले कुछ न कुछ पढ़ने की आदत लग चुकी थी। कुछ न कुछ मतलब शैक्षणिक विषयों से इतर।

मैं घर लौटता, सेंटर टेबल पर खाना ढँका हुआ रखा होता। खाना खाकर मैं कुछ देर उसी दिन लाई पत्रिका अलटता-पलटता, कुछ पढ़ता, फिर सोने की कोशिश करते करते सो जाता।

ऊपर जिन दो दुकानों का ज़िक्र मैंने किया है उसके अलावा दो और स्थान थे जहाँ से हम पत्रिकाएँ लेने कभी कभी चले जाते थे। एक- जबलपुर रेलवे स्टेशन का बुक स्टाल, दूसरी बस स्टैंड की पुस्तकों की दुकान।



एक दुकान का और उल्लेख करूँगा – जिसका नाम है "सुषमा साहित्य मंदिर"। एक समय जबलपुर में हिन्दी साहित्यिक किताबें मिलने का एक मात्र स्थान। वैसे "नर्मदा बुक डिपो" और "यूनिवर्सल बुक डिपो" या "यूनिवर्सल बुक सेंटर" में भी हिन्दी की साहित्यिक किताबें मिल जाती थीं। परंतु उनके यहाँ ऐसी किताबें बहुत कम संख्या में होती थीं। जबकि "सुषमा साहित्य मंदिर" में किताबों का अच्छा संग्रह था। नई प्रकाशित होने वाली अच्छी किताबें भी वहाँ नियमित आतीं थीं। वह दुकान कमानिया गेट से बड़े फुहारे जाने वाली मुख्य सड़क पर दाईं ओर एक अन्य दुकान के ऊपर पहली मंज़िल पर थी। वहाँ पहुँचने के लिए नीचे वाली दुकान के बाईं ओर ऊपर जाने की सीढ़ियाँ थीं। मुझे जब से नेशनल स्कॉलरशिप मिलने लगी थी मैं वहाँ से किताबें ख़रीदने लगा था। बचपन में जब भी मैं अपने ननिहाल जाता था तब उस दुकान की ओर बड़ी हसरत से देखता था। पर कभी उस दुकान पर नहीं चढ़ा। कुछ किताबें बाहर टाँग दी जाती थीं या शीशे के पीछे से झाँकती दिखाई पड़ती थीं, उनके टाइटल पढ़ने की कोशिश ज़रूर करता था। पहली बार उस दुकान में तभी गया था, जब मैं ग्यारहवीं में था या फर्स्ट ईयर में और मेरे पास किताब खरीदने के लिए पैसे होते थे। 1977 सितंबर में नौकरी लगने के पूर्व मेरे संग्रह में मोहन राकेश और निर्मल वर्मा की कई किताबें शामिल हो चुकी थीं। वे सभी मैंने "सुषमा साहित्य मंदिर" से ही ख़रीदी थीं। उस समय दुकान पर एक बुजुर्ग बैठते थे। सफ़ेद कुर्ता और सफ़ेद ही धोती साथ ही सफ़ेद गांधी टोपी। उम्र ज़्यादा होने के कारण मोटे कांच का चश्मा लगाते थे। उम्र के चलते ही जल्दी चिड़चिड़ा जाते थे। उनके साथ दुकान में उनका नौजवान लड़का भी बैठता था। पर गद्दी पर वे स्वयं विराजमान रहते थे। किताबें कांच लगे फ़्रेमों वाली अलमारियों से उनका लड़का ही निकालता और वापस रखता था। यदि दुकान में लड़का नहीं होता तो वे उठने की तकलीफ़ के कारण किताब उपलब्ध होने पर भी मना कर देते थे। बाद में जब मुझे कम से कम चेहरे से पहचानने लगे तो अलमारी से खुद किताब निकालने की इजाज़त दे देते थे और किताब ढूँढने भीतर के कमरे में भी जाने को कह देते थे। लेकिन किताबें सही और सुरक्षित ढंग से निकालने और वापस रखने की घुड़की भी दे देते थे।

अब ये दुकान जबलपुर के कछियाना क्षेत्र में शिफ्ट हो गई है। दुकान का नाम वही है। किन्तु अब वे नहीं हैं। दुकान पर उनका नौजवान बेटा बैठता है। जो कि अब उम्र दराज़ हो चुका है। यह दुकान जिस बिल्डिंग के निचले तल्ले पर है, वह इन्हीं की है। नीचे और भी कई दुकानें हैं जो इन लोगों ने किराये से दी हुई होंगी। अब दुकान प्रायः अनियमित हो गई है। साहित्यिक किताबों की संख्या भी बहुत कम हो गई है। उनकी जगह अब धार्मिक किताबों, जादू-टोने, तंत्र-मंत्र, ज्योतिष शास्त्र की किताबों ने ले ली है। छोटे धार्मिक गुटके इत्यादि भी गट्ठरों में बंधे बेतरतीब रखे मिलते हैं। वह अब दुकान की जगह गोदाम ज्यादा बन गई है। अब शायद इसी तरह से थोक में किताबें आस पास के क्षेत्रों में भेजी जाती हैं। समय हमेशा चीज़ों को बदलता रहता है।

पिछले दस-पंद्रह सालों से सदर स्थित 'प्रेम बुक डिपो' में अँग्रेज़ी और हिन्दी दोनों भाषाओं की पुस्तकें काफ़ी संख्या में उपलब्ध रहने लगी हैं।

लेकिन डिजिटल संसार ने बहुत कुछ बदल दिया है। इंटरनेट पर सब कुछ सहज और सस्ते दाम पर उपलब्ध हो जाता है। फिर भी छपे हुए शब्द अपनी अस्मिता और अस्तित्व किसी तरह बचाए हुए हैं।

□□

शायद मिडिल स्कूल की पढ़ाई के दौरान जब मैं एक बार 'बनखेड़ी' गया था। तब वहाँ की ग्राम पंचायत के छोटे से पुस्तकालय में मुझे हिन्दी में जासूसी उपन्यास लिखने वाले दिग्गज और वरिष्ठ लेखक ओम प्रकाश शर्मा के उपन्यास 'समुद्र में नर्क' पढ़ने का अवसर मिला। उनका ये पहला उपन्यास था जो मैंने बनखेड़ी में पढ़ा। इस घटना का विस्तृत वर्णन मैंने इस श्रृंखला के पहले खण्ड के 'बनखेड़ी कनेक्शन' चैप्टर में किया है। 'बनखेड़ी' जो कि आज के 'नर्मदापुरम' या पुराने होशंगाबाद जिले की एक तहसील है मेरा ददिहाल है जो कि उस समय एक छोटा स गाँव था। 'समुद्र में नर्क' ओम प्रकाश शर्मा जी द्वारा सृजित कई पात्रों के इर्द-गिर्द घूमती कथा पर आधारित उपन्यास है, जिसमें गोपाली, लिली, ताऊ, राजेश और बागारोफ़ आदि कई लोकप्रिय चरित्र उस उपन्यास का हिस्सा थे। ओम प्रकाश शर्मा जी द्वारा लिखित यह पहला उपन्यास था जो मैंने पढ़ा था। उस की कथा वस्तु मुझे ठीक ठीक याद भी नहीं है, उसे

तलाश के लिखूँगा तो समय लगेगा और यहाँ उसे लिखने का कोई औचित्य भी मुझे दिखाई नहीं पड़ रहा। चूँकि इस उपन्यास को पढ़ने के बाद मैंने ओम प्रकाश शर्मा जी द्वारा लिखे गए प्रायः सभी जासूसी और सामाजिक उपन्यास अलग अलग पुस्तकालयों से तलाश कर कर के पढ़ डाले थे, इसलिए इस बात का उल्लेख करना मुझे आवश्यक लगा।

तीसरी और चौथी कक्षा से लेकर बी.ई. फाइनल ईयर तक मैंने ढेरों पुस्तकें पढ़ डाली थीं। अभी तक मैंने केवल कुछ पत्रिकाओं और जासूसी उपन्यासों की बात की है, या जय नारायण के पास उपलब्ध 'रांगेय राघव', 'वृंदावन लाल वर्मा' आदि के ऐतिहासिक और साहित्यिक उपन्यासों की बात की है। पर इन उपन्यासों के साथ-साथ मैंने मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, अमृता प्रीतम, मन्नू भण्डारी, डॉ. राही मासूम रज़ा, राजेन्द्र अवस्थी, शानी, शरत चंद्र चट्टोपाध्याय, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, यशपाल, उपेन्द्र नाथ अश्क, अमृत लाल नागर, भगवती चरण वर्मा, निर्मल वर्मा, अज्ञेय, आशा पूर्णा देवी, महाश्वेता देवी, डॉ. धर्मवीर भारती, तारा शंकर वंदोपाध्याय, विमल मित्र जैसे अनेक आधुनिक साहित्य के एक से बढ़कर एक धुरंधर उपन्यास कारों को पढ़ डाला था। मुझे पता है बहुत सारे नाम यहाँ छूट भी रहे हैं। पर मैं दावे से कह सकता हूँ उस दौर में जहाँ से भी जो साहित्यिक पुस्तक मुझे मिलती सब पढ़ डालता था।

□□

बाबू जी को भी पढ़ने का शौक था। लिखने का भी। लेकिन छह बच्चों और तीन वयस्कों का परिवार इतनी छूट कहाँ देता है कि कोई निचले माध्यम वर्गीय परिवार का मुखिया अपने शौक अपने मन मुताबिक पूरे कर सके। फिर भी वे हर रविवार जब सब्जियाँ लेने गुरंदी बाज़ार जाते थे, तो जिस हिस्से में सब्जियों की दुकानें लगा करती थीं; वहाँ सीधे न जाकर पहले कबाड़ी बाज़ार जाते थे। कबाड़ी बाज़ार गुरंदी बाज़ार का एक दूसरा बहुत बड़ा हिस्सा था। वहाँ वे पुरानी पुस्तकों की दुकानों में भी किताबें खँगालते थे। उन्होंने वहाँ से कई नायाब पुस्तकें ख़रीदी थीं।

उन बेहतरीन किताबों में से भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा प्रकाशित 'शेर-ओ-सुखन' के दो भाग, शायद पहला और दूसरा उन्हें वहाँ मिल गया था। 'शेर-ओ-सुखन' उर्दू शायरी

के इतिहास, उसके विकास और प्रसिद्ध शायरों की चुनिंदा रचनाओं का एक बेहद लोकप्रिय और प्रामाणिक संकलन है।

इस ऐतिहासिक श्रृंखला के संकलनकर्ता और लेखक प्रसिद्ध उर्दू-हिंदी विद्वान 'अयोध्या प्रसाद गोयलीय' हैं। उन्होंने बेहद सरल, संवेदनशील और विश्लेषणात्मक शैली में विभिन्न शायरों और उनकी शायरी को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इन पुस्तकों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें उर्दू शायरी को देवनागरी (हिंदी) लिपि में प्रस्तुत किया गया है, जिससे वे पाठक भी उर्दू शायरी का पूरा आनंद ले पाते हैं जिन्हें उर्दू लिपि नहीं आती। इसमें केवल शायरी ही नहीं दी गई है, बल्कि प्रत्येक शायर की रचनाओं से पहले उनके जीवन, उनके व्यक्तिगत संघर्षों, उनके युग और उनकी लेखन शैली और शायरी की खूबियों का बहुत ही विस्तृत परिचय दिया गया है।

ग़ज़लों और नज़्मों में इस्तेमाल हुए कठिन उर्दू, फ़ारसी और अरबी शब्दों के सरल हिंदी अर्थ उसी पृष्ठ पर नीचे फुट नोट्स में दिए गए हैं, जिससे कविता का भाव समझना बेहद आसान हो जाता है।

साहित्यिक जगत में 'शेर-ओ-सुखन' को उर्दू और हिंदी साहित्य के बीच एक मजबूत सेतु (पुल) माना जाता है।

'शेर-ओ-सुखन' श्रृंखला का पहला भाग (प्रथम संस्करण) सन् 1951 में भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा प्रकाशित किया गया था।

इसके बाद लेखक ने इस श्रृंखला का विस्तार किया और इसके अलग-अलग भाग अगले कुछ वर्षों में प्रकाशित हुए। इस श्रृंखला के कुल 5 भाग प्रकाशित हुए हैं, जिनमें शुरुआत से लेकर सन् 1954 तक की उर्दू ग़ज़ल और शायरी के प्रामाणिक इतिहास तथा चुनिंदा कलाम को सहेजा गया है।

प्रथम भाग से लेकर पाँचवें भाग तक उर्दू शायरी के प्रारंभिक दौर के वली दकनी, मीर तक़ी 'मीर', ख़्वाजा मीर 'दर्द' और मिर्ज़ा रफ़ी सौदा जैसे शास्त्रीय युग के शायरों से लेकर शेख इब्राहिम 'ज़ौक़', मोमिन ख़ाँ 'मोमिन' और विशेष रूप से मिर्ज़ा ग़ालिब, दाग़ देहलवी, अमीर मीनाई और अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' अल्लामा इक़बाल, बृज

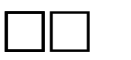
नारायण चकबस्त और अकबर इलाहाबादी फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', फ़िराक़ गोरखपुरी, मजाज़ लखनवी, साहिर लुधियानवी और जिगर मुरादाबादी तक के जीवन और उनकी शायरी का परिचय दिया गया है।

संक्षेप में कहें तो यह पाँच भागों की श्रृंखला केवल एक संकलन नहीं, बल्कि उर्दू शायरी के वली दकनी से लेकर सन् 1954 तक के करीब 250-300 सालों के इतिहास का एक मुकम्मल दस्तावेज़ है।

हमारे घर पर तो केवल दो भाग थे। लेकिन मैं उन्हें बीच बीच में अलटता-पलटता रहता था। अब कह सकता हूँ उर्दू भाषा के प्रति मेरा झुकाव शायद इन्हीं पुस्तकों की वजह से हुआ।

मुझे फुट नोट्स पर दिए उर्दू शब्दों के अर्थ देखकर एक अजीब सा आनंद आता था। हमारी हिन्दी भाषा का शब्द एक अन्य भाषा में इस रूप में उपस्थित है यह देखकर जहाँ एक ओर कौतूहल होता वहीं मैं रोमांच से भर उठता। उर्दू शब्द जो किसी ग़ज़ल में या शे'र में लिखा होता उसका अर्थ फुट नोट्स में जैसे एक पहेली के उत्तर सरीखा नज़र आता। मुझे उर्दू लिपि नहीं आती। मैंने दो बार सीखने की कोशिश की पर व्यस्तताओं की मज़बूरी में आगे नहीं बढ़ पाया।

इन पुस्तकों का ज़िक्र मैंने इसलिए किया और ज़रूरी भी था क्योंकि जो बीज इन किताबों को अलटते-पलटते मेरे मन में पड़े थे वे बेशक आज एक बड़े वृक्ष के रूप में भले ही विकसित न हुए हों। पर एक छोटे से गमले में लगे एक प्यारे से पौधे में ज़रूर तब्दील हो गए हैं। मेरे पास मेरे पुस्तकालय में देवनागरी लिपि में कई सारे ग़ज़ल संग्रह, नज़्मों और उर्दू शायरी की ढ़ेरों किताबें हैं। मैं देवनागरी लिपि में लिखी हुई उर्दू शायरी बड़े शौक से पढ़ता हूँ। ग़ालिब, दाग, मीर, फ़िराक़ गोरखपुरी, बशीर बद्र, निदा फ़ाज़ली, मुनव्वर राना, फराज़ अहमद, वसीम बरेलवी आदि मेरे पसंदीदा शायर हैं। 'रेख़्ता' (हिन्दी) के जरिए भी मेरे इस ख़ूबसूरत शौक को परवाज़ मिली है। नए पुराने शायरों के कलाम पढ़कर आनंदित होना मेरा प्रिय शगल है। जब भी समय मिलता है मैं 'रेख़्ता' के जरिए उर्दू अदब की दुनिया में घूम आता हूँ।



मैं एक साथ दो संसारों में जी रहा था। एक वह जो आँखों के सामने था - हकीकी, छू लेने योग्य, रोज़मर्रा की छोटी-बड़ी चिंताओं, स्कूल, घर और लोगों से बना हुआ संसार। दूसरा वह, जो किसी नक़्शे पर नहीं मिलता था; मिसाली, मज़ाज़ी और कल्पना का वह विराट लोक, जिसे महान लेखकों ने अपने शब्दों से रचा था।

धीरे-धीरे उन किताबों को पढ़ना भर नहीं रह गया था। मैं उनके भीतर रहने लगा था। उनके पात्र मुझे बाहर से दिखाई नहीं देते थे, वे मेरे भीतर आकर बस जाते थे। कभी लगता, मैं ही उन रास्तों पर चल रहा हूँ जिन पर वे चल रहे हैं। कभी किसी किरदार की हार मेरी अपनी हार बन जाती, किसी की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा और किसी का अकेलापन मेरे भीतर उतर आता। कई बार ऐसा भी लगता कि किताब में जो कुछ घट रहा है, वह मेरे साथ ही घटित हो रहा है; और यदि मेरे साथ नहीं भी हो रहा, तो भी मैं उसे अपने भीतर से गुज़रते हुए महसूस कर रहा हूँ। जैसे मेरी आत्मा उन घटनाओं की एक मौन साक्षी हो।

शायद यही साहित्य का सबसे बड़ा जादू है कि वह हमें किसी और का जीवन जीने की क्षमता दे देता है। मैं अपनी छोटी-सी उम्र में ही न जाने कितने लोगों की ज़िंदगियाँ जी चुका था। ऐसे नगर देखे थे जहाँ कभी गया नहीं था, ऐसे दुख झेले थे जिनसे मेरा कोई प्रत्यक्ष परिचय नहीं था, प्रेम और रिश्तों के इतने रूप मैंने अनुभव किए थे जिनका अर्थ भी तब पूरी तरह समझ में नहीं आता था। फिर भी वे सब जैसे मेरे अपने जीवन का और स्मृतियों का हिस्सा बनते जा रहे थे।

अचरज इस बात का नहीं कि मैं इतना पढ़ता था। अचरज इस बात का है कि मैंने अपनी पाठ्य-पुस्तकों और इन कथा-पुस्तकों के बीच कभी कोई संघर्ष महसूस नहीं किया। जैसे मेरे भीतर दो अलग-अलग नदियाँ बह रही थीं। एक मुझे उस जीवन की ओर ले जा रही थी जिसकी अपेक्षा परिवार और समाज मुझसे करते थे; दूसरी उस जीवन की ओर, जिसका कोई पाठ्यक्रम नहीं था, कोई परीक्षा नहीं थी, कोई प्रमाणपत्र नहीं था। लेकिन शायद वही दूसरी नदी मेरे भीतर कहीं अधिक गहरी थी। उसी के जल

में मेरी कल्पना, मेरी संवेदना और मेरा अकेलापन धीरे-धीरे अपना आकार ग्रहण कर रहे थे।

निश्चय ही इस विशाल दुनिया में ऐसा अनुभव केवल मेरा ही नहीं रहा होगा। न जाने कितने लोग होंगे जिन्होंने किताबों के सहारे अपने भीतर एक दूसरी दुनिया आबाद की होगी। लेकिन हर मनुष्य की तरह मेरे लिए मेरा अनुभव अद्वितीय था। कभी-कभी मुझे सचमुच लगता कि मेरे भीतर दो व्यक्ति रहते हैं। एक वह, जो इस दुनिया में चलता-फिरता, पढ़ता, परीक्षा देता और लोगों से मिलता था; और दूसरा वह, जो हर नई किताब के साथ किसी नए जीवन में प्रवेश कर जाता था। शायद वही दूसरा व्यक्ति धीरे-धीरे मुझे गढ़ रहा था। आज सोचता हूँ, यदि वह मेरे भीतर न होता, तो शायद मैं भी वह न बन पाता जो आगे चलकर बना।

धीरे-धीरे उन दोनों दुनियाओं के बीच की रेखा धुँधली होने लगी। कभी-कभी तो यह पहचानना भी कठिन हो जाता कि मैं किस दुनिया में हूँ। किताबें पढ़ते समय मैं केवल घटनाएँ नहीं पढ़ता था; अनजाने ही उनका हिस्सा बन जाता था। पात्रों के चेहरे मेरे परिचित लोगों से मिलते-जुलते लगने लगते। उनके घरों में जैसे मेरी भी आवाजाही हो। उनकी बेचैनियाँ मेरे भीतर अपना घर बना लेतीं। किसी अजनबी शहर की उदास सड़क पर चलता हुआ कोई पात्र मुझे उतना ही अपना लगता, जितना अपने मोहल्ले का कोई दोस्त।

कई बार किताब बंद कर देने के बाद भी वह दुनिया समाप्त नहीं होती थी। उसके लोग देर तक मेरे साथ चलते रहते। मैं स्कूल जाता, पाठ याद करता, गणित के सवाल हल करता, लेकिन भीतर कहीं कोई दूसरा आदमी किसी और रास्ते पर चल रहा होता। वह उन लोगों के साथ था जिनसे मेरा कभी वास्तविक परिचय नहीं हुआ था, फिर भी वे जाने कैसे मेरे अपने हो गए थे। आज सोचता हूँ तो लगता है, वे सब मेरे जीवन में आए नहीं थे; मैं ही उनके जीवन में चला गया था।

ऐसा अनुभव केवल मेरा ही रहा हो, ऐसा मैं नहीं मानता। न जाने कितने लोग होंगे जिन्होंने पढ़ते-पढ़ते अपने भीतर एक दूसरा जीवन बसाया होगा। लेकिन हर आदमी की तरह वह दूसरा जीवन भी अंततः उसका अपना होता है। मेरे भीतर भी एक और

'मैं' रहने लगा था - जो बाहर वाले 'मैं' से बहुत कम बोलता था, लेकिन शायद मुझे मुझसे कहीं अधिक जानता था। आज इतने वर्षों बाद भी कभी-कभी लगता है कि मेरी स्मृतियों में जो सबसे अधिक जीवित है, वह मेरा वही दूसरा स्वरूप है। वास्तविक जीवन समय के साथ बदलता गया, किन्तु वह काल्पनिक संसार अब भी कहीं वैसा ही सुरक्षित पड़ा है - किसी पुरानी किताब के उन पन्नों के बीच, जिन्हें खोलते ही बीता हुआ समय फिर से साँस लेने लगता है।

अब जो बात मुझे लिखने में संकोच हो रहा है, किन्तु फिर भी लिख रहा हूँ -

"ऊपर के पैराग्राफ़्स में जो कुछ भी मैंने लिखा है यह केवल पढ़ने की आदत का वर्णन नहीं है, बल्कि यह बताता है कि एक लेखक और चित्रकार का जन्म कैसे होता है - वह पहले अपने भीतर एक दूसरा जीवन जीना सीखता है।"



किताबों से मेरी मोहब्बत और उन्हें पढ़ने की दीवानगी के बारे में अब तक सभी जान चुके थे। घर परिवार और मोहल्ले पड़ोस के के लोग सभी। और ये भी कि मुझे किताबों से अब दूर करना एक नामुमकिन से काम को अंजाम देने की नाकाम कोशिश के सिवाय और कुछ नहीं होगा। हाँ, कुछ लोग जो मुझे पहली बार घर के आस-पास की मेरी पढ़ने की चुनिंदा जगहों पर बैठकर मुझे पढ़ता देखते तो आश्चर्य ज़रूर करते। कई बार टोक भी देते थे। बाद में यही चीज़ उनके लिए एक सामान्य दृश्य बन जाता था। ये जगहें थीं – हमारे घर के बाहर की सीमेन्ट की चौड़ी पट्टी जिस पर जूट का बोरा बिछाकर मैं बैठ कर या लेट कर पढ़ता था। दूसरी जगह थी कक्का के मकान के प्रवेश द्वार के बगल में लगा बलुआ पत्थर का लंबा-चौड़ा और कम से कम चार इंच मोटा दासा। इस दासे के ऊपर ईंटों से एक और स्टेप बना था जिसपर तराशे हुए बलुआ पत्थरों के पट्टे सीमेंट से जुड़े थे। मैं इसी स्टेप पर मज़े से बैठकर पढ़ता था। गली में लोग आते जाते रहते। मैं चुपचाप एकाग्रचित्त अपनी पढ़ाई में लगा रहता था। तीसरी जगह थी इसी मकान का ठीक ऐसा ही दासा जो हरुमल की किराने की दुकान के बगल वाले और हमेशा बंद रहने वाले लकड़ी के बड़े दरवाज़े के आगे लगा हुआ था। यह दासा और बड़ा था। चौथी जगह इन दासों के सामने हमारे गली के बाईं तरफ़ अन्नू

की बाई के मकान का मिट्टी का चबूतरा। दरअसल इस चबूतरे के बाद भुँजवा की दुकान की दीवार थी। इसी दीवार से टिके हुए बलुआ पत्थर के लगभग बारह फुट लंबे और दस इंच चौड़े तथा इतने ही मोटे पाँच छह स्तम्भ चबूतरे की जमीन पर आड़े लिटाकर रखे हुए थे। ये खंबे कक्का के मकान में लगना थे पर शेष बच गए थे। अन्नू की बाई अपना आँगन बुहारतीं तो इन्हें भी साफ़ कर देतीं थीं। मैं इन पर बैठ के या कभी कभी पथरीली ठंडी सतह का आनंद लेता हुआ लेटकर पढ़ता रहता था। इसके अलावा घर पर परछी में जमीन पर लेटकर, आँगन में या फिर तखत पर बिछे अपने बिस्तर पर लेट कर पढ़ना मुझे अच्छा लगता था। गर्मियों में मैं अपने कमरे के बाहरी दरवाज़े के समीप तकिया रख कर ठंडे फ़र्श पर लेट जाता और बंद दरवाज़े के चौड़े पटियों के बीच की झिरी से आती तपती दोपहर की तीखी रोशनी में मज़े से पढ़ता था। सर्दियों और बरसात में रज़ाई के भीतर दुबक कर सिरहाने चिमनी जलाकर पढ़ना भी मुझे बहुत भाता था।

□□

मेरी पढ़ने की इस आदत और उसका मेरी शैक्षणिक योग्यता पर किसी दुष्प्रभाव को न देखकर बाबू जी ने भी अपनी फ़ैक्ट्री की लाइब्रेरी से किताबें लाना शुरू कर दिया था। मैंने वह लाइब्रेरी तो कभी नहीं देखी किन्तु उसमें अच्छी पुस्तकों का अच्छा खासा संग्रह होगा। ये अंदाज़ा मैंने बाबू जी द्वारा लाई पुस्तकों को देख और पढ़कर लगा लिया था।

उनकी लाई किताबों में मैंने रवींद्र नाथ ठाकुर, जय शंकर प्रसाद, प्रेमचंद, भगवती चरण वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, गुरुदत्त, उपेन्द्रनाथ अश्क, फणीश्वर नाथ रेनू, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, नरेश मेहता जैसे महान मनीषियों, साहित्यकारों, ज्ञानी और गुणी जनों को उनकी रचनाओं में से झाँकते हुए जाना।

उस अपरिपक्व उम्र में उनका लिखा कितना समझ आया कितना नहीं।

सवाल इस बात का नहीं है बल्कि उनके नामों से परिचित हुआ यही बहुत बड़ी बात थी। उनके बारे में जानकर उन्हें पढ़कर मेरे मन की जो ज़मीन तैयार हुई वो क्या उन्हें

बिना जाने बन सकती थी। मैं कोई बहुत बड़ा ज्ञानी, मनीषी और विचारक तो नहीं हूँ किन्तु बिल्कुल कोरा भी नहीं रह गया।

मैं यदि कौन सा उपन्यास मुझे सबसे अच्छा लगा और क्यों ? या कौन कौन से उपन्यास किस क्रम में मुझे अच्छे लगे। यदि इन सब बातों के चक्कर में उलझ गया तो वह मेरे भूल या मूर्खता ही नहीं बल्कि गुनाह भी होगा। मेरी औकात ही क्या ! मेरी बुद्धि की बिसात ही क्या !! जो इन्हें किसी क्रम में रख सकूँ। ये सारे गुरु हैं, जिन्होंने अपने शब्दों से अपनी लेखनी और लेखन से मुझे बहुत कुछ सिखाया। इन सभी ने तो बिना भेद भाव अपना बेहतर से बेहतर मुझमें उड़ेला अब मेरे प्याले में कितना समोया ये मेरे प्याले की धारिता या समाव क्षमता के ऊपर है ना।

एक लंबे समय तक बाबूजी अपनी फ़ैक्ट्री की लाइब्रेरी से किताबें लाते रहे। जब मैं पढ़ लेता तो वापस फिर से बदल के ले आते।



अपनी हकीकी ज़िंदगी के रास्ते पर तो मैं चल ही रहा था। उसके समानांतर इस मजाज़ी राह पर भी चलता जा रहा था। इस दुनिया में मेरी बैटरी चार्ज हो जाती थी। जो मेरी वास्तविक दुनिया में काम आती थी। वरना तो मैं बेहद संवेदनशील व्यक्तित्व का मालिक था। हकीकत की दुनिया में चलना मेरे लिए बहुत कठिन था। मैं किसी भी बात को अपने नज़रिये से देखता और समझता था। वहीं गड़बड़ हो जाती थी। जैसा मुझे समझ आता मेरी प्रतिक्रिया भी वैसी होती थी। कई बार बनते काम बिगाड़ लेना, बेवजह लोगों से नाराज़ हो जाना – ऐसा मेरे साथ यदा-कदा होता रहता था। परंतु फिर कल्पना की दुनिया में मिले ढ़ेर सारे नेकबख़्ती के पाठ मुझे रास्ते पर ले आते थे।

मैं इतना संवेदनशील कैसे बन गया – ये एक पेचीदा सवाल है जिससे बाद में कभी उलझेंगे।

अभी मैं एक छोटी सी घटना सुनाता हूँ जो अचानक याद आ गई।

जबलपुर में एक साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों से सरोकार रखने वाली संस्था है 'मिलन', जो अभी भी अस्तित्व में है। वह उस समय बहुत अधिक क्रियाशील

थी। उस संस्था के द्वारा उस समय बहुत सारी साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ और प्रतियोगिताएँ स्कूली बच्चों के लिए आयोजित की जाती थीं। इन प्रतियोगिताओं में जबलपुर के प्रायः सभी स्कूल भाग लेते थे। मॉडल हाई स्कूल के बच्चे भी इन प्रतियोगिताओं में बढ़ चढ़ कर भाग लेते थे और इनाम जीतते थे। शालेय स्तर पर तो प्रतियोगिताओं का पुरस्कार 'मिलन' संस्था के द्वारा शील्ड या कप के रूप में विजेता , उपविजेता स्तर पर दिया ही जाता था। परंतु व्यक्तिगत स्तर पर भी छात्रों को सर्टिफिकेट्स और इनाम दिए जाते थे। ये इनाम अक्सर पुस्तकों के रूप में होते थे। सर्टिफिकेट और इनाम की पुस्तकें स्कूलों में भेज दी जाती थीं। ताकि वहाँ उपयुक्त अवसरों पर वितरित की जा सकें। शालेय स्तर की शील्ड या कप 'मिलन' द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में किसी गणमान्य व्यक्ति के कर कमलों से प्रदान किये जाते थे। कई बार यह कार्यक्रम हमारे स्कूल के सभा कक्ष में आयोजित होता था। जब मैं ग्यारहवीं कक्षा में था। तब शालेय स्तर पर चित्रकला समिति का अध्यक्ष था। मुझे और साहित्य समिति के छात्र अध्यक्ष को व्यक्तिगत इनाम के सर्टिफिकेट और पुस्तकें लेने 'मिलन' संस्था के ऑफिस भेजा गया। उस समय हमें वहाँ 'मोहन शशि' जी और एक दो लोग और मिले। उस कमरे के एक कोने में नई किताबों का ढ़ेर लगा हुआ था। कुछ किताबों के कवर पर उनके शीर्षक और लेखकों के नाम दिखाई दे रहे थे। वह ढ़ेर हिन्दी साहित्य जगत के नए पुराने प्रसिद्ध लेखकों की पुस्तकों का ढ़ेर था। मैं उन्हें गौर से देखने लगा और सोचा क्या ही अच्छा हो यदि इन्हीं में से इनाम की पुस्तकें चुनी जाएँ। मोहन शशि जी और उनके साथ के लोगों ने पहले हमें सर्टिफिकेट्स की गड्डी थमाई। फिर एक लिस्ट निकाली जिसमें हमारी शाला के विभिन्न प्रतियोगिताओं में विजेता छात्रों के नाम और उनका स्थान प्रथम, द्वितीय, तृतीय, प्रशंसनीय और सांत्वना पुरस्कार आदि लिखा था। अब उन्होंने हमें दो बड़े जूट के बोरे दिए और लिस्ट के अनुसार उसी ढ़ेर में से बहुत त्वरित चयन करते हुए किसी पुरस्कार में तीन किसी में दो किताबें हमें थमानी शुरू कर दीं। जल्दी ही यह प्रक्रिया पूरी हो गई। हम दोनों के बोरे आधे से अधिक भर चुके थे। जो पुस्तकें हमें मिली थीं, वे मेरे दृष्टि में खज़ाना थीं। हम रिक्शे में बैठकर स्कूल लौटे। साहित्य कक्ष में उपस्थित गोंटिया सर ने वे किताबें वहाँ पड़ी हुई टेबलों पर जमवा दीं। एक बार फिर मैं उन किताबों को बड़ी हसरत से छूता

और टेबल पर जमा देता। मुझे भी कई पुरस्कार प्राप्त हुए थे। मैं तय नहीं कर पा रहा था इनमें से कौन कौन सी किताबें मुझे मिलनी चाहिए।

बहरहाल किताबें जम गईं , सर्टिफिकेट्स भी गोंटिया सर ने ले लिए। हमें वापस अपनी कक्षाओं में जाने के लिए कह दिया।

इसके बाद तीन चार दिन बीत गए। पुरस्कार नहीं बँटे।

मैं रोज़ सोचता शायद आज दोपहर की प्रार्थना के समय बँटेंगे। उन्हीं किताबों में से मुझे कौन कौन सी किताबें मिलेंगी इसकी कल्पना करता।

फिर चौथे या पांचवें दिन वह दिन भी आ गया।

दोपहर की प्रार्थना सभा में मैंने देखा प्रार्थना मंच से कुछ हटकर एक टेबल रखी थी, जिसपर किताबों की तीन चार ऊँची ऊँची गड्डियों जमी हुई थीं। मैं अपनी कक्षा की पंक्ति में दूसरे या तीसरे नंबर पर खड़ा होता था। मुझे स्पष्ट दिखाई दिया के ये पुस्तकें वे नहीं थीं जो हमें 'मिलन' संस्था से प्राप्त हुई थीं। ये तीन चार प्रकार की एक सी किताबें थीं जो कि उनकी ज़िल्द और एक सी मोटाई से समझ में आ रही थीं। प्रार्थना के पश्चात प्रिन्सपल सर के हाथ से सर्टिफिकेट और किताबें विजेता छात्रों को उनके द्वारा अर्जित स्थान के आधार पर की गईं। प्रथम आए विद्यार्थियों को तीन पुस्तकें और इसी तरह द्वितीय और तृतीय को दो तथा एक किताब मिली। प्रशंसनीय और सांत्वना पुरस्कार पाने वालों को केवल सर्टिफिकेट प्रदान किये गए। मुझे भी सात आठ किताबें मिलीं लेकिन चूँकि वे किताबें उनमें से नहीं थीं जो हम इनाम के रूप में लाए थे , मेरे मन को बहुत ठेस पहुँची। जो पुस्तकें हमें दी गईं वे सरकारी योजनाओं से संबंधित शोध या प्रचार प्रसार की मुफ़्त बाँटी जाने वाली पुस्तिकाएँ और कुछ मोटी किताबें भी थीं। उनका अपना महत्व और मोल था। किन्तु . . .

वे किताबें कहाँ गईं जो हम मिलन संस्था के ऑफिस से लाए थे ?

इस प्रश्न का उत्तर मुझे कभी नहीं मिला। आज तक भी नहीं। मैं इस विषय में कोई टिप्पणी नहीं करूँगा। हाँ आज भी जब ये घटना याद आती है तो मन कचोटता तो है।



मैं जब तक उन महान लेखकों और उनकी उन कृतियों के बारे में बात नहीं करूँगा जिन्होंने मुझे प्रभावित किया तब तक मेरा ये 'शब्द तिलिस्म' अध्याय पूरा नहीं होगा। मैंने शुरू में ही कहा है कि ये मेरे बूते से बाहर की बात है जो मैं इन महान लेखकों की कोई फेहरिस्त बना सकूँ और उन्हें कोई क्रम दूँ। इस समय मुझे मुझे जिस लेखक की याद आ रही है, उनका नाम डॉ. एस. एल. भैरप्पा है। वे कन्नड़ भाषा के शीर्ष और बेहद लोकप्रिय उपन्यासकार, दार्शनिक और पटकथा लेखक थे। वे आधुनिक भारत के सबसे चर्चित और बिकने वाले गंभीर लेखकों में गिने जाते हैं। उनके उपन्यासों में गहन शोध, भारतीय इतिहास, संस्कृति और दार्शनिक विचारों का अद्भुत समाग़म देखने को मिलता है। उनका जन्म 20 अगस्त 1931 को कर्नाटक के हासन जिले के संतेशिवारा नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनका निधन 24 सितंबर 2025 को 94 वर्ष की आयु में बेंगलुरु में हुआ। बचपन में ही प्लेग महामारी के कारण उन्होंने अपनी माँ और भाइयों को खो दिया था। उन्होंने बेहद गरीबी का सामना किया और अपनी शिक्षा का खर्च चलाने के लिए कई तरह के काम किए। कुछ समय के लिए वे मुंबई चले गए थे जहां उन्होंने रेलवे कुली के रूप में भी काम किया और साधुओं के साथ भी समय बिताया। कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने पढ़ाई जारी रखी और मैसूर विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की और बाद में महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय (बड़ौदा) से पीएचडी (डॉक्टरेट) की। वे पेशे से प्रोफेसर भी रहे और 1991 में मैसूर के क्षेत्रीय शिक्षा कॉलेज से सेवानिवृत्त हुए।

मैंने सर्व प्रथम उनका लिखा हुए वृहत उपन्यास 'पर्व', हिन्दी में अनुवादित रूप में पढ़ा था। यह महाभारत पर आधारित उनका सबसे प्रसिद्ध और कालजयी उपन्यास माना जाता है। इसमें उन्होंने महाभारत की कथा को एक आधुनिक, व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। भैरप्पा अपने उपन्यासों को लिखने से पहले कई वर्षों तक उस विषय पर गहन अध्ययन और यात्राएं करते थे।

दर्शनशास्त्र की पृष्ठभूमि होने के कारण उनके पात्रों के बीच होने वाले संवाद जीवन, मृत्यु, नीति और समाज के गहरे रहस्यों को टटोलते हैं। जो अन्य दो उपन्यास मैंने पढ़े

थे वे हैं- 'गृह भंग', जो कि ग्रामीण भारत के पारिवारिक और सामाजिक ताने-बाने को दर्शाने वाली यह उनकी एक अत्यंत मर्मस्पर्शी रचना है। दूसरा 'वंश वृक्ष', यह उपन्यास इस बुनियादी सवाल को उठाता है कि वास्तव में "वंश क्या है?" - क्या यह सिर्फ जैविक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ने वाला खून का रिश्ता है, या यह वैचारिक और सांस्कृतिक मूल्यों की एक निरंतरता है? यह उपन्यास दिखाता है कि कैसे कठोर नियम इंसानी भावनाओं और रिश्तों को तबाह कर देते हैं। उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार (1975) के अलावा पद्म श्री (2016) और पद्म भूषण (2023) से भारत सरकार द्वारा अलंकृत किया गया।

रवींद्र नाथ टैगोर, बंकिम चंद्र चटर्जी और प्रेमचंद जैसे महान लेखकों की तरह डॉ. भैरप्पा ने भी अखिल भारतीय अस्मिता और सांस्कृतिक चेतना को अपने साहित्य के माध्यम से पुरज़ोर तरीके से जीवंत रखा।

भले ही मैंने उनके अब तक तीन ही उपन्यास पढ़े हैं वे भी मूल कन्नड में नहीं बल्कि उनके हिन्दी अनुवाद परंतु उनकी विषय पर पकड़, गहन शोध और दार्शनिक रंग में रँगे उनके द्वारा रचे गए दृश्य और पात्रों द्वारा बोले गए संवादों की गहराई मुझे भी खींच कर उस दृश्य का हिस्सा बना देती थी। ये मैं आज इतने बरस बाद भी कह सकता हूँ। मैंने अपनी इस कहानी को लिखने के अलावा ढ़ेर सारी अप्रकाशित कविताएँ भी लिखी हैं। एक अधकचरा स उपन्यास 'बिखरे बिखरे', कई कहानियाँ और कविताएँ भी अपने कॉलेज के दिनों में लिखी थीं। लेकिन जाने किन कुंठाओं और नकारात्मक भावनाओं के वशीभूत हो उन सबको अग्नि के हवाले कर दिया। ये क़िस्सा तो सुनाना ही पड़ेगा जो मैं आगे सुनाऊँगा। हाँ बाद में लिखी कविताएं सुरक्षित हैं। मेरी अपनी कहानी श्रृंखला का ये दूसरा खंड प्रकाशित होते ही उन्हें पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करने का प्रयास करूँगा। फिर तीसरे और चौथे खंड की बारी आएगी।

मैं कुछ भी लिखने के पहले थोड़ा बहुत शोध तो करता ही हूँ। इन सफ़हों में बात मेरे किस्सों की हो रही है। मैंने भी खुद अपनी कहानी लिखने के लिए कुछ बचे हुए पुरनियों से बातें कीं, कुछ हमजोलियों को टटोला, उन स्थानों पर कई बार गया जो मेरी कहानी का हिस्सा थे। मुझे लगता है यह मुझपर 'भैरप्पा' के उपन्यासों का ही असर है। मेरी

बातों में 'दर्शन' भी आ जाता है, चाहे जिस भी कच्चे-अधपके रूप में, ये भी शायद उनकी लेखनी का प्रभाव है।



मैंने कई अन्य भाषाओं के उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद पढ़ा है। उनमें आशा पूर्णा देवी एक महत्वपूर्ण नाम है। वे बांग्ला साहित्य की एक अत्यंत प्रतिष्ठित और लोकप्रिय उपन्यासकार व कवयित्री थीं और बीसवीं शताब्दी की उन गिनी-चुनी महिला रचनाकारों में से हैं, जिन्होंने अपने लेखन के जरिए भारतीय समाज, विशेषकर महिलाओं की स्थिति और उनके आंतरिक संघर्षों को बेहद गहराई से उजागर किया।

वे 8 जनवरी 1909 को उत्तरी कलकत्ता (अब कोलकाता) में एक मध्यम वर्गीय परिवार में जन्मीं और उनका निधन 13 जुलाई 1995 को हुआ।

इन्होंने 200 से अधिक पुस्तकें लिखीं। मैंने उनकी लिखी त्रयी (ट्रिलॉजी) के हिन्दी अनुवाद पढ़े। जो उनके सबसे प्रसिद्ध और कालजयी तीन उपन्यासों की श्रृंखला है, जिसे बांग्ला साहित्य का मील का पत्थर माना जाता है – पहला उपन्यास 'प्रथम प्रति श्रुति', यह उनकी सबसे श्रेष्ठ रचना मानी जाती है, जिसमें 19वीं सदी के अंत में एक महिला (सत्यवती) के अधिकारों और समाज के खिलाफ उसके संघर्ष को दिखाया गया है। दूसरा- 'सुवर्णलता' इसमें सत्यवती की बेटी सुवर्णलता के जीवन के माध्यम से महिलाओं की सामाजिक बेड़ियों और उनके मानसिक द्वंद्व को दर्शाया गया है। जबकि तीसरा उपन्यास है, 'बकुल कथा' यह इस श्रृंखला की तीसरी कड़ी है, जो आधुनिक दौर की महिला की स्थिति पर बात करती है।

उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार सन् 1976 में मिला, वे इस सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान को पाने वाली पहली महिला थीं। उन्हें यह पुरस्कार 'प्रथम प्रतिश्रुति' के लिए मिला था। भारत सरकार के द्वारा भी उसी साल उन्हें नागरिक सम्मान 'पद्म श्री' से सम्मानित किया गया।

ये उपन्यास मुझे इतने अच्छे लगे थे कि इन्हें मैंने अपने एक करीबी मित्र को भेंट किये। फिर लगा इन्हें मेरे संग्रह में भी होना चाहिए, इसलिए पुनः ख़रीदे, आज भी ये तीनों उपन्यास मेरी अपनी लाइब्रेरी में हैं।



'गण देवता' बांग्ला साहित्य के महान उपन्यासकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय द्वारा रचित एक अत्यंत प्रसिद्ध और कालजयी उपन्यास है। यह पहली बार वर्ष 1942 में प्रकाशित हुआ था। इस महान कृति के लिए लेखक को वर्ष 1966 में भारतीय साहित्य के सर्वोच्च सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद मैंने शायद कॉलेज के समय में पढ़ा था। यह उपन्यास बंगाल के एक काल्पनिक गांव 'शिवकालीपुर' की पृष्ठभूमि पर आधारित है। इसमें ग्रामीण समाज के जीवन, वहाँ की गरीबी, अज्ञानता, शोषण और पुरानी व्यवस्था के टूटने की कहानी दिखाई गई है। इस कहानी का नायक गांव का एक आदर्शवादी शिक्षक है, जो उपन्यास का केंद्रीय पात्र है। वह गांव वालों के अधिकारों, अन्याय के खिलाफ और सामाजिक सुधार के लिए लगातार संघर्ष करता है। इस लड़ाई में वह अपना परिवार तक खो देता है, लेकिन हार नहीं मानता।

उनका एक और उपन्यास जो मेरे संग्रह में है उसका नाम है 'हँसुली बाँक की उपकथा' जो कि ताराशंकर बंद्योपाध्याय की सबसे महान और अद्भुत रचनाओं में से एक है। 1947 में प्रकाशित यह उपन्यास बांग्ला साहित्य में एक मील का पत्थर माना जाता है। 'हँसुली' महिलाओं के गले में पहना जाने वाला एक पारंपरिक आभूषण होता है। 'बाँक' का अर्थ होता है मोड़। 'कोपाई' नदी जहाँ पर हँसली के आकार में बहुत बड़ा मोड़ लेती है, उसी क्षेत्र को 'हँसुली बाँक' कहा गया है। यह उपन्यास इसी नदी के मोड़ पर बसे लोगों की कहानी है।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय के उपन्यास पढ़ते हुए धीरे-धीरे यह एहसास होने लगता है कि उनके यहाँ गाँव केवल वह जगह नहीं है जहाँ कहानी घटती है। वह स्वयं कहानी का एक जीवित पात्र है-साँस लेता हुआ, बदलता हुआ, अपने सुख-दुख के साथ हमारे सामने खड़ा हुआ।

उनकी निगाह किसी एक आदमी पर नहीं ठहरती। वह पूरे गाँव को देखते हैं-उसके परिवारों, जातियों, रिश्तों, संघर्षों और बदलती हुई दुनिया को। उनके पात्र देवता भी नहीं हैं और खलनायक भी नहीं। वे हमारी-आपकी तरह साधारण लोग हैं, जिनकी अच्छाइयाँ और कमजोरियाँ साथ-साथ चलती हैं।

उनकी भाषा में लोक जीवन की सहज गरमाहट है। लोक भाषा, मुहावरे, लोकगीत और गाँव की परंपराएँ बिना किसी प्रयास के उनकी कथा में घुली रहती हैं। खेत, नदी, जंगल, वर्षा और ऋतुएँ भी केवल दृश्य नहीं रचतीं; वे पात्रों के मन और उनके भाग्य के साथ चलती प्रतीत होती हैं।

उनकी कथा कहीं भागती नहीं। वह जीवन की तरह धीरे-धीरे खुलती है। इसी धीमे प्रवाह में मनुष्य का दुख, उसका संघर्ष, उसकी हार और फिर भी जीते रहने की उसकी अद्भुत इच्छा हमारे सामने आकार लेती है।

यदि प्रेमचंद ने भारतीय गाँव के सामाजिक यथार्थ को उसकी सच्चाई के साथ सामने रखा, तो ताराशंकर जी ने उसी गाँव के सामूहिक जीवन, उसकी लोक-संस्कृति और उसकी धड़कनों को एक विराट कथा का रूप दे दिया।

□□

तुम्हें यह सवाल ज़रूर सूझ सकता है कि मैंने ताराशंकर बंद्योपाध्याय के केवल दो ही उपन्यास पढ़े हैं, फिर उनके लेखन के बारे में इतने विश्वास से कैसे कह रहा हूँ।

इसका सीधा-सा उत्तर है। 'गणदेवता' उनका प्रतिनिधि उपन्यास माना जाता है। किसी बड़े लेखक को समझने के लिए कभी-कभी उसकी एक-दो प्रतिनिधि कृतियाँ ही बहुत कुछ बता देती हैं।

दूसरी बात, जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब किसी लेखक के बारे में कोई राय बनाने, किसी स्थान के बारे में कुछ कहने, किसी ऐसी घटना जिसका सीधा संबंध मुझसे न हो किन्तु मेरे क़िस्से में उसका उल्लेख मुझे ज़रूरी लग रहा हो - का वर्णन करने से पहले मैं थोड़ी खोज-ख़बर भी कर लेता हूँ। फिर जो समझ बनती है, उसी के आधार पर अपनी बात कहता हूँ।

मुझे लगता है, यह उत्तर तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान कर देगा।

लेकिन साथ ही अब इस जगह पर आकर मुझे यह भी लगने लगा है – कहीं तुम्हें ये सब उबाऊ तो नहीं लग रहा। क्योंकि यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि जो बात मुझे अच्छी लगे वह तुम्हें भी उतनी ही इंटेरेस्टिंग लगे इसलिए अब मुझे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कम से कम ये अनुमान लगाना पड़ेगा कि जो कुछ मैं लिखूं उसमें इतना आकर्षण तो हो कि वह तुम्हें मेरे क़िस्से को पढ़ने के लिए प्रेरित करता रहे। लेकिन इस कड़ी में मैं एक नाम और जोड़ना चाहूँगा – 'अमृत लाल नागर' का, उनके विषय में कोई बात किये बिना मैं अपने आप को नहीं रोक पाऊँगा।

उसके बाद थोड़ा विषयांतर करूँगा।

उनके लिखे हुए उपन्यासों में 'अमृत और विष' जो 1966 में छपा था, उनका सबसे प्रसिद्ध उपन्यास माना जाता है, जिसके लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था। इसमें भारतीय समाज के अंतर्विरोधों, अच्छाइयों और बुराइयों का व्यापक चित्रण है। बूंद और समुद्र, मानस का हंस, खंजन नयन, महाकाल, सुहाग के नूपुर, शतरंज के मोहरे, करवट, पीढ़ियाँ और 'अब मैं नच्यो बहुत गोपाल' उनके अन्य महत्वपूर्ण और लोकप्रिय उपन्यास हैं। महाकाल और पीढ़ियाँ छोड़कर अन्य सभी उपन्यास मेरे संग्रह में हैं।

नागर जी की भाषा अत्यंत सरल, स्वाभाविक और जनसामान्य के करीब है। उन्होंने लखनऊ की स्थानीय रंगत, अवधी के पुट और बोलचाल के मुहावरों व लोकोक्तियों का ऐसा सटीक प्रयोग किया है कि दृश्य आँखों के सामने जीवंत हो उठता है। उनकी शैली में एक पारंपरिक भारतीय किस्सागो या दास्तानगो जैसी रवानगी है। वे पाठक से सीधे संवाद करते हुए प्रतीत होते हैं, जिससे पाठक कहानी से अंत तक बंधा रहता है। उनकी शैली में एक अंतर्धारा व्यंग्य और हास्य की भी बहती है। वे सामाजिक कुरीतियों, पाखंड और विसंगतियों पर गहरा प्रहार करते हैं, लेकिन उनकी भाषा कभी कड़वी नहीं होती; उसमें एक सहज विनोद भाव बना रहता है।

‘कहाँ राजा भोज कहाँ गंगू तेली’ कहावत मैं पहले लिख देता हूँ, फिर अपनी बात करूँगा। उनकी किस्सागोई शैली, पाठक से सीधे संवाद करने वाली बात मुझे अपने लेखन में भी दिखाई देती है। मैं इसे अपनी बात करने का सबसे सुग़म और सुनने वाले को प्रभावित करने की क्षमता रखने वाला तरीक़ा मानता हूँ। उन जैसे महान लेखक से अपनी तुलना करने की धृष्टता मैं भला कैसे कर सकता हूँ। यहाँ इस बात के पीछे मेरी मंशा सिर्फ़ ये बताने की है कि उन्हें पढ़ने के बाद मुझे लगता है, मेरी लेखनी; मेरी अपनी क्षमता और काबिलीयत के अनुसार कुछ और भी परिष्कृत हो गई है। जिसका पूरा श्रेय मैं उन्हें देता हूँ।



चलो अब थोड़ा सा ब्रेक लेते हैं। विषयांतर करते हैं, फिर कुछ देर बाद इस जगह वापस आएँगे।

मैंने अपने जीवन के संस्मरणों की शृंखला *'कुछ याद रहा, कुछ बिसर गया'* के पहले खंड में अपने ननिहाल के उस गोदाम का उल्लेख किया था, जिसकी मुख्य देहरी के बाईं ओर रद्दी के काग़ज़ों के गट्ठरों का एक छोटा-सा पहाड़ खड़ा रहता था। उन्हीं गट्ठरों के बीच मेरे लिए किसी अनदेखे ख़ज़ाने का द्वार छिपा हुआ था। मैं अक्सर उनमें से कोई-न-कोई किताब खींच निकालता और उसे अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि समझता।

मैं जब भी ननिहाल में होता, ऐसे ही किसी अवसर की ताक में रहता। जैसे ही छोटी नानी गोदाम का ताला खोलतीं, मैं भी उनके पीछे-पीछे भीतर घुस जाता। मुझे मालूम होता था कि यह मोहलत बहुत थोड़ी देर की है। अभी कुछ ही क्षणों में छोटी नानी मुझे बाहर निकल जाने के लिए कह देंगी और दरवाज़ा फिर बंद हो जाएगा।

गोदाम के भीतर कदम रखते ही एक बेहद अजीब, लेकिन नशीली-सी गंध मेरा स्वागत करती थी। आज सोचता हूँ तो लगता है, वह गंध नए-पुराने रद्दी काग़ज़ों और किताबों, लाख की चूड़ियाँ और कंगन बनाने में इस्तेमाल होने वाले पदार्थों, लकड़ी के पुराने साँचे, धूल, और वर्षों से अधिकतर समय बंद रहने वाले उस अँधेरे कमरे की मिली-जुली साँस थी। उस गंध को शब्दों में बाँध पाना आज भी मेरे लिए असंभव है। बस

इतना कह सकता हूँ कि उसमें एक विचित्र-सी मादकता थी। इतने बरस बीत जाने के बाद भी उसकी स्मृति मेरे भीतर वैसी ही बसी हुई है। कई बार तो मुझे लगता है कि मैं किताबों से अधिक उस गंध के आकर्षण में उस गोदाम की ओर खिंचा चला जाता था। शायद पुस्तकों के साथ मेरा पहला प्रेम केवल शब्दों से नहीं, उनकी गंध से भी शुरू हुआ था।

मेरे नाना ने कुछ समय तक रद्दी का कारोबार भी किया था। उसी कारण वहाँ पुराने अख़बारों, पत्रिकाओं और किताबों के बंडल पड़े रहते थे। लेकिन गोदाम का असली प्रयोजन कुछ और था। वहाँ लाख की चूड़ियाँ और कंगन बनाने का बहुमूल्य सामान, साँचे, औज़ार और दूसरी सामग्री सँभालकर रखी जाती थी। इसलिए वह गोदाम रोज़ नहीं खुलता था। उसका दरवाज़ा तभी खुलता, जब कारीगरों को चूड़ियाँ या कंगन बनाने के लिए कोई सामान निकालना होता।

उस गोदाम की चाबियाँ हमेशा मेरी छोटी नानी के पास रहती थीं। वे किसी को चाबी नहीं सौंपती थीं। स्वयं ताला खोलतीं, कारीगरों से ज़रूरी सामान निकलवातीं, फिर अलमारियाँ बंद करतीं और अंत में गोदाम का दरवाज़ा भी।

मैं जब भी ननिहाल में होता, ऐसे ही किसी अवसर की ताक में रहता। जैसे ही छोटी नानी गोदाम का ताला खोलतीं, मैं भी उनके पीछे-पीछे भीतर घुस जाता। मुझे मालूम होता था कि यह मोहलत बहुत थोड़ी देर की है। अभी कुछ ही क्षणों में छोटी नानी मुझे बाहर निकल जाने के लिए कह देंगी और दरवाज़ा फिर बंद हो जाएगा।

गोदाम के भीतर केवल एक बल्ब की पीली, मद्धिम रोशनी जलती थी। उसी आधे-अधूरे उजाले में मैं हड़बड़ी में उन रद्दी के गट्ठरों को टटोलता। मेरी निगाह किसी ऐसे पन्ने, किसी ऐसे रंगीन आवरण या किसी बाहर झाँकते हुए कोने को खोजती रहती, जो मुझे अपनी ओर बुलाता हुआ लगे। जैसे ही कोई आकर्षक हिस्सा दिखाई देता, मैं पूरी ताक़त से उसे खींच लेता। कभी एक किताब हाथ लगती, कभी दो, और कभी-कभी तीन-चार पत्रिकाएँ भी एक साथ निकल आतीं।

इसके बाद सब कुछ मेरे भाग्य पर निर्भर करता था। कौन-सी किताब मेरे हाथ लगेगी, इसका कोई अनुमान नहीं होता था। कभी पंच तंत्र या नैतिक कथाओं की कोई पुस्तक मिल जाती, कभी अंग्रेज़ी व्याकरण या गणित की पुरानी पाठ्य पुस्तक। कभी कोई धूल से अटी हुई हिन्दी पत्रिका निकल आती, तो कभी किसी अंग्रेज़ी फ़िल्मी पत्रिका का अंक।

उसी रद्दी के ढेर में एक दिन मुझे एक ऐसी पत्रिका मिली, जिसने जाने-अनजाने मेरे भीतर एक नई खिड़की खोल दी। उस समय *'शमा'* नाम की उर्दू फ़िल्मी पत्रिका बहुत प्रसिद्ध हुआ करती थी। संयोग से उसका हिन्दी संस्करण मेरे हाथ लग गया। तब मैं मुश्किल से तीसरी या चौथी कक्षा में पढ़ता था। उस उम्र में उसके अधिकांश लेख और कहानियाँ मेरी समझ से बाहर रहे होंगे मैं ये तो नहीं कहता, लेकिन कितना और किस रूप में मैंने उन्हें समझा ये मेरी उम्र को देखते हुए समझा जा सकता है। मुझे याद है उस पत्रिका में प्रायः हर पृष्ठ पर ऊपरी कोने पर बाहर की तरफ़ किसी फिल्म स्टार की तस्वीर होती थी और उसके नीचे कोई शे'र लिख होता था। अब ये शे'र तो और भी कठिन चीज़ थी। लेकिन जैसा और जितना भी समझ में आता था मुझे मुग्ध कर देता था। उसकी कहानियाँ भी सामाजिक तानों बानों में बुनी होती थीं, रिश्ते-नातों और सुख-दुख की उलझनों में अँसी- फँसी। उसका अलग-सा यह संसार मुझे सम्मोहित कर गया।

बाद के वर्षों में मैंने पुस्तकालयों से *'शमा'* के अनेक अंक लेकर पढ़े। पर वह तो बहुत बाद की बात है। आज सोचता हूँ, उस दिन उस अँधेरे गोदाम में रद्दी के गट्ठरों से निकली वह पत्रिका केवल एक पत्रिका नहीं थी; वह मेरे लिए शब्दों और पुस्तकों की दुनिया की ओर खुलने वाली एक और छोटी-सी खिड़की थी।



इसी तरह की एक और पत्रिका मुझे एक बुक स्टाल पर मिल गई थी- 'नीहारिका' – ये भी मित्र प्रकाशन इलाहाबाद, अब प्रयागराज से छपती थी। इस पत्रिका की विशेष बात ये थी कि इसमें सीधी-साधी सामाजिक, पारिवारिक, रहस्यमय, रोमांचक कहानियाँ छपती थीं। बाद में मैं कभी कभी इस पत्रिका को भी ख़रीद कर पढ़ने लगा।

नई कहानियों की एक प्रतिनिधि पत्रिका थी- ‘सारिका’।

हिन्दी की इस प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्रिका 'सारिका' का आरंभ सन् 1960 में हुआ था।

यह पत्रिका 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' प्रकाशन समूह द्वारा मुंबई (तत्कालीन बंबई) से प्रकाशित की जाती थी और यह मुख्य रूप से गद्य साहित्य की 'कहानी' विधा को समर्पित थी। इसके शुरुआती संपादन व प्रकाशन कार्यभार से मोहन राकेश और कैलाश वाजपेयी जैसे लेखक जुड़े। बाद में कमलेश्वर ने इसका संपादन बेहद कुशलता से संभाला, जिनके कार्यकाल में इस पत्रिका ने 'समानान्तर कहानी आन्दोलन' की शुरुआत की और यह कथा-साहित्य की शीर्ष पत्रिका बन गई। कमलेश्वर जी के बाद इसके अंतिम दौर में इसका संपादन कन्हैयालाल नंदन ने किया। यह पत्रिका लगभग 1985 के आस-पास तक प्रकाशित होती रही।

इसके पश्चात एक महत्वपूर्ण पत्रिका 'हँस' का पुनः प्रकाशन, जिसे अक्सर 'नई हँस' या हँस का आधुनिक दौर भी कहा जाता है - 31 जुलाई 1986 से आरंभ हुआ।

'हँस' पत्रिका की मूल स्थापना कथा-सम्राट मुंशी प्रेमचंद द्वारा सन् 1930 में वाराणसी (बनारस) से की गई थी। राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी साहित्य को दिशा देने वाली यह पत्रिका किन्हीं कारणों से सन् 1953 में बंद हो गई थी। इसके बंद होने के करीब 33 वर्ष बाद, 'नई कहानी आंदोलन' के दिग्गज लेखक और संपादक राजेन्द्र यादव ने इसे दोबारा शुरू करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने प्रेमचंद की जयंती के अवसर पर 31 जुलाई 1986 को इसका पुनर्प्रकाशन दिल्ली से आरंभ किया। राजेंद्र यादव के संपादन में शुरू हुई इस 'नई हँस' ने समकालीन हिंदी साहित्य में एक नई क्रांति ला दी। इसने हाशिए के समाज, विशेषकर दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को हिंदी कथा-साहित्य के केंद्र में लाने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई। राजेन्द्र यादव जी ने वर्ष 2013 में अपने जीवन के अंतिम समय तक, लगभग 27 वर्ष इसका संपादन पूरी निष्ठा से किया। उनके बाद भी इस पत्रिका का प्रकाशन निरंतर जारी है।

मेरी दृष्टि में 'सारिका' के कार्य को एक तरह से 'हँस' ने आगे बढ़ाया, और बहुत अच्छी तरह से बढ़ाया।

यहाँ मैं ये बताना चाहूँगा कि सन् 1995 में मैंने राजेन्द्र यादव जी को एक पत्र लिखा और उनसे 'हँस' के पृष्ठों पर अपने स्केचेज़ छापने के लिए निवेदन किया। जहां तक मुझे याद है बाद में वीना उनियाल जी ने प्रतिक्रिया दी थी। मैंने अपने बनाए स्केचेज़ 'हँस' में भेजे पहले नौ या दस स्केच 'काली चट्टानों' के थे। वे सभी शायद जून 95 के अंक में प्रकाशित हुए। उसके बाद 95-96 में मैंने स्केचों की कई श्रंखलाएं भेजीं। सभी स्केच राजेन्द्र जी ने प्रकाशित किये। चूँकि मैं कम से कम आठ या दस स्केच एक ही मूड या स्टाइल के भेजता था, वे पूरे अंक में छपते थे। हँस के वे सभी अंक मेरे पास मेरी लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। मैं ये चैप्टर अपने बेटे के पास बेंगलोर में रहते हुए लिख रहा हूँ अतः उन अंकों की सटीक जानकारी नहीं दे पा रहा हूँ। बाद में कुछ व्यस्तताएँ और उलझनें इतनी बढ़ीं की लंबे समय तक रंग, ब्रश, कलम और पुस्तकों से दूरी बन गई। मैं एक तरह से फिर से डिप्रेशन में चला गया था। इन सारे उलझन भरे ऊबड़-खाबड़ दिनों की चर्चा तीसरे खंड में करूँगा।

इस खंड में कक्षा छटवीं से बी.ई. फाइनल ईयर तक के जीवन खंड को समेटा है। प्रसंग और ज़रूरत के मुताबिक कुछ बातें आगे पीछे की भी आई हैं। लेकिन वह मेरी मजबूरी है।

चूँकि अभी अभी बात स्केचेज़ के छपने की हुई है- तो मेरे बहुत सारे स्केचेज़ नव-भारत, नवीन दुनिया, स्वतंत्र मत जैसे अख़बारों में भी लगातार छपते रहे।

फ़िर, जैसा मैंने बताया कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनीं कि बहुत कुछ टूट-फूट हुई। मैं बिखर सा गया।

ख़ैर ये बातें आगे करेंगे, तीसरे खंड में।

□□

बात से बात निकले तो बतियाने में मज़ा आता है। अभी 'सारिका' की बात हो रही थी। सारिका से मेरा परिचय 1972 से पहले हो चुका था। ये परिचय और मजबूत हुआ। 'सारिका' ने ही मुझे 'मोहन राकेश' से परिचित कराया।

3 दिसंबर 1972 को नई कहानी आंदोलन के शीर्ष ध्वज वाहक और प्रसिद्ध नाटककार मोहन राकेश का आकस्मिक निधन हो गया था। उनके इस असमय निधन के तुरंत बाद, 'सारिका' ने अपने पूर्व संपादक को श्रद्धांजलि देने के लिए यह ऐतिहासिक विशेषांक निकाला था।'सारिका' का मोहन राकेश स्मृति विशेषांक फरवरी 1973 में प्रकाशित हुआ था।

'सारिका' पत्रिका का मोहन राकेश स्मृति विशेषांक हिंदी पत्रकारिता और साहित्य के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है। उस समय 'सारिका' के संपादक प्रसिद्ध कहानीकार कमलेश्वर थे, जो मोहन राकेश के सबसे घनिष्ठ मित्रों कमलेश्वर, राजेंद्र यादव और मोहन राकेश की प्रसिद्ध त्रयी में से एक थे। कमलेश्वर ने बेहद भावुकता और जिम्मेदारी के साथ इस अंक को तैयार किया था।

इस अंक में मोहन राकेश के पूरे जीवन, उनके स्वभाव और उनके अद्वितीय साहित्य को समेटने का प्रयास किया गया था। समकालीन दिग्गज लेखकों जैसे राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, और मन्नू भंडारी आदि ने मोहन राकेश के साथ बिताए क्षणों और उनकी अनूठी जीवनशैली पर बेहद मार्मिक संस्मरण लिखे थे।

उनके प्रसिद्ध नाटकों जैसे *'आषाढ़ का एक दिन'*, *'आधे-अधूरे'*, *'लहरों के राजहंस'* और उनके उपन्यासों पर आलोचनात्मक लेख शामिल किए गए थे। राकेश अपनी डायरी लिखने के लिए जाने जाते थे। इस विशेषांक में उनकी डायरी के कुछ दुर्लभ अंश और मित्रों को लिखे गए पत्र पहली बार पाठकों के सामने रखे गए थे। उनके अंतिम अधूरे नाटक *'पैर तले की ज़मीन'* और अन्य अप्रकाशित सामग्री के बारे में भी इसमें चर्चा की गई थी।

मोहन राकेश खुद भी 1962-63 के दौरान कुछ समय के लिए 'सारिका' के संपादक रह चुके थे। इसलिए, इस पत्रिका द्वारा निकाला गया विशेषांक केवल एक

औपचारिकता नहीं, बल्कि एक पारिवारिक श्रद्धांजलि जैसा था। यह विशेषांक आज भी शोधार्थियों और हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए मोहन राकेश को समझने का सबसे प्रामाणिक और बुनियादी स्रोत माना जाता है।

इस अंक को पढ़ने के पहले मैं केवल मोहन राकेश को हिन्दी के एक आधुनिक कथाकार के रूप में ही थोड़ा बहुत जानता था। किन्तु इस विशेषांक ने गागर में सागर के समान मोहन राकेश का पूरा व्यक्तित्व, जीवन की कहानी उनकी विभिन्न कृतियों और विशेषकर उनकी डायरी के उद्धरणों से परिचित कराया। मैंने जाना कि मोहन राकेश किस शानदार शख़्सियत का नाम था।

मैं उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं था। आगे हो पाने की संभावना भी नगण्य सी थी। परंतु पता नहीं क्यों मन में बहुत दिनों तक ये कचोट उठती रही कि मैंने उन्हें उनके चले जाने के बाद जाना।

□□

मैंने बताया न, कि मुझे नेशनल स्कॉलरशिप मिला करती थी।

मोहन राकेश के निधन (1972) के बाद उनकी संपूर्ण कहानियों को चार अलग-अलग कहानी-संग्रहों (जिल्दों) के रूप में राजपाल एंड संस द्वारा प्रकाशित किया गया था। इनमें से तीन संग्रहों में उनकी पूर्व-प्रकाशित कहानियों को संकलित किया गया था, और चौथे संग्रह में उनकी अप्रकाशित कहानियों को उनके मित्र और प्रसिद्ध साहित्यकार कमलेश्वर ने संपादित कर प्रकाशित करवाया था।

इन चारों पुस्तकों के नाम हैं - 'क्वार्टर', 'पहचान', 'वारिस' और 'एक घटना'। मैंने सबसे पहले तो ये चार पुस्तकें ख़रीदीं। इन्हें हम सभी मित्रों ने पढ़ा। बाद में ये पुस्तकें कहाँ गईं मुझे पता नहीं। जब मैं 1977 में नौकरी के सिलसिले में जबलपुर से बाहर चला गया, उस बीच मेरी अधिकांश पुस्तकें यहाँ वहाँ हो गईं। अभी जो किताबें मेरी व्यक्तिगत लाइब्रेरी में हैं वे सब बाद में ख़रीदी पुस्तकें हैं। उनके बारे में बाद में बात करूँगा। वर्तमान में राजपाल एंड संस द्वारा इन सभी कहानियों को एक साथ 'मोहन

राकेश की सम्पूर्ण कहानियाँ' शीर्षक से एक ही वृहत् सज़िल्द खंड में भी उपलब्ध कराया गया है। यह पुस्तक मेरी लाइब्रेरी में है।



अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि कुछ किताबें हम नहीं चुनते, वे हमें चुन लेती हैं। 'सारिका' का फरवरी 1973 का 'मोहन राकेश स्मृति विशेषांक' मेरे जीवन में ऐसी ही एक 'किताब' बनकर आया था। उसे पढ़ने के बाद जैसे भीतर कोई पुराना दरवाज़ा चुपचाप खुल गया। उस दिन मुझे पहली बार यह एहसास हुआ कि भाषा केवल विचारों को ढोने का माध्यम नहीं होती; वह मनुष्य की उपस्थिति भी हो सकती है।

उससे पहले मैं अनेक लेखकों के उपन्यास और कहानियाँ पढ़ चुका था। उनमें कथाएँ थीं, घटनाएँ थीं, चरित्र थे और अपने-अपने ढंग का सौंदर्य भी था। लेकिन मोहन राकेश को पढ़ते हुए लगा कि यहाँ कुछ अलग घट रहा है। वे अपने पात्रों के बारे में नहीं लिखते थे, वे उनके साथ रहते थे। उनके शब्दों में एक ऐसी आत्मीय गरमाहट थी, जो किसी साहित्यिक कौशल से नहीं आती; वह शायद जीवन को भीतर तक जी लेने से आती है। उनके वाक्यों में एक अजीब-सी पारदर्शिता थी। उन्हें पढ़ते हुए लेखक दिखाई नहीं देता था, केवल अनुभव दिखाई देता था। ऐसा लगता था, जैसे शब्द धीरे-धीरे हट गए हों और उनकी जगह वे स्वयं बैठे हो.।

शायद इस आकर्षण में उनकी असमय मृत्यु का भी एक मौन दुःख घुला हुआ था। अड़तालीस वर्ष - किसी लेखक के लिए यह उम्र नहीं, एक आरम्भ होती है। इतनी कम आयु में एक ऐसे विलक्षण साहित्यकार का असमय और भीतर तक विचलित कर देने वाला अवसान हिंदी साहित्य की अपूरणीय क्षति है। आश्चर्य होता है कि इतने छोटे जीवनकाल में उन्होंने जितना लिखा, वह अपने आप में एक अमूल्य साहित्यिक धरोहर है। जब यह जाना कि इतनी कम उम्र में वे चले गए, तो एक अनाम-सी उदासी कई दिनों तक भीतर बनी रही। कुछ लोगों के चले जाने से केवल उनका परिवार नहीं, भाषा भी अनाथ हो जाती है। मोहन राकेश मेरे लिए ऐसे ही लेखक थे।

आज भी उनकी कुछ कृतियों के नाम भर स्मृति में आते हैं- 'आधे-अधूरे', 'अँधेरे बंद कमरे', 'आषाढ़ का एक दिन'- तो वे केवल किताबों के नाम नहीं लगते। वे जीवन के अलग-अलग कमरों के नाम लगते हैं, जिनमें मनुष्य अपने अकेलेपन, अपनी असफलताओं, अपनी इच्छाओं और अपने मौन के साथ बैठा हुआ है। उन्हें पढ़ना किसी कथा का अनुसरण करना नहीं, अपने भीतर उतरना था। उनकी कृतियाँ केवल नाटक या उपन्यास भर नहीं हैं; वे मनुष्य के अस्तित्व, उसके अकेलेपन, उसके संबंधों और उसकी विडंबनाओं को समझने वाली जीवन-दृष्टि की अमूल्य पुस्तकें हैं। उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि साहित्य केवल कहानी सुनाने का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन को उसकी समूची जटिलता के साथ समझने का एक दुर्लभ साधन भी है।

और उनकी डायरी . . .

मुझे नहीं मालूम कि हिंदी में डायरी लेखन का इससे अधिक ईमानदार उदाहरण दूसरा कौन-सा होगा। कभी केवल एक वाक्य। कभी आधा वाक्य। कभी कोई अधूरी-सी टिप्पणी। लेकिन उन अधूरे शब्दों के पीछे पूरा का पूरा दिन साँस लेता रहता था। उन्हें पढ़ते हुए बार-बार लगता कि मनुष्य जितना कहता है, उससे कहीं अधिक वह छोड़ देता है। शायद सबसे गहरी बातें वही होती हैं जिन्हें शब्द पूरा नहीं कह पाते।

कभी-कभी वे छोटे-छोटे वाक्य मुझे वेदों के सूक्तों की तरह लगते हैं। कुछ शब्द, और उनके पीछे अनन्त अर्थों का विस्तार। वे कोई अर्थ थोपते नहीं; वे केवल एक दिशा दिखाते हैं। आगे की यात्रा पाठक को स्वयं करनी होती है। लेखक मानो धीरे से कह देता है - अब जितना देख सकते हो, देखो।

धीरे-धीरे मुझे यह भी समझ में आने लगा कि किसी महान लेखक को पढ़ना भी एक साधना है। केवल लिखना ही पर्याप्त नहीं होता, पढ़ना भी सीखा जाता है। जैसे संगीत का पूरा आनंद उसी श्रोता को मिलता है जिसके भीतर सुरों के लिए जगह बनी हो, उसी तरह साहित्य का भी असली रस वही पा सकता है जो शब्दों के बीच के मौन को सुन सके। भावनाओं के उठान और अवसान, उनके सूक्ष्म कंपन, उनके झूलों और झटकों को महसूस कर सके। तब जाकर कोई रचना अपने सम्पूर्ण अर्थ में हमारे भीतर पल्लवित होती है।

आज सोचता हूँ, मोहन राकेश ने मुझे केवल अपनी रचनाएँ नहीं दीं। उन्होंने मुझे पढ़ना सिखाया। उन्होंने बताया कि साहित्य का सबसे बड़ा चमत्कार कथा नहीं, संवेदना है; भाषा नहीं, उसके पीछे धड़कता हुआ जीवन है। शायद इसी कारण उन्हें पढ़ते हुए आज भी ऐसा लगता है, जैसे कोई बहुत पुराना, बहुत आत्मीय व्यक्ति चुपचाप मेरे सामने बैठा हो और बिना किसी प्रदर्शन के जीवन की सबसे कठिन बातें कह रहा हो।

□□

सारिका के माध्यम से ही मेरा परिचय निर्मल वर्मा से हुआ। आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि वह केवल एक लेखक से परिचय नहीं था, बल्कि अपने भीतर के एक ऐसे अनदेखे प्रदेश से पहला साक्षात्कार था, जिसके अस्तित्व का मुझे तब तक आभास भी नहीं था।

उनका उपन्यास *'एक चिथड़ा सुख'* पुस्तक के रूप में 1979 में प्रकाशित हुआ, किन्तु उसके कुछ अंश 1978 में *सारिका* में धारावाहिक रूप में छपे थे। उन्हीं पन्नों पर पहली बार मैंने निर्मल जी की भाषा को जाना। वह भाषा न तो अलंकारों का प्रदर्शन करती थी, न पाठक को चमत्कृत करने की कोई कोशिश। वह इतनी सहज और शांत थी कि पहली दृष्टि में साधारण लगती, किन्तु जितना भीतर उतरते जाते, उतना ही उसके अर्थ खुलते जाते। मुझे वह भाषा किसी रहस्य वादी कविता जैसी लगी-छोटे-छोटे वाक्य, लेकिन उनके भीतर अनुभवों का इतना गहरा समुद्र कि उन्हें पढ़ने के बाद भी वे बहुत देर तक मन में गूँजते रहते। कुछ अर्थ जैसे स्वयं प्रकट हो जाते और कुछ अर्थ जान-बूझकर अपने को छिपाए रखते, मानो पाठक की अपनी यात्रा पूरी होने की प्रतीक्षा कर रहे हों।

उपन्यास के पात्रों के जीवन का खालीपन, उनके रिश्तों की अनकही पीड़ाएँ, उनके भीतर चलते अंतर्द्वंद्व और चुप्पियाँ मेरे भीतर भी एक समानांतर संसार रचने लगे। मैं उन पात्रों को पढ़ नहीं रहा था, कहीं-न-कहीं उन्हें जी भी रहा था। शायद इसलिए कि किसके जीवन में उलझनें, द्वंद्व और दुविधाएँ नहीं होतीं? हर मनुष्य अपने भीतर कुछ ऐसे कमरे लिए चलता है, जिनकी खिड़कियाँ बरसों तक नहीं खुलतीं।

उस समय मेरी आयु केवल चौबीस-पच्चीस वर्ष रही होगी। उम्र छोटी थी, लेकिन मन तब तक अनेक अनुभवों, प्रश्नों और संवेदनाओं के साँचे में ढल चुका था। मेरी संवेदनशीलता ने मेरे चारों ओर जैसे एक अदृश्य जाल बुन दिया था। उस जाल के बाहर की दुनिया भी मुझे उतनी ही उलझी हुई दिखाई देती थी, जितनी भीतर की। हर रास्ता किसी नए प्रश्न की ओर जाता था और हर उत्तर अपने साथ कोई नया संशय ले आता था।

मेरे सामने भी कुछ ऐसे प्रश्न खड़े थे, जिनके उत्तर मैं शायद अपनी ही हिम्मत से प्राप्त कर सकता था। लेकिन वही हिम्मत मुझसे बहुत बड़ी कीमत माँग रही थी। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि किस दिशा में बढ़ूँ। इतना अवश्य समझ में आ गया था कि पलायन कोई समाधान नहीं होता। मनुष्य चाहे जितनी दूर भाग ले, अपने ही मन से कहाँ भाग सकता है? अंततः किसी-न-किसी रास्ते पर चलना ही पड़ता है। एक ही जगह खड़े-खड़े जीवन नहीं कटता।

निर्मल जी के इस उपन्यास ने मुझे कोई तैयार उत्तर नहीं दिया। उसने यह नहीं बताया कि कौन-सा रास्ता सही है और कौन-सा गलत। उसने मेरे लिए कोई नैतिक निर्णय भी नहीं लिया। लेकिन उसने मुझे एक बहुत बड़ी बात समझाई-जीवन में कई बार मन का नहीं होता, और तब उस अस्वीकार्य को भी स्वीकार करना पड़ता है। स्वीकार करना पराजय नहीं होता; कभी-कभी वही मनुष्य की सबसे बड़ी परीक्षा होती है।

शायद उसी समय मैंने परिस्थितियों को स्वीकार करने का निर्णय लिया। आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उस समय जो कीमत मुझे साहस दिखाकर चुकानी चाहिए थी, वह मैं नहीं चुका पाया। उसके बदले जो मूल्य जीवन ने मुझसे वसूला, वह कहीं अधिक बड़ा निकला। ऐसा लगता है जैसे मूलधन तो आज तक चुक ही नहीं पाया; ब्याज लगातार बढ़ता चला गया। उस समय हिम्मत न कर पाने से मैंने शायद तत्काल की कठिनाई टाल दी थी, लेकिन जीवन कठिनाइयों को स्थगित तो कर सकता है, समाप्त नहीं। कभी-कभी लगता है कि अस्तित्व ने भी सच से आँख चुराने का हिसाब बहुत धैर्य और बहुत कठोरता से लिया।

अभी ये बातें तुम्हें पहेलियों जैसी लगेंगी। शायद कुछ वाक्य अनावश्यक रूप से रहस्यमय भी प्रतीत हों। लेकिन हर जीवन की कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें समय से पहले कह देना उनके अर्थ को छोटा कर देता है। उन पहेलियों के उत्तर भी आएँगे, पर तब, जब इस कथा की यात्रा स्वयं वहाँ पहुँचेगी। स्मृतियों का भी अपना अनुशासन होता है; वे उतना ही खोलती हैं, जितना उस क्षण आवश्यक होता है।

निर्मल वर्मा मेरे लिए केवल एक उपन्यासकार नहीं रहे। मैंने उनके पाँचों उपन्यास, लगभग सभी कहानी-संग्रह, निबंध, यात्रा-वृत्तांत, साक्षात्कार-जो कुछ भी उपलब्ध हो सका-कई-कई बार पढ़ा। हर बार लगता कि वही पुस्तक मुझे किसी नए पाठक की तरह फिर से पढ़ रही है। उम्र बदलती गई, अनुभव बदलते गए और उन्हीं रचनाओं के अर्थ भी बदलते गए। शायद महान साहित्य की यही पहचान होती है कि वह कभी समाप्त नहीं होता; वह पाठक के साथ-साथ विकसित होता रहता है।

आगे चलकर मैं ओशो के लेखन की भी चर्चा करूँगा। मेरे जीवन में निर्मल वर्मा और ओशो दो बिल्कुल भिन्न दिशाओं से आए, लेकिन दोनों ने मुझे अपने-अपने ढंग से संभाला। ओशो ने मेरे प्रश्नों पर प्रकाश डाला, जबकि निर्मल वर्मा ने उन प्रश्नों के साथ जीने की क्षमता दी। ओशो के यहाँ मुझे उत्तर मिलते थे, निर्मल जी के यहाँ उत्तरों की अनिवार्यता कम हो जाती थी। उनकी लेखनी मेरे भीतर कोई अदृश्य ऊर्जा भर देती थी। उसके बाद जीवन का बोझ हल्का तो नहीं होता था, लेकिन उसे ढोने की शक्ति अवश्य मिल जाती थी। और शायद मनुष्य को अंततः चाहिए भी यही-ऐसी शक्ति, जिसके सहारे वह चुपचाप वह सब सह सके, जो कभी-कभी असह्य लगता है।



यह वही समय था जब मैंने अपने तब तक के सारे लिखे हुए को अग्नि को समर्पित कर दिया था।

अब कभी-कभी सोचता हूँ कि वह सचमुच आग थी या मेरी अपनी ही कोई अधीर उम्र, जो लपटों का रूप धरकर मेरे सामने खड़ी हो गई थी। इतने वर्षों बाद भी उस दोपहर की स्मृति मेरे भीतर पूरी तरह नहीं बुझी है। उसकी आँच अब भी कहीं बहुत

भीतर दबी हुई महसूस होती है। जब कभी भी उन क्षणों को याद करता हूँ – जब मैंने ये सोचकर सब कुछ जला दिया था कि इन रचनाओं को जिसे असल में सुनाना था; जब उनकी आहट तक वहाँ नहीं पहुँच पा रही, तब उनके अस्तित्व का औचित्य ही क्या है? वे मेरे कमरे की अलमारियों में पड़े-पड़े धीरे-धीरे धूल खाते रहें, उससे तो बेहतर है कि एक ही बार राख हो जाएँ।

उसी आक्रोश जनित कुंठाओं और क्षुब्धता ने मुझे वह लगभग आत्म संहारक कदम उठाने को मज़बूर कर दिया। उस समय यह निर्णय मुझे बिल्कुल स्वाभाविक लगा था। आज भी जब उन क्षणों को याद करता हूँ तो भीतर कहीं एक टीस-सी उठती है। कभी-कभी तो यकीन ही नहीं होता कि वह उतावला, आवेग में बह जाने वाला व्यक्ति मैं ही था। आज समझ में आता है कि मैं शब्दों को नहीं, अपनी आतुर बेसब्र प्रतीक्षा को जला रहा था।

अब सोचता हूँ तो लगता है कि वह कोई साहसिक निर्णय नहीं था; वह आहत अहंकार, असफल प्रेम, कुंठा, क्षोभ और गहरी निराशा के सम्मिलित आवेग का विस्फोट था। उसी मानसिक उथल-पुथल ने मुझे वह लगभग आत्म संहारक कदम उठाने के लिए विवश कर दिया। वस्तुतः मैंने केवल कागज़ नहीं जलाए थे; अपने भीतर पल रहे एक संभावित लेखक का बड़ा हिस्सा भी उसी अग्नि में भस्म कर दिया था।

उस ढेर में मेरा अनगढ़-सा उपन्यास *'बिखरे-बिखरे'* भी था। कुछ डायरियाँ थीं, ढेर सारे बिखरे हुए पन्ने थे, और तीन मोटे रजिस्टर थे। उनमें से दो कविताओं से भरे हुए थे और तीसरे में मेरी कहानियाँ थीं। उन पन्नों का साहित्यिक मूल्य क्या था, यह आज भी नहीं जानता। शायद बहुत कम रहा हो। लेकिन वे मेरे जीवन की सबसे निष्कपट गवाही थे। उन्हें लिखते समय मैंने कभी लेखक बनने की महत्वाकांक्षा नहीं पाली थी। मैं तो केवल अपने भीतर की उस भीड़ को शब्द देना चाहता था, जो चुप रहना नहीं जानती थी।

वे अधिकांश कविताएँ एक लड़की को ध्यान में रखकर लिखी गई थीं। वह असाधारण रूप से मेधावी थी। किताबें उसके लिए ज्ञान का साधन थीं, भावुकता का नहीं। पाठ्य-

पुस्तकों के बाहर की दुनिया में उसकी विशेष रुचि मैंने कभी नहीं देखी - शायद यही वह वजह थी, जिसने मुझे उसकी ओर आकर्षित किया।

"वह बिना किसी बनावट के बात करती थी। उसके भीतर एक सीधी, उजली ईमानदारी थी। उसकी सच्चाई में किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं था। वह सहज थी, विनोदप्रिय थी और लोगों को सहज बना देने की दुर्लभ क्षमता रखती थी। वह मेरे शब्दों के बाहर उपस्थित रहती थी और मैं अपने शब्दों के भीतर उसे खोजता रहता था। शायद हम दोनों एक-दूसरे के समानांतर चल रहे थे, बिना यह जाने कि हमारी दिशाएँ अलग हैं। फिर भी मैं उसकी ओर अनायास खिंचता चला गया। कारण उसकी साहित्यिक रुचि नहीं, बल्कि उसका व्यक्तित्व था। उसकी ईमानदारी, सहज सच्चाई, निष्कपट व्यवहार और स्वाभाविक ह्यूमर मुझे भीतर तक प्रभावित करता था। हम घंटों साथ रहते, बहुत-सी बातें करते, हमारी बातचीत में जीवन था, हँसी थी, भविष्य की धुँधली कल्पनाएँ थीं, लेकिन कविता नहीं थी। मेरी कविताएँ जिन भावनाओं से भरी रहती थीं, वे भावनाएँ हमारी बातचीत का हिस्सा कभी नहीं बन सकीं। शायद इसलिए कि वे केवल मेरे भीतर थीं; उसके भीतर नहीं।"

समय बीतता गया। कुछ बहुत थोड़े से वर्षों बाद उसने मुझे धीरे-धीरे समझना शुरू किया। हमारे बीच एक अनकहा अपनापन भी जन्म लेने लगा। कविता तब भी अनुपस्थित थी, लेकिन उसकी जगह कुछ और अधिक वास्तविक, अधिक मानवीय और शायद अधिक टिकाऊ भावनाओं की छोटी-छोटी, अनाम कोंपलें फूटने लगी थीं। यदि मैंने थोड़ा धैर्य रखा होता, यदि अपने भीतर के तूफ़ान को कुछ समय और थामे रखा होता, तो शायद कहानी कुछ और होती।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो सबसे अधिक अफ़सोस अपनी उसी उतावली पर होता है। कई बार जीवन में सबसे बड़ी भूलें दुर्भावना से नहीं, बल्कि अधीरता के कारण होती हैं। मैंने शब्दों को समय नहीं दिया, न ही संबंधों को। परिणाम यह हुआ कि जिन्हें बचाया जा सकता था, उन्हें मैंने स्वयं अपने हाथों नष्ट कर दिया।

विडंबना यह है कि यह मेरी पहली और आख़िरी जल्दबाज़ी नहीं थी। कुछ वर्षों बाद मैंने एक बार फिर वैसी ही उतावली दिखाई और इस बार भी सबसे बड़ा नुकसान मेरा

अपना ही हुआ। एक अर्थ में मैं स्वयं अपना ही कातिल बन बैठा। लेकिन वह एक अलग कहानी है - इतनी लंबी और जटिल कि उसके लिए एक पूरा अध्याय चाहिए।

फिलहाल इतना ही। क्योंकि यह प्रसंग अभी केवल 'शब्द तिलिस्म' की कथा का हिस्सा है।

क्योंकि यह अध्याय शब्दों के जन्म और यह हिस्सा उनके 'दाह-संस्कार' की कथा है।

बाक़ी कहानी अभी भविष्य के पन्नों में प्रतीक्षा कर रही है।

□□

'बिखरे-बिखरे' की बात करूँ तो अब समझ में आता है कि मेरे भीतर भावनाओं की ज़मीन समय से बहुत पहले ही उर्वर हो चुकी थी। यह परिस्थितियों की देन थी या अस्तित्व की कोई सोची-समझी योजना, आज भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता।

मैं अपने आसपास जिस तरह का जीवन, जिस तरह के रिश्ते और जिस तरह की संवेदनाएँ देखना चाहता था, वैसा कहीं दिखाई नहीं देता था। शायद दिखाई दे भी नहीं सकता था, क्योंकि मैं अपने समय से बहुत आगे के दृश्यों को भीतर ही भीतर जीने लगा था। जिन अनुभवों तक पहुँचने में लोगों को अभी वर्षों लगने थे, मैं उन्हें पहले ही अपने मन में घटित होते हुए देख रहा था। इसलिए स्वाभाविक ही था कि मेरी इच्छा रहती कि मेरे इर्द-गिर्द भी वैसा ही कुछ घटे-ठीक वैसा नहीं तो कम-से-कम उसकी कोई प्रतिध्वनि ही सुनाई दे।

शायद इसी आकांक्षा से 'बिखरे-बिखरे' का जन्म हुआ।

मुझे लगता था कि मेरे आसपास के लोग जिस माला में एक सूत्र में पिरोए हुए होने चाहिए थे, वे सब अपनी-अपनी दिशाओं में बिखरे पड़े हैं। उनके बीच कोई अदृश्य धागा होना चाहिए था, जो उन्हें जोड़ सके, पर वह कहीं दिखाई नहीं देता था।

जब बाहर वह संसार मुझे नहीं मिला, तब मैंने उसे शब्दों में रच लिया। जिन लोगों को जीवन जोड़ नहीं पाया था, उन्हें मैंने अपनी पांडुलिपि में एक-दूसरे के निकट बैठा दिया। उनकी जगहें मैंने तय कीं, उनके विचार मैंने गढ़े, उनके संवाद मैंने लिखे, और

घटनाओं को वैसे ही घटित होने दिया, जैसे मैं उन्हें अपने भीतर घटते हुए देखना चाहता था।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, मैं उपन्यास नहीं लिख रहा था; मैं अपने भीतर बसे उस संसार को आकार दे रहा था, जहाँ मनुष्य वैसे हो सकते थे, जैसे उन्हें होना चाहिए था।

उस उपन्यास में 'वह लड़की' भी थी।

उसे तो होना ही था।

सच तो यह है कि 'बिखरे-बिखरे' उसी के लिए लिखा गया था।

वह उसकी प्रत्यक्ष नायिका भले न रही हो, पर उसकी उपस्थिति पूरी पांडुलिपि में एक अदृश्य धड़कन की तरह फैली हुई थी। उसके बिना उस उपन्यास की कल्पना भी संभव नहीं थी।

आज कभी-कभी सोचता हूँ, यदि 'बिखरे-बिखरे' की पांडुलिपि मेरे पास सुरक्षित होती तो शायद मैं उसे फिर से पढ़ता। समय के साथ जो परिपक्वता, जीवनानुभव और दृष्टि मिली है, उसके आलोक में उसमें आवश्यक संशोधन करता। तब संभव है कि वह कोई कालजयी कृति न बनती, पर उस दौर की पृष्ठभूमि और परिवेश का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ अवश्य बन सकती थी- उस समय का, जब न मोबाइल थे, न सोशल मीडिया, न हर क्षण को निगल जाने वाले डिजिटल उपकरण। जब संबंधों की प्रतीक्षा लंबी होती थी, संवाद धीमे-धीमे खुलते थे और प्रेम अपने शब्दों से अधिक अपनी चुप्पियों में बोला करता था।

कम-से-कम इतना विश्वास तो है कि वह उस समय के युवाओं की मानसिकता, उनकी आकांक्षाओं, उनके अकेलेपन, उनकी उलझनों और उनके सपनों को ईमानदारी से व्यक्त करने वाला एक सच्चा प्रयास अवश्य होता।

अब मुझे अपनी उन कहानियों और कविताओं के बारे में भी बता देना चाहिए जो उस कुंठित आवेग की बलि चढ़ गईं। ये इसलिए भी ज़रूरी है कि तुम कहीं ये न समझ लो,

मेरा लेखन केवल एक अपरिपक्व प्रेमी का मौन प्रणय निवेदन था। मेरी वे कहानियाँ यदि आज मेरे पास होतीं तो मुझे यह बात अलग से बताने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। वे कहानियाँ संख्या में सात या आठ ही थीं। लेकिन उन कहानियों के विषय बहुत अलग-अलग थे। जिनमें से एक कहानी 'नदी चुपचाप बहती है'- में मैंने एक मासूम, भोली-भाली बेहद गरीब परिवार की लड़की के शोषण का चित्रण किया था। कहानी का अंत चुपचाप ख़ामोश बहती नदी के किनारे औंधे मुँह पड़ी लड़की की लाश मिलने से हुआ था। मैंने हमारे मोहल्ले पश्चिमी घमापुर के पीछे बहते नाले को नदी में परिवर्तित कर दिया था। पृष्ठभूमि में हमारे मोहल्ले के बड़े बड़े मैदान, बग़ीचे, काली चट्टानों के छोटे बड़े ढूह, पुराने बँगले, घिच-पिच आड़ी-तिरछी खपरैल वाले कच्चे -पक्के एक दूसरे को धकियाते-थामते मकान, गिरजाघर, अंग्रेजों के ज़माने का पुल सब कुछ था। इन सब के पीछे कुछ घट रहा था एकदम चुपचाप बिना किसी आहट के। फिर सीधे सामने आया अंत एक ख़ामोश औंधे मुँह पड़ी लाश के रूप में। वह ख़ामोश लाश क्या बोल रही थी ? कुछ लोगों ने उसे तमाशे की तरह देखा, कुछ ने क्या हुआ होगा इसका सही ग़लत अंदाज़ा लगाया कुछ जो सच जानते थे चुप रहे। नदी भी ख़ामोशी से चुपचाप बहती रही। एक और कहानी जो याद आती है – उसका शीर्षक था 'आदमी', इसमें मैंने अपने पिता की तब तक की अथक यात्रा उनकी कड़ी मेहनत का वर्णन किया था। कैसे उन्होंने अपने पिता को उन्हें, अपनी माँ तथा छोटी बहन के साथ अकेला छोड़ देने को झेला, किस तरह सिर्फ़ चौदह बरस की उम्र में अपनी बीमार माँ को गाँव से जबलपुर लाए, जिला अस्पताल में माँ की मृत्यु हुई। फिर गाँव छोड़ देने का निर्णय। छोटी बहन की देखभाल, कम उम्र में सेंट्रल ऑर्डिनेंस डिपो में नौकरी, बहन को घर पर ही पढ़ाना उसका ब्याह करना, बहन के विवाह का असफल हो जाना . . . . अपने बच्चों की पढ़ाई लिखाई अबाधित रहे इस कारण दो बार प्रमोशन ठुकराना क्योंकि प्रमोशन के साथ स्थानांतरण भी हो रहा था . . . . ऐसी ही जिजीविषा का चित्रण था उस कहानी में। एक दो कहानियाँ धुंधली धुंधली सी और याद हैं- किन्तु अब पचास बरस बीत जाने के बाद वो भी तब जब कि इस बीच उनकी कभी कोई बात किसी से नहीं हुई। इन कहानियों को जिस एकमात्र श्रोता ने सुना था वह मेरा मित्र अखिलेश भी अब अमेरिका में चालीस बरस से ऊपर हो गए रह रहा है।

फिलहाल दो तीन बरस से, किसी कारण उससे या उसकी पत्नी जो मेरी बहुत अच्छी मित्र थी, उन दोनों से मेरा कोई राब्ता नहीं है। बीच में जब भी उससे फोन पर या जबलपुर आने पर बात चीत होती उन बातों में इन भूली बिसरी कहानियों के लिए कोई जगह कभी नहीं बन सकी।

वे शब्द जो धुआँ बनकर उड़ गए थे अब इस लंबे चौड़े अनंत विस्तार वाले अस्तित्व में कहाँ तैर रहे होंगे किसे पता। अस्तित्व ने जिसे भी जिस जगह के लिए रचा होता है उसे उस जगह तक किसी भी तरह ले ही आता है। सो उन कहानियों को 'क़ायनात' द्वारा उनके लिए 'मुकर्रर' की गई जगह पर रहने दिया जाए।

डायरी के पन्ने तो भोगी हुई पीड़ाओं और दर्दों का बही खाता होते हैं।

जब दर्दों का हिसाब करेंगे तब उन दर्दों का जिक्र भी करूँगा जो उन पन्नों में लिखे लिखे चुपचाप ख़त्म हो गए।

रही कविताओं की बात – तो उनमें से कई, सभी नहीं; उस लड़की को सामने रखकर उसे संबोधित करते हुए लिखी गई थीं। किन्तु बहुत सी अन्य विषयों पर भी थीं। हाँ! मैं यह अवश्य चाहता था कि वह मेरे लिखे हर शब्द को पढ़े। वे शब्द तभी अपनी सार्थकता प्राप्त करेंगे यदि ऐसा हो। किन्तु उन शब्दों के भाग्य में विधाता ने कुछ और ही लिख रखा था।

उन कविताओं में एक विशेष कविता भी थी –"अपनी अजन्मी बेटी को पत्र"।

शायद यह केवल कविता नहीं थी। मेरे मौन की विवशता ने मेरे कल्पना को एक उड़ान और भरने के लिए मज़बूर कर दिया था। मैं अपनी इस कविता में अपनी उस बेटी से मुख़ातिब हो रहा था जो अभी इस दुनिया में नहीं आई थी। उस कविता को 'उस लड़की' ने तो नहीं पर उसकी बड़ी बहन ने ज़रूर पढ़ा था, जो मुझसे भी दो या तीन बरस बड़ी थी। वह उस कविता को पढ़कर भावुक हो गई थी। उसने तारीफ़ भी की थी।

उस कविता की एक पंक्ति मुझे आज भी याद है –

“मेरी बेटी, मुझे तो अभी उस कोख का
पता भी नहीं मालूम;
जिस रास्ते तू इस दुनिया में आएगी”



जैसे लंबे रास्ते के बीच आजकल ‘मिड वे ट्रीट’ सरीखे पड़ाव आ जाते हैं। ऊपर लिखा अनुच्छेद मेरे लिए वैसा ही था। बर्मन दादा का गाना यहाँ उद्धृत करने को जी कर रहा है-

“वहाँ कौन है तेरा?
मुसाफ़िर, जायेगा कहाँ?
दम ले-ले घड़ी भर
ये छैयां पायेगा कहाँ?

बीत गये दिन, प्यार के पल छिन
सपना बनी वो रातें
भूल गये वो, तू भी भुला दे
प्यार की वो मुलाक़ातें
प्यार की वो मुलाक़ातें

सब दूर अन्धेरा
सब दूर अन्धेरा
मुसाफ़िर, जायेगा कहाँ?
दम ले-ले, दम ले-ले
दम ले-ले घड़ी भर
ये छैयां पायेगा कहाँ?

कोई भी तेरी राह न देखे
नैन बिछाये ना कोई
दर्द से तेरे कोई न तड़पा
आँख किसी की ना रोयी
कहे किसको तू मेरा
मुसाफ़िर, जायेगा कहाँ?
दम ले-ले घड़ी भर
ये छैयां पायेगा कहाँ?
वहाँ कौन है तेरा?

कहते हैं ज्ञानी, "दुनिया है फ़ानी"
पानी पे लिखी लिखाई
है सबकी देखी, है सबकी जानी
हाथ किसी के न आयी
हाथ किसी के न आयी

कुछ तेरा ना मेरा
मुसाफ़िर, जायेगा कहाँ?
दम ले-ले, दम ले-ले
दम ले-ले घड़ी भर
ये छैयां पायेगा कहाँ?
वहाँ कौन है तेरा?"

अचानक ये गाना दिमाग़ में आया, मैंने यहाँ अंकित कर दिया। तुमने पढ़ा।

क्या इसके बाद कोई बात बचती है कहने के लिए।

शायद नहीं।

'कवि शैलेन्द्र' ने एक से बढ़ के एक गीत लिखे हैं ज़िंदगी को सरल सहज शब्दों में डिफ़ाइन करते हुए। ये गीत उनकी बेहतरीन रचनाओं में से एक है। मेरे दिल के बहुत करीब।

मैंने सोच रखा है एक चैप्टर 'रेडियो' पर लिखूँगा – जिसमें सिर्फ़ गानों, राग रागिनी, रेडियो पर ब्रॉड कास्ट हुए अमर प्रोग्रामों की बात होगी। किस गाने ने कब मेरा दोस्त बन कर मेरी बेचैन रूह को साथ खड़े होने का एहसास दिलाया। कौन सा गाना कब मेरे अकेलेपन का हमसफ़र बना।

ये सब बातें वहीं करेंगे।

□□

क्या यहाँ वह जगह बन रही है ? -

जब मैं बताऊँ कि मुझे सोते समय सपने बहुत आते हैं। बहुत से सपने याद भी रहते हैं। कई सपने सालों साल याद रहते हैं। यहाँ मैं केवल उन याद रह गए सपनों का ज़िक्र करूँगा जिनका संबंध मेरे पढ़ने की दीवानगी से है।

ऐसा कहीं पढ़ा था, हमारे अवचेतन में कुछ स्थान 'घर' बन जाते हैं। मेरे लिए पुस्तकालय, रद्दी की दुकानें, ननिहाल की गोदाम, बुक स्टॉल - ये सब केवल जगहें नहीं हैं; ये वे द्वार हैं जहाँ से मैंने अपने दूसरे जीवन में प्रवेश किया था। शायद ये सब बार बार मुझे इसलिए दिखाई पड़ते हैं क्योंकि स्वप्न में मन उन्हीं गलियारों में लौट जाता है, जहाँ उसने पहली बार स्वयं को पहचाना होता है।

स्वप्न में अक्सर ऐसा स्टेशन या बुक स्टॉल दिखाई देता है जिसे मैंने कभी देखा ही नहीं।

अनजाना रेलवे स्टेशन स्वयं एक संक्रमण का स्थान है - उस स्टेशन पर बुक स्टॉल है, प्लेटफॉर्म की भीड़ मुझे उस बुक स्टाल तक जाने नहीं दे रही। मन में रेल गाड़ी चले जाने का दर लगातार सीटियाँ बज रहा है। तो वह मानो जीवन के हर पड़ाव पर ज्ञान, अनुभव और नई दृष्टि के उपलब्ध होने का संकेत हो सकता है। जैसे हर यात्रा के पहले

एक नई किताब आपका इंतज़ार कर रही हो। बुक स्टाल पर नई किताबों का आकर्षण खींच रहा है। इस ऊहापोह के युद्ध स्थल के बीच नींद का खुल जाना . . . .

कोई स्वप्न विशेषज्ञ इस सबका सटीक अर्थ बता सकता है। मनोविज्ञान की बात माने तो, यह उस खोज का प्रतीक हो सकता है जो अभी समाप्त नहीं हुई। मानो मेरा मन मुझसे कह रहा हो - *"अभी एक किताब और बाक़ी है, अभी एक लेखक और मिलेगा, अभी एक कहानी और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।"* यह बाहरी नहीं, शायद भीतरी यात्रा का स्टेशन है।

मैंने अनेक बार लिखा है कि किताबों ने मुझे गढ़ा है। मुझे लगता है अब वे बाहर की अलमारियों से उठकर मेरे भीतर की अलमारियों में बस चुकी हैं। सपनों में दिखाई देने वाली पुस्तक की दुकानें शायद मेरी अपनी स्मृति का पुस्तकालय हैं, जहाँ मेरी पढ़ी हुई किताबें, मेरे अनुभव और मेरे द्वारा लिखे जाने वाले संभावित शब्द सब एक साथ रखे हैं।

यदि इसे संस्मरण की भाषा में कहा जाए, तो शायद कुछ ऐसा लिखा जा सकता है –

"आज भी कभी-कभी सपनों में किताबों की दुकानें चली आती हैं। कभी वे वही पुरानी, जानी-पहचानी दुकानें होती हैं जहाँ किशोर उम्र में घंटों खड़ा रहा था, और कभी किसी अनजान रेलवे स्टेशन का छोटा-सा बुक स्टॉल, जहाँ मैं वास्तविक जीवन में कभी नहीं गया। अजीब बात है कि सपने में भी मैं उन अलमारियों पर रखी किताबों के शीर्षक पढ़ने की कोशिश करता हूँ। जैसे किसी विशेष पुस्तक की तलाश हो, जिसका नाम मुझे मालूम नहीं, पर विश्वास है कि वह कहीं मेरा इंतज़ार कर रही है। अब सोचता हूँ, शायद मैं किताबें नहीं खोज रहा होता; अपने ही उस हिस्से को खोज रहा होता हूँ, जो हर अच्छी किताब पढ़ने के बाद थोड़ा-सा बदल जाता था। शायद इसी कारण मेरे सपनों में रेलवे स्टेशन भी पुस्तकालय बन जाते हैं और यात्राएँ किताबों की अलमारियों से होकर गुजरती हैं।

शायद ये स्वप्न मुझे स्वयं को यह समझने की कुंजी दे रहे हैं कि मेरे लिए किताबें वस्तु नहीं, जीवन की एक समानांतर भूगोल थीं और आज भी हैं – ये सच और उनकी स्मृतियाँ इतनी गहरी हैं कि उनका नक्शा आज भी मेरे स्वप्नों में बना हुआ है।"



चलो अब कुछ ऐसी किताबों की भी बातें कर ली जाएँ जो केवल पढ़ी नहीं जातीं, बल्कि धीरे-धीरे भीतर उतरकर जीवन-बोध का हिस्सा बन जाती हैं।

निर्मल वर्मा का 'एक चिथड़ा सुख' मेरे लिए उसी तरह की कुछ पुस्तकों में से एक है।

यह उपन्यास मुझे पहली बार भी बहुत प्रभावित कर गया था, लेकिन बाद में जब मैंने इसे फिर से पढ़ा, तब इसका अर्थ और भी गहरा, और भी निजी हो गया। यह उपन्यास मैं अब कभी भी कहीं से भी पढ़ लेता हूँ। हर बार उस अंश में कोई नया अर्थ प्रकट हो जाता है। यह उपन्यास बाहर से भले कुछ आधुनिक, अकेले, मध्य वर्गीय पात्रों की कहानी दिखाई देता है, पर भीतर से वह मनुष्य की उस स्थायी स्थिति की कथा है जिसमें वह दूसरों के बीच रहकर भी अकेला है, बोलकर भी अनकहा है, और जुड़ने की कोशिश करते हुए भी भीतर कहीं टूटता हुआ चलता है। बिट्टी, मुन्नू, डैरी और इरा जैसे पात्र किसी पारंपरिक कथा-सूत्र में नहीं बँधते; वे अपने-अपने ढंग से आधुनिक जीवन की विखंडित चेतना को जीते हैं। इन सबके बीच 'बिट्टी' विशेष रूप से मुझे गहरे छूती है, क्योंकि वह केवल एक स्त्री-पात्र नहीं, बल्कि उस मनुष्य की छवि है जो संवेदनशील तो है, पर जीवन के भीतर फैले खालीपन से मुक्त नहीं हो पाता। उसके भीतर जो उदासी, असंतोष, और अपूर्णता है, वह किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि पूरे समय की पीड़ा जैसी लगती है।

'मुन्नू' इस उपन्यास में उस भटकी हुई युवा चेतना का प्रतीक है जो कहीं टिक नहीं पाती। उसमें ऊर्जा है, आकांक्षा है, आकर्षण है, लेकिन दिशा नहीं है। वह अपनी बहन बिट्टी और डैरी के बीच एक तरह के भावनात्मक खिंचाव में रहता है, और इसी खिंचाव में आधुनिक मनुष्य की अस्थिरता दिखाई देती है। 'डैरी' मुझे विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण लगते हैं, क्योंकि वे रंगमंच से जुड़े होकर भी एक ऐसे जीवन में जीते हैं जो

स्वयं किसी अधूरे अभिनय की तरह है। उनकी उपस्थिति में अतीत का बोझ है, स्मृति की थकान है, और एक ऐसा ठहराव है जो बाहर से स्थिर दिखता है, लेकिन भीतर से लगातार कुछ खोता रहता है। इरा आधुनिकता, स्वतंत्रता और आंतरिक द्वंद्व का जटिल रूप है। वह बाहर से आत्मनिर्भर और दृढ़ दिखाई देती है, लेकिन भीतर से उतनी ही अकेली और अनसुलझी है। इन सब पात्रों के माध्यम से निर्मल वर्मा यह दिखाते हैं कि आधुनिक संबंध अक्सर पास रहकर भी दूर रहते हैं, साथ रहते हुए भी एक-दूसरे के लिए अजनबी बने रहते हैं।

इस उपन्यास में मुझे सबसे अधिक जो बात आकर्षित करती है, वह है उसका मौन। निर्मल वर्मा के यहाँ शब्दों से अधिक अनकहा महत्व रखता है। वे संवादों के बीच की चुप्पी, पात्रों के भीतर की हिचक, और वाक्यों के नीचे छिपी बेचैनी को इस तरह रचते हैं कि पाठक केवल कहानी नहीं पढ़ता, बल्कि एक मानसिक वातावरण में प्रवेश करता है। 'एक चिथड़ा सुख' शीर्षक स्वयं जीवन की पूरी दार्शनिकता को समेटे हुए है। सुख यहाँ पूर्ण, स्थायी या विजयी रूप में नहीं है; वह फटे हुए कपड़ों के टुकड़ों की तरह बिखरा हुआ, सीमित और अस्थायी है। मनुष्य को जीवन में जो थोड़ा-बहुत आनंद मिलता है, वह किसी समग्र सिद्धि के रूप में नहीं, बल्कि टूटी-बिखरी स्मृतियों, क्षणिक निकटताओं, अधूरे संवादों और असंतुष्ट आकांक्षाओं के बीच से उठता हुआ एक छोटा-सा सहारा है। शायद यही इस उपन्यास का सबसे बड़ा सत्य है कि पूर्णता मनुष्य के लिए संभव नहीं, और जो जीवन मिला है, उसी के चिथड़ों को जोड़कर कोई अर्थ, कोई गर्मी, कोई सहारा बनाना पड़ता है।

उपन्यास में दिल्ली केवल एक शहर नहीं है, वह स्वयं एक जीवित प्रतीक है। वह अजनबीयत, भीड़, थकान, और आधुनिक जीवन की कठोरता का ऐसा रूप है जहाँ मनुष्य भीड़ में रहकर भी एकांत में धँसा रहता है। पुराने खंडहरों और धुंध से भरी यह दिल्ली मुझे उस मानसिक भूगोल की तरह लगती है जिसमें वर्तमान अतीत के मलबे पर खड़ा है। यहाँ हर पात्र किसी न किसी तरह अपने अस्तित्व को बचाने की कोशिश कर रहा है, लेकिन कोई भी पूरी तरह सुरक्षित नहीं है। यह शहर उनके भीतर की टूटन को बाहर से प्रतिबिंबित करता है। इसी तरह बौने और सिंहासन पर बैठी बुढ़िया का

दृश्य भी मुझे अत्यंत मार्मिक और दार्शनिक लगता है। बौना मानवीय लाचारी, सीमितता और नियति की क्रूरता का प्रतीक है, जबकि बुढ़िया का देखना समय, समाज या नियति की उस निष्क्रिय दृष्टि जैसा है जो मनुष्य के दुख को घटित होते हुए केवल देखती रहती है। "बौना भोगता था और बुढ़िया देखती थी" - यह वाक्य मानो मनुष्य की पूरी अवस्था को एक ही चित्र में बांध देता है। हम सब अपने जीवन के तमाशे में भोगने वाले पात्र हैं, और समय अक्सर केवल देखने वाला दर्शक बनकर रह जाता है।

इस उपन्यास में बार-बार आती रिहर्सल भी बहुत अर्थपूर्ण है। वह केवल रंगमंच की तैयारी नहीं, बल्कि स्वयं जीवन की पुनरावृत्ति है। पात्र जैसे अभिनय और यथार्थ के बीच की रेखा खो चुके हैं। वे बार-बार अभ्यास करते हैं, लेकिन किसी अंतिम प्रस्तुति की ओर नहीं बढ़ते। यह अंतहीन तैयारी जीवन की निरर्थकता और अपूर्णता का सूचक बन जाती है। मनुष्य भी बहुत कुछ करता है, बहुत कुछ जोड़ता है, बहुत कुछ संभालता है, लेकिन किसी अंतिम अर्थ तक नहीं पहुँच पाता। फिर भी, इन्हीं अधूरे प्रयासों में उसका जीवन टिका रहता है। बिट्टी की बरसाती जैसे छोटे-छोटे प्रतीक इस कठोर और शुष्क संसार में अस्थायी शरण का आभास देते हैं। मानो जीवन की बेगानी हवाओं में कुछ क्षणों की ओट ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ी सुविधा हो।

इसलिए ‘एक चिथड़ा सुख’ मुझे केवल एक उपन्यास नहीं, बल्कि जीवन की विखंडित सच्चाई का अत्यंत सूक्ष्म और करुण चित्र लगता है। यह मुझे सिखाता है कि मनुष्य को पूर्णता नहीं, बल्कि अपूर्णता में भी जीने की कला सीखनी पड़ती है; कि सुख अक्सर बड़ा नहीं होता, वह चिथड़ों की तरह छोटा, टूटा और बिखरा हुआ होता है; और कि आधुनिक जीवन की अजनबीयत के बीच भी कुछ क्षण, कुछ रिश्ते, कुछ स्मृतियाँ हमें सँभाल लेते हैं। यही इस उपन्यास की गहरी उपलब्धि है - कि वह दुख को भी सुंदर नहीं बनाता, और सुख को भी झूठी पूर्णता नहीं देता, बल्कि जीवन को उसी उसकी टूटी हुई, सचमुच वाली शक्ल में हमारे सामने रख देता है।



निर्मल वर्मा का ही ‘अंतिम अरण्य’ भी मेरे लिए केवल एक उपन्यास नहीं, बल्कि जीवन के उस गहरे और मौन क्षेत्र का अनुभव है जहाँ शब्द बहुत कम हो जाते हैं और

अनुभूति बहुत अधिक। यह किताब उन विरल उपन्यासों में है जिन्हें पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि हम कोई कथा नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर फैले हुए मौन का भूगोल अपनी आँखों से देखकर और जीकर लौटे हैं। मेहरा साहब का चरित्र आज भी मेरे भीतर वैसा ही जीवित है। जीवन के अंतिम पड़ाव पर खड़ा वह व्यक्ति, जो बाहर से संयत दिखाई देता है, पर भीतर स्मृतियों, पछतावों और अनकहे भावों का एक पूरा जंगल समेटे हुए है। उन्हें पढ़ते हुए कई बार लगा कि उम्र बढ़ने के साथ मनुष्य घटनाओं से नहीं, अपनी यादों से घिरने लगता है। जब यह पुस्तक पहली बार प्रकाशित हुई थी, तभी मैंने इसे पढ़ लिया था। बाद में दो-तीन वर्ष पश्चात उसे फिर से पढ़ा, और तब उसके अर्थ और अधिक खुलते हुए प्रतीत हुए। पहली बार पढ़ते समय वह एक उत्कृष्ट साहित्यिक कृति लगी थी; दूसरी बार उसने भीतर कहीं अधिक गहरा प्रवेश किया। समय के साथ मेरे भीतर भी जीवन के कुछ अनुभव जुड़ते गए, और अब, 71 वर्ष की आयु में, जब इसी वर्ष पत्नी का वियोग सहना पड़ा है, तब यह उपन्यास मुझसे सीधे-सीधे संवाद करता हुआ लगता है। इसकी कहानी बाहरी घटनाओं की अपेक्षा भीतर के संसार की कहानी है-स्मृति, अकेलापन, बुज़ुर्ग होती देह, रिश्तों की नाज़ुकता, और मृत्यु की छाया में जीते हुए मनुष्य की चुप पीड़ा की कहानी। यही कारण है कि यह पुस्तक मुझे अब किसी साहित्यिक रचना से अधिक, अपने ही जीवन की प्रतिध्वनि प्रतीत होती है।

मेहरा साहब और दीवा का संबंध मुझे विशेष रूप से इसलिए प्रभावित करता है, क्योंकि उसमें प्रेम का वह रूप दिखाई देता है जो दिखावे या वाचालता पर नहीं, बल्कि वर्षों की संगति, आदत, करुणा और मौन सहजीवन पर आधारित है। उनके संबंध में रोमानी आवेग नहीं है, लेकिन उसके स्थान पर एक ऐसी आत्मीयता है जो जीवन की कठिनाइयों में और भी सघन हो जाती है। दीवा की बीमारी, उनके शरीर की क्षीणता और □□ने वाले अंत की आहट केवल एक स्त्री की कथा नहीं रह जाती; वह उस समूचे जीवन-क्रम की याद दिलाती है जिसमें एक साथी का धीरे-धीरे छूट जाना दूसरे साथी के भीतर भी एक नया और असह्य शून्य रच देता है। दीवा की सबसे बड़ी चिंता अपने लिए नहीं, बल्कि मेहरा साहब के लिए है। वे जानती हैं कि उनके बाद मेहरा साहब का जीवन कैसे बदलेगा, और इसी चिंता में उनका प्रेम अपने सबसे करुण और

उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है। यह प्रेम अधिकार का नहीं, देखभाल का प्रेम है; साथ निभाने का नहीं, साथ के टूटने के बाद भी दूसरे को टूटने से बचाने का प्रेम है। इसी भाव ने मुझे हमेशा गहराई से छुआ है। दीवा का चरित्र भी मुझे उतना ही मार्मिक लगा। वे उपन्यास में उपस्थित होकर भी कहीं अनुपस्थित रहती हैं । उनके होने और न होने के बीच जो रिक्तता निर्मल वर्मा रचते हैं, वही इस उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति है। और तिया-मेहरा साहब की बेटी-पिता से प्रेम करती हुई भी उनके भीतर तक पहुँच नहीं पाती। दोनों के बीच फैली हुई चुप्पियाँ शायद उन शब्दों से कहीं अधिक अर्थपूर्ण हैं जो वे कभी-कभार बोलते हैं। इस उपन्यास ने मुझे पहली बार इतनी तीव्रता से महसूस कराया कि एक ही घर में रहते हुए भी मनुष्य एक-दूसरे के लिए कितने अपरिचित बने रह सकते हैं।

कथावाचक निरंजन भी मुझे केवल एक पात्र नहीं लगा। कई बार ऐसा लगा मानो वह पाठक का ही प्रतिनिधि हो-चुपचाप सबको देखता हुआ, सुनता हुआ और उनके जीवन के बिखरे हुए अर्थों को जोड़ने का प्रयास करता हुआ। अन्नाजी जैसे पात्र इस कथा में एक मानवीय ऊष्मा जोड़ते हैं। वे बताते हैं कि जीवन के अंतिम दिनों में भी छोटी-छोटी आत्मीयताएँ मनुष्य को टूटने नहीं देतीं।

जब पहली बार *'अंतिम अरण्य'* पढ़ा था, तब उसकी भाषा और वातावरण ने मुझे आकर्षित किया था। वर्षों बाद दोबारा पढ़ा तो लगा कि इसका वास्तविक कथानक घटनाओं में नहीं, पात्रों के भीतर घटता है। उनके बीच जितना कहा गया है, उससे कहीं अधिक अनकहा रह जाता है। शायद इसीलिए यह उपन्यास हर बार नया अर्थ लेकर सामने आता है।

चित्र बनाते समय भी कई बार मुझे मेहरा साहब का वह शांत, धुंधला-सा संसार याद आता है। कैनवास पर उभरती रिक्त जगहों में, अधूरी रेखाओं में और रंगों के बीच बची हुई सफेदी में मुझे *'अंतिम अरण्य'* का वही मौन दिखाई देता है। निर्मल वर्मा ने मुझे यह सिखाया कि साहित्य और चित्रकला दोनों की सबसे बड़ी शक्ति अक्सर उस बात में होती है जिसे वे पूरी तरह कह नहीं देते। शायद इसी कारण यह उपन्यास मेरे लिए केवल एक पुस्तक नहीं, बल्कि जीवन के उत्तरार्ध में साथ चलने वाला एक ऐसा आत्मीय

सहयात्री है, जो हर पुनर्पाठ में मुझे मेरे ही भीतर के किसी नए अरण्य से परिचित करा देता है।

आज जब मैं अपने जीवन के इस चरण में पत्नी-वियोग का अनुभव कर रहा हूँ, तब 'अंतिम अरण्य' का संसार मेरे लिए और भी निकट हो गया है। पत्नी का चले जाना केवल एक व्यक्ति का चले जाना नहीं होता; वह दिनचर्या, संवाद, स्मृतियों, आदतों, छोटे-छोटे इशारों और जीवन की सामूहिक रचना का बिखर जाना होता है। हर घर के भीतर जो अनकही भाषा होती है, उसका एक बड़ा हिस्सा उसी के साथ चला जाता है। फिर मनुष्य बाहर से भले सामान्य दिखे, भीतर एक रिक्त स्थान लेकर चलता है। इसी रिक्तता को निर्मल वर्मा अत्यंत संयम और संवेदनशीलता से व्यक्त करते हैं। वे करुणा को शोर नहीं बनाते, पीड़ा को नाटकीय नहीं करते, बल्कि उसे उतनी ही शांति से रचते हैं जितनी शांति से वह वास्तविक जीवन में घटती है। यही कारण है कि यह उपन्यास मेरे निजी अनुभव से एकदम जुड़ जाता है। इसमें मुझे अपने भीतर का अकेलापन, अपने समय की थकान, और स्मृति की वह तासीर दिखाई देती है जो वियोग के बाद और तीव्र हो जाती है।

इस पुस्तक ने मुझे यह भी सिखाया कि कुछ रचनाएँ जीवन के किसी एक कालखंड की नहीं, बल्कि कई कालखंडों की संगति में पढ़ी जाती हैं। युवा अवस्था में जो पुस्तक केवल मन को आकर्षित करती है, वही वृद्धावस्था में आत्मा को छूने लगती है। तब पाठक केवल पाठक नहीं रहता; वह अपने अनुभवों के साथ उस कृति में प्रवेश करता है। 'अंतिम अरण्य' मेरे लिए ऐसा ही पाठ है। उसमें मुझे जीवन की अंतिम ऋतु का धैर्य, प्रेम की निस्तब्ध गरिमा, और मृत्यु के सामने मनुष्य की विवश किंतु गरिमामयी स्थिति दिखाई देती है। इसलिए मैं अपने आत्मकथात्मक लेखन के "शब्द तिलिस्म" जैसे अध्याय में इस पुस्तक का उल्लेख करना चाहूँगा, क्योंकि इसने मेरे भीतर यह समझ दृढ़ की है कि कुछ किताबें समय के साथ हमारे जीवन का हिस्सा बन जाती हैं। वे केवल पढ़ी नहीं जातीं, वे जी जाती हैं; और जब जीवन अपनी कठिनतम सच्चाइयों के साथ सामने आता है, तब वही पुस्तकें हमें अपने भीतर से देखने का साहस देती हैं।



एक और बहुत प्यारी पुस्तक का उल्लेख ज़रूर करना चाहूँगा और ये भी बताऊँगा कि उस पुस्तक में जो काव्य रचा गया है उसने कैसे मुझे भरभरा के ढह जाने से बचा लिया है। उस काव्य रचना में राधा ने जो प्रश्न कृष्ण से अपने 'कनु' से किये हैं वे मेरे लिए मेरे प्रश्नों के उत्तर बन गए हैं।

धर्मवीर भारती की काव्य कृति 'कनुप्रिया' की 'कनुप्रिया' मुझे हमेशा एक ऐसी स्त्री की तरह लगती है जो प्रेम के केंद्र में रहकर भी उसके बाहरी शोर से दूर, अपने भीतर एक गहरी, शांत, और लगभग अनकही वेदना को जीती है। उसमें जो स्वर है, वह केवल राधा का नहीं, हर उस मनुष्य का है जो प्रेम को केवल पाना नहीं, बल्कि सहना, समझना और अपने भीतर सहेजना भी जानता है। जब मैं उसे पढ़ता हूँ, तो मुझे ऐसा लगता है जैसे कोई पुरानी स्मृति अपने धुँधले किनारों के साथ धीरे-धीरे साफ़ हो रही हो; जैसे किसी बंद कमरे में रखी हुई तस्वीर पर जमी धूल हटाई जा रही हो, और उसके नीचे एक चेहरा उभर रहा हो जिसे मैं वर्षों से पहचानता रहा हूँ, पर नाम नहीं दे पाया। 'कनुप्रिया' मेरे लिए केवल एक काव्य-रचना नहीं, बल्कि प्रेम की वह आत्मकथा है जिसमें विरह किसी अभाव की तरह नहीं, एक परिपक्व उपस्थिति की तरह मौजूद रहता है। उसमें प्रेम की विफलता नहीं, प्रेम की अग्निपरीक्षा है; उसमें टूटन नहीं, टूटन के बाद भी बचे रहने की गरिमा है। और शायद इसी कारण वह मेरे अपने जीवन के उस 'प्रथम प्रेम' के बहुत निकट आ जाती है, जो अब किसी व्यक्ति का नाम भर नहीं रह गया, बल्कि भीतर कहीं एक स्थायी स्पर्श, एक अनकही मर्यादा, और एक ऐसी सांत्वना बन गया है जिसे मैं बार-बार छूकर देखता हूँ।

मैं जब अपने प्रथम प्रेम को याद करता हूँ, तो सबसे पहले कोई घटना नहीं, कोई संवाद नहीं, बल्कि एक मौसम याद आता है। उस प्रेम में भी ऋतु थी, भाषा थी, थोड़ी-सी नादानी थी, और बहुत-सा मौन था। हम दोनों शायद प्रेम को उसके पूरे अर्थ में समझते नहीं थे, फिर भी उसके भीतर ऐसे प्रवेश कर गए थे जैसे कोई बच्चा बिना नक्शे के किसी बाग़ में चला जाए। वहाँ सब कुछ सघन था-आँखों में अजीब-सी चमक, शब्दों में अधूरापन, और दिल में एक ऐसी चुप जो अक्सर सबसे ज़्यादा बोलती थी। कनुप्रिया पढ़ते हुए मुझे लगता है कि धर्मवीर भारती ने भी इसी अधूरेपन को

पहचाना होगा, इसी अनकहे को सुना होगा। राधा का कृष्ण से प्रेम मुझे किसी एक पुरुष से अधिक उस अनुभव जैसा लगता है जिसे हम अपने पहले प्रेम में जीते हैं-जहाँ प्रिय केवल सामने खड़ा व्यक्ति नहीं होता, वह हमारे भीतर खुलता हुआ एक नया आकाश होता है।

लेकिन समय के साथ यह भी समझ में आता है कि पहला प्रेम किसी के साथ 'होने' का कम, और किसी को अपने भीतर 'उगते' हुए देखने की बड़ी मासूम और बहुत कोमल प्रक्रिया अधिक है।

मेरे प्रथम प्रेम की स्मृति आज भी एक कोमल पीड़ा की तरह साथ रहती है। उसमें कोई बड़ा वियोग नहीं था, कोई नाटकीय टूटन नहीं, फिर भी उसका अंत मुझे उसी तरह छू गया जैसे बरसात के बाद सूखी ज़मीन को पानी की अंतिम बूँद छूती है। बहुत कुछ कहा नहीं गया, बहुत कुछ समझ लिया गया, और जो समझा गया वह भी निभाया नहीं जा सका।

यही जगह कनुप्रिया में मुझे सबसे अधिक अपने जैसी लगती है। वहाँ राधा किसी त्रासद नायिका की तरह नहीं, बल्कि किसी ऐसी स्त्री की तरह बोलती है जो जानती है कि प्रेम का सार स्वामित्व में नहीं, स्वीकार में है। वह कृष्ण को पकड़ना नहीं चाहती; वह उसे उसके सम्पूर्ण रूप में समझना चाहती है-उसके आने, जाने, चुनने, और फिर भी स्मृति में ठहरे रहने के अधिकार सहित।

यही प्रेम मेरे लिए भी धीरे-धीरे एक शिक्षा बना। पहले मैं सोचता था प्रेम का अर्थ है साथ रहना; फिर लगा कि प्रेम का अर्थ है याद रहना; और अब लगता है कि प्रेम का अर्थ है किसी की उपस्थिति को अपने भीतर इतना मानवीय बना लेना कि वह अनुपस्थिति में भी कठोर न लगे।

कनुप्रिया की भाषा मुझे इसलिए भी स्पर्श करती है क्योंकि वह बड़े-बड़े भावों का शोर नहीं करती। उसमें एक धीमी, आत्मीय, स्त्री-सुलभ और फिर भी अत्यंत सार्वभौम वेदना है। वह वेदना जिसे मैं अपने भीतर तब महसूस करता हूँ जब किसी पुराने संबंध की याद अचानक किसी साधारण-सी चीज़ से जाग उठती है-किसी गंध से, किसी

गीत से, किसी रास्ते से, या किसी नाम के अनकहे कंपन से। तब मन में एक अजीब-सी नरमी उतर आती है। दर्द भी वैसा नहीं रहता जैसा पहले था; वह तीखा नहीं, कोमल हो जाता है। कनुप्रिया का यही गुण मुझे बहुत प्रिय है कि वह विरह को कुरेदती नहीं, उसे संगीत में बदल देती है। उसमें खोने की करुणा है, पर शिकायत नहीं; उसमें प्रतिक्षा है, पर हताशा नहीं; उसमें प्रेम की परिणति है, पर प्रेम का अपमान नहीं। मेरे प्रथम प्रेम में भी कुछ ऐसा ही हुआ था। जो रिश्ता पूरा नहीं हुआ, उसने मुझे तोड़ा जरूर, पर बदला नहीं। उसने मुझे कटु नहीं बनाया; उलटे मुझे धैर्य, आत्म-निरीक्षण और भावनाओं की गरिमा समझा दी। शायद इसी कारण मैं आज अपने उस अनुभव को दुःख से अधिक एक संस्कार की तरह याद करता हूँ।

धर्मवीर भारती ने कनुप्रिया में जिस स्त्री-आत्मा को रचा है, वह मेरे लिए किसी एक ऐतिहासिक या पौराणिक चरित्र से अधिक एक अंतःकरण की आकृति है। वह आत्मा मुझे बताती है कि प्रेम में सबसे बड़ी पराजय छोड़ दिया जाना नहीं, बल्कि अपने भीतर के प्रेम को खोखला कर देना है। और सबसे बड़ी विजय किसी को पा लेना नहीं, बल्कि उसकी याद को भी मानवीय और उजली बनाए रखना है। मेरे प्रथम प्रेम ने मुझे यही सिखाया कि प्रेम का अर्थ हमेशा उपस्थिति नहीं होता; कभी-कभी वह एक ऐसी आंतरिक उपस्थिति होता है जो जीवन के हर अगले निर्णय में चुपचाप शामिल रहती है। मैंने बाद में जितने भी संबंध देखे, उनमें बहुत कुछ था-सहमति, आदत, आकर्षण, सुविधा-पर वह पहली थरथराहट फिर कभी वैसी नहीं लौटी। शायद इसलिए कि पहला प्रेम किसी दूसरे व्यक्ति से शुरू होकर स्वयं से परिचय तक जाता है। कनुप्रिया इसी पहले पहले परिचय की पुस्तक है। वह यह नहीं पूछती कि कृष्ण कहाँ है; वह यह पूछती है कि कृष्ण के जाने के बाद 'राधा' कौन है। और यह प्रश्न मेरे लिए भी बहुत निजी है। मेरे प्रथम प्रेम के चले जाने के बाद मैंने भी एक दिन खुद से यही पूछा था-उसके बिना मैं कौन हूँ? उत्तर तुरंत नहीं मिला था, पर धीरे-धीरे समझ में आया कि प्रेम केवल किसी दूसरे के लिए स्थान नहीं बनाता, वह हमारे भीतर एक नया कक्ष भी बनाता है, जहाँ संवेदना अधिक गहरी, भाषा अधिक विनम्र, और स्मृति अधिक उजली हो जाती है।

अगर मैं अपनी आत्मकथात्मक दृष्टि से कहूँ, तो कनुप्रिया मेरे अपने प्रेम का कोई सीधा वर्णन नहीं, बल्कि उसका परिष्कृत प्रतिध्वनि-पाठ है। उसमें मुझे अपने पहले प्रेम की वह मासूमियत दिखती है जो समय के साथ समझ में बदल गई; वह आसक्ति दिखती है जो अब आशीर्वाद-सी लगती है; वह अपेक्षा दिखती है जो अब प्रार्थना बन चुकी है। आज जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो उस प्रेम के लिए मेरे भीतर दुख से अधिक कृतज्ञता है। उसने मुझे भावुक नहीं, संवेदनशील बनाया। उसने मुझे यह समझाया कि हर संबंध को पूर्णता की आवश्यकता नहीं होती; कुछ संबंध अधूरे रहकर भी मनुष्य को सम्पूर्ण बनाने की क्षमता रखते हैं। और कनुप्रिया इसी अधूरेपन की सबसे सुंदर अभिव्यक्ति है-वह अधूरा जो टूटा नहीं, बल्कि रूपांतरित हुआ। राधा का मौन, उसकी स्वीकृति, उसका भीतर-ही-भीतर जलना, और फिर भी प्रेम को कलंकित न करना-यह सब मुझे अपने पहले प्रेम की याद में मिलता है। वहाँ भी कोई शोर नहीं था, कोई घोषणा नहीं थी, बस एक ऐसा अनुराग था जो अपने अंत के बाद भी मन को कठोर नहीं बना सका। इसलिए जब मैं 'कनुप्रिया' के पन्नों में लौटता हूँ, तो लगता है जैसे कोई बहुत पुरानी, बहुत निजी उदासी मेरे कंधे पर हाथ रखकर कह रही हो-सब कुछ खोकर भी प्रेम व्यर्थ नहीं जाता। वह कहीं न कहीं, किसी-न-किसी रूप में, हमें और अधिक मनुष्य बना देता है।

और इसी अर्थ में 'कनुप्रिया' मेरे लिए केवल पढ़ी जाने वाली रचना नहीं, बार बार जी लेने वाली अनुभूति है। वह मेरे प्रथम प्रेम की स्मृति पर एक नरम हाथ की तरह फिरती है, जैसे कोई कह रहा हो कि जो चला गया, वह गया जरूर, पर उसकी मधुरता, उसके होने की गर्माहट अब भी बची है। प्रेम की यही सबसे बड़ी सांत्वना है-वह हमें रिक्त नहीं करता, वह हमें भीतर से संवर्धित करता है। मेरे पहले प्रेम ने मेरा कुछ नहीं छीना; उसने मुझे वह दिया जिसे मैं आज भी शब्दों में पूरी तरह कह नहीं सकता। 'कनुप्रिया' उसी अकथनीय को स्वर देती है। वह मेरे भीतर के उस बच्चे, उस युवा, और उस अधेड़ होते मनुष्य-तीनों को एक साथ छूती है। और जब मैं उसे पढ़कर बंद करता हूँ, तो लगता है जैसे प्रेम अभी भी समाप्त नहीं हुआ; उसने बस अपना रूप बदल लिया है। अब वह किसी व्यक्ति की प्रतीक्षा नहीं, बल्कि स्मृति की शांति है; किसी मिलन की आकांक्षा नहीं, बल्कि एक ऐसी अंतर्ध्वनि है जो कहती है-पहला

प्रेम चाहे लौटे नहीं, पर वह हमारे भीतर सांत्वना बनकर, स्नेह बनकर, और जीवन की निस्तब्ध रोशनी बनकर सदा रहता है।



अभी मैं केवल इन तीन पुस्तकों की बातें कर रहा हूँ। फिर कभी कोई मौका बना तो कुछ और किताबों की विस्तृत चर्चा करूँगा। तुम समझ सकते हो – 'कनुप्रिया' के बाद कुछ सेंटी महसूस कर रहा हूँ। इसलिए अभी बस . . . .



परंतु रुकना नहीं है न बात तो आगे बढ़ानी है इसलिए सुनो. . .

ऐसी कुछ और भी किताबें हैं जिन्होंने मेरे अंतर्मन को छुआ है, मुझे वैचारिक स्तर पर परिवर्तित भी किया है। यदि उन सबका वर्णन करने लगूँगा तो – शायद पुस्तक की पृष्ठ संख्या में वृद्धि ही हो। परंतु मेरा क़िस्सा तुम्हारे पर्सपेक्टिव से अपनी जगह पर खड़ा रहेगा।

फिर भी . . . . ऐसी कुछ किताबों के नाम तो मैं यहाँ लिख ही सकता हूँ -

मोहन राकेश की 'अंधेरे बंद कमरे में', 'आषाढ़ का एक दिन', निर्मल वर्मा की 'लाल तीन की छत', विमल मित्र की 'साहिब बीबी और ग़ुलाम', 'खरीदी कौड़ियों के दाम', मनोहर श्याम जोशी की 'कसप', भैरप्पा की 'पर्व', अशोक बाजपेई द्वारा लिखित और संपादित सैयद हैदर रज़ा की आत्म कथा – 'आत्मा का ताप'

अमृता प्रीतम की आत्म कथा 'रसीदी टिकिट', गगन गिल की कविताओं की सभी पुस्तकें, डॉ. राही मासूम रज़ा की 'आधा गाँव'। इस लिस्ट को यहीं रोकता हूँ क्योंकि यदि खुद नहीं रुकूँगा तो ये लिस्ट अपने आप तो रुकेगी नहीं।

इसके बाद भी मैं तुमसे कहूँगा – रवींद्र कालिया की 'ग़ालिब छुटी शराब, हरी शंकर परसाई जी की सभी पुस्तकें, बादल सरकार की 'पगला घोड़ा', शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी की 'कई चाँद थे सरे-आसमाँ' और हाँ इस्मत चुगताई की 'काग़ज़ी है पैरहन' को भी शामिल कर लो।

अभी भी किताबें हैं कि जैसे किसी फ़ैशन परेड की रेंप पर एक के बाद एक आती जा रही हैं।

पर अब बस।



अब हम 'शब्द तिलिस्म' की अगली गली में प्रवेश करते हैं।

इस गली में वे सब लेखक, कवि, अफ़साना-निगार और शायर रहते हैं जिन्होंने मेरी बुनियाद में अपनी-अपनी ओर से एक-एक मजबूत ईंट, एक-एक पत्थर जोड़ा। यदि मैं आज जैसा हूँ, वैसा बन पाया हूँ, तो उसमें मेरे माता-पिता, परिवार और जीवन के अनुभवों के साथ-साथ इन अनदेखे गुरुओं का भी उतना ही हाथ है। उन्होंने मुझे कोई तैयार उत्तर नहीं दिए; उन्होंने मुझे प्रश्नों के साथ जीना सिखाया। उन्होंने मुझे अपने भीतर उतरने का साहस दिया, दुनिया को अलग-अलग कोणों से देखने की दृष्टि दी और मनुष्य को उसकी समूची जटिलता के साथ समझने का धैर्य दिया।

मेरी सोच की मिट्टी में जो भी थोड़ी-बहुत उर्वरता है, वह इन्हीं की लेखनी से आई है। उन्होंने मुझे सिखाया कि जीवन के कठिन प्रश्नों का हल हमेशा तर्क की सीधी रेखा में नहीं मिलता; कई बार वह किसी कहानी के मौन में छिपा होता है, किसी कविता की अधूरी पंक्ति में, किसी उपन्यास के अकेले पात्र की पीड़ा में, या किसी शायर के एक मिसरे में। उन्होंने मुझे यह भी समझाया कि हर सत्य अंतिम सत्य नहीं होता, और हर निर्णय के पीछे एक ऐसी मानवीय कहानी होती है जिसे सुने बिना कोई न्याय नहीं किया जा सकता।

ज़िंदगी के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर चलते हुए जब-जब मैं लड़खड़ाया, तब-तब इन लेखकों के शब्द किसी अदृश्य हाथ की तरह मेरे कंधे पर आ टिके। उन्होंने मुझे गिरकर उठना सिखाया, हारकर भी भीतर की लौ को बचाए रखना सिखाया, और सबसे बढ़कर यह सिखाया कि संवेदनशील बने रहना कमज़ोरी नहीं, बल्कि मनुष्य होने की सबसे बड़ी ताक़त है।

यदि तुमने कभी दूर खड़े होकर मेरी अब तक की जीवन-यात्रा को देखा होगा, तो शायद तुम समझ सकोगे कि मेरे व्यक्तित्व में जो कुछ भी तुम्हें अच्छा दिखाई देता है, वह केवल मेरा अर्जित नहीं है। उसमें इन सबकी साझेदारी है। मैं उनके शब्दों का बना हुआ आदमी हूँ। मेरे भीतर जो भी विचार, जो भी संवेदना, जो भी प्रश्न और जो भी विश्वास है, उनमें कहीं-न-कहीं इन सबकी आवाज़ शामिल है। और यदि तुमने यह यात्रा नहीं देखी, तो मैंने तुम्हें उसका रहस्य बता दिया है। अब विश्वास करना या न करना, यह तुम्हारे ऊपर है।

तो आओ, इस गली में धीरे-धीरे कदम रखते हैं। यहाँ जल्दबाज़ी की कोई जगह नहीं है। हर घर के दरवाज़े पर एक अलग संसार हमारा इंतज़ार कर रहा है। किसी घर से कविता की धीमी-सी धुन सुनाई देगी, किसी से कहानी की आहट, किसी में उपन्यास का लंबा मौन हमारा स्वागत करेगा और किसी चौखट पर कोई शायर मुस्कुराता हुआ मिलेगा। इन्हीं घरों में मेरी आत्मा के अनेक हिस्से बसते हैं। आओ, सबसे पहले उस पहले मकान का दरवाज़ा खटखटाते हैं, जहाँ से मेरी साहित्यिक यात्रा ने सचमुच अपनी पहली साँस ली थी।

□□

यह कोई साधारण गली नहीं है।

शहर के किसी नक्शे में इसका नाम नहीं मिलेगा। किसी नगरपालिका ने इसे कभी पक्का नहीं कराया। इसकी कोई स्ट्रीट लाइट नहीं, कोई मकान नंबर नहीं। फिर भी यह मेरे जीवन की सबसे आबाद गली है। यह मेरी स्मृतियों के नगर में बसी हुई वह गली है जहाँ वे सब रहते हैं जिन्होंने मेरे भीतर के मनुष्य को गढ़ा। जिन्होंने मेरी भाषा को स्वर दिया, मेरी संवेदना को आकार दिया, मेरे विचारों को दिशा दी और मेरी कल्पना को आकाश दिया।

यह वह गली है जहाँ हर घर एक किताब से बना है। कहीं खिड़कियाँ कविताओं की हैं, कहीं बरामदे उपन्यासों के, कहीं आँगन कहानियों के। मैं अपनी किशोरवय से एक पाठक की तरह इन घरों में आता जाता रहा हूँ। कभी किसी घर में घंटों बैठा रहता हूँ।

किसी घर में जब भी ज़रूरत महसूस की चक्कर लगा लेता हूँ। ये सिलसिला तब से आज तक बदस्तूर जारी है।

यदि आज मैं कुछ सोच पाता हूँ, कुछ महसूस कर पाता हूँ, कुछ लिख पाता हूँ, तो उसकी नींव की ईंटें इसी गली के घरों से आई हैं।

जब भी इनमें से किसी भी घर का फेरा लगाकर बाहर निकलता हूँ तो मैं पहले जैसा नहीं रहता। कहीं मेरे भाषा सँवरती है, कहीं दृष्टि, कहीं संवेदना, कहीं विचार। तुम धीरे-धीरे समझ पाओगे कि मेरी अपनी लेखनी में इन अलग-अलग घरों से मिली मिट्टी, पानी, धूप और हवा मिली हुई है। मेरी इन स्मृतियाँ को तुम एक तरह से मेरे व्यक्तित्व के निर्माण का वृत्तांत समझ सकते हो।

चलो, मैं तुम्हें उस गली में ले चलता हूँ।

गली के आरम्भ में सबसे पहले जो घर दिखाई देता है, उसके दरवाज़े पर 'मोहन राकेश' खड़े हैं। चेहरे पर एक शांत उदासी, आँखों में बेचैन प्रश्न। उन्होंने मुझे सिखाया कि कहानी केवल घटनाओं का सिलसिला नहीं होती; वह मनुष्य के भीतर घटती हुई अनकही हलचलों का दस्तावेज़ भी होती है। उनके पात्र बोलते कम हैं, चुप ज़्यादा रहते हैं, लेकिन उन्हीं चुप्पियों में जीवन का सबसे गहरा संगीत छिपा होता है। उनसे मैंने सीखा कि भाषा जितनी संयमित होती है, उतनी ही अधिक प्रभावशाली हो जाती है।

थोड़ा आगे बढ़ते ही 'निर्मल वर्मा' का घर आता है। वहाँ जैसे हमेशा हल्की-सी धूप हवा में तैरती रहती है, हवा को उजाला भी देती है और साथ ही थोड़ी सी छाँव भी, हल्का गुनगुना भी कर देती है और किसी झरने के पानी स शीतल भी। खिड़कियों से हवा नहीं जैसे स्मृतियाँ धीरे-धीरे भीतर आती जाती हैं और समय मानो ठहर के एक टक उन्हें देखता रह जाता है। वहाँ भाषा किसी नदी की तरह बहती नहीं, बल्कि किसी शांत झील की तरह भीतर उतरती है। मुझे पता नहीं क्यों ऐसा लगता है कि उन्होंने ही मुझे बताया है – "स्मृतियाँ केवल बीता हुआ समय नहीं होतीं; वे वर्तमान की साँसों में भी जीवित रहती हैं।"

उनकी रचनाओं ने मुझे अपने भीतर झाँकना सिखाया, मौन को सुनना सिखाया और यह समझाया कि मनुष्य का सबसे बड़ा संघर्ष अक्सर उसी के भीतर चलता है।

गली का अगला घर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है। वहाँ प्रवेश करते ही ऐसा लगता है जैसे साहित्य, संगीत, चित्रकला और दर्शन एक ही आँगन में बैठकर बातचीत कर रहे हों। उन्होंने मुझे प्रकृति से प्रेम करना सिखाया। मनुष्य की आत्मा की असीम स्वतंत्रता का बोध कराया। उनकी लेखनी में करुणा भी है, सौंदर्य भी, आध्यात्मिकता भी और विश्व मानव का स्वप्न भी। उनसे मैंने जाना कि साहित्य केवल समाज का नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि का उत्सव भी हो सकता है। ये विश्व कितना सुंदर है यह मैंने उनसे ही सीखा, प्रकृति जिस तरह अपने को प्रकट करने में कोई संकोच कोई झिझक नहीं महसूस करती तो हम क्यों करें। हम भी तो उसी का एक अंश हैं – सुंदर तम अंश हैं। वह सब सत्य है, शिव है और इसीलिए तो सुंदर है। जो कुछ भी अगर है तो सुंदर ही है। सौंदर्य को अनुभव करने उसे जीने और अपने में उतारने का सबक मुझे गुरुदेव से ही प्राप्त हुआ है। जब भी मुझे किसी क्षण किसी भी चीज़ में सोच में, कर्म में या वाणी में मैं इस घर में आ जाता हूँ।

पास ही 'आशापूर्णा देवी' रहती हैं। उनका घर किसी बड़े महल जैसा नहीं, एक साधारण मध्य वर्गीय घर है। पर उसी घर की चौखट पर भारतीय स्त्री के संघर्ष, उसके मौन विद्रोह और उसकी असंख्य अनकही पीड़ाएँ बैठी दिखाई देती हैं। उन्होंने बिना किसी शोर के स्त्री की दुनिया को ऐसी प्रामाणिकता से लिखा कि पाठक स्वयं उसके भीतर प्रवेश कर जाता है। उनसे मैंने सीखा कि सबसे बड़ी क्रांतियाँ कभी-कभी रसोई और आँगन में जन्म लेती हैं।

'महादेवी वर्मा' का घर किसी आश्रम की तरह लगता है। वहाँ करुणा की धूप फैली रहती है। उनकी कविता में विरह है, पीड़ा है, लेकिन वह निराशा की नहीं, आत्मा की साधना की पीड़ा है। उन्होंने मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षियों तक के प्रति करुणा का संसार रचा। उनसे मैंने जाना कि संवेदनशील होना कमज़ोरी नहीं, मनुष्य होने की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि करुणा का दरिया हमारे भीतर बह रहा हो तो हम सही मायने में ईश्वर के

प्रतिनिधि हैं। फिर बड़े से बड़ा झंझा वात भी हमारे विश्वास और भरोसे के दीपक को नहीं बुझा सकेगा।

'अज्ञेय' का घर इस गली का सबसे विचारशील घर है। पुस्तकें, चित्र, यात्राओं की स्मृतियाँ और प्रयोगों की अनगिनत दिशाएँ। उन्होंने साहित्य को नए रास्ते दिए। आत्मान्वेषण, आधुनिकता, भाषा के नए प्रयोग और व्यक्ति की स्वतंत्रता - इन सबका पाठ मैंने उनसे पढ़ा। उन्होंने मुझे सिखाया कि लेखक का सबसे बड़ा दायित्व अपनी स्वतंत्र दृष्टि को बचाए रखना है। मेरे संदर्भ में ये बात थोड़ी विरोधाभासी लगती है, पर मैं समझता हूँ स्वतंत्र दृष्टि से पहले 'देखने का हुनर' तो किसी गुरु से सीखना पड़ेगा न। वही सब कुछ उनसे सीखता चल रहा हूँ।

'महाकवि निराला' के घर पहुँचते ही हवा का स्वर बदल जाता है। वहाँ विद्रोह भी है, करुणा भी और अद्भुत स्वाभिमान भी। उनकी कविता किसी बंधन को स्वीकार नहीं करती। उन्होंने भाषा को मुक्त किया, छंद को मुक्त किया और मनुष्य की गरिमा को सबसे ऊपर रखा। उनसे मैंने सीखा कि साहित्य में साहस, सौंदर्य जितना ही आवश्यक है।

थोड़ा आगे प्रेमचंद का घर है। उसका दरवाज़ा हमेशा खुला रहता है। किसान, मजदूर, स्त्रियाँ, बच्चे, बूढ़े - सब वहाँ आते-जाते रहते हैं। प्रेमचंद ने मुझे भारत का चेहरा दिखाया। उन्होंने सिखाया कि साहित्य केवल सौंदर्य का नहीं, न्याय का भी माध्यम है। उनके पात्र आज भी हमारे बीच चलते-फिरते दिखाई देते हैं क्योंकि वे जीवन से उठकर आए हैं।

उनके पड़ोस में कृशन चंदर रहते हैं। उनके यहाँ यथार्थ भी है, कल्पना भी; व्यंग्य भी है, करुणा भी। उनकी भाषा में ऐसी रवानी है कि गंभीर से गंभीर बात भी सहज लगने लगती है। उन्होंने मुझे सिखाया कि कहानी पाठक के दिल तक पहुँचने के लिए भारी-भरकम होने की मोहताज नहीं होती।

थोड़ी ही दूर हरिशंकर परसाई का घर है। बाहर से देखने पर लगता है जैसे वहाँ हर समय हँसी गूँज रही हो, पर भीतर जाकर पता चलता है कि वह हँसी समाज के सबसे

गहरे घावों की शल्य-चिकित्सा कर रही है। उन्होंने मुझे बताया कि व्यंग्य केवल मनोरंजन नहीं, अन्याय के विरुद्ध सबसे तीखा हथियार भी हो सकता है। इस पूरी गली में यही एक ऐसा घर है जिसके निवासी से मेरी केवल पुस्तकों के माध्यम से नहीं, जीवन में भी भेंट हुई थी। बाक़ी सबने मुझे अपनी किताबों के पन्नों से छुआ, "*पर हरिशंकर परसाई ने एक दिन सचमुच अपने हाथों से मेरे सिर पर पुरस्कार रखकर मुझे आशीर्वाद दिया था। तब मैं नहीं जानता था कि मंच पर खड़ा यह व्यक्ति आगे चलकर हिन्दी व्यंग्य का सबसे ऊँचा शिखर बनकर मेरी चेतना में बस जाएगा। उस दिन पुरस्कार मेरे हाथ में आया था; आज लगता है, उससे कहीं बड़ा पुरस्कार उनकी दृष्टि और उनकी लेखनी से मिला।*"

अब ये, इनके पड़ोस में 'अमृता प्रीतम' का घर है, जैसे किसी कविता का विस्तार। वहाँ प्रेम है, विरह है, स्त्री की आत्मा की स्वतंत्र पुकार है और विभाजन की असह्य पीड़ा भी। उनकी लेखनी ने मुझे सिखाया कि प्रेम और पीड़ा एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक ही अनुभव के दो स्वर हैं। प्रेम मनुष्य को खोलता है, और पीड़ा उसे गहरा करती है। प्रेम हमें दुनिया के निकट ले जाता है, जबकि पीड़ा हमें अपने भीतर उतरना सिखाती है। प्रेम ने मुझे लोगों और संबंधों पर विश्वास करना सिखाया, जबकि पीड़ा ने मुझे टूटे बिना झुकना, खोकर भी अपने को बचाए रखना और हर अँधेरे के भीतर एक छोटी-सी रोशनी खोज लेना सिखाया। इन्हीं दोनों ने मिलकर मुझे वह मनुष्य बनाया जो आज मैं हूँ।

'धर्मवीर भारती' के घर में प्रवेश करते ही इतिहास, मिथक और आधुनिक मनुष्य एक साथ दिखाई देते हैं। उनकी भाषा में काव्यात्मकता है, विचार है और गहरी मानवीय संवेदना है। उन्होंने मुझे बताया कि अतीत केवल संग्रहालय में नहीं रहता; वह वर्तमान के भीतर लगातार साँस लेता है। या इसे तुम इस तरह से भी समझ सकते हो कि अतीत वह नींव है जिसके ऊपर वर्तमान की इमारत पल-प्रति पल बनती जाती है। उनकी कविताओं ने मेरी शुरुआती कविताओं को एक निश्चित दिशा दिखाई। 'कनुप्रिया' निश्चित रूप से मुझे सबसे अधिक प्रभावित करने वाली काव्य पुस्तक है। कनुप्रिया के प्रश्न शाश्वत और सनातन हैं। इन प्रश्नों का उत्तर तो ईश्वर भी आज तक नहीं दे सका है।

अकेले होने की पीड़ा ईश्वर से अधिक और किसने भोगी है, किन्तु उसके अपने मन में भी जो सवाल उठे होंगे क्या वह उनके उत्तर सोच पाया होगा। यह एक बात जन्मों जन्मों के अनुत्तरित प्रश्नों से अटी हुई है। तुम सोच सकते हो भारती जी के पास कितना कुछ है सीखने के लिए।

'राही मासूम रज़ा' का घर इस गली का सबसे जीवंत चौपाल है। वहाँ गंगा-जमुनी तहज़ीब साँस लेती है। भाषा किसी सीमा को नहीं मानती। गाँव, कस्बा, राजनीति, धर्म, प्रेम और मनुष्य - सब एक साथ उपस्थित हैं। उनसे मैंने सीखा कि भारत की असली पहचान उसकी विविधता और उसकी साझी संस्कृति में है।

मनोहर श्याम जोशी का घर सबसे अनोखा है। वहाँ गंभीरता और शरारत साथ-साथ रहती हैं। कथा कभी सीधी नहीं चलती, नए मोड़ लेती रहती है। उन्होंने मुझे बताया कि जीवन जितना जटिल है, साहित्य भी उतना ही बहुरंगी हो सकता है। प्रयोग करने से डरना नहीं चाहिए। 'कुरु कुरु स्वाहा' एक अद्भुत पुस्तक ही नहीं अभूतपूर्व शिक्षक भी है। अब ये तुम्हारे ऊपर है तुम कितना सीखते हो। और 'कसप' भी तो मील का पत्थर है। जो न सिर्फ़ ये बोध कराती है तुम कहाँ तक पहुँचे हो बल्कि ये भी बताती है – सही जा रहे हो।

'कुंअर नारायण' का घर इस गली का सबसे शांत घर है। वहाँ शब्द बहुत कम हैं, लेकिन अर्थ बहुत गहरे। उनकी कविता विचार और संवेदना का दुर्लभ संतुलन है। उन्होंने मुझे सिखाया कि मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म प्रश्न पूछते रहना है और हर उत्तर को अंतिम सत्य मान लेने से बचना चाहिए।

और गली के बिल्कुल अंतिम छोर पर ओशो रहते हैं।

उनका घर किसी परंपरागत घर जैसा नहीं लगता। वह अधिक एक खुला आकाश है। वहाँ न कोई निश्चित द्वार है, न निश्चित मार्ग। उनके पास बैठकर मैंने सीखा कि उधार के सत्य कभी अपने नहीं हो सकते। हर मनुष्य को अपनी आँखों से देखना, अपने अनुभव से समझना और अपनी चेतना से जीना होगा। उन्होंने की खोज करनी है तो अकेले चलने का साहस भी रखना होगा।

जब मैं इस पूरी गली को पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समझ में आता है कि इन सबके घर अलग-अलग हैं, उनकी भाषाएँ अलग हैं, उनके विचार अलग हैं, उनके रास्ते अलग हैं; फिर भी किसी अदृश्य पुल से वे सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। और शायद उसी पुल पर चलते-चलते मैं वहाँ तक पहुँचा हूँ जहाँ आज खड़ा हूँ।

मेरी लेखनी में यदि कहीं मोहन राकेश की चुप्पियाँ हैं, निर्मल वर्मा का स्मृति-बोध है, रवीन्द्रनाथ का आकाश है, प्रेमचंद की मिट्टी है, परसाई की मुस्कान है, अमृता प्रीतम की पीड़ा है, राही मासूम रज़ा की साझी संस्कृति की सुखद बयार है, कुंअर नारायण की विचारशीलता है या ओशो की प्रश्नाकुलता है, तो वह किसी अनुकरण का परिणाम नहीं, बल्कि इस गली में, इन घरों में बरसों से आते जाते रहने का स्वाभाविक प्रतिफल है।

□□

मैं आज भी उस गली में आता जाता हूँ, उस गली से होकर गुज़रता हूँ, वहाँ समय बिताता हूँ।

मेरी अपनी भाषा जब भी लड़खड़ाने लगती है, मैं निर्मल वर्मा के बरामदे में कुछ देर बैठ आता हूँ।
जब कभी किसी सामाजिक विसंगति पर क्रोध आता है, मैं परसाई जी के आँगन का चक्कर लगा लेता हूँ। जब भी मेरा विश्वास डगमगाता है, प्रेमचंद के घर की चौखट पर बैठ जाता हूँ।
जब भाषा बहुत अलंकृत होने लगती है, या भारी लगने लगती है, मोहन राकेश मुझे दो-चार अनावश्यक शब्द हटाने की सलाह दे देते हैं।
और जब सारे उत्तर व्यर्थ लगने लगते हैं,

मैं गली के अंतिम छोर पर बने

'ओशो' के खुले आकाश के नीचे जाकर चुपचाप बैठ जाता हूँ।

□□

तुम पूछ रहे हो- अंत में ये खाली मकान किसका है ?

उस पर कोई नाम पट्ट भी नहीं है ?

मेरा उत्तर तुम्हें शायद अटपटा लगे और अजीब भी – क्योंकि मुझे स्वयं नहीं पता इस खाली घर में कौन रहने आएगा ?

"शायद उस लेखक का , जिसने अभी तक मुझे पूरी तरह नहीं लिखा।

या शायद उस मनुष्य का, जिसे मैं अपनी शेष बची हुई ज़िंदगी में खोज रहा हूँ।"

क्या तुम्हें मेरे उत्तर ने संतुष्ट किया ?



5

रेडियो

(ध्वनि तरंगों पर तैरती स्मृतियाँ)

जब मेरे व्यक्तित्व की बुनियाद रखी जा रही थी, मेरे उस आधार के निर्माण में रेडियो ने भी अपना एक शांत लेकिन गहरा योगदान दिया। पर यह कहानी तब शुरू होती है, जब मैं आठवीं कक्षा में पहुँचा। उसी समय हमारे घर पहली बार बिजली का कनेक्शन लगा था।

यह बात आज की पीढ़ी को शायद अविश्वसनीय लगे, पर सच यही है कि सातवीं कक्षा तक की मेरी पूरी पढ़ाई मिट्टी के तेल की ढिबरी और कैरोसिन के लैंप की काँपती हुई लौ के सहारे हुई। उसी मद्धिम, पीली रोशनी में मैंने न केवल अपनी पाठ्य-पुस्तकें पढ़ीं, बल्कि अनेक बड़े लेखकों के उपन्यास और साहित्यिक कृतियाँ भी एक-एक कर पढ़ डालीं। उस छोटी-सी लौ में जितनी रोशनी थी, उससे कहीं अधिक उजाला उन किताबों ने मेरे भीतर किया।

तब तक हमारे परिचित दो-एक घरों में ट्रांज़िस्टर रेडियो आ चुका था। उसे देखकर मन में आकर्षण तो होता था, लेकिन बाबूजी का अपना एक स्पष्ट विचार था। उनका कहना था, "रेडियो आएगा तो बिजली वाला ही आएगा।" वे चीज़ें देर से लाने में विश्वास रखते थे, पर ऐसी जो टिकाऊ हों और पूरे परिवार के काम आएँ।

इसलिए पहले घर में बिजली आई, और उसके कुछ महीनों बाद रेडियो का भी हमारे घर में पदार्पण हुआ। उस दिन केवल एक नया उपकरण घर में नहीं आया था; जैसे दुनिया की आवाज़ पहली बार हमारे छोटे-से घर तक पहुँच गई थी। दूर-दराज़ के शहर, देश, संगीत, समाचार, नाटक और अनगिनत आवाज़ें अब हमारे घर की दीवारों के

भीतर गूँजने लगी थीं। उस रेडियो ने केवल हमारा मनोरंजन नहीं किया; उसने मेरे भीतर की दुनिया का क्षितिज भी पहले से कहीं अधिक विस्तृत कर दिया।

जिन दो घरों का मैंने उल्लेख किया है, जहाँ हमारे घर से पहले ट्रांज़िस्टर रेडियो पहुँच चुका था, उनमें पहला था हमारे परिवार के सबसे आत्मीय और प्रमुख पड़ोसी माणिक राव जी का घर, और दूसरा मेरे बालसखा अनिल दुबे का घर।

जहाँ तक मेरी स्मृति मेरा साथ देती है, दोनों ट्रांज़िस्टर रेडियो लगभग एक जैसी परिस्थितियों में उन घरों तक पहुँचे थे। माणिक राव जी के किसी परिचित को अचानक पैसों की आवश्यकता आ पड़ी थी। विवश होकर उसने अपना ट्रांज़िस्टर रेडियो उन्हें बेच दिया। दूसरी ओर, अनिल के पिता जी के एक परिचित पर भी ऐसा ही आर्थिक संकट आया। उसने कुछ रुपयों के बदले अपना ट्रांज़िस्टर उनके घर गिरवी रख दिया।

उन दिनों ट्रांज़िस्टर रेडियो कोई साधारण घरेलू वस्तु नहीं था। वह एक तरह से सम्पन्नता और आधुनिकता का प्रतीक माना जाता था। इसलिए किसी के घर ट्रांज़िस्टर का होना पूरे मोहल्ले के बच्चों के लिए कौतूहल का विषय बन जाता था। हम भी कभी-कभी किसी बहाने उन घरों तक पहुँच जाते, ताकि उस छोटे-से डिब्बे से निकलती हुई दुनिया की आवाज़ों को कुछ देर सुन सकें। आज सोचता हूँ तो लगता है कि उस समय रेडियो केवल समाचार या गीत नहीं सुनाता था; वह हमारे छोटे-से संसार की सीमाओं को थोड़ा और बड़ा कर देता था।

वैसे मुझे इन दोनों घरों में ट्रांज़िस्टर रेडियो सुनने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। माणिक राव जी हमारे परिवार के इतने आत्मीय थे कि मोहल्ले के सभी लोगों की तरह मैं भी उन्हें हमेशा 'भैया जी' ही कहता था। उनकी पत्नी मीरा बाई मेरे लिए 'भाभी जी' थीं, यद्यपि बाबू जी और बाई दोनों उन्हें उनके नाम से ही पुकारते थे। पर नाम लेकर बुलाने में भी अपनापन कम नहीं था। दोनों परिवारों के बीच इतना आत्मीय संबंध था कि भैया जी और भाभी जी बाबू जी और बाई को अपने बड़े भाई-भाभी का ही स्थान देते थे और जीवन भर वही सम्मान बनाए रखा।

विधाता की इच्छा भी कितनी विचित्र होती है। बाबू जी और बाई के इस संसार से विदा होने से पहले ही भैया जी और भाभी जी दोनों चले गए। भैया जी तो बहुत कम आयु में, लगभग पचास-बावन वर्ष की उम्र में ही हमें छोड़ गए।

वे उस समय के मध्य प्रदेश विद्युत मंडल के चेयरमैन की सरकारी कार चलाते थे। चेयरमैन के ड्राइवर होने के कारण उनका अपना एक अलग सम्मान और रुतबा था। साथी ड्राइवरों से लेकर विभाग के अनेक अधिकारी और कर्मचारी उन्हें पहचानते थे। उन्हें शराब पीने का शौक अवश्य था, लेकिन यह कहना अनुचित होगा कि वे हमेशा नशे में रहते थे। ऐसा होना संभव भी नहीं था, क्योंकि चेयरमैन जैसी जिम्मेदार हस्ती की गाड़ी चलाने में पूर्ण संयम अपेक्षित था। घर लौटने के बाद वे सीमित मात्रा में अपने इस शौक की पूर्ति कर लेते थे। जब वे चेयरमैन साहब के साथ दौरे पर जाते, तब उनकी दिनचर्या कैसी होती होगी, यह मैं कैसे जान सकता हूँ?

हाँ, इतना मैं पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि मोहल्ले में उनके व्यवहार के कारण कभी किसी को कोई असुविधा या शिकायत नहीं हुई। संभव है, बहुत-से लोगों को तो उनके इस शौक का पता भी न रहा हो। वे घर आते, थोड़ा-बहुत पीते, भोजन करते और शांतिपूर्वक सो जाते। उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन यदि केवल इस एक आदत से किया जाए तो वह उनके साथ अन्याय होगा, क्योंकि पड़ोसी और इंसान के रूप में वे अत्यंत आत्मीय, मिलनसार और सहायता के लिए सदैव तत्पर रहने वाले व्यक्ति थे।



रेडियो का इतिहास केवल एक तकनीकी आविष्कार की कहानी नहीं है; वह मनुष्य की उस अनन्त इच्छा की कहानी भी है जिसमें वह अपनी आवाज़ को दूर बैठे दूसरे मनुष्य तक पहुँचाना चाहता था। अनेक वैज्ञानिकों के वर्षों के शोध और प्रयोगों के बाद यह संभव हुआ। सामान्यतः व्यावहारिक रेडियो का श्रेय गुग्लिल्मो मार्कोनी को दिया जाता है, जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में वायरलेस संचार को एक विश्वसनीय रूप दिया। रूस में अलेक्ज़ेंडर पोपोव को रेडियो का आविष्कारक माना जाता है, जबकि रेजिनाल्ड फेसेंडन ने पहली बार मानव-स्वर और संगीत का सफल रेडियो प्रसारण करके यह दिखा दिया कि आने वाले समय में ध्वनि की भी अपनी

यात्राएँ होंगी-ऐसी यात्राएँ जिन्हें किसी सड़क, किसी रेल या किसी जहाज़ की आवश्यकता नहीं होगी।

भारत में भी रेडियो ने धीरे-धीरे अपनी जगह बनाई। मुंबई और कोलकाता के छोटे-छोटे रेडियो क्लबों से शुरू हुई यह यात्रा 1927 में नियमित प्रसारण तक पहुँची और 1936 में 'ऑल इंडिया रेडियो' के रूप में एक संगठित राष्ट्रीय पहचान प्राप्त कर गई। स्वतंत्रता के बाद यही संस्था 'आकाशवाणी' बनी और सचमुच आकाश से उतरती हुई आवाज़ की तरह देश के गाँव-गाँव और शहर-शहर में फैल गई।

जबलपुर तक भी उसकी यह यात्रा पहुँची। जबलपुर में आकाशवाणी, ऑल इंडिया रेडियो स्टेशन की स्थापना 16 अगस्त 1964 को हुई थी। यह मध्य प्रदेश का तीसरा प्रमुख रेडियो स्टेशन है। मध्य प्रदेश में रेडियो प्रसारण की शुरुआत सबसे पहले इंदौर से 1955 में हुई थी, जिसके बाद भोपाल, ग्वालियर और जबलपुर में भी स्टेशनों की स्थापना की गई।

उस समय तक रेडियो केवल एक मशीन नहीं रह गया था; वह घरों का सदस्य बन चुका था। उसके आने से लोगों की दिनचर्या बदलने लगी। सुबह समाचारों से दिन की शुरुआत होती, दोपहर में संगीत बजता, शाम को नाटक और विविध कार्यक्रम सुनाई देते और रात को फिर समाचारों के साथ दिन पूरा होता। जिन घरों में रेडियो होता, वे अनायास ही आस-पड़ोस के लोगों के मिलने-जुलने का केन्द्र बन जाते। आवाज़ें केवल कानों तक नहीं पहुँचती थीं; वे लोगों को एक-दूसरे के और भी निकट ले आती थीं।

मेरे बचपन में रेडियो का अर्थ केवल समाचार या गीत नहीं था। वह मेरे लिए दुनिया की पहली खुली खिड़की था। उससे पहले मेरा संसार मेरी गली, मेरा स्कूल, मेरा शहर और मेरे अपने लोग थे। रेडियो ने पहली बार बताया कि इस छोटे-से संसार के बाहर भी एक बहुत विशाल दुनिया है-जहाँ रोज़ कुछ नया घटित होता है। देश के किसी कोने में बाढ़ आई हो, कहीं चुनाव हो रहे हों, कोई वैज्ञानिक उपलब्धि हुई हो, कोई नया गीत बना हो या भारत की क्रिकेट टीम खेल रही हो-इन सबकी पहली दस्तक मेरे कानों तक रेडियो ही लाता था।

शायद इसी कारण रेडियो की आवाज़ मेरे भीतर आज भी केवल ध्वनि बनकर नहीं रहती; वह समय की आवाज़ बनकर लौटती है। कुछ उद्घोषकों की आवाज़ें तो आज भी स्मृति में उतनी ही स्पष्ट हैं, जितनी उस समय थीं, जबकि उनके चेहरे मैंने कभी नहीं देखे। कितना विचित्र है कि मनुष्य किसी चेहरे को भूल सकता है, पर एक आत्मीय आवाज़ को नहीं।

आज की पीढ़ी के लिए यह कल्पना करना कठिन होगा कि कभी पूरा परिवार एक ही रेडियो के सामने बैठकर किसी कार्यक्रम की प्रतीक्षा करता था। विविध भारती का कोई प्रिय कार्यक्रम, बिनाका गीतमाला, हवामहल, जयमाला, क्रिकेट की आँखों देखी टिप्पणी या रात के नौ बजे के समाचार-इनका समय केवल घड़ी नहीं बताती थी, पूरा घर जानता था। उन क्षणों में घर के भीतर एक अनकहा अनुशासन और एक आत्मीय उत्सुकता होती थी।

समय ने रेडियो का रूप बदल दिया। वाल्व वाले बड़े-बड़े रेडियो ट्रांज़िस्टर बने, फिर एफ.एम. आया, डिजिटल प्रसारण आया और आज इंटरनेट रेडियो भी उपलब्ध है। साधन बदलते गए, तकनीक बदलती गई, पर रेडियो की आत्मा नहीं बदली। वह आज भी मनुष्य की आवाज़ को मनुष्य तक पहुँचाने का सबसे सहज और सबसे भरोसेमंद माध्यम है। संकट की घड़ी में, प्राकृतिक आपदाओं के समय, दूर-दराज़ के इलाकों में या उन लोगों के बीच जहाँ अन्य साधन नहीं पहुँच पाते, रेडियो आज भी उतनी ही शांति और विश्वसनीयता से अपना दायित्व निभाता है।

लेकिन मेरे लिए रेडियो का सबसे बड़ा महत्व इन सब तथ्यों से कहीं अधिक व्यक्तिगत है। वह मेरी स्मृतियों का संगीत है। उसके बिना मेरे बचपन की तस्वीर अधूरी है। जब मैं उन दिनों को याद करता हूँ तो रेडियो किसी निर्जीव वस्तु की तरह याद नहीं आता; वह एक ऐसे आत्मीय साथी की तरह लौटता है जिसने बोलना कभी बंद नहीं किया। समय आगे बढ़ गया, साधन बदल गए, जीवन की गति भी बदल गई, पर कहीं भीतर आज भी लगता है कि जैसे दूर किसी घर में रखा पुराना रेडियो अभी-अभी गर्म होकर जीवित हुआ है और अगले ही क्षण उसकी परिचित धुन पूरे वातावरण में फैलने वाली है।



रेडियो सुनने की सबसे पुरानी स्मृति पंडित जवाहर लाल नेहरू की अंतिम यात्रा का आँखों देखा वर्णन था। पंडित नेहरू का अवसान पूरे भारत में हर घर का जैसे अपना दुख था। शायद हर कोई यही जान और समझ रहा था जैसे उसने किसी अपने को खो दिया हो।

उस समय हमारी गली में मेरी जानकारी के अनुसार केवल कक्का यानी कंधी लाल जी के यहाँ रेडियो था। कमल बुआ और बिट्टी बुआ के घर था या नहीं मुझे नहीं पता। परंतु रहा होगा इसकी पूरी पूरी संभावना है। लेकिन उनके घरों से अधिक सहजता से हम लोग कक्का के घर एकत्र हो सकते थे। उनके पहली मंज़िल के निवास के बड़े हॉल में एक कोने में रखी बड़ी मेज पर लकड़ी की कैबिनेट वाला बड़ा सा रेडियो रखा हुआ था। उस पर पंडित जवाहरलाल नेहरू की अंतिम यात्रा का आँखों देखे हाल का प्रसारण हम सुन रहे थे। हॉल में कम से पंद्रह से बीस लोग तो रहे ही होंगे। उनमें बाबू जी भी शामिल थे। मैं भी एक तरफ़ बैठा हुआ था। कुछ लोग सोफ़े पर कुछ लोहे की कुर्सियों पर और कुछ लोग फ़र्श पर बिछी दरी के ऊपर बैठे थे। माहौल बेहद ग़मगीन और उदास था। बीच बीच में किसी की गहरी साँसों, निश्वास और हिचकियों तक की आवाज़ें आ जाती थीं। उस समय मेरे मन में क्या चल रहा था अब मुझे याद नहीं है किन्तु इतने बरस बाद जब स्मृति की घाटियों और पहाड़ियों को फलाँगता हुआ उस हॉल में पहुँचता हूँ तो आश्चर्य तो नहीं पर उसके आस पास की कोई चीज़ महसूस होती है। एक सवाल या कहें अविश्वसनीय सा सच सामने आ खड़ा होता है, कोई कैसे करोड़ों लोगों का इतना अपना बन सकता है? पर वे ऐसे ही थे। सबके भरोसे और विश्वास का प्रतीक।

कई वर्षों तक मेरे मन में इस घटना को लेकर कभी कोई संशय नहीं हुआ। मुझे पूरा विश्वास था कि आठ वर्ष की आयु में मैंने रेडियो पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के निधन का समाचार सुना था और उसके बाद उनकी अंतिम यात्रा का आँखों देखा हाल भी। वह दिन मेरे बाल मन पर इतनी गहरी छाप छोड़ गया था कि उसकी स्मृति आज भी वैसी ही ताज़ा है।

लेकिन बहुत बाद में, जब कहीं पढ़ा कि जबलपुर का आकाशवाणी केंद्र तो 16 अगस्त 1964 को प्रारम्भ हुआ था और पंडित नेहरू का निधन उससे लगभग तीन महीने पहले, 27 मई 1964 को हो चुका था, तब पहली बार अपनी ही स्मृति पर संदेह हुआ। एक क्षण को लगा, कहीं मैं समय के किसी भ्रम का शिकार तो नहीं हो गया? क्या इतने वर्षों बाद यादों ने घटनाओं का क्रम बदल दिया है?

यह उलझन अधिक दिन नहीं रही। जब उस समय के रेडियो प्रसारण के बारे में विस्तार से जानने का अवसर मिला, तब समझ में आया कि मेरी स्मृति बिल्कुल सही थी। उस समय जबलपुर का अपना रेडियो स्टेशन भले ही न रहा हो, पर आकाशवाणी का राष्ट्रीय प्रसारण तंत्र पूरे देश को एक अदृश्य सूत्र में बाँध चुका था। दिल्ली, भोपाल, इंदौर, इलाहाबाद, नागपुर जैसे बड़े केंद्रों से प्रसारित कार्यक्रम दूर-दूर तक सुने जाते थे। राष्ट्रीय महत्व की घटनाओं का तो पूरे देश में एक साथ प्रसारण होता था। पंडित नेहरू का निधन केवल एक व्यक्ति का निधन नहीं था; वह पूरे राष्ट्र के शोक का क्षण था। उनकी अंतिम यात्रा का सीधा प्रसारण दिल्ली से हुआ और देश के कोने-कोने तक पहुँचा। उस दिन मैं जबलपुर में बैठा था, लेकिन सुन दिल्ली को रहा था।

अब उस समय के घर भी याद आते हैं और उनके भीतर रखे वे बड़े-बड़े रेडियो भी। कुछ घरों में रेडियो के साथ एक और चीज़ मेरी जिज्ञासा का कारण बनती थी। कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक तनी हुई तारों की एक जाली, जिससे एक अकेला तार निकलकर रेडियो के पीछे चला जाता था। बचपन में वह मुझे किसी रहस्यमय वस्तु से कम नहीं लगती थी। कई बार मन होता था उसे छूकर देखूँ कि आखिर उसमें ऐसी कौन-सी शक्ति है जो इतनी दूर की आवाज़ें हमारे घर तक ले आती है।

बाद में पता चला कि वही रेडियो का एरियल था। साधारण तार नहीं, बल्कि कई महीन ताँबे के तारों से बनी एक विशेष संरचना, जिसे इस प्रकार बनाया जाता था कि वह हवा में फैली अधिक से अधिक रेडियो तरंगों को पकड़ सके। उस जाली का जितना अधिक फैलाव होता, उसकी क्षमता भी उतनी ही बढ़ जाती। सारी तरंगें उसी में एकत्र होकर एक पतले से तार के माध्यम से रेडियो तक पहुँचती थीं और फिर वही अदृश्य संकेत हमारे सामने समाचार, संगीत और आवाज़ों का संसार रच देते थे।

आज यह सब पढ़ते-समझते हुए बात बहुत सहज लगती है, लेकिन उस समय यह किसी चमत्कार से कम नहीं था। बिना किसी तार के, बिना किसी दिखाई देने वाले माध्यम के, सैकड़ों किलोमीटर दूर बैठा कोई व्यक्ति हमारे कमरे में बोल रहा होता था और हमें लगता था जैसे वह यहीं कहीं पास बैठा हो। विज्ञान से मेरा परिचय तब नहीं था, पर उसके चमत्कार से मेरा परिचय बहुत पहले हो चुका था।

मुझे यह भी याद है कि जिन घरों में ऐसे एरियल लगे होते थे, वहाँ दूर के रेडियो स्टेशन अपेक्षाकृत अधिक साफ़ सुनाई देते थे। लोग बड़े गर्व से बताते थे कि आज दिल्ली साफ़ आ रही है, या भोपाल का प्रसारण बिल्कुल स्पष्ट सुनाई दे रहा है। कभी-कभी तो श्रीलंका रेडियो तक सुन लेने की बातें भी होती थीं। उन दिनों रेडियो केवल मनोरंजन का साधन नहीं था; वह दूर बैठे देश से जुड़ने का सबसे विश्वसनीय माध्यम था। उसी ने हमें समाचार दिए, संगीत दिया, खेलों की कमेंट्री दी और इतिहास को उसी क्षण सुनने का अवसर भी दिया जब वह घटित हो रहा था।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली वह साधारण-सी जाली केवल ताँबे के तारों का एक टुकड़ा नहीं थी। वह हमारे छोटे-से घर और विशाल संसार के बीच खिंचा हुआ एक अदृश्य सेतु थी। उसी से होकर देश की धड़कनें हमारे घर तक पहुँचती थीं। उसी के सहारे मैंने पहली बार किसी राष्ट्रीय शोक को अपने भीतर उतरते हुए महसूस किया था।

शायद इसी कारण वह दृश्य आज भी मेरी स्मृतियों में उतना ही स्पष्ट है जितना उस दिन था। रेडियो के सामने बैठे लोग, कमरे में पसरा हुआ असामान्य सन्नाटा, धीमी और गंभीर आवाज़ में चल रहा आँखों देखा हाल, और ऊपर तनी हुई वह जाली, जो तब केवल एक एरियल थी, लेकिन आज मुझे लगता है कि वह मेरे बचपन और इतिहास के बीच तना हुआ एक ऐसा पुल थी, जिस पर चलकर समय की वह आवाज़ आज भी मेरे भीतर कहीं गूँजती रहती है।

□□

हमारे घर रेडियो कब आया इसका मैं अंदाज़ा लगा सकता हूँ। सटीक तौर पर दिनांक और साल बताना भी थोड़ा सा मुश्किल है। एक तो सबसे बड़ा कारण ये है कि हमारा अपना कोई पुश्तैनी घर जबलपुर में न था न ही है। जिसे स्थान को मैं अपने ददिहाल के रूप में जानता हूँ, उस बनखेड़ी गाँव – आज की नर्मदापुरम जिले की एक तहसील; ज़रूर एक मकान है। अब उस मकान को है कहूँ या था – इस बाबत मैं 'आरंभ' में विस्तार से बता चुका हूँ। वह मकान जैसा मुझे बताया गया था, बाबू जी ने अपने बचपन के सखा 'फुल्ला भगत' जिन्हें मैं 'भगत जी दादा' के नाम से जानता हूँ को, या उनके बड़े भाई 'बड़े वीर' को बिना किसी लिखा पढ़ी के ऐसे ही दे दिया था। ऐसा उन्होंने अपनी माँ अर्थात मेरी दादी या आजी के जबलपुर में इलाज के दौरान हुई मृत्यु के बाद किया था। उनके पिता मतलब मेरे दादा या आजा मेरे पिता, उनकी माँ और छोटी बहन, मेरी बुआ को छोड़कर पहले ही दूसरा विवाह कर मऊरानीपुर, झांसी चले गए थे। मेरी दादी के देहांत के बाद बाबू जी ने बनखेड़ी छोड़ने का फैसला किया और जबलपुर में अपनी छोटी बहन के साथ किराये के मकान में पहले गोकलपुर फिर घमापुर में रहने लगे। इस तरह हमारा कोई भी पुश्तैनी मकान जबलपुर में नहीं था। हमने सन् 1989 में अधारताल की कटरा रोड पर एक मकान ख़रीदा। मैंने एम.पी.ई.बी. से लोन लिया लगभग एक तिहाई पैसा बाबू जी ने दिया। मैं अपने परिवार मतलब पत्नी और बच्चों के साथ शहडोल जिले के चचाई नामक स्थान पर अमरकंटक थर्मल पावर स्टेशन में नौकरी कर रहा था। मेरी और मेरी तीन बहनों के विवाह घमापुर में रहते हुए हो गए थे। छोटे भाई और सबसे छोटी बहन का ब्याह अधारताल वाले मकान से हुआ।

इसके बाद पारिवारिक समस्याएं बढ़ने लगीं। जितना मुझे याद है सन् 2002 के मार्च के महीने में शायद होली के बाद कुछ ऐसा हुआ जिसने सब कुछ बदल डाला। इस सब का विस्तृत विवरण मैं इस श्रृंखला के तीसरे खंड में दूँगा। अभी इतना सुन लो कि अब मेरे पास मेरे बचपन, कैशोर्य और कॉलेज के दिनों तक की कोई निशानी, स्मृति चिन्ह या कुछ भी जो पुश्तैनी कहा जाए नहीं है। मैं अब अधारताल वाले मकान में अकेला रहता हूँ। मेरे पिता, माँ, बुआ और मुझसे छोटी बहन का देहांत हो चुका है।

पत्नी भी इसी साल 2026 में स्वर्गवासिनी हो चुकी है। छोटा भाई करमेता में रेडियो स्टेशन के पास रहता है।

छोटे भाई और मेरे संबंध हमेशा अच्छे रहे, बल्कि सभी से मैं अपने संबंध अच्छे रख सका। बस यही एक अच्छी चीज़ इस दौरान हुई। बाक़ी सब जैसा राम जी ने चाहा वैसा हुआ। ये सारा वृतांत तीसरे खंड में विस्तार पाएगा। पर इस 'लघु कथा' से तुम्हें समझ में आ गया होगा कि क्यों मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे टटोल कर मैं सही सही अनुमान लगा सकूँ कि किस बरस हमारे घमापुर वाले मकान में पहली बार रेडियो आया था। मेरे अनुमान के अनुसार वह सन् 1969 का साल होना चाहिए। हमारे घर चार बैंड वाला 'मरफ़ी रेडियो' आया। जिसे मैं और बाबूजी साइकिल रिक्शा पर लेकर आए थे। उस समय रेडियो घर पर चलाने के लिए सरकारी लाईसन्स ज़रूरी होता था। हमने भी लिया। जिसे हर बरस स्थानीय पोस्ट ऑफिस से नवीनीकृत भी करना पड़ता था। रेडियो हमारे 'दूसरे' वाले कमरे में रखा गया जहाँ लकड़ी का सोफ़ा सेट रखा हुआ था। कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक कॉपर की जाली वाला एरियल भी लगाया गया और उसे रेडियो से जोड़ा गया। सबसे पहला कौन सा गाना हमारे रेडियो पर हमारे घर बजा अगर ये बात याद होती तो कुछ और ही रोमांच अभी इस क्षण महसूस होता। पर अक्सर चीज़ें वैसी तो नहीं होतीं न जैसी हम चाहते हैं कि हों। अगर ऐसा होता तो शायद ईश्वर हमें एक रेडियो के साथ इस दुनिया में भेजता और हम अपने मनपसंद स्टेशन को ट्यून करके चीजों को अपने हिसाब से होने देते।

लेकिन ऐसा नहीं है, काश ऐसा होता।

□□

रेडियो सुनते-सुनते धीरे-धीरे मुझे यह समझ में आने लगा कि हर रेडियो स्टेशन एक जैसा नहीं होता। कुछ स्टेशन ऐसे होते हैं जहाँ कार्यक्रम वास्तव में जन्म लेते हैं। वहीं स्टूडियो होते हैं, समाचार लिखे और पढ़े जाते हैं, उद्घोषक श्रोताओं से बातें करते हैं, कलाकार अपनी प्रस्तुतियाँ देते हैं, संगीत रिकॉर्ड होता है और फिर इन्हीं सबको पहली बार रेडियो तरंगों के माध्यम से प्रसारित किया जाता है। ऐसे केंद्रों को ब्रॉड कास्टिंग स्टेशन या मुख्य प्रसारण केंद्र कहा जाता है। इसके विपरीत कुछ स्टेशन केवल

संदेशवाहक की भूमिका निभाते हैं। उनके पास अपना कोई स्टूडियो या कार्यक्रम निर्माण की व्यवस्था नहीं होती। वे मुख्य स्टेशन से आने वाले प्रसारण को ग्रहण करते हैं और उसे बिना किसी परिवर्तन के फिर से प्रसारित कर देते हैं, ताकि कमज़ोर पड़ चुके रेडियो सिग्नल दूर-दराज़ के गाँवों, कस्बों और उन इलाकों तक भी पहुँच सकें जहाँ पहाड़, जंगल या लंबी दूरी के कारण मूल प्रसारण साफ़ सुनाई नहीं देता। ऐसे केंद्र रिले स्टेशन कहलाते हैं। उस समय मुझे इन तकनीकी बातों का ज्ञान नहीं था; मेरे लिए तो रेडियो पर सुनाई देने वाली हर आवाज़ बस जादू की तरह थी। बाद में जब इस पूरी व्यवस्था को समझा, तब एहसास हुआ कि श्रोताओं तक एक कार्यक्रम को पहुँचाने के पीछे केवल कलाकारों और उद्घोषकों का ही नहीं, बल्कि इन मुख्य प्रसारण केंद्रों और रिले स्टेशनों का भी उतना ही महत्वपूर्ण योगदान होता है।

जबलपुर आकाशवाणी केंद्र या रेडियो स्टेशन जो जबलपुर के करमेता क्षेत्र में है, अब वहाँ केवल ट्रांसमीटर लगा हुआ है। स्टूडियो पहले जबलपुर की 'आनंद टॉकीज़' के आस पास कहीं शिफ्ट हुआ फिर अब 'कटंगा' में है। प्राप्त जानकारी के अनुसार जबलपुर रेडियो स्टेशन आरंभ से ही अपने स्वयं के कार्यक्रम बनाता रहा है और उन्हें ब्रॉड कास्ट भी करता रहा है। समय के साथ उसकी गतिविधियाँ प्रगति करती रहीं। चूँकि ये जानकारी मुझे इस चैप्टर को लिखते हुए प्राप्त हुई है। इसलिए ऊपर कोई सुधार किये बिना इस जानकारी को यहाँ डाल रहा हूँ। वैसे भी मेरा उद्देश्य जबलपुर रेडियो स्टेशन का इतिहास लिखना नहीं है। बल्कि मेरे अब तक के जीवन में रेडियो और उससे प्रसारित कार्यक्रमों विशेषकर 'गानों' ने क्या रोल प्ले किया बस उससे मतलब है। इसलिए बिना किसी टेक्निकल और हिस्टोरीकल एक्यूरेसी के अपनी बात आगे बढ़ाता हूँ।

□□

जब हमारे घर में रेडियो नहीं था, तब भी रेडियो मेरे जीवन में आ चुका था। उसके स्वर पहले मेरे कानों तक पहुँचे, फिर धीरे-धीरे मेरी स्मृतियों का हिस्सा बन गए। इसकी शुरुआत मेरे ननिहाल से हुई थी। 'आरंभ' में मैं विस्तार से बता चुका हूँ कि किस तरह

मेरे मामा ने ज़िद करके नाना जी को रेडियो खरीदने के लिए राज़ी किया था। वही रेडियो मेरे लिए किसी जादुई खिड़की से कम नहीं था।

जब भी मैं ननिहाल जाता, दोपहर और शाम का एक हिस्सा रेडियो के नाम हो जाता। फ़िल्मी गीत तो अच्छे लगते ही थे, लेकिन मुझे सबसे अधिक आनंद उन फ़रमाइशी कार्यक्रमों में आता था, जिनमें उद्घोषक श्रोताओं के नाम और उनके शहरों के पते पढ़कर सुनाते थे। आज सोचता हूँ तो लगता है कि गीतों से पहले मैं आवाज़ों का श्रोता बना था।

उद्घोषकों की साफ़, सधी और आत्मीय आवाज़ में जब नए-नए नाम सुनाई देते, तो लगता जैसे मैं घर बैठे पूरे देश की यात्रा कर रहा हूँ। कोई गाँव, कोई कस्बा, कोई मोहल्ला, कोई स्टेशन रोड-हर नाम मेरे मन में एक नया चित्र बना देता। मैं कभी उन जगहों पर गया नहीं था, फिर भी वे मुझे अपनी-सी लगने लगी थीं।

कुछ नाम तो इतने अधिक बार सुनाई देते कि बिना चाहे ही स्मृति में बस गए। मुझे आज भी घाट पिंडरई, घाट परासिया, घाट पिपरिया जैसे नाम याद हैं। न जाने वे गाँव वास्तव में कैसे होंगे, वहाँ कैसी सड़कें होंगी, कितने घर होंगे, लोग कैसे बोलते होंगे-लेकिन बचपन में मेरी कल्पना ने उन सबकी अपनी-अपनी दुनिया रच ली थी। केवल नाम सुनकर ही मन उनके बीच घूम आता था।

उस समय मुझे कहाँ मालूम था कि ऐसा केवल मेरे साथ नहीं हो रहा था। बाद में समझ में आया कि सत्तर और अस्सी के दशक में रेडियो सुनने वाली पूरी पीढ़ी कुछ ऐसी ही ध्वनि-यात्राएँ कर रही थी। फ़रमाइशी कार्यक्रम केवल गीत नहीं सुनाते थे, वे पूरे भारत का एक जीवंत मानचित्र भी हमारे भीतर अंकित करते चलते थे।

उसी दौर में कुछ स्थान तो लगभग किंवदंती बन गए थे। उनमें सबसे प्रसिद्ध था 'झुमरी तलैया'। रेडियो पर उसका नाम इतनी बार सुनाई देता कि लगता, वहाँ का हर आदमी दिन-रात पोस्ट कार्ड लिखने में लगा होगा। बाद में पता चला कि आज के 'झारखंड' तब 'बिहार' का यह छोटा-सा कस्बा सचमुच अपने उत्साही श्रोताओं के कारण पूरे देश में मशहूर हो गया था। आकाशवाणी हो या रेडियो सीलोन, वहाँ से भेजी गई

फ़रमाइशें इतनी अधिक होती थीं कि उद्घोषकों की ज़बान पर उसका नाम हमेशा रहता था।

दिल्ली का ‘मजनू का टीला’ भी ऐसा ही एक नाम था। बचपन में तो मैं केवल उसका उच्चारण सुनकर ही मुस्कुरा देता था। मन में न जाने कैसी-कैसी तस्वीरें बनती थीं। वर्षों बाद पता चला कि यह दिल्ली का एक वास्तविक इलाक़ा है, लेकिन मेरे लिए वह पहले रेडियो का नाम था, बाद में भूगोल का।

ऐसे ही न जाने कितने शहर और कस्बे मेरे भीतर बसते चले गए-बरेली, जालंधर, लखनऊ, इलाहाबाद, पटना, अमृतसर और न जाने कितने। कई बार उद्घोषक पूरा पता पढ़ते-"स्टेशन रोड", "रेडियो क्लब", "फलाँ मोहल्ला", "फलाँ परिवार"-और मुझे लगता जैसे भारत का नक्शा किताबों से नहीं, आवाज़ों से बन रहा है।

आज सोचता हूँ तो लगता है कि उस समय रेडियो ने हम जैसे लाखों बच्चों को भूगोल पढ़ाने का एक बिल्कुल अलग तरीका खोज लिया था। नक्शे पर उँगली रखकर नहीं, बल्कि ध्वनियों के सहारे। हम उन स्थानों तक पहुँचे बिना ही उनसे परिचित हो गए थे। जिन गाँवों और कस्बों का नाम हमने केवल रेडियो पर सुना था, वे भी हमारी स्मृतियों में उतनी ही मजबूती से दर्ज़ हो गए थे, जितने अपने शहर की गलियाँ।

शायद यही रेडियो का सबसे बड़ा जादू था। वह केवल गीतों का माध्यम नहीं था; वह लोगों और स्थानों को जोड़ने वाला अदृश्य पुल था। देश के किसी छोटे-से कस्बे में बैठा कोई श्रोता जब एक पोस्ट कार्ड भेजता, तो उसकी आवाज़ नहीं, उसका नाम और उसका पता पूरे देश में पहुँच जाता। उस क्षण वह भी इस विराट श्रोता-परिवार का हिस्सा बन जाता।

आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो महसूस करता हूँ कि मेरी भारत-यात्रा रेलगाड़ी से शुरू नहीं हुई थी। वह तो बहुत पहले रेडियो के सामने बैठकर शुरू हो चुकी थी। उन फ़रमाइशी कार्यक्रमों ने मुझे गीतों के साथ-साथ लोगों, शहरों, कस्बों और उनकी बोलियों से भी परिचित कराया। उन्होंने मेरे भीतर भारत का एक ऐसा मानचित्र बनाया, जो कागज़ पर नहीं, स्मृतियों में अंकित है। उसमें झुमरी तलैया भी है, मजनू का टीला

भी, घाट पिंडरई भी और वे अनगिनत छोटे-छोटे नाम भी, जो शायद अब बहुत कम सुनाई देते हैं, लेकिन मेरी स्मृति के रेडियो पर आज भी वैसे ही गूँजते हैं, जैसे कभी बचपन की उन शांत दोपहरों और शाम के झुटपुटे में गूँजा करते थे।



जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ, हमारे घर पर रेडियो आने से पहले ही अनिल दुबे और माणिक राव जी के यहाँ ट्रांज़िस्टर रेडियो आ चुका था। माणिक राव या भाभी जी के घर ट्रांज़िस्टर रेडियो बैटरी सेल्स पर चलता था। जबकि अनिल के यहाँ लाइट कनेक्शन लग चुका था, इसलिए ए.सी. टू डी.सी. कनवर्टर के माध्यम से चलता था। इसी छोटे से उपकरण को 'एडॉप्टर' बोला जाता था। बाद में जब माणिक राव जी के यहाँ बिजली कनेक्शन लग गया तब उनके घर पर भी 'एडॉप्टर' का उपयोग होने लगा था।

अनिल के यहाँ जाकर रेडियो सुनने का मेरा शिड्यूल अलग था और भाभी जी के यहाँ का अलग।

भाभी जी के यहाँ मैं अक्सर दोपहर में जाकर रेडियो प्रसारण सुनता था। वह भी अक्सर शनिवार के दिन, उस दिन हमारा स्कूल सुबह साढ़े सात बजे से साढ़े दस बहे तक लगता था। इसलिए मैं दोपहर को फ्री होता था। किताब पढ़ने के अलावा समय निकाल के मैं उनके यहाँ 'विविध भारती' और 'ऑल इंडिया रेडियो' के कार्यक्रम सुनने चल जाता था। अगर भाभी जी हमारे घर पर होतीं, जो कि प्रायः हुआ करती थीं; तो मैं उनसे पूछ कर उनके घर चला जाता था और सामान्य धीमी आवाज़ में मन पसंद गाने के हिसाब से कभी विविध भारती तो कभी ऑल इंडिया रेडियो लगाकर गाने सुनता था। ट्रांज़िस्टर की आवाज़ कुछ धीमी रखने के कारण उसके पास खड़ा रहकर ही गाने सुनता था। पता नहीं क्यों मुझे ऐसा लगता था कि ज़ोर से गाने बजाना कुछ ग़लत होगा। ये मनोविज्ञान की छोटी सी गुत्थी है। जिसे तुम समझ रहे होगे।

मैं कभी पूरा कार्यक्रम सुनता कभी बीच में ही ट्रांज़िस्टर बंद करके आ जाता था।

सन् 1966 मेरे लिए केवल फिल्मों का साल नहीं था, बल्कि रेडियो के साथ गहराते मेरे रिश्ते का भी एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। उस समय हमारे घर में अपना रेडियो नहीं था। इसलिए रेडियो सुनना भी अपने-आप में एक छोटी-सी यात्रा हुआ करती थी। कभी मैं अनिल दुबे के घर पहुँच जाता, कभी माणिक राव जी के यहाँ, और जब ननिहाल जाने का अवसर मिलता, तब वहाँ का रेडियो जैसे मेरा अपना साथी बन जाता।

मुझे आज भी याद है, जिनके घरों में रेडियो या ट्रांज़िस्टर होते थे उनके घरों के प्रायः सभी छोटे बड़े सदस्यों की निगाहें शाम ढलते ही रेडियो पर टिक जाती थीं। पहले हल्की-सी खरखराहट सुनाई देती, फिर स्टेशन ठीक करने के लिए ट्यूनर की नॉब को घुमाया जाता और अचानक उद्घोषक की साफ़, सधी हुई आवाज़ या किसी गाने की आवाज़ पूरे कमरे में फैल जाती। उसी क्षण लगता जैसे किसी ने एक और दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया हो।

मैं कसी बार ऐसे किसी समय पर अनिल के यहाँ होता था। मुझे गीत सुनना तो अच्छा लगता ही था, लेकिन उससे भी अधिक आनंद उद्घोषक की उस घोषणा में आता था- "अब सुनिए फ़िल्म..."। बस, फ़िल्म का नाम सुनते ही मन में एक नई दुनिया आकार लेने लगती। उस समय मैंने इनमें से अधिकांश फ़िल्में देखी भी नहीं थीं। मेरे लिए वे पहले संगीत थीं, फिर कल्पना थीं और बहुत बाद में कहीं जाकर चलचित्र बनीं।

1966 के आसपास रेडियो पर जिन फ़िल्मों के गीत सबसे अधिक सुनाई देते थे, उनमें *तीसरी मंज़िल*, *फूल और पत्थर*, *मेरा साया*, *लव इन टोक्यो*, *दो बदन*, *आए दिन बहार के*, *सावन की घटा*, *प्यार किए जा*, *दस लाख*, *अनुपमा*, *ममता*, *आम्रपाली*, *तीसरी कसम* और *सूरज* जैसी फ़िल्में शामिल थीं। उस समय मैंने इन फिल्मों में से अधिकांश नहीं देखी होती थीं, लेकिन उनके नाम और उनके गीत मेरे भीतर कहीं गहरे उतरते जा रहे थे।

जब '*तीसरी मंज़िल* ' का कोई गीत बजता, तो आर. डी. बर्मन की धुनों में एक अलग ही चपल ऊर्जा महसूस होती। '*फूल और पत्थर* ' और '*मेरा साया'* के गीतों में एक ऐसा दर्द और अपनापन था जिसे मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता था, फिर भी वे सीधे

मन में उतर जाते थे। '*लव इन टोक्यो* ' के गीत सुनते हुए टोक्यो कहाँ है, इसका कोई अंदाज़ा नहीं था, लेकिन लगता था कि वह कोई बहुत सुंदर और दूर की दुनिया होगी। '*दो बदन* 'और '*ममता* ' के गीतों में एक ऐसी उदासी थी जो बचपन में भी भीतर कहीं हल्की-सी टीस जगा जाती थी।

पहले तो ठीक तरह से यह भी नहीं मालूम था कि गीतों के बोलों का अर्थ क्या है। उम्र रही होगी कोई दस-ग्यारह बरस। उद्घोषक किसी फ़रमाइशी कार्यक्रम में एक-एक करके गीत सुनाते -*"झुमका गिरा रे बरेली के बाज़ार में"*, *"नैनों में बदरा छाए"*, *"तू जहाँ जहाँ चलेगा, मेरा साया साथ होगा"*, *"आप के पहलू में आकर रो दिए"*, *"दीवाना मुझसा नहीं इस ज़माने में"*, *"तुमने मुझे देखा होकर मेहरबाँ"*, *"रहें ना रहें हम, महका करेंगे"*, *"छुपा लो यूँ दिल में प्यार मेरा"*, *"मेरी जान तुम पे सदके"*, *"बहारो फूल बरसाओ मेरा महबूब आया है"*, *"मिले न फूल तो काँटों से मोहब्बत कर ली"*, *"सजनवा बैरी होय गए हमार"* और *"साजन रे झूठ मत बोलो"*।

उन दिनों इन गीतों में छिपे प्रेम, विरह, समर्पण या जीवन-दर्शन का मुझे क्या पता था।

कुछ शब्द समझ में आते, कुछ बिल्कुल नहीं।

फिर भी उनकी धुनें, गायकों की आवाज़ें और संगीत का कोई अनजाना जादू भीतर उतरता चला जाता। कभी लगता था जैसे ये गीत मेरे लिए नहीं, किसी और दुनिया के लोगों के लिए बने हैं।

लेकिन फिर भी न जाने क्यों वे मेरे अपने लगते थे।

शायद संगीत का रास्ता अर्थ से होकर नहीं, सीधे हृदय तक जाता है।

आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ-

तो महसूस होता है कि उन गीतों ने समय के साथ अपने अर्थ भी बदल लिए हैं।

"तुमने मुझे देखा होकर मेहरबाँ" अब केवल प्रेमगीत नहीं लगता, बल्कि जीवन की उन दुर्लभ कृपाओं की याद दिलाता है जब किसी ने बिना कारण अपनापन दिया।

"रहें ना रहें हम, महका करेंगे" में अब जीवन की क्षण भंगुरता के बीच स्मृतियों की ऐसी ख़ुशबू महसूस होती है, जो अब तक ख़त्म नहीं हुई बल्कि समय बीतने के साथ और गहरी होती जा रही है।

"छुपा लो यूँ दिल में प्यार मेरा" में केवल प्रणय नहीं, अपने प्रिय जनों को स्मृतियों में सहेज लेने की आकांक्षा सुनाई देती है।

"बहारो फूल बरसाओ मेरा महबूब आया है" सुनते ही मन में किसी व्यक्ति से अधिक जीवन के उन सुंदर क्षणों का स्वागत जाग उठता है जिनकी प्रतीक्षा बरसों तक रहती है।

"सजनवा बैरी होय गए हमार" जीवन के बिछोहों का गीत बन गया है।

और *"साजन रे झूठ मत बोलो"* - यह तो जैसे उम्र बढ़ने के साथ एक गीत से अधिक जीवन का उपदेश बन गया। बचपन में इसकी धुन अच्छी लगती थी; आज इसके शब्द भीतर तक उतर जाते हैं। सचमुच, समय केवल हमारी उम्र नहीं बढ़ाता, वह पुराने गीतों के अर्थ भी बदल देता है। वही गीत, जो कभी केवल अच्छे लगते थे, अब जीवन के अनुभवों के साथ हमारे सबसे अंतरंग साथी बन जाते हैं।



उस समय रेडियो केवल गीत नहीं सुनाता था, वह कल्पना करना भी सिखाता था। आँखों के सामने केवल एक लकड़ी के बक्से वाला रेडियो या ट्रांज़िस्टर होता था, लेकिन मन के भीतर न जाने कितनी तस्वीरें बनती रहती थीं। उद्घोषक फ़िल्म का नाम लेते, संगीत शुरू होता और मेरे मन में अपने-आप दृश्य बनने लगते। नायक-नायिका कैसे होंगे, वे कहाँ खड़े होंगे, उनके चेहरे कैसे होंगे-यह सब मेरी कल्पना तय करती थी। बाद में जब वर्षों बाद इनमें से कई फ़िल्में देखीं, तो कई बार आश्चर्य हुआ कि मेरी कल्पना और वास्तविक दृश्य कितने अलग थे।

मुझे यह भी याद है कि फ़रमाइशी कार्यक्रमों में इन गीतों के साथ श्रोताओं के नाम और उनके शहरों के नाम भी पढ़े जाते थे। किसी दूर के कस्बे से भेजी गई फ़रमाइश के बाद जब यही गीत बजता, तो लगता जैसे वह गीत केवल उस श्रोता का नहीं, हम

सबका हो गया है। शायद यही कारण था कि रेडियो सुनने वाले लोग एक-दूसरे को कभी देखे बिना भी एक अदृश्य परिवार का हिस्सा लगते थे।

उस समय मेरे लिए रेडियो सुनना केवल मनोरंजन नहीं था। यह घर से बाहर निकलकर किसी और के घर में बैठने का बहाना भी था। अनिल दुबे के घर बैठकर सुने गए गीतों की अपनी याद है, माणिक राव जी के यहाँ रेडियो के सामने बीते वे शांत क्षण अलग याद आते हैं, और ननिहाल का रेडियो तो जैसे मेरे बचपन का अभिन्न हिस्सा ही बन गया था। हर जगह वही रेडियो था, लेकिन हर घर का वातावरण अलग था और इसलिए वही गीत हर बार एक नया अनुभव बन जाते थे।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि मैंने 1966 की उन फिल्मों को सबसे पहले सिनेमाघर में नहीं, बल्कि रेडियो की आवाज़ में जाना था। वे पहले मेरे कानों तक पहुँचीं, फिर मेरी कल्पना में बसीं और अंततः मेरी स्मृतियों का हिस्सा बन गईं। शायद इसलिए आज भी जब उन फिल्मों का कोई गीत सुनाई देता है, तो मेरे सामने किसी सिनेमाघर का पर्दा नहीं उभरता; सबसे पहले अनिल का घर, माणिक राव जी का आँगन या मेरे ननिहाल का वह कमरा याद आता है, जहाँ एक रेडियो रखा रहता था और जिसके इर्द-गिर्द बैठकर हम सब जाने-अनजाने अपने समय की सबसे मधुर स्मृतियाँ बुन रहे होते थे।

सन् 1967 से 1970 के बीच का समय मेरी स्मृतियों में केवल कुछ फिल्मों का दौर नहीं है, बल्कि रेडियो के साथ गहराते मेरे रिश्ते का भी एक ख़ूबसूरत अध्याय है। उन दिनों फ़िल्में देखने का अवसर हर बार नहीं मिल पाता था, लेकिन उनकी कहानियाँ, उनके गीत और उनके कलाकार हमारे घर तक रेडियो की तरंगों के सहारे ही पहुँच जाया करते थे। सच तो यह है कि उन वर्षों में मैंने जितनी फ़िल्में पहले रेडियो पर सुनीं, उतनी शायद सिनेमाघर में बाद में देखीं।

शाम ढलते ही घर में एक अनकहा-सा उत्साह भर जाता। ट्रांज़िस्टर या वाल्व रेडियो अपनी जगह पर सजा होता, और हम सब फ़िल्मी गीतों के फ़रमाइशी कार्यक्रम का इंतज़ार करते। उद्घोषक की आत्मीय आवाज़ जैसे ही सुनाई देती-"अगली फ़रमाइश है..."-मन तुरंत किसी और दुनिया में पहुँच जाता। गीत शुरू होने से पहले ही फ़िल्म

का नाम सुनकर उसकी पूरी कहानी, उसके कलाकार और उससे जुड़ी कल्पनाएँ मन में आकार लेने लगतीं।

सन् 1967 में '*उपकार* ' के गीत लगभग हर दूसरे-तीसरे कार्यक्रम में सुनाई दे जाते थे। *"मेरे देश की धरती..."* केवल एक गीत नहीं था; उसमें उस समय के भारत की मिट्टी की ख़ुशबू और आत्मविश्वास बसता था। मनोज कुमार की छवि हमारे मन में एक ऐसे नायक की बन गई थी जो केवल परदे पर अभिनय नहीं करता, बल्कि देशभक्ति का भाव भी जगाता है।

उसी वर्ष '*राम और श्याम* ' का जादू भी सिर चढ़कर बोल रहा था। दिलीप कुमार का दोहरा किरदार सुनते-सुनते ही इतना परिचित हो गया था कि फ़िल्म देखने से पहले ही लगता था जैसे हम दोनों भाइयों को अच्छी तरह जानते हों। '*ज्वेल थीफ़* ' के गीतों के साथ देव आनंद की स्टाइल और एस.डी. बर्मन के संगीत का सम्मोहन भी रेडियो के माध्यम से ही हमारे भीतर उतरता गया। *हमराज़*, *फ़र्ज़* और *मिलन* जैसी फिल्मों के गीतों ने उस वर्ष की हर फ़रमाइशी शाम को एक नया रंग दिया।

1968 आया तो जैसे रेडियो की दुनिया में मुस्कान कुछ और गहरी हो गई। '*पड़ोसन* 'के गीत बजते ही घर का वातावरण बदल जाता। *"मेरे सामने वाली खिड़की में..."* सुनते ही चेहरों पर अपने-आप मुस्कान आ जाती। 'किशोर कुमार' की अल्हड़ता, 'सुनील दत्त' की सरलता और 'सायरा बानो' की चंचल छवि केवल आवाज़ के सहारे ही हमारी कल्पना में जीवित हो उठती। '*ब्रह्मचारी* ' के गीतों में 'शम्मी कपूर' की वही चिरपरिचित ऊर्जा महसूस होती, जिसे रेडियो भी पूरी तरह दबा नहीं पाता था। इसी वर्ष *आँखें*, *नील कमल*, *दो कलियाँ*, *कन्यादान*, *शिकार* और *हसीना मान जाएगी* जैसी फिल्मों के गीत भी लगातार सुनाई देते रहे। कभी रहस्य का रोमांच, कभी प्रेम की कोमलता और कभी पारिवारिक भावनाओं की गरमाहट-सब कुछ एक ही कार्यक्रम में सुनने को मिल जाता था।

फिर आया 1969, और उसके साथ हिन्दी सिनेमा में एक नया सितारा उदित हुआ। *आराधना* के गीतों ने जैसे पूरे देश को अपने साथ बहा लिया। जब उद्घोषक कहते- "अगली फ़रमाइश फ़िल्म *आराधना* से..."-तो हम सब अनायास ही अगले कुछ

मिनटों के लिए शांत हो जाते। *"मेरे सपनों की रानी..."* और *"रूप तेरा मस्ताना..."* जैसे गीत केवल लोकप्रिय नहीं थे; वे उस समय की धड़कन बन चुके थे। ऐसा लगता था कि 'राजेश खन्ना' की मुस्कान रेडियो की आवाज़ में भी दिखाई देती है। उसी वर्ष *'दो रास्ते'* के गीतों ने संयुक्त परिवार की भावनाओं को घर-घर पहुँचा दिया। *'एक फूल दो माली'*, *'इंतकाम'*, *'प्रिंस'*, *'जीने की राह* ' और *'आया सावन झूम के'* जैसी फिल्मों के गीत भी फ़रमाइशों में बराबर सुनाई देते थे। धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा था कि हिन्दी सिनेमा एक नए सुपरस्टार का स्वागत कर रहा है।

1970 तक पहुँचते-पहुँचते वातावरण में बदलाव साफ़ महसूस होने लगा। ऐसा लगता था कि हिन्दी फिल्मों का एक नया दशक हमारे सामने अपने दरवाज़े खोल रहा है। *'जॉनी मेरा नाम* ' के गीतों में 'देव आनंद' की वही स्टाइल थी, लेकिन संगीत और प्रस्तुति में एक नई तेज़ी दिखाई देती थी। दूसरी ओर *'सफर* ' जैसी फिल्मों के गीत जीवन की गंभीरता और संवेदनाओं को नई गहराई के साथ प्रस्तुत कर रहे थे। उस समय शायद हमें इसका पूरा एहसास नहीं था, लेकिन अब पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि यही वह मोड़ था जहाँ हिन्दी फिल्मों का एक नया स्वर्णिम अध्याय शुरू हो रहा था।

इन्हीं दिनों *'आनंद* ' बनने की चर्चाएँ भी सुनाई देने लगी थीं। वह फ़िल्म अगले वर्ष प्रदर्शित हुई, लेकिन उसके आने से पहले ही उस दौर का वातावरण बदल चुका था। बाद में जब उसके गीत रेडियो पर बार-बार बजे, तो लगा कि वे भी उसी सुनहरे समय की स्वाभाविक कड़ी हैं।

आज जब उन वर्षों को याद करता हूँ, तो लगता है कि हमने केवल गीत नहीं सुने थे; हमने अपने समय को सुना था। *'उपकार'* की अपने देश की मिट्टी की गंध , *'राम और श्याम'* की चपल, चंचल मुस्कान, *'पड़ोसन* ' की खिलखिलाहट, *'आराधना'* का प्रेम, *'दो रास्ते'* की पारिवारिक संवेदनाएँ और *'जॉनी मेरा नाम* ' का रोमांच-ये सब हमारे जीवन का हिस्सा रेडियो ने बनाया था।

उस समय रेडियो केवल एक यंत्र नहीं था। वह हमारे घरों का सबसे जीवंत सदस्य था। वही हमें देश-दुनिया से जोड़ता था, वही नई फिल्मों से परिचित कराता था और वही

हमारी शामों को संगीत से भर देता था। आज भी जब उन वर्षों का कोई गीत कहीं सुनाई देता है, तो सबसे पहले वही पुराना रेडियो याद आता है, उसकी हल्की-सी खरखराहट, उद्घोषक की आत्मीय आवाज़ और वह वाक्य, जिसे सुनने के लिए हम सब बेसब्री से प्रतीक्षा किया करते थे-

"अब प्रस्तुत है अगला गीत जिसकी फ़रमाइश की है . . ."

बस, इतना सुनते ही स्मृतियों का पूरा आकाश फिर से संगीत से भर उठता है।



रेडियो की बात हो और 'विविध भारती' का ज़िक्र न हो यह कतई नामुमकिन सी बात है। सिर्फ़ और सिर्फ़ अपनी आवाज़ और ध्वनि तरंगों के सहारे जिसने पूरे देश को एक सूत्र में जोड़ के रखा हुआ है वह आल इंडिया रेडियो, अब प्रसार भारती, आकाशवाणी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है – जिसे हम 'विविध भारती' के नाम से जानते हैं।

कोई यदि मुझसे पूछे कि मेरे बचपन और युवावस्था की सबसे अपनी सी लगने वाली ध्वनि कौन-सी थी, तो मैं बिना किसी हिचक के कहूँगा – 'विविध भारती'। मेरे जैसे करोड़ों भारतीयों के लिए यह केवल एक रेडियो सेवा नहीं थी, बल्कि जीवन का एक अभिन्न हिस्सा थी। उस समय, जब जन सामान्य टेलीविजन के बारे में सोच भी नहीं सकता था, टेलीविज़न के प्रसारण के लिए कोई बुनियादी ढांचा या आधारभूत संरचना ही नहीं थी। मनोरंजन के साधन बहुत सीमित थे। ऐसे समय में जब सभी राष्ट्र निर्माण के कार्य में अपनी अपनी तरह से अपनी भूमिका निभाने में लगे थे, तब दिन भर की भागदौड़ के बाद जब रेडियो का स्विच ऑन होता, तो लगता जैसे घर में कोई अपना आत्मीय आ बैठा हो। फिल्मी गीतों, मधुर उद्घोषणाओं और दिलचस्प कार्यक्रमों के माध्यम से विविध भारती ने कई पीढ़ियों की स्मृतियों को अपने मधुर स्वरों से समृद्ध किया है।

विविध भारती, आकाशवाणी की सर्वाधिक लोकप्रिय, रुचिकर और मनोरंजक सेवा है, जिसकी शुरुआत 3 अक्टूबर 1957 को मुंबई से हुई थी। आरंभ में इसका प्रसारण केवल मुंबई और मद्रास, अब चेन्नई केंद्रों से होता था, किंतु इसकी बढ़ती लोकप्रियता

के कारण शीघ्र ही देश के अनेक आकाशवाणी केंद्र इससे जुड़ते चले गए। 2007 में इस सेवा ने अपनी 'स्वर्ण जयंती' भी मनाई। आज भी यह भारत के कोने-कोने में सुनी जाती है और आकाशवाणी की विज्ञापन प्रसारण सेवा का प्रमुख आधार बनी हुई है।

विविध भारती की आवश्यकता क्यों पड़ी

भारत में नियमित रेडियो प्रसारण का आरंभ 23 जुलाई 1927 को हुआ था ये बात तो मैं पहले ही बता चुका हूँ। स्वतंत्रता के बाद आकाशवाणी का विस्तार तेजी से हुआ और देश के अधिकांश बड़े नगरों तक उसकी पहुँच बन गई। उस समय आकाशवाणी के प्राथमिक चैनल समाचार, शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत और अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का प्रसारण करते थे। कुछ समय तक नीतिगत कारणों से हिंदी फिल्मों के गीतों का प्रसारण सीमित कर दिया गया। संयोग से वही काल हिंदी फिल्म-संगीत का स्वर्ण युग था, जब सी. रामचंद्र, अनिल विश्वास, हेमंत कुमार, नौशाद, सचिन देव बर्मन, शंकर-जयकिशन, मदन मोहन, और ओ.पी. नैयर जैसे संगीतकार एक से बढ़कर एक अमर धुनें रच रहे थे।

इस परिस्थिति का सबसे अधिक लाभ रेडियो सीलोन ने उठाया। श्रीलंका ब्रॉड कास्टिंग कॉरपोरेशन की विदेश सेवा प्रतिदिन हिंदी फिल्मी गीत प्रसारित करती थी और भारत में उसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि लाखों-लाख श्रोतागण आकाशवाणी छोड़कर रेडियो सीलोन सुनने लगे। इस स्थिति को समझते हुए आकाशवाणी के तत्कालीन महानिदेशक डॉ. गिरिजा कुमार माथुर ने पंडित नरेंद्र शर्मा तथा अपने सहयोगियों के साथ एक ऐसे अखिल भारतीय मनोरंजन चैनल की परिकल्पना की, जो श्रोताओं को फिर से आकाशवाणी की ओर आकर्षित कर सके। इस नई सेवा का नाम रखा गया – 'विविध भारती'।

'विविध भारती' नाम स्वयं ही अपनी सार्थकता बयान करता था। अंग्रेज़ी शब्द 'मिसलीनियस' का हिंदी रूपांतरण पंडित नरेंद्र शर्मा ने 'विविध' के रूप में सुझाया। 'भारती' अर्थात भारत की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति। इस प्रकार यह नाम अपने भीतर भारतीयता की विविध रंगों वाली आत्मा को व्यक्त करता था। 3 अक्टूबर 1957 को मुंबई से विविध भारती का विधिवत प्रसारण आरंभ हुआ। इसकी पहली उद्घोषणा

शील कुमार ने की थी। उद्घाटन अवसर पर जो प्रसार-गीत प्रसारित हुआ, उसके बोल पंडित नरेंद्र शर्मा के द्वारा ही लिखे गए थे, जिन्हें संगीत से सजाय संवारा था 'अनिल विश्वास' ने और मन्ना डे ने उसे स्वर दिया था - "नाच रे मयूरा. . . " –

"नाच रे मयूरा, नाच रे मयूरा
खोलकर सहस्र नयन, देख सघन गगन मगन
देख सरस स्वपन जो के आज हुआ पूरा
नाच रे मयूरा, नाच रे मयूरा

गूँजे दिशी-दिशी मृदंग प्रति पल नव राग रंग
रिमझिम के सरग़म पर, रिमझिम के सरग़म पर

छिड़े तान पूरा
नाच रे मयूरा, नाच रे मयूरा"

विविध भारती को आकाशवाणी का "पंचरंगी कार्यक्रम" कहा गया, क्योंकि इसमें संगीत, नाटक, साहित्य, वार्ता और मनोरंजन - पाँचों ललित कलाओं का समावेश था। देश भर के श्रेष्ठ उद्घोषकों, निर्माताओं, लेखकों और कलाकारों को मुंबई बुलाया गया ताकि यह सेवा आरंभ से ही अपना उच्चतम स्तर बनाये रख सके। कुछ ही वर्षों में विविध भारती भारतीय जनजीवन का सबसे लोकप्रिय रेडियो चैनल बन गई।

□□

अब यदि 'विविध भारती' के उन कार्यक्रमों की मैं बात नहीं करूँगा जो मुझे बहुत अच्छे लगते थे तो बात फिर अधूरी रह जाएगी। कम से कम मुझे तो आधी अधूरी लगेगी।

ऐसा ही एक भावनात्मक कार्यक्रम था 'जयमाला', भारत के जांबाज फौजी भाइयों तक पहुँचती 'विविध भारती' की आत्मीय आवाज़। ये मुझे विविध भारती का सबसे भावनात्मक कार्यक्रम लगता था। यह कार्यक्रम विशेष रूप से देश की सीमाओं पर देश की रक्षा के लिए अपनी जान की बाजी लगाकर तैनात सैनिकों के लिए आरंभ किया गया था। सोमवार से शुक्रवार तक सैनिकों की पसंद के फिल्मी गीत प्रसारित

किए जाते थे। शनिवार को किसी प्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेता या अभिनेत्री की बेहद आत्मीय प्रस्तुति होती थी, जबकि रविवार को 'जयमाला संदेश' के माध्यम से सैनिक अपने परिवारों को तथा परिवारजन अपने सैनिकों को संदेश भेजते थे।

यह केवल एक रेडियो कार्यक्रम नहीं था; यह दूरियों को पाटने वाला भावनात्मक पुल था। कारगिल युद्ध के दौरान भी 'हैलो जयमाला' के माध्यम से अनेक सैनिकों ने अपने परिवारों तक अपनी कुशलता के संदेश पहुँचाए। बाद के वर्षों में अनेक चैनलों ने इस प्रकार के कार्यक्रम आरंभ किए, किंतु पहल करने का श्रेय विविध भारती को ही जाता है।

सबसे पहला 'जयमाला' कार्यक्रम नरगिस जी ने प्रस्तुत किया था। उसकी तारीख़ कोशिश करूँगा तो मिल जाएगी अभी फिलहाल नहीं है। इसलिए आगे बढ़ते हैं।

बाद में देव आनंद, धर्मेंद्र, राजकुमार, शशि कपूर, अमिताभ बच्चन, आशा पारेख, वहीदा रहमान, माला सिन्हा, हेमा मालिनी और अनेक प्रसिद्ध, छोटे-बड़े सभी कलाकार इस कार्यक्रम का हिस्सा बने। एक गाना जो मैंने एक से अधिक बार इस कार्यक्रम में सुना वह था – "ओ पवन वेग से उड़ने वाले घोड़े तुझ पे सवार है जो. . .", यह फ़िल्म 'जय चित्तौड़' का गीत है, जिसे भरत व्यास जी ने लिखा है, एस.एन. त्रिपाठी जी ने राग मालकौंस के सुरों में संगीत बद्ध किया है और स्वर भारत कोकिला भारत रत्न लता जी का है। मैं स्वयं भी इस गीत को भाव विभोर होकर सुनता था। उसके बोल यहाँ प्रस्तुत करे बिना मुझसे रहा नहीं जाएगा अतः तुम भी आनंद लो -

"ओ पवन वेग से उड़ने वाले घोड़े
तुझ पे सवार है जो, मेरा सुहाग है वो
रखियो रे आज उनकी लाज हो, ओ पवन ...

तेरे कंधों पर आज भार है मेवाड़ का
करना पड़ेगा तुझको सामना पहाड़ का
हल्दी घाटी नहीं है काम कोई खिलवाड़ का
देना जवाब वहाँ शेरों की दहाड़ का

घड़ियां तूफ़ान की हैं
तेरे इम्तहान की हैं
रखियो रे आज उनकी लाज हो, ओ पवन ...

छक्के छुड़ाना देना तू दुश्मनों की चाल के
उनकी छाती पे चढ़ना पाँव तू उछाल के
लाना सुहाग मेरा वापस तू सम्भाल के
तेरे इतिहास में अक्षर होंगे गुलाल के
चेतक महान है तू
बिजली की बान है तू
रखियो रे आज उनकी लाज हो, ओ पवन . . . "

मैं ये बताना तो भूल ही गया कि इस शो को अपनी जादुई आवाज़ और अनोखे अंदाज़ से 'अमीन सयानी' जी ने लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाया। 'बिनाका गीतमाला' भारतीय रेडियो इतिहास का एक बेहद लोकप्रिय और ऐतिहासिक फिल्मी गानों का कार्यक्रम था, जिसे रेडियो सीलोन पर प्रसारित किया जाता था। बिनाका गीत माला एक साप्ताहिक काउंट डाउन शो था, जिसमें श्रोताओं की पसंद और रिकॉर्ड्स की बिक्री के आधार पर गानों को रैंकिंग दी जाती थी। जिसे अमीन सायनी 'पायदान' कहते थे।

जब कोई गाना लगातार कई हफ़्तों तक नंबर 1, शीर्ष पायदान पर बना रहता था। आमतौर पर लगातार कई हफ्तों तक शीर्ष पर रहने या एक निश्चित समय सीमा पार करने के बाद, तो उसे 'सरताज़ गीत' घोषित कर दिया जाता था।

किसी गाने को 'सरताज़ गीत' घोषित करने का मतलब था कि वह गाना उस साल या उस दौर का सबसे लोकप्रिय गाना बन चुका है।

एक बार जब कोई गाना 'सरताज़ गीत' बन जाता था, तो उसे साप्ताहिक प्रतियोगिता, काउंट डाउन से अंतिम रूप से बाहर कर दिया जाता था, ताकि अन्य नए गानों को भी नंबर 1 पायदान पर आने का मौका मिल सके।

अमीन सयानी जब किसी गाने को सरताज़ गीत घोषित करते थे, तो बिगुल या विशेष धुन बजाई जाती थी, जो श्रोताओं के लिए बेहद रोमांचक होता था।

हर साल के अंत में, पूरे वर्ष के प्रदर्शन के आधार पर 'वार्षिक हिट परेड' तैयार की जाती थी। उस पूरे साल में जो गाना सबसे शीर्ष पर रहा, उसे उस साल का "सालाना सरताज़ गीत" का गौरव मिलता था।

उदाहरण के लिए, इतिहास में कुछ बेहद प्रसिद्ध सालाना सरताज़ गीत रहे हैं: 1953 में "तू गंगा की मौज", फ़िल्म 'बैजू बावरा' का यह गीत बिनाका गीत माला का पहला सालाना सरताज़ गीत था।

बिनाका गीत माला में किसी गाने का 'सरताज़' बनना उस ज़माने में किसी भी संगीतकार, गीतकार और गायक के लिए सबसे बड़ा सम्मान माना जाता था।

बिनाका गीत माला में किसी भी गाने को 'सरताज़ गीत' बनने के लिए लगातार 16 हफ़्तों तक किसी भी पायदान पर बजना ज़रूरी नहीं था, बल्कि उसे केवल शीर्ष यानी नंबर एक पायदान पर या शीर्ष के बेहद नज़दीक एक निश्चित संख्या में रहना होता था।

शुरुआत में नियम यह था कि जब कोई गाना लगातार एक निश्चित अवधि जैसे 12 या 13 हफ़्तों तक नंबर 1 यानी शीर्ष पायदान पर टिका रहता था, तो उसे 'सरताज़ गीत' मानकर सूची से ससम्मान सेवानिवृत्त, रिटायर कर दिया जाता था। इसका उद्देश्य यह था कि कोई एक महा-लोकप्रिय गाना महीनों तक नंबर एक की पायदान पर कब्ज़ा न जमाए रखे और नए गानों को भी आगे आने का मौका मिले।

आगे चलकर जब देखा गया कि कुछ गाने नंबर '1' पर तो नहीं आते थे, लेकिन पूरे काउंट डाउन में नंबर 2, 3 या 5 पर महीनों तक बजते रहते थे, तब बिनाका गीत माला ने नियमों में बड़ा बदलाव किया।

साल 1966 में यह नियम बनाया गया कि कोई भी गाना साप्ताहिक कार्यक्रम की रैंकिंग लिस्ट में कुल मिलाकर अधिकतम 18 बार, 18 हफ़्तों तक ही शामिल हो सकता है। जैसे ही कोई गाना अपनी लोकप्रियता के आधार पर कुल 18 हफ़्तों तक इस शो में बज लेता था, उसे 'सरताज़ गीत' का दर्जा देकर रिटायर कर दिया जाता था। इस सीमा

को बाद में बढ़ाकर 25 हफ़्ते कर दिया गया था। इसमें नियम था कि 18 हफ़्तों तक गाना पूरा बजाया जाता था और बाक़ी के 7 हफ़्तों में उसकी सिर्फ झलक सुनाई जाती थी, जिसके बाद वह 'सरताज़' बनकर हट जाता था।

संक्षेप में कहें तो , '16 या 18 हफ़्तों' का आंकड़ा है, वह गाने के कुल बजने की अधिकतम सीमा थी, न कि किसी भी पायदान पर बजने की। शुरुआती दौर में 'सरताज़' बनने के लिए गाने का शीर्ष नंबर '1' पर लगातार टिके रहना अनिवार्य होता था, जबकि बाद के दौर में एक तय संख्या 18 या 25 हफ़्ते तक शो में अपनी जगह बनाए रखने वाले गानों को यह गौरव दिया जाने लगा।

बिनाका गीत माला मूल रूप से और अपने सुनहरे दौर में रेडियो सीलोन पर ही प्रसारित होता था। बाद में इस चैप्टर को लिखते समय कई जगहों पर पढ़ने मिला यह 'विविध भारती' का लोकप्रिय कार्यक्रम था।

जब मैंने इस संबंध में छान बीन की तो इस पूरे मामले के पीछे का इतिहास और भ्रम की वजह सामने आई। मुझे लगता है उसका उल्लेख किया जाना चाहिए।

प्राप्त हुई नवीनतम जानकारी के अनुसार 'बिनाका गीत माला' का असली इतिहास इस तरह है कि यह प्रतिष्ठित शो 1952 में रेडियो सीलोन पर शुरू हुआ था और इसके सदाबहार होस्ट 'अमीन सयानी' थे।

1950 के दशक की शुरुआत में भारत में ऑल इंडिया रेडियो, आकाशवाणी पर फिल्मी गीतों के प्रसारण पर प्रतिबंध लगा हुआ था। इस प्रतिबंध का फायदा उठाकर रेडियो सीलोन ने बिनाका गीत माला शुरू किया, जो पूरे भारत में बेहद लोकप्रिय हो गया। लोग हर बुधवार रात को रेडियो सीलोन ट्यून करके बैठ जाते थे।

रेडियो सीलोन की इस भारी लोकप्रियता को टक्कर देने के लिए भारत में 1957 में 'विविध भारती' सेवा की शुरुआत हुई, ताकि फिल्मी गाने बजाए जा सकें।

बहुत बाद में, 1980 के दशक के अंतिम सालों में, यह कार्यक्रम रेडियो सीलोन से हटकर 'ऑल इंडिया रेडियो' के 'विविध भारती' नेटवर्क पर प्रसारित होने लगा था। 1990 के दशक में इसका नाम बदलकर 'सिबाका गीतमाला' भी हुआ था। इसलिए

कहा जा सकता है कि यह मूल रूप से रेडियो सीलोन पर प्रसारित होने वाला कार्यक्रम था जो बाद के दशकों में 'विविध भारती' से प्रसारित होने लगा। बिनाका गीत माला की पहचान, उसकी लोकप्रियता और उसका स्वर्णिम युग पूरी तरह से और अमीन सयानी जी की जादुई आवाज़ "बहनों और भाइयों. . ." से जुड़ा हुआ है।

मैं शायद 1966 से अगले कई बरसों तक बिनाका गीत माला का लगभग नियमित श्रोता रहा था। जब मैंने अपनी किशोर अवस्था में प्रवेश किया उसके पहले के यानी 1966 से 1969 तक के कम से कम सालाना 'सरताज़' गीतों को याद करना तो बनता है।

"बहारों फूल बरसाओ, मेरा महबूब आया है" फिल्म: '*सूरज* ' गायक: मोहम्मद रफ़ी 1966 में सालाना सरताज़ गीत बना था। दूसरे नंबर पर था, "गाता रहे मेरा दिल, तू ही मेरी मंज़िल", फिल्म: '*गाइड* ' गायक: किशोर कुमार, लता मंगेशकर और नंबर 3 गीत था - "हुज़ूर-ए-वाला जो हो इजाज़त", फिल्म: '*ये रात फिर न आयेगी'* , गायिका: आशा भोंसले, मीनू पुरुषोत्तम।

जबकि 1967 में सालाना सरताज़ गीत नंबर 1 था,"सावन का महीना, पवन करे सोर",फिल्म: '*मिलन* ' गायक: मुकेश और लता मंगेशकर। नंबर 2 गीत था-"ओ मेरे सोना रे सोना रे", फिल्म: '*तीसरी मंज़िल* ' गायक: मोहम्मद रफ़ी और आशा भोंसले।

तीसरे नंबर पर था"*बहारों, मेरा जीवन भी सँवारो "* , फिल्म: 'आखिरी खत' गायिका थीं लता मंगेशकर।

फिर उसके अगले बरस 1968 में एक नंबर पर था गीत - "दिल विल प्यार व्यार मैं क्या जानूं रे", फ़िल्म थी-'शागिर्द' और गायिका थीं- लता मंगेशकर। नंबर 2 पर 'किशोर कुमार' का "मेरे सामने वाली खिड़की में एक चांद का टुकड़ा रहता है" गीत आया जो फिल्म- 'पड़ोसन' का बेहद लोकप्रिय गीत था। नंबर 3

पर था- "नीले गगन के तले धरती का प्यार पले" महेंद्र कपूर की आवाज़ में 'हमराज़' फ़िल्म का गाना।

1969 की बिनाका गीत माला की सालाना सूची में पहले तीन पायदान पर रहे गीत इस प्रकार थे। पहले नंबर पर फ़िल्म "इंतकाम" का गीत "कैसे रहूं चुप कि मैंने पी ही क्या है" रहा, जिसे लता मंगेशकर ने अपनी आवाज़ दी थी। दूसरे स्थान पर फ़िल्म "अनोखी रात" का गीत "ओह रे ताल मिले नदी के जल में" रहा, जिसे मुकेश ने गाया था। तीसरे नंबर पर फ़िल्म "कन्यादान" का गीत "पराई हूं पराई मेरी आरज़ू न कर" रहा, जो लता मंगेशकर की आवाज़ में था।



1970 में मैंने अपनी किशोरावस्था का एक बरस पूरा कर लिया था। अब मैं थर्टीन के बाद फ़ोर्टीन इयर्स का हो चुका था। टीनेज़ के आरंभिक चरण मेरी जीवन यात्रा में साथ हो लिए थे। अब मेरी सोच में कुछ नए वायरस प्रविष्ट हो रहे थे। ठीक इसी समय, अस्तित्व ने भी अपना एक नया जाल मेरे इर्द-गिर्द बुन दिया।

इसी 1970 के साल बरसात के महीने में मैंने “झिल मिल सितारों का आँगन होगा, रिमझिम बरसता सावन होगा. . .” गाने की पंक्तियाँ किसी को गाते हुए सुना। गाने वाली लड़की परदे के पीछे से भीतर के कमरे में गा रही थी। आवाज़ की मिठास और पाकीज़गी जैसे सूरत का पता बता रही थी। यह ‘पहली नज़र’ नहीं ‘पहली आवाज़’ का जादू था। जिसने मुझे अपनी गिरफ़्त में ले लिया था।

धर्मेंद्र और राखी अभिनीत प्रसिद्ध हिंदी फ़िल्म “जीवन मृत्यु” उसी वर्ष 1970 में रिलीज हुई थी। इसकी मुख्य रिलीज तारीखें जनवरी से जून 1970 के बीच अलग-अलग क्षेत्रों में रहीं। जबलपुर में और रेडियो पर यह गाना ख़ूब लोकप्रिय हो रहा था। उस बरस की बिनाका गीत माला में भी इस गाने का नंबर कुल तैंतीस गानों में से आठवाँ था। भारत रत्न लता मंगेशकर जी और रफ़ी साहब ने इस मधुर गीत को गाया था और लक्ष्मीकांत प्यारेलाल ने संगीत से सजाया था।

(वर्ष 1970 की बिनाका गीत माला की वार्षिक हिट परेड में कुल 33 गानों को शामिल किया गया था। इस ऐतिहासिक और रैंकिंग के अनुसार पूर्ण सूची का विवरण इस प्रकार है -

1-5: बिंदिया चमकेगी (दो रास्ते), मेरी प्यारी बहनिया, रंगीला रे, वो परी कहाँ से लाऊँ, खिलौना जानकर।

6-10: रूप तेरा मस्ताना, छुप गए सारे नज़ारे, झिलमिल सितारों का आँगन होगा , करले प्यार करले, जे हम तुम चोरी से बंधे इक डोरी से।

11-15: बस यही अपराध, सा रे गा मा पा, रामचन्द्र कह गए, कौन है जो सपनों में, कांची रे कांची रे।

16-20: आज मौसम बड़ा बेईमान, तुम पुकार लो, हमको तो जान से, ऐसे तो ना देखो, नी सुल्ताना रे।

21-25: खिड़की में अनारकली, जाने कहाँ गए, जीना यहाँ मरना, आ जा पिया, ये शाम मस्तानी।

26-30: प्यार दीवाना होता, बाबूजी धीरे चलना, कजरा मोहब्बत वाला, लिखे जो खत, मेरे सपनों की रानी।

31-33: कोरा कागज़ था, अच्छा तो हम चलते हैं, ओ माझी रे।) - * नेट पर प्राप्त जानकारी।

□□

बिनाका गीत माला का जादू किस तरह सर चढ़कर बोल रहा था। उसकी एक झलक इस बात से मिल जाएगी कि मेरे बहुत से साथी हर बुधवार को कॉपी पेन लेकर बैठते थे और उस दिन के प्रसारण को बहुत डिटेल में नोट करते थे। क्रमानुसार गीत के बोल और अन्य जानकारियाँ उनकी कॉपी में दर्ज़ होती थीं। क्लास नोट्स इतने अच्छे ढंग से भले ही न बनें पर उनकी बिनाका गीत माला की कॉपी चाक-चौबंद रहती थी। इनमें एक नाम मुझे अच्छे से याद है – सुकुमार दास का उसकी बिनाका गीत माला की कॉपी बिल्कुल अप-टू-डेट रहती थी। वह इस कॉपी को स्कूल भी लाता था। मेरे बगल में ही बैठता था, इसलिए मुझे तो दिखाता ही था। ये तो मेरी क्लास की बात हुई ऐसे हमारी पीढ़ी के जाने कितने दीवाने थे उस समय 'बिनाका गीत माला' के।

अब जब बिनाका गीत माला की इतनी बातें हो रही हैं तो उसे लोकप्रियता की इस बुलंदी पर पहुँचाने वाली शख़्शियत का नाम मैं ना लूँ ऐसा कैसे हो सकता है। यदि ग़लती से हो गया तो मेरे उससे बड़ी धृष्टता क्या होगी। भारत के उस ऑल टाइम बेस्ट, एक अत्यंत प्रतिष्ठित और लोकप्रिय रेडियो अनाउंसर, उद्घोषक का नाम था 'अमीन सायनी'। वे अपनी मिसाल आप थे। उन्हें रेडियो की दुनिया में "आवाज़ का जादूगर" कहा जाता था। उन्होंने साल 1951-52 से अपने करियर की शुरुआत की और करीब 42 से अधिक वर्षों तक इस शो से जुड़े रहे। अपने पूरे करियर में उन्होंने लगभग 54,000 रेडियो कार्यक्रमों और 19,000 से अधिक विज्ञापनों, जिंगल्स को अपनी जादुई आवाज़ दी।

रेडियो पर उनके बात करने की अनूठी शैली, विशेषकर उनका दर्शकों को "बहनों और भाइयो" कहकर पुकारना, पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में बेहद लोकप्रिय हुआ।

यह बात यहीं से शुरू हुई थी कि वे उस बेहद मशहूर काउंट डाउन शो "बिनाका गीतमाला" के प्रस्तोता थे, जो आरंभ में रेडियो सीलोन और बाद में विविध भारती पर प्रसारित होता था तथा आगे चलकर "सिबाका गीत माला" के नाम से भी जाना गया। यह भारतीय फ़िल्म संगीत का पहला काउंट डाउन शो था, जिसने सफलता के सारे रिकॉर्ड तोड़ दिए थे।

उनके बड़े भाई हामिद सयानी भी ऑल इंडिया रेडियो में प्रसारक थे, जिनसे प्रेरित होकर वे इस क्षेत्र में आए थे। अमीन सयानी ने 91 वर्ष की आयु में 20 फरवरी 2024 को मुंबई में अंतिम सांस ली।

अमीन सयानी जी को साल 2009 में कला और प्रसारण के क्षेत्र में उनके अमूल्य योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा 'पद्म श्री' सम्मान से सम्मानित किया गया था।

इसके अलावा उन्हें रेडियो और मीडिया जगत के कई अन्य प्रतिष्ठित पुरस्कार भी मिले, जिनमें 'लिविंग लीजेंड अवॉर्ड', 'भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग महासंघ (फिक्की)' द्वारा और रेडियो मिर्ची द्वारा दिया गया 'लाइफटाइम अचीवमेंट अवॉर्ड' प्रमुख हैं।

बिनाका गीत माला का मूल प्रसारण अब पूरी तरह से बंद हो चुका है।

रेडियो इतिहास का यह सबसे लोकप्रिय शो अपने अलग-अलग नामों (बिनाका गीतमाला, सिबाका गीत माला और कोलगेट सिबाका संगीत माला) के साथ अप्रैल 1994 में आधिकारिक तौर पर बंद हो गया। 1952 से शुरू होकर 1994 तक, यह शो लगातार 42 वर्षों तक चला। शुरुआत में 1952 से 1988 तक यह 'रेडियो सीलोन' पर प्रसारित होता था, लेकिन साल 1989 में इसे ऑल इंडिया रेडियो के विविध भारती नेटवर्क पर शिफ्ट कर दिया गया था, जहाँ 1994 में इसका अंतिम एपिसोड प्रसारित हुआ।1990 के दशक की शुरुआत में भारत में टेलीविजन, विशेषकर केबल टीवी और ज़ी टीवी पर 'अंताक्षरी' व 'फिलिप्स टॉप 10' जैसे म्यूज़िक काउंट डाउन शो का चलन बहुत तेज़ी से बढ़ा। श्रव्य के स्थान पर नए दृश्य माध्यम के आने और मनोरंजन के बदलते तौर-तरीकों के कारण रेडियो के इस ऐतिहासिक शो का सफर 1994 में समाप्त हो गया।

यह प्रोग्राम हमारी पीढ़ी के लोगों के साथ-साथ हमारे बचपन, कैशोर्य और युवावस्था तक कदम से कदम मिलकर अविरत चलता रहा। फिल्मों के गीत वही थे जो और भी कार्यक्रमों में बजते थे किन्तु ‘बिनाका गीत माला’ में बजते समय उन्हीं गानों में जाने कैसा सम्मोहन उतर आता था कि वही गीत जैसे बदल जाते थे। और मधुर हो जाते थे और पास चले आते थे। बल्कि दिल में उतर जाते थे। इस प्रोग्राम के गीतों के इर्द-गिर्द जाने कितनी प्रेम कहानियाँ परवान चढ़ी होंगी। उनमें से कितनी पूरी हुईं कितनी अधूरी रह गईं, शायद ईश्वर जानता होगा।

□□

उस समय खंड में अर्थात मेरी टीनेज़ के दौरान आने वाला एक कार्यक्रम 'एचएमवी के सितारे' भी अपने समय का एक बेहद लोकप्रिय और अनूठा प्रायोजित रेडियो शो था। नेट पर प्राप्त जानकारी के अनुसार इस शो को अमीन सयानी और उनके साथ सरिता सेठी होस्ट करते थे।

यह महज़ गानों का प्रसारण नहीं था, बल्कि इसे एक 'चाय पार्टी' या अनौपचारिक बातचीत के रूप में पेश किया जाता था। दोनों होस्ट आपस में बेहद सलीके और जिंदा दिली से बातें करते हुए नए गानों और कलाकारों से जुड़े दिलचस्प किस्से साझा करते थे।

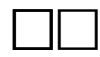
यह शो उस समय की भारत की सबसे बड़ी म्यूजिक लेबल कंपनी एचएमवी, हिज़ मास्टर्स वॉयस द्वारा प्रायोजित था। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य एचएमवी द्वारा हाल ही में रिलीज किए गए फिल्मों के नए गानों को श्रोताओं तक पहुंचाना और उनका प्रमोशन करना था।

यह कार्यक्रम मेरी याददाश्त के अनुसार प्रत्येक मंगलवार को रात्रि आठ बजे से आता था। 1968-69 के दौर में जब मैं इस कार्यक्रम को सुनता था तब 'अमीन सायनी' के स्थान पर कोई और उद्घोषक इसे प्रस्तुत करते थे। उनका नाम अब मुझे याद नहीं है। लेकिन वे अमीन सायनी नहीं थे ये बात पक्की है। वह आवाज़ कोई और थी। किसकी थी ये जानकारी मुझे कहीं से नहीं मिल पा रही है।

पर मुझे उसका एक प्रोग्राम बहुत अच्छा लगा था और आज भी याद है, वह था 1968 में रिलीज़ हुई फ़िल्म 'साथी' के गानों के प्रमोशन के लिए ये पूरा प्रोग्राम आधारित था। नौशाद साहब के द्वारा संगीत बद्ध किए इस फ़िल्म के गानों में एक नया पन था जो उनकी पुरानी संगीत रचनाओं से बहुत अलग था। जहाँ तक मुझे याद है इसी कड़ी में शायद एक और प्रोग्राम भी बनाया और प्रसारित किया गया था। जिसमें इस फ़िल्म में नौशाद साहब द्वारा इस फ़िल्म के पार्श्व संगीत को प्रस्तुत किया गया था। ये संगीत रचनाएँ मुझे ज़्यादा अच्छी लगी थीं।

मेरी याददाश्त कितनी सही है और जो जानकारी नेट और ए.आई. से प्राप्त हुई है। दोनों में से कौन सी सही है मैं नहीं कह सकता। हो सकता है दोनों ही सही हों, जब मैंने ये प्रोग्राम सुने होंगे तब किसी कारणवश 'अमीन सायनी जी' की जगह किसी और ने प्रोग्राम प्रस्तुत किए हों। हाँ, इस कार्यक्रम से संबंधित एक और बात मुझे याद आ रही है, इस कार्यक्रम के समापन पर प्रस्तुतकर्ता का एक निश्चित वाक्य – "अगले मंगलवार को हम फिर मिलेंगे इसी प्रोग्राम में इसी समय . . ."।

ये डायलॉग तो मुझे याद है बहुत अच्छी तरह – हाँ, ये हो सकता है कि मेरी स्मृति किन्हीं अलग अलग दो कार्यक्रमों को जोड़-तोड़कर मुझे बता रही हो।



हमारी यादें भी अजीब होती हैं, कई बार साफ़ साफ़ सामने भी नहीं आतीं और कई बार जैसे रूप बदल कर हमारी परीक्षा लेती हैं। और कई बार इतनी स्पष्ट कि जैसे सब कुछ अभी इन्हीं पलों में घट रहा हो। पर कुछ भी कहो, हमेशा साथ बनी रहती हैं किसी बचपन के मित्र की तरह। ऐसा मित्र जो लड़ता भी है, रूठता भी है फिर खुद मना भी लेता है। कभी छोड़ के जाने की बात सोचता भी नहीं। मुझे लगता है यदि हमारे संग हमारी यादें न हों तो हम कितने 'हम' बचेंगे। शायद सिर्फ़ मशीन या रोबोट. . . .। जिसके पास 'कार्यक्रम' तो होता है पर उसकी कोई याद कभी नहीं बनती। जब बिना कार्य के वह ख़ामोश होता है तो बेजान पदार्थ होता है। और हम जब बिना किसी कार्य में लगे ख़ामोश होते हैं तब शायद अपने भीतर सबसे ज़्यादा सक्रिय होते हैं। वहीं बैठे बैठे जाने कितनी दूरियाँ तय कर लेते हैं, किन किन समय खंडों में पल भर में घूम आते हैं। सब कुछ बस, यादों के सहारे।

रेडियो की बातें करते-करते मुझे बार-बार यह अनुभव होता है कि मनुष्य एक साथ कितने संसारों में जीता है। बाहर से हमारा जीवन एक ही दिखाई देता है, लेकिन भीतर न जाने कितनी पृथक-पृथक दुनियाएँ अपनी पूरी जीवंतता के साथ बसती रहती हैं। वे एक-दूसरे में घुली-मिली भी हैं और अपनी स्वतंत्र पहचान भी बनाए रखती हैं।

अपने ही जीवन को देखता हूँ तो लगता है कि मेरे भीतर रंगों और ब्रुशों का एक संसार है, जहाँ शब्द नहीं, रंग बोलते हैं। किताबों का एक संसार है, जिसने चुपचाप मेरे सोचने का ढंग बदल दिया। लिखने का संसार है, जहाँ स्मृतियाँ बार-बार लौटकर शब्दों का रूप लेती हैं। रिश्तों का संसार है, जहाँ कुछ चेहरे समय के साथ धुँधले पड़ गए, तो कुछ आज भी उतने ही उजले हैं। एक संसार स्कूल का है, जिसकी प्रार्थना, कक्षाएँ, शिक्षक और शरारतें अब भी कहीं भीतर सुरक्षित रखी हुई हैं। एक संसार इंजीनियरिंग कॉलेज का है, जहाँ सपनों ने पहली बार अपने पंख फैलाए। और इन्हीं सबके बीच रेडियो और फ़िल्मी गीतों का वह संसार है, जिसने इन सभी दुनियाओं के बीच एक

अदृश्य सेतु का काम किया। लगता है जैसे जीवन के हर मोड़ पर कहीं-न-कहीं रेडियो साथ चलता रहा-कभी पृष्ठभूमि में, कभी बिल्कुल सामने।

आश्चर्य यह है कि ये सारे संसार मिलकर मुझे रचते हैं, मेरा व्यक्तित्व गढ़ते हैं; फिर भी अवसर आने पर हर संसार स्वयं को इस सम्मिलित व्यक्तित्व से अलग करके मेरे सामने खड़ा हो जाता है। किसी पुराने गीत की पहली पंक्ति सुनते ही मैं वर्तमान से निकलकर अपने किशोर दिनों में पहुँच जाता हूँ। किसी पुस्तक की एक पंक्ति पढ़ते ही किसी चित्र का रंग आँखों के सामने तैरने लगता है। कभी ब्रुश हाथ में लेते ही रेडियो पर सुनी हुई कोई धुन भीतर गूँज उठती है, और कभी किसी पुराने मित्र की आवाज़ सुनते ही पूरा कॉलेज परिसर अपनी चहल-पहल के साथ जीवित हो उठता है।

तब लगता है कि स्मृतियाँ किसी अलमारी में क़रीने से रखी हुई वस्तुएँ नहीं हैं। वे जीवित प्राणियों की तरह हमारे भीतर रहती हैं। वे सोती हैं, जागती हैं, एक-दूसरे से मिलती हैं, बिछुड़ती हैं और समय आने पर स्वयं हमारे सामने चली आती हैं। कभी बिना बुलाए, तो कभी तब, जब मन को उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

शायद इसी कारण जीवन को केवल घटनाओं के क्रम से नहीं समझा जा सकता। मनुष्य का व्यक्तित्व स्मृतियों का जोड़ नहीं, उनके बीच के संबंधों का परिणाम है। जीवन केवल घटनाओं के क्रम से नहीं समझा जा सकता। वह उन अदृश्य सूत्रों से बनता है जो एक गीत को एक चित्र से, एक चित्र को किसी पुस्तक से, एक पुस्तक को किसी व्यक्ति से और किसी व्यक्ति को बचपन की किसी भूली-बिसरी दोपहर से जोड़ देते हैं। यही संबंध हमारी स्मृति का ताना-बाना बुनते हैं। यही वे महीन धागे हैं जिनसे हमारा स्वभाव, हमारी संवेदनाएँ, हमारी रुचियाँ और हमारी दृष्टि निर्मित होती है। अंततः यही हमें वह मनुष्य बनाते हैं, जो हम आज हैं।

इसीलिए जब मैं रेडियो की बात करता हूँ, तो केवल एक प्रसारण माध्यम की बात नहीं कर रहा होता। उसके साथ-साथ मेरे भीतर के अनेक संसार भी जाग उठते हैं। रेडियो केवल गीत नहीं सुनाता; वह उन दुनियाओं के दरवाज़े भी खोल देता है, जिनमें मैंने अपने जीवन के सबसे सुंदर, सबसे निष्कपट और सबसे अर्थपूर्ण क्षण जिए हैं।



जिस कालखंड की मैं इस चैप्टर में बातें कर रहा हूँ – उस समय ऐसा नहीं था कि मैं पूरे समय रेडियो से चिपका बैठ रहता था। एक तो ये चीज़ इसलिए भी संभव नहीं थी क्योंकि शुरू में हमारे घर रेडियो नहीं था। मैं रेडियो सुनने अनिल, माणिक राव जी, शिब्बू की बाल काटने की दुकान या मेरे एक और मित्र सुरेश विश्वकर्मा के यहाँ जाता था। सुरेश के पिता जी की हमारे घर के पास ही अनाज पीसने की चक्की थी। उसका मकान में रोड पर ही था, सामने के हिस्से में 'चक्की' और पीछे के तीन कमरों, एक परछी और एक बड़े से आँगन में उसके परिवार की रिहाइश। एक बड़ा सा रेडियो चक्की के पीछे वाले कमरे में एक अलमारी में रखा हुआ होता था। चक्की की मोटर इसी कमरे में लगी थी। जो कि कमरे की पिछली दीवार के समीप लगी थी। मोटर की घिर्री या पुली चक्की की बड़ी पुली से एक चौड़े बेल्ट से जुड़ी थी। इस पूरी संरचना को लकड़ी के चौड़े और चिकने फरदों से कवर किया गया था। जिससे वह एक लंबी सी टेबल या बेंच बन गई थी। हम उसी पर बैठ कर रेडियो सुनते थे। मैंने सुरेश के साथ उसी लंबी सी बेंच पर बैठ कर कई बार बिनाका गीत माला या दूसरे अन्य प्रोग्राम सुने हैं।

जिनमें कई फिल्मों के साउन्ड ट्रेक भी शामिल हैं। 'गंगा-जमुना', 'फूल और पत्थर', 'मुझे जीने दो ' आदि कुछ फिल्में मुझे याद आ रही हैं जिनके साउन्ड ट्रेक मैंने वहीं सुने थे।

सुरेश की बात सामने आई है तो एक और घटना याद आ गई – चलो तुम्हें भी सुनाता हूँ। हमारी ये छोटी सी ज़िंदगी हमें कितने नाच नचाती है, कितनी परीक्षा लेती है, यह इस घटना से जाना जा सकता है। सुरेश के पिता जी जो चक्की पर बैठते थे मतलब चक्की से अनाज पीसने का काम करते थे, थोड़े से चिड़चिड़े और गुस्सैल स्वभाव के थे। उनका रंग साफ़ गेहुँआ और गठीला बदन था। घुटनों तक सूती सफ़ेद धोती और ऊपर सफ़ेद या किसी बहुत हल्के रंग की मोटी बंडी पहनते थे। सर पर बहुत छोटे ट्रिम किए हुए सफ़ेद बाल। हफ़्ते के हफ़्ते दाढ़ी बनवाते थे इसलिए दाढ़ी हमेशा कुछ बढ़ी होती थी। उनके तीन पुत्र थे सबसे बड़े की शादी हो चुकी थी वह खमरिया फ़ैक्ट्री में

काम करता था। उससे छोटा नौवीं या दसवीं में पढ़ता था और सबसे छोटा सुरेश था। बड़े भाई की पत्नी और दो बच्चे भी साथ में थे। पिता चक्की से जो कुछ कमाई होती उसी से घर चलाते , बड़े बेटे से कितनी सहायता मिलती मैं नहीं जानता। पर इस मध्यम वर्गीय परिवार में परिस्थितियाँ तनाव पूर्ण माहौल बनाने और छोटी छोटी बातों पर बहस और तू तू – मैं मैं कराने के लिए पूर्णतया अनुकूल थीं। वैसा की बीच बीच में होता रहता था। हर समय ये माहौल रहता या कभी कभार मैं नहीं कह सकता पर कई बार मुझे महसूस हुआ और चूँकि उनके बड़े बेटे और उसकी माँ नियमित रूप से काकी के पास आते थे। मुझे कुछ बातें काकी और बुआ के बीच होने वाले वार्तालाप से भी पता चल जाती थीं। छोटी सी बात बहुत लंबी खिंच गई, बात सिर्फ़ इतनी है कि इसी माहौल में एक दिन सुरेश के पिता और माँ में लंबी बहस या लड़ाई हुई, आँगन में चूल्हे पर नहाने का पानी एक बड़े गंज में गरम हो रहा था। जो कुछ घटित हो रहा था उससे आजिज़ आकर सुरेश के पिता ने गुस्से में गंज उठा कर उसका गर्म पानी अपने ऊपर उँडेल लिया। पानी अच्छा खासा गरम हो चुका था। उनके शरीर में पानी की गर्मी की उस गर्मी को को जो करना था किया। पूरा शरीर लाल भभूका हो गया। छाले-वाले भी पड़े। गुस्सा कहाँ गया ये तो शायद सुरेश के पिता को भी पता नहीं चल पाया होगा परंतु वे अस्पताल ज़रूर पहुँच गए। मैं इस घटना का चश्मदीद तो नहीं हूँ। पर सुरेश से, काकी से और अनिल से इस घटना के टुकड़ों को सुनकर मैंने ये सब लिखा है। बस बात से बात निकली और एक कड़वी सच्चाई याद दिल गई – *"हम मनुष्य परिस्थितियों के आगे कितने विवश हैं"*।

माहौल थोड़ा गंभीर हो गया है। कहीं और चलते हैं।

आ चल के तुझे मैं ले के चलूँ एक ऐसे गगन के तले
जहाँ ग़म भी ना हो, आँसू भी ना हो, बस प्यार ही प्यार पले. . .
सूरज की पहली किरण से आशा का सवेरा जागे
चंदा की किरण से धुलकर घनघोर अंधेरा भागे
कभी धूप खिले, कभी छाँव मिले, लंबी सी डगर ना खले. . .
जहाँ दूर नज़र दौड़ाएँ, आज़ाद गगन लहराये
जहाँ रंगबिरंगे पंछी आशा का संदेसा लाएँ

सपनों में पली, हँसती हो कली, जहाँ शाम सुहानी ढले. . .
सपनों के ऐसे जहां में, जहाँ प्यार ही प्यार खिला हो
हम जा के वहाँ खो जाये, शिकवा ना कोई गिला हो
कही बैर ना हो, कोई गैर ना हो, सब मिल के यूँ चलते चलें।

किशोर कुमार का ये गीत क्या केवल गीत है। नहीं – मेरे लिए ये एक सपना है, उम्मीद है और एक प्रार्थना है। मनुष्य और मनुष्यता के लिए इससे बढ़कर कोई और प्रार्थना हो सकती है क्या?

किशोर कुमार जैसा जीनियस बार बार नहीं पैदा होता। मेरी दृष्टि में वे ढेरों तथाकथित 'गुरुओं' से कहीं अधिक बड़े थे। उन्होंने किसी को कभी ये नहीं कहा कि यों करो या ऐसे जियो। उन्होंने अपनी तरह से जिया अब सीखने वाला सीखे न सीखे उसकी मर्ज़ी। उनके जीवन का स्वर्णिम काल फ़िल्म 'आराधना' से आया। फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। एक से बढ़कर एक गीत उन्होंने गाए।

-ज़िंदगी इक सफर है सुहाना. . .
-जीवन से भरी तेरी आँखें. . .
-ये जीवन है इस जीवन का यही है रंग रूप. . .
-ज़िंदगी का सफर है ये कैसा सफर. . .
-कहाँ तक ये मन के अंधेरे छलेंगे. . .
-ओ साथी रे तेरे बिना भी क्या जीना. . .
-हमें तुम से प्यार कितना ये हम नहीं जानते. . .
-ज़िंदगी के सफर में गुज़र जाते है जो मुकाम. . .
-तूने हमें क्या दिया री ज़िंदगी. . .

ये तो सिर्फ़ चंद मोती हैं जो उनके गाए हुए कई हज़ार गीतों में से मैंने चुने हैं। इच्छा तो इस लिस्ट को और बढ़ा देने की है। परंतु फिर कुछ मज़बूरियाँ सामने आ खड़ी होती हैं। क्या किया जाए? क्या कहा जाए?

एक और गीत है जो शायद उन्होंने अपने दिल की गहराइयों से गाया है-

मेरे महबूब क़यामत होगी
आज रुसवा तेरी गलियों में मुहब्बत होगी

नाम निकलेगा तेरे ही लब से
जान जब इस दिल-ए-नादान से रुखसत होगी
मेरे महबूब. . .

तेरी गली मैं आता सनम
नग़मे वफ़ा के गाता सनम
तुझ से सुना ना जाता सनम
अब आ पहुंचा आया हूँ मगर
ये कह कर मैं दीवाना
ख़त्म अब आज ये वहशत होगी
आज रुसवा. . .
मेरे सनम के दर से अगर
बद-ए-सबा हो तेरा गुज़र
कहना सितमगर कुछ है खबर
तेरा नाम लिया
जब तक भी जिया
ऐ शम्मा तेरा परवाना
जिससे अब तक तुझे नफ़रत होगी
आज रुसवा. . .

मेरे महबूब क़यामत होगी
आज रुसवा तेरी गलियों में मुहब्बत होगी

इस गीत के शब्द तुम्हारे भीतर कितनी दूर तक उतर पाएँगे, यह मैं नहीं कह सकता। पर इतना विश्वास है कि इसके सुरों में लिपटी पीड़ा, विरह और टूटे हुए प्रेम की कसक चुपचाप तुम्हारे मन के किसी गहरे कोने में जाकर ठहर जाएगी। यह केवल सुनने का गीत नहीं, महसूस करने का गीत है। इसकी धुन तुम्हारा हाथ थामकर तुम्हें स्मृतियों,

अधूरी चाहतों और अनकहे दर्द की उस दुनिया में ले जाएगी, जहाँ समय जैसे ठहर जाता है। "मेरे महबूब क़यामत होगी, आज रुसवा तेरी गलियों में मोहब्बत होगी" केवल एक प्रेमी की शिकायत नहीं, बल्कि उस प्रेम की करुण पुकार है जो अपनी हार में भी गरिमा बनाए रखता है। किशोर कुमार की दर्द में भीगी आवाज़, लक्ष्मीकांत–प्यारेलाल का मर्मस्पर्शी संगीत और आनंद बख्शी के शब्द मिलकर ऐसा भाव लोक रचते हैं कि गीत समाप्त हो जाने के बाद भी उसकी गूँज बहुत देर तक भीतर सुनाई देती रहती है। कभी-कभी लगता है कि यह गीत कानों से कम और आत्मा से अधिक सुना जाता है।

मुझे अच्छे से मालूम है कि हममें से कुछ लोग जो दिमाग़ की दुनिया में रहते हैं। दिल की जगह सिर्फ़ दिमाग़ की सुनते हैं या अपने को थोड़ा हाई लेबल का साहित्यकार मानते हैं तो उन्हें मेरा फिल्मी गानों से प्यार बड़ा बाज़ारू टाइप का लगेगा। इन गानों में वे व्याकरण की गलतियाँ ढूँढेंगे, ढूँढ़ भी लेंगे, शब्द चयन और भाषा के इधर से उधर लुढ़कने पर नाक-भवें सिकोड़ेंगे। और भी जाने क्या क्या कहें-करें। पर अब जिस जगह मैं खड़ा हूँ मुझे इन सब बातों की परवाह बिल्कुल नहीं है।

कुछ तो लोग कहेंगे
लोगों का काम है कहना।
छोड़ो बेकार की बातों को
कहीं बीत न जाए रैना।।

बल्कि मैं चाहूँगा, वे मेरे पास आयें मैं उन्हें दिल की दुनिया में किस तरह प्रवेश करें और फिर वहीं बस जाएँ और किस तरह बसर करें सिखा दूँगा। मेडिकल साइंस भी जानता है 'दिमाग़' काम करना बंद कर दे तो भी 'दिल' धड़कता रहता है। लेकिन जब 'दिल' धड़कना बंद कर देता है तब 'दिमाग़' कुछ मिनटों के बाद ही 'दम' तोड़ देता है।

ख़ैर बहस किस बात की, किससे और क्यों ?

मुझे तो इन्हीं गानों ने एक नहीं अनेकों बार संभाला है।

किस कड़ी को किस से जोड़ जुगाड़ कर मुझे फिर से जूझने के काबिल बनाया है।

फिर कोई कुछ कहे ये मेरे दोस्त हैं और आख़िरी सांस तक रहेंगे।

मैं जानता हूँ जब मेरी वापस लौट के न आने वाली सांस जा रही होगी तो कोई न कोई ऐसा ही गीत मुझे अपनी बाहों में लिए होगा। और उस जा के न आने वाली सांस से गा गा के कह रहा होगा –

“गुज़रा हुआ ज़माना आता नहीं दुबारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा
गुज़रा हुआ ज़माना आता नहीं दुबारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा

खुशियाँ थीं चार पल की आँसू हैं उम्र भर के
तन्हाइयों में अक़्सर रोएंगे याद कर के
दो वक़्त जो कि हमने
दो वक़्त जो कि हमने इक साथ है गुज़ारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा

मेरी क़सम है मुझको तुम बेवफ़ा न कहना

मज़बूर थी मुहब्बत सब कुछ पड़ा है सहना
तूफ़ाँ है ज़िन्दगी का
तूफ़ाँ है ज़िन्दगी का अब आखिरी सहारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा

मेरे लिये सहर भी आई है रात बन कर

निकला मेरा जनाज़ा मेरी बरात बन कर
अच्छा हुआ जो तुमने
अच्छा हुआ जो तुमने देखा न ये नज़ारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा

गुज़रा हुआ ज़माना आता नहीं दुबारा
हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा।“



अब कुछ और मेरी पसंद के कार्यक्रमों की बातें करूँ तो बात आगे बढ़े-

रेडियो सीलोन पर सुबह साढ़े सात से आठ बजे प्रसारित होने वाले उस बेहद लोकप्रिय कार्यक्रम का नाम 'पुरानी फिल्मों का संगीत' था।

इस कार्यक्रम की यह खास परंपरा थी कि इसका समापन हमेशा महान गायक ‘के.एल.सहगल साहब’ के किसी एक बेहद सुरीले और बेमिसाल गीत के साथ होता था। देश-दुनिया के लाखों संगीत प्रेमी अपने दिन की शुरुआत सहगल साहब की आवाज़ सुनकर ही करते थे।

हाँ, रेडियो सीलोन के इस कार्यक्रम के बिल्कुल समकक्ष विविध भारती पर भी एक बेहद लोकप्रिय शो शुरू किया गया, जिसका नाम है - 'भूले-बिसरे गीत'।

विविध भारती की शुरुआत 1957 में हुई थी, और रेडियो सीलोन के 'पुरानी फिल्मों का संगीत' के जवाब में विविध भारती ने सुबह के समय 7:00 से 7:30 बजे तक 'भूले-बिसरे गीत' कार्यक्रम का प्रसारण शुरू किया। जब रेडियो सीलोन पर 'पुरानी फिल्मों का संगीत' का दौर अपने चरम पर था, तब विविध भारती पर भी यह कार्यक्रम समानांतर रूप से, लगभग उसी दौर में आता था। रेडियो सुनने वाले अक्सर घड़ी मिलाकर दोनों स्टेशनों के बीच ट्यूनिंग बदलते थे। रेडियो सीलोन का 'पुरानी फिल्मों का संगीत' और विविध भारती का 'भूले-बिसरे गीत', दोनों ने मिलकर भारतीय सिनेमा के सुनहरे दौर के संगीत को दशकों तक जीवित रखा।



विविध भारती पर प्रसारित होने वाले 'छाया गीत' प्रोग्राम की बात मैं इसी चैप्टर में पहले भी कर चुका हूँ। इसे रेडियो के इतिहास में सबसे लोकप्रिय, शालीन और संजीदा कार्यक्रमों में से एक माना जाता है।

'छाया गीत' कार्यक्रम की शुरुआत 3 अक्टूबर 1957 को विविध भारती सेवा की स्थापना के साथ ही या उसके कुछ ही समय बाद, शुरुआती दौर में ही हो गई थी। जब

आकाशवाणी ने रेडियो सीलोन को टक्कर देने के लिए विविध भारती की शुरुआत की, तो उसके शुरुआती मुख्य आकर्षणों में 'छाया गीत' भी शामिल था। यह कार्यक्रम आम तौर पर रात के समय 10:00 से 10:30 बजे या अलग-अलग दौर में रात 10:30 से 11:00 बजे तक प्रसारित किया जाता था, जो आज भी कई केंद्रों पर इसी समय के आसपास आता है। इस कार्यक्रम की खासियत इसकी गंभीर और काव्यात्मक शैली है। जहाँ विविध भारती के अन्य कार्यक्रमों जैसे कि 'चित्र लोक' या 'आपकी फरमाइश' में थोड़े चुलबुले या तेज़ गाने बजते थे, वहीं 'छाया गीत' को विशेष रूप से धीमे, रूमानी, उदास, और गहरे अर्थ वाले क्लासिक गानों के लिए तैयार किया गया था।

इस शो की सबसे बड़ी खासियत इसका कंटेन्ट और इसके उद्घोषकों की आवाज़ थी। जब उद्घोषक बेहद शांत, धीमी और मखमली आवाज़ में, शायरी या किसी गहरे विचार के साथ गानों को पिरोते थे, तो रात के सन्नाटे में इसे सुनना एक जादुई अनुभव होता था। आज भी पुराने गानों और रेडियो के शौकीनों के बीच 'छाया गीत' की एक अलग और बेहद सम्मानित जगह है।

तुम अगर चाहो तो ‘छाया गीत’ प्रोग्राम आज भी रेडियो पर ट्यून करके मेरी कही हुई बातों की तसदीक कर सकते हो।

□□

सन् 1960 और 1970 का दशक भारतीय रेडियो प्रसारण के इतिहास का वास्तविक अर्थों में स्वर्ण युग माना जाता है। यह वह समय था जब रेडियो केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि करोड़ों भारतीयों के दैनिक जीवन का अभिन्न हिस्सा था। रेडियो सीलोन और आकाशवाणी की विविध भारती सेवा से प्रसारित होने वाली मधुर, आत्मीय और गरिमामयी आवाज़ें घर-घर में पहचानी जाती थीं। उस दौर के श्रोता उद्घोषकों को उनके चेहरे से नहीं, बल्कि उनकी आवाज़, उच्चारण, भाषा की शुद्धता और प्रस्तुति की विशिष्ट शैली से पहचानते थे। उनके बोलने का ढंग ऐसा अपनापन जगाता था कि लगता था जैसे परिवार का ही कोई सदस्य गीतों और कार्यक्रमों का परिचय दे रहा हो।

मेरी स्मृतियों में रेडियो के उस स्वर्णिम युग के अनेक कार्यक्रम आज भी पूरी जीवंतता के साथ सुरक्षित हैं, लेकिन यदि उद्घोषकों की बात करूँ तो समय की लंबी यात्रा के बाद केवल तीन नाम ही ऐसे हैं जो आज भी बिना किसी प्रयास के स्मृति में उसी स्पष्टता के साथ उभर आते हैं-अमीन सयानी, देवकी नंदन पाण्डेय और मनोहर महाजन। शायद इसलिए कि इन तीनों की आवाज़ों में एक ऐसी विशिष्ट पहचान थी, जिसे एक बार सुन लेने के बाद भुला पाना संभव ही नहीं था।

अमीन सयानी का नाम आते ही कानों में आज भी वही आत्मीय पुकार गूँज उठती है-"बहनों और भाइयों…"। उस एक वाक्य के साथ जैसे पूरा घर रेडियो के इर्द-गिर्द सिमट आता था। उनकी आवाज़ में ऐसा अपनापन था कि लगता था वे किसी दूर के स्टूडियो से नहीं, बल्कि हमारे ही बैठक खाने में बैठकर हमसे बातें कर रहे हैं। गीतों का परिचय देने का उनका अपना विशिष्ट अंदाज़, शब्दों की मिठास और बोलने की लय उन्हें केवल एक उद्घोषक नहीं, बल्कि हर श्रोता के परिचित मित्र जैसा बना देती थी।

समाचारों के समय वातावरण अपने-आप बदल जाता था। जैसे ही यह वाक्य सुनाई देता-"यह आकाशवाणी है, अब आप देवकी नंदन पाण्डेय से समाचार सुनिए…", घर में एक स्वाभाविक शांति छा जाती। बातचीत थम जाती और सबका ध्यान रेडियो की ओर चला जाता। उनके स्वर में एक ऐसा संतुलन, ऐसी स्पष्टता और ऐसा विश्वास था कि लगता था देश की धड़कन सीधे उसी आवाज़ के माध्यम से हमारे घर तक पहुँच रही है। समाचार पढ़ने की उनकी शैली आज भी मेरे मन में वैसी ही सुरक्षित है।

तीसरा नाम मनोहर महाजन का है। उनके साथ मेरा एक आत्मीय संबंध भी जुड़ा हुआ है। वे मेरे मॉडल हाई स्कूल, जबलपुर के छात्र रहे थे और मुझसे कई वर्ष वरिष्ठ थे। जब मुझे यह बात पता चली तो उनके प्रति अपनापन और भी बढ़ गया। रेडियो पर उनकी बुलंद, प्रभावशाली और आत्मविश्वास से भरी आवाज़ सुनते हुए मन में एक हल्का-सा गर्व भी होता था कि हमारे ही विद्यालय का एक विद्यार्थी पूरे देश के श्रोताओं के बीच अपनी विशिष्ट पहचान बना चुका है। उनके स्वर में जो गरिमा और दृढ़ता थी, वह सहज ही ध्यान आकर्षित कर लेती थी।

आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उन दिनों हम केवल गीत या समाचार नहीं सुनते थे, बल्कि आवाज़ों के माध्यम से लोगों से जुड़ते भी थे। उद्घोषक हमारे लिए केवल नाम नहीं थे; वे हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा थे। उनकी आवाज़ें घर के वातावरण में इस तरह घुल-मिल गई थीं कि वे परिवार के किसी परिचित सदस्य जैसी लगने लगी थीं। समय बदल गया, रेडियो की जगह अनेक नए माध्यमों ने ले ली, लेकिन उन तीनों स्वर-शिल्पियों की गूँज आज भी मेरी स्मृतियों में उतनी ही ताज़ा है। कभी-कभी लगता है कि यदि पुराने ट्रांज़िस्टर का स्विच फिर से घुमा दूँ, तो शायद वही परिचित आवाज़ें एक बार फिर सुनाई देने लगें।

□□

ऑल इंडिया रेडियो, आकाशवाणी की उर्दू सर्विस भारतीय रेडियो इतिहास की सबसे प्रतिष्ठित और लोकप्रिय प्रसारण सेवाओं में से एक रही है। यह केवल एक रेडियो सेवा नहीं थी, बल्कि उर्दू भाषा, साहित्य, शायरी, संगीत और भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का एक जीवंत मंच थी। इसकी मधुर, सुसंस्कृत और तहज़ीब से भरी प्रस्तुति ने भारत ही नहीं, बल्कि दक्षिण एशिया के अनेक देशों में भी असंख्य श्रोताओं का स्नेह प्राप्त किया।

आकाशवाणी की उर्दू सर्विस, उसके विदेश सेवा प्रभाग का एक महत्वपूर्ण अंग थी। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति, साहित्य, संगीत और समसामयिक घटनाओं को उत्कृष्ट उर्दू भाषा के माध्यम से व्यापक श्रोता-वर्ग तक पहुँचाना था। कई दशकों तक इसका प्रसारण प्रतिदिन अनेक घंटों तक होता रहा और इसकी पहचान आकाशवाणी की बेहद मक़बूल, हरदिल अज़ीज़ सेवाओं में की जाती थी।

उर्दू सर्विस की सबसे बड़ी विशेषता उसकी भाषा थी। यहाँ के उद्घोषकों का स्पष्ट उच्चारण, नफ़ासत, शब्दों का सुरुचिपूर्ण चयन और बातचीत का सलीक़ा श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता था। कार्यक्रमों के बीच शेर-ओ-शायरी, अदबी इक्तिबासात और दिली 'तब्सिरे' सुनना अपने-आप में एक सांस्कृतिक अनुभव होता था। यही कारण था कि जिन लोगों की उर्दू पर अच्छी पकड़ नहीं थी, वे भी केवल उसकी मिठास का आनंद लेने के लिए इस सेवा को नियमित रूप से सुनते थे।

इस सेवा के अनेक कार्यक्रम अत्यंत लोकप्रिय थे। 'तब्सिरा' समसामयिक विषयों पर आधारित एक गंभीर और विचारोत्तेजक कार्यक्रम था, जिसकी भाषा और विश्लेषण दोनों ही उच्च स्तर के होते थे। इसके अतिरिक्त साहित्य और शायरी पर केंद्रित कार्यक्रम, ग़ज़लों और क़व्वालियों की विशेष प्रस्तुतियाँ तथा फ़िल्मी गीतों के अनुरोध-आधारित कार्यक्रम श्रोताओं के बीच विशेष रूप से लोकप्रिय थे। इन कार्यक्रमों के माध्यम से शास्त्रीय संगीत, सूफ़ियाना कलाम, ग़ज़ल और उर्दू अदब का एक समृद्ध संसार घर-घर तक पहुँचता था। समाचार बुलेटिन भी अपनी संतुलित, स्पष्ट और गरिमामय प्रस्तुति के कारण अत्यंत सम्मानित माने जाते थे।

उस दौर में श्रोताओं और उद्घोषकों के बीच पत्रों का एक आत्मीय रिश्ता हुआ करता था। देश के विभिन्न राज्यों और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक भागों से बड़ी संख्या में पत्र आते थे। इनमें गीतों की फ़रमाइशें, कार्यक्रमों पर प्रतिक्रियाएँ, शायरी, शुभकामनाएँ और उद्घोषकों के प्रति स्नेह से भरे संदेश होते थे। इन्हीं पत्रों के माध्यम से रेडियो और उसके श्रोताओं के बीच एक ऐसा भावनात्मक संबंध बनता था, जिसकी कल्पना आज के डिजिटल युग में करना कठिन है।

समय के साथ शॉर्ट वेब रेडियो का उपयोग अवश्य कम हुआ, परन्तु आकाशवाणी की उर्दू सर्विस ने समय के साथ स्वयं को भी बदला। आज यह इंटरनेट और डिजिटल स्ट्रीमिंग के माध्यम से उपलब्ध है। फिर भी, इसकी असली पहचान वही है जो दशकों पहले थी-तहज़ीब से भरी भाषा, शालीन प्रस्तुति, उत्कृष्ट संगीत, साहित्यिक गरिमा और श्रोताओं से आत्मीय संवाद। भारतीय रेडियो इतिहास में उर्दू सर्विस का यह योगदान सदैव सम्मान के साथ स्मरण किया जाएगा।

□□

रेडियो और फिल्मी गानों की इतनी बातें हों और उन गायकों की बातें मैं न करूँ जिनकी आवाज़ के जादू ने मेरी ज़िंदगी के उस दौर को इतना ख़ूबसूरत और सुकून भरा बनाया। जिनके गाए हुए गानों के साये में मैं घटनाओं को केवल सामान्य रूप में घटते हुए नहीं देखता था, बल्कि भावनात्मक दृष्टिकोण या अहसासाती नज़रिये से देख पाता था। यह बात बहुत बारीक और नाज़ुक है किसी के समझ पाने के लिए

लेकिन मेरे लिए उतनी ही सहज, सरल और आसान हुआ करती थी। बहुत बहुत पेचीदा और उलझन भरे पलों में मेरे परेशानी से भरे या उदास क्षणों में मेरे भीतर कोई गाना आप से आप बिल्कुल ऑटो या स्वचालित 'मोड' पर बजने लगता था उससे मेरी परेशानी और उलझन भले दूर नहीं होती थी, कम भी नहीं होती थी परंतु मेरे अंदर उनसे 'डील' करने की ताक़त पैदा हो जाती थी। मेरे दिमाग़ और दिल के बीच तत्काल एक मीटिंग होती थी और दोनों अपना अपना काम बाँट लेते थे। दिमाग़ का काम था उलझन का हल तलाशना जबकि दिल उस सिचुएशन में मेरी भावनात्मक केयर में लग जाता था। कुछ ग़लत हो जाए तो उस हार को कैसे स्वीकार करना है इस प्लानिंग में लग जाता था।

रेडियो और फ़िल्मी गीतों की इतनी बातें करूँ और उन गायकों का उल्लेख न करूँ, जिनकी आवाज़ों ने मेरी ज़िंदगी के उस पूरे दौर को एक अदृश्य संगीत की तरह घेर रखा था, तो यह कथा अधूरी रह जाएगी। वे केवल गायक नहीं थे; वे मेरे भीतर घटने वाली अनगिनत घटनाओं के मौन साक्षी थे। उनकी आवाज़ें बाहर रेडियो से आती थीं, पर धीरे-धीरे उन्होंने मेरे भीतर अपना एक स्थायी घर बना लिया था। समय के साथ यह समझ में आया कि मनुष्य केवल अपनी स्मृतियों में नहीं रहता, वह उन आवाज़ों में भी रहता है जो उसकी स्मृतियों का संगीत बन जाती हैं।

उन दिनों जीवन में जो कुछ घटता था, वह केवल घटना भर नहीं रह जाता था। कोई बिछड़ता, कोई मिल जाता, कोई सपना टूटता, कोई उम्मीद जन्म लेती-हर अनुभव के पीछे जैसे कोई धुन चुपचाप चलने लगती थी। मुझे लगता था कि मैं घटनाओं को आँखों से कम और गीतों के माध्यम से अधिक देख रहा हूँ। वे गीत मेरी अनुभूतियों का अनुवाद कर देते थे। जिन भावों को शब्द नहीं मिलते थे, उन्हें किसी गायक की आवाज़ सहसा व्यक्त कर देती थी। शायद इसी कारण जीवन मेरे लिए केवल घटनाओं का क्रम नहीं था; वह भावनाओं का एक निरंतर बहता हुआ संगीत भी था।

यह अनुभव समझाना आसान नहीं है। बाहर से देखने वाला शायद कहे कि यह केवल कल्पना है, लेकिन मेरे लिए यह उतना ही स्वाभाविक था जितना साँस लेना। बहुत-सी ऐसी बातें थीं जिन्हें मैं किसी से कह नहीं पाता था, पर वही बातें किसी गीत के दो-

चार बोलों में अपना चेहरा पहचान लेती थीं। लगता था जैसे वह गीत मेरे लिए ही लिखा गया हो और वह आवाज़ मेरे भीतर छिपे किसी अनकहे दुख या किसी अनाम ख़ुशी को बिना पूछे पहचान गई हो।

जीवन में जब भी कोई बहुत पेचीदा मोड़ आता, जब भीतर उलझनें इतनी घनी हो जातीं कि किसी रास्ते का अनुमान भी नहीं होता, तब एक अजीब-सी बात होती। बिना किसी प्रयास के, बिना किसी निर्णय के, मेरे भीतर कोई गीत अपने-आप बजने लगता। जैसे मन के किसी पुराने कमरे में रखा ट्रांज़िस्टर अचानक स्वयं चालू हो गया हो। मैंने कभी उसे बुलाया नहीं, वह अपने समय पर स्वयं आ जाता था।

उस गीत से मेरी समस्या समाप्त नहीं होती थी। परिस्थितियाँ जैसी थीं, वैसी ही बनी रहती थीं। दुख अपना आकार नहीं बदलता था, उलझनें भी वहीं रहती थीं। लेकिन उनके बीच खड़े रहने की मेरी क्षमता बदल जाती थी। जैसे किसी ने मेरे कंधे पर चुपचाप हाथ रख दिया हो। उस क्षण मुझे यह विश्वास हो जाता कि यह समय भी बीत जाएगा और मैं इसके साथ चल सकूँगा।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उन क्षणों में मेरे भीतर एक अदृश्य बैठक हुआ करती थी। मेरे दिमाग़ और मेरे दिल के बीच। दोनों एक-दूसरे से बहस नहीं करते थे, बल्कि अपने-अपने हिस्से का काम बाँट लेते थे। दिमाग़ यथार्थ के सामने बैठकर समाधान खोजने लगता-क्या करना है, किस रास्ते जाना है, कहाँ ग़लती हुई है। और दिल. . . वह मेरे पास ही बैठ जाता। वह किसी सलाहकार की तरह नहीं, किसी आत्मीय मित्र की तरह मेरी भावनाओं की देखभाल करता। यदि हार सामने दिखाई देती, तो वह मुझे हार से बचाने की कोशिश नहीं करता; वह मुझे उसे स्वीकार करने का साहस देता। यदि कोई सपना टूट रहा होता, तो वह टूटे हुए टुकड़ों को जोड़ने की जल्दी भी नहीं करता; केवल इतना करता कि उन टुकड़ों से मुझे घायल न होने दे।

शायद इसी कारण आज भी मुझे लगता है कि उन वर्षों में फ़िल्मी गीत मेरे मनोरंजन का साधन नहीं थे। वे मेरे भीतर काम करने वाली एक मौन उपचार-प्रक्रिया थे। उन्होंने मुझे जीवन की कठिनाइयों से बचाया नहीं, बल्कि उनके साथ जीना सिखाया। उन्होंने

दुख को मिटाया नहीं, लेकिन उसे सहने की भाषा दी। और कभी-कभी मनुष्य को जीवन में शायद इससे अधिक किसी चीज़ की आवश्यकता भी नहीं होती।



एक प्रोग्राम था 'युव वाणी', ये कार्यक्रम शाम साढ़े पाँच बजे प्रारंभ होता था और शायद आधे घंटे का ही था। यह 'आकाशवाणी' द्वारा शुरू किया गया एक बेहद लोकप्रिय और ऐतिहासिक रेडियो कार्यक्रम था जो अभी भी प्रसारित होता है है। यह भारतीय प्रसारण के इतिहास में एक अनूठा प्रयोग था, जिसने रेडियो को केवल 'पसंद किए जाने वाले गानों' या 'समाचारों' तक सीमित न रखकर युवाओं की आवाज़ बनाया।

कई बार जबलपुर में ही तैयार किया हुआ युव वाणी प्रसारित होता और कभी कभी कभी भोपाल केंद्र की प्रस्तुति प्रसारित की जाती थी।

इस सेवा की शुरुआत 21 जुलाई 1969 को दिल्ली आकाशवाणी केंद्र से हुई थी। बाद में इसे देश के कई अन्य केंद्रों पर भी शुरू किया गया।

इसका मुख्य उद्देश्य देश की युवा ऊर्जा और उनकी आकांक्षाओं को एक समर्पित मंच देना था। तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री, श्रीमती इंदिरा गांधी के कार्यकाल में इस तरह की पहल को काफी बढ़ावा मिला, ताकि युवाओं को राष्ट्र-निर्माण और रचनात्मक अभिव्यक्ति से जोड़ा जा सके। युव वाणी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसके कार्यक्रम केवल युवाओं के लिए नहीं थे, बल्कि उन्हें स्वयं युवाओं द्वारा ही तैयार और प्रस्तुत किया जाता था। इस प्रोग्राम के तहत वाद-विवाद, नाटक, संगीत, साक्षात्कारों, साहित्यिक चर्चाओं और सामाजिक मुद्दों पर बेबाक बातचीत प्रसारित की जाती थी।

संक्षेप में कहें तो, युव वाणी केवल एक रेडियो शो नहीं बल्कि "युवाओं की आवाज़" का एक सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसने पारंपरिक प्रसारण के तौर-तरीकों को बदलकर युवाओं को देश के सामने अपनी बात रखने का हौसला दिया। मुझे भी यह प्रोग्राम पसंद आता था। कई बार इस प्रोग्राम के माध्यम से नई और अच्छी जानकारियाँ

भी प्राप्त होती थीं। साथ ही स्थानीय नवोदित गायकों और संगीतकारों की प्रस्तुतियाँ, शहर के शिक्षाविदों, सफल युवाओं, खेल हस्तियों और विशेषज्ञों के साथ करियर और सामाजिक मुद्दों पर बातचीत , युवा कवियों का काव्य-पाठ और लघु रेडियो नाटकों का प्रसारण ये सब इस कार्यक्रम में साप्ताहिक रूप से शामिल होते थे। इस प्रोग्राम का एक विशेष खंड -'आपके खत, हमारे जवाब' भी मुझे बहुत अच्छा लगता था। युवाओं द्वारा भेजे गए पत्रों को पढ़ना और उनके माकूल जवाब देना , पसंदीदा फरमाइशी गीतों व फरमाइशों को शामिल करना। ये सब ऐसा माहौल तैयार कर देते थे जैसे मैं भी उस प्रोग्राम में हिस्सा ले रहा हूँ। विभिन्न कारणों से मैं नियमित रूप से इस कार्यक्रम को नहीं सुन पाता था, परंतु जब भी मौका मिलता अवश्य सुनता था।

जबलपुर और भोपाल केंद्रों में तैयार किए गए 'लोक गीतों' के कार्यक्रमों का तो मैं दीवाना था। ऐसा एक आधे घंटे का कार्यक्रम दोपहर डेढ़ बजे से दो बजे तक आता था। उसमें रेडियो स्टेशन पर रिकार्ड किए गए लोक गीत और लोक भजन प्रसारित होते थे। मुझे सबसे अच्छे लोकगीत 'बुंदेलखंड' के लगते थे। आज भी लगते हैं। जबलपुर में बुन्देली भाषा अपने 'जबलपुरिया' अंदाज़ में बोली जाती है। सामान्य बोलचाल शहरी क्षेत्र में भले ही हिन्दी की 'खड़ी बोली' हो, परंतु पुराने जबलपुर में और ग्रामीण अंचल में खालिश बुन्देली ही बोली जाती है। मेरे हिसाब से इससे सुंदर और अपनेपन की बाँकी भाषा दूसरी नहीं है। 'बाँकी' से मेरा मतलब ये है कि इस भाषा में जो लय , लचक और सरल हास्य के साथ साथ कटारी जैसा बाँका पैनापन है वह कहीं और न मिलेगा। जैसे बाँकी नज़र से जब कोई घायल करता है तो दर्द नहीं होता पर बाँकी नज़र का बाँकपन अपना काम कर जाता है। ऐंसी है हमाई बुन्देली, सब कछु बोल बता भी दे और, बे कै रए कछू और सुनाओ ने गोईं , मन नई भरो अबै । बुन्देली से मन कभऊँ नई भरै।

और लोक गीत जो आते थे वे बघेली, मालवी, छतीसगढ़ी, गोंड़ी, निमाड़ी आदि के होते थे। ये सब मध्यप्रदेश के अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषाएँ हैं। उस समय तक मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ विलग नहीं हुए थे।

1968 से 1976 का कालखंड बुंदेली लोक संगीत के लिए एक स्वर्णिम युग था। इसी दौरान विशेषकर 1969 में जब आकाशवाणी पर युवाओं को समर्पित 'युववाणी' कार्यक्रम की शुरुआत हुई और स्थानीय आकाशवाणी केंद्रों जैसे जबलपुर, भोपाल, छतरपुर, और ग्वालियर ने बुंदेली लोक गीतों को रिकॉर्ड कर प्रसारित करना शुरू किया। इससे पहले जो लोक गीत केवल गांवों की चौपालों तक सीमित थे, वे रेडियो के माध्यम से घर-घर पहुंचने लगे।

बुंदेली लोक गीतों की विविधता के बारे में जितना जानता हूँ बताता चलूँ, होली के समय गाए जाने वाले लोक गीत 'फाग और ख्याल' कहे जाते हैं, लोककवि ईसुरी की फागें इस दौर में रेडियो गायकों की पहली पसंद हुआ करती थीं। एक प्रसिद्ध चौकड़ी की पंक्तियाँ सुनो-

"सैयां तोरे दरस बिना व्याकुल प्रान हमारे,
निसदिन रस्ता जोत-जोत के, नैन भये अति कारे।"

बुदेलखंड के प्रसिद्ध लोक नृत्य गीत राई और सैरा हैं जो त्योहारों और फसलों की कटाई के समय गाए जाते हैं। वीर रस से भरपूर बुंदेली गाथाएं 'आल्हा', जो सावन के महीने में रेडियो पर ख़ूब गूंजती थीं।

आल्हा' की बानगी देखो-

"जाके बैरी सम्मुख ठाढ़ो, ताको जीवन है धिक्कार।
बारह बरस लौं कूकर जीवै, और तेरह लौं जियै सियार,
बरस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार।"

इनके साथ ही बुंदेली कन्याओं द्वारा गाए जाने वाले पारंपरिक भक्ति और उत्सव गीत भी इन कार्यक्रमों के हिस्सा हुआ करते थे।

"बने दूल्हा छवि देखो भगवान की,
दुल्हन बनी सिया जानकी।
जैसे दूल्हा अवधबिहारी,
तैसी दुल्हन जनक दुलारी,

जाऊ तन मन से बलिहारी।
मनसा पूरन भई सबके अरमान की। दुल्हन बनी. . .
ठांड़े राजा जनक के द्वार,
संग में चारउ राजकुमार,
दर्शन करते सब नर-नार
धूम छायी है डंका निशान की। दुल्हन बनी. . .
सिर पर कीट मुकुट को धारें,
बागो बारम्बार संभारे, हो रही फूलन की बौछारें।
शोभा बरनी न जाए धनुष बाण की। दुल्हन बनी. . .
पण्डित ठांड़े शगुन विचारें,
कोऊ-कोऊ मुख से वेद उचारें।
सखियां करती हैं न्यौछारें,
माया लुट गई है हीरा के खान की। दुल्हन बनी. . .
कह रहे जनक दोई कर जोर,
सुनियो-सुनियो अवधकिशोर,
कृपा करो हमारी ओर।
हमसे खातिर न बनी जलपान की। दुल्हन बनी. . .

इन कार्यक्रमों में 'बन्ना-बन्नी' और 'गारी' गीत भी ख़ूब बजते थे। इन गीतों के माधुर्य का कोई जवाब नहीं होता। आज भी बुंदेलखंड अंचल में यदि 'बन्ना-बन्नी' और 'गारी' गीत न गूँजें तो शादी-ब्याह अधूरा ही लगता है।

मुझे लगता है ये मेरा बुन्देली लोक गीतों से अथाह प्यार ही है – जिसने इस बात को इतना खींच दिया। चलो अब इसे विराम दें पर एक 'बघेली' सोहर के बाद-

"बिछुवा तो बाजइ रून झुन
बसिया कहां रे बाजईं बसिया कहां रे बाजईं हो
राजा कउने ननंद जी के भइया
तौ बसिया बजावईं बसिया बजावईं हो
पंसवा तौ खेलई राजा बेल तरी
अउर बमुर तरी अउर बमुर तरी हो

राजा तुम्हरी धना वेदन बिआकुल
तौ तुम्मही बोलाइनि तुम्मही बोलाइनि हो
पंसवा तौ मिचकिन राजा बेल तरी अउर बमुर तरी हो
राजा पेलि पैठि गज ओबरी
कहा धन बेदन- कहा धन बेदन हो
बायें अंग राजा मोर कसकै
दहिन अंग मसकै- दहिन अंग मसकई हो
राजा मरतिउं पंजरिया के पीर
तौ धकरिन बोलावा- तौ धकरिन बोलाय लावा हो
अगिला के घोड़वा कउन सिंह पिछे के कउन सिंह
पीछे के कउन सिंह हो
भइया चला हो बुन्देलनी के देश
जहां बसे धकरिन- जहां बसै धकरित
जहां बसई धकरिन हो
पूंछे अटयिन बटयिन कुंययां पनिहारिन
कुइंयां पनिहारिन हो
राजा पूछें शहरवा के लोग
कहां बसै धकरिन- कहां बसै धकरिन हो
ऊंच नगरपुर पाटन आले बांस छाये हैं हो
आले बांस छाये हैं हो
राजा द्वारे चन्दन बड़ा रूखवा जहां बसे धकरिन
जहां बसै धकरिन हो
को मोरे टटिया उघारिस-बेड़ खरकाइसि
बेड़ खरकाइसि हो
राजा कउन रजनि केर पूत एतनी बैरि आइसि
एतनी बैरि आइसि हो
हम तोरे टटिया उघारेन बेड़ खरकायन
बेड़ खरकायन हो
लोनी मह तौ कउन सिंह के पूत
यतनी रात आयेन एतनी दूरि आयन हो

जो तुम्हारे व्हइहैं होररिलवा
तौ काह लुटइहा तौ काह लुटइया हो
जो तुम्हरे व्हइहैं घेरिया कउन रंग चूनरि
कउन रंग चूनरि हो
जो हमरे व्हइहैं होरलवा
तौ सोनवा लुटइबै रूपवा लुटइबै हो
जो हमरे व्हइहै धोरिया
अवध रंग चूनरि अवध रंग चूनरि हो
अंगिले के घोड़वा कउन सिंह पिछे के कउन सिंह हो
लोनी बीच के डड़िया सुघर लोनी
चंवर चलत आवै पसिनवा ढुरत आवै हो
जो मैं जनतिउं सुघर लोनी”

यह अवधी/बघेली सोहर शैली का लोकगीत है, जो संभवतः किसी लोककथा या राजा-रानी की कहानी पर आधारित है। यह मौखिक लोक-परंपरा की बोली में है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है:

पायल (बिछुवा) रुनझुन बज रही है - पूछा जा रहा है कि यह बासुरी (बसिया) कहाँ बज रही है, कौन बजा रहा है। उत्तर मिलता है कि यह ननद के भाई (यानी राजा) हैं जो बांसुरी बजा रहे हैं।

राजा बेल और गूलर (बमुर) के पेड़ के नीचे पासा (पंसा/पासों का खेल) खेल रहे हैं। तभी संदेश आता है कि उनकी पत्नी (धना) प्रसव-पीड़ा (वेदना) से व्याकुल हैं और उन्हें बुलाया जा रहा है।

राजा पासा वहीं छोड़कर, बेल-गूलर के नीचे से उठकर, अपने महल (गज ओबरी - हाथीशाला जैसी विशाल अटारी) में दौड़े हुए जाते हैं और पूछते हैं - "धना, तुम्हें क्या तकलीफ़ है?" पत्नी कहती है - "मेरा बायाँ अंग कसक रहा है, दायाँ अंग मसक (दर्द) रहा है, ऐसा लगता है मैं इस पीड़ा में मर जाऊँगी। दाई (धकरिन/धात्री - प्रसव कराने वाली स्त्री) को बुलवाओ।"

राजा पूछते हैं कि दाई कहाँ रहती है, और सेवकों को घोड़े पर बुन्देलखण्ड की ओर भेजते हैं, जहाँ वह दाई रहती है। रास्ते में कुएँ पर पानी भरने वाली स्त्रियों से और नगर के लोगों से पूछते-पूछते वे दाई के घर पहुँचते हैं - जो ऊँचे नगर, बाँस के झुरमुट और द्वार पर बड़े चन्दन के पेड़ वाले घर में रहती है।

रात में जब कोई दरवाज़ा/झोंपड़ी (टटिया) खोलकर द्वार खटखटाता है, तो दाई चौंककर पूछती है - "इतनी रात कौन आया है, किसके घर का बेटा है?" वे उत्तर देते हैं कि हम ही टटिया खोलकर आए हैं। दाई पूछती है कि इतनी दूर, इतनी रात में क्यों आना पड़ा।

बातचीत में यह भी पूछा जाता है कि यदि लड़का हुआ तो क्या लुटाया जाएगा (उपहार में) और यदि लड़की हुई तो किस रंग की चुनरी दी जाएगी। उत्तर मिलता है - बेटा हुआ तो सोना-चाँदी लुटाई जाएगी, बेटी हुई तो अवधी रंग की चुनरी दी जाएगी।

अंत में दाई घोड़े पर सवार होकर चलती है - रास्ते में उसकी चाल का सुंदर वर्णन है (चंवर डुलती चाल, पसीना बहता हुआ) - और वह कहती है कि "यदि मुझे पहले से पता होता (कि इतनी दूर जाना है/इतना महत्व है), तो..."

(पद यहीं अधूरा छूटता है)।

यह गीत मूलतः 'सोहर' की शैली में पुत्र/संतान जन्म पर गाया जाने वाला लोकगीत है, जिसमें राजा की पत्नी के प्रसव-पीड़ा से लेकर दाई को बुलाने तक की कथा बड़े काव्यात्मक ढंग से, संवाद-शैली में कही गई है। अवधी और बघेली मिश्रित बोली होने से कुछ शब्द जैसे 'पंसवा', 'गज ओबरी', 'धकरिन' स्थानीय हैं और इनका ठीक-ठीक अर्थ क्षेत्र-विशेष के अनुसार बदल सकता है।

एक और बहुत प्यारी सोहर मुझे याद आ रही है – इसे पंडित छन्नू लाल जी मिश्र ने बहुत भाव विभोर होकर गाया है – मैं जब भी इसे सुनता हूँ किसी दूसरे ही आयाम में प्रविष्ट हो जाता हूँ।

तुम भी सुनो-

“सखी सब गावैं सोहर, रतियाँ मनोहर।
यशोदा के भइलेन किशोर जी, मुरली मनोहर हो
ललना, जुग-जुग जियें नंदलाल;आशीष सब देवैं हो।
पंडित आएं दुअरिया, बिचारैं सगुनिया।
ललना, जुग-जुग जियें नंदलाल;आशीष सब देवैं हो।

कोई लुटावैं धेनू, गैया ; कोई रुपैया।
ललना कोई लुटावैं मोहर -रतियाँ मनोहर…..हो।
नंद लुटावैं धेनू, गैया; त मैया रुपैया।
ललना गोतनी लुटावैं मोहर - रतियाँ मनोहर…..हो।
अंगना में गावैं गोतनिया, नाचैं पउनिया।
रामा गुनि जन गावैं सोहर - रतियाँ मनोहर…..हो।
यशोदा के भइलेन किशोर जी, मुरली मनोहर हो
ललना, जुग-जुग जियें नंदलाल;आशीष सब देवैं हो।“

कन्हैया के जन्म का इतना प्यारा चित्रण इस ‘सोहर’ से अन्यंत्र कहीं मिलेगा क्या ?

मैंने जिन लोकगीतों को यहाँ उद्धृत किया है, वे रेडियो पर कभी बजे हों यह पक्का नहीं है। मेरा मकसद बस तुम्हें लोकगीतों की उन लोकप्रिय शैलियों से परिचित कराना है, जिस तरह के लोकगीत हमारे क्षेत्रीय रेडियो स्टेशन पर बजते थे। उनका माधुर्य, सरलता-सहजता और लय तीनों मिलकर मुझे मुग्ध कर देते थे। विशेषकर ‘सोहर’ गीत का आरोह-अवरोह और अवधी/बघेली भाषा की नागिन सी चाल।

आज भी जब मैं किसी चीज़ से आहात हो जाता हूँ तो सोहर की धुन में कुछ भी गुनगुनाने लगता हूँ। कुछ देर बाद सब कुछ भूल भुला के वापस ट्रैक पर आ जाता हूँ। ‘सोहर’ की धुन मुझे इतनी प्यारी लगती है।

‘सोहर’ मूलतः बच्चे के जन्म पर गाया जाने वाला मंगल गीत है।

‘सोहर’ जीवन के स्फुरण का गीत है।
‘सोहर’ जीवन का गीत है।



रेडियो शायद बहुत देर से चल रहा है, इसलिए. . . .

अब यादों की एक मखमली पोटली खोलता हूँ और उसमें से जो निकलेगा उसे शब्दों में पिरो कर तुम्हें सुना दूँ फिर इस चैप्टर का अंत करूँ।

कुंदन लाल सहगल साहब का एक शानदार गाना है, फ़िल्म 'शाह जहाँ' का जो उनके ऊपर ही फिल्माया गया था। वे स्वयं फ़िल्म 'शाह जहाँ' में नायक थे और उन्होंने शाह जहाँ का किरदार निभाया था। जब मैंने पहली दफ़ा ये गीत सुना तब मुझे ये सब कुछ नहीं मालूम था। बल्कि मैं ये गीत पहली पहली बार सुन रहा था। मैंने ठीक से ध्यान भी नहीं दिया उद्घोषक ने गीत प्रसारित करने के पहले क्या कुछ कहा। यह गीत 'ऑल इंडिया रेडियो' की उर्दू सर्विस से रात्रिकालीन 'आपकी फ़रमाइश' प्रोग्राम में प्रसारित हो रहा था। ठंड के दिनों की एक रात थी और मैं रजाई में दुबका हुआ कुछ पढ़ रहा था। पार्श्व में रेडियो पर धीमे स्वर में ये गीत बजने लगा। कुछ ही पलों में इस गाने की धुन और सहगल साहब की आवाज के जादू ने अपनी ओर खींच लिया। मैं पढ़ना छोड़ इस गीत में खो गया। फिर बहुत देर तक ये गीत मेरे मेरे मन-मस्तिष्क में गूँजता रहा। वह गूँज आज तक मेरे भीतर ठीक उसी तरह से बनी हुई है। जब भी लगता है मेरे भीतर कुछ टूट रहा है, या मन उदास है, या कुछ अच्छा स नहीं लग रहा मैं ये गीत बज लेता हूँ। अब तो इस गीत को इतने लोगों ने गया है कि कोई भी वर्ज़न बजा कर नॉरमल्सी रिस्टोर कर लेता हूँ –

पर सहगल साहब तो सबसे ऊपर हैं उन्हें वहाँ से कौन डिगा सकेगा। आज भी मेरे पसंद के सबसे प्रिय गीतों की लिस्ट में यह 'सरताज़' गीत है नंबर एक पायदान पर। नौशाद साहब ने इसे संगीत से संवार है और मज़रूह सुल्तानपुरी साहब के ये शब्द हैं।

अब गीत सुनाना तो बनता है –

"ग़म दिये मुस्तक़िल, कितना नाज़ुक है दिल,
ये न जाना
हाये हाये ये ज़ालिम ज़माना
दे उठे दाग लो उनसे ऐ महलों
कह सुनाना
हाये हाये ये ज़ालिम ज़माना।

दिल के हाथों से दामन छुड़ाकर
ग़म की नज़रों से नज़रें बचाकर
दिल के हाथों से दामन छुड़ाकर
ग़म की नज़रों से नज़रें बचाकर
उठके वो चल दिये,
कहते ही रह गये हम फ़साना
हाये हाये ये ज़ालिम ज़माना।

कोई मेरी ये रूदाद देखे,
ये मोहब्बत की बेदाद देखे
कोई मेरी ये रूदाद देखे,
ये मोहब्बत की बेदाद देखे
फूक रहा है जिगर,
पड़ रहा है मगर मुस्कुराना
हाये हाये ये ज़ालिम ज़माना।

ग़म दिये मुस्तक़िल, कितना नाज़ुक है दिल,
ये न जाना. . . हाये हाये ये ज़ालिम ज़माना।"

मेरी जानिब इसकी टक्कर का एक और गीत है – निगाहें मिलाकर बदल जाने वाले. . .

क़तील शिफ़ाई के शब्दों को ज़िंदगी देता मलिका-ए-तरन्नुम 'नूरजहाँ' की जादुई आवाज़ का जादू आज तक मुझे अपने तिलिस्म से बाहर नहीं आने दे रहा। और सच कहूँ तो मैं आना भी नहीं चाहता। उनकी आवाज़ की खनक और दर्द दोनों मिलकर क्या कुछ नहीं पैदा कर देते कलेजा मुँह को आ जाता है ऐसी थरथराहट और लरज़ – वाह!

सुनो, इस गीत को भी सुनो-

"निगाहें मिला कर बदल जाने वाले
मुझे तुझ से कोई शिकायत नहीं है
ये दुनिया बड़ी संगदिल है यहाँ पर
किसी को किसी से मुहब्बत नहीं है

जफ़ाओं से तूने मेरे दिल को तोड़ा
मुझे तूने ज़ालिम कहीं का न छोड़ा
हुआ मुझ को मालूम सब कुछ लुटा कर
वफ़ा की यहाँ कोई कीमत नहीं है
निगाहें मिला कर बदल जाने वाले
मुझे तुझ से कोई शिकायत नहीं है

न पहले से दिन है न पहली सी रातें
भुला दी वो तूने मुहब्बत की बातें
सुनाये थे तूने जो झूठे फ़साने
जरा सी भी उन में हकीक़त नहीं है
निगाहें मिला कर बदल जाने वाले
मुझे तुझ से कोई शिकायत नहीं है

करूं मैं जो फ़रियाद अपनी ज़ुबाँ से
गिरें टूट कर बिजलियाँ आसमाँ से
मैं अश्कों में सारे जहाँ को बहा दूँ
मगर मुझ को रोने की आदत नहीं है

निगाहें मिला कर बदल जाने वाले
मुझे तुझ से कोई शिकायत नहीं है
ये दुनिया बड़ी संगदिल है यहाँ पर
किसी को किसी से मुहब्बत नहीं है"

ये तुम्हें अजीब लगेगा कि मैं अक्सर इन दोनों गीतों को एक साथ एक के बाद एक सुनता हूँ और फिर जैसे तरो-ताज़ा होकर उठ खड़ा होता हूँ नई ऊर्जा के साथ।

अगर कोई मुझसे मेरी ज़िंदगी की कहानी दो पंक्तियों में बताने को कहे तो मैं बिना कुछ सोचे समझे और बिना एक पल की भी देरी किए कह दूँगा -

ग़म दिये मुस्तक़िल, कितना नाज़ुक है दिल,

ये न जाना. . .

लेकिन. . . .

मुझे तुझ से कोई शिकायत नहीं है. . . .



6

रंग और आकार

(अभिव्यक्ति का त्योहार)

रंगों और आकारों से मेरा रिश्ता शायद इस जीवन का नहीं है।

कभी-कभी लगता है, वे मेरे भीतर बहुत पहले से बसे हुए थे -इतने पहले से कि स्मृति भी वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ है। यह केवल एक कल्पना हो सकती है, पर जाने क्यों मुझे हमेशा यही लगा कि रंगों ने मुझे चुना था, मैंने रंगों को नहीं।

मुझे ठीक-ठीक याद नहीं कि वह कौन-सा पहला दिन था, कौन-सा पहला क्षण, जब मैंने अपने भीतर यह जाना हो कि रंग मुझे इतने प्रिय हैं।

बचपन की स्मृतियाँ वैसे भी धुँधली रोशनी में डूबी रहती हैं -उनमें घटनाएँ कम, उनकी परछाइयाँ अधिक बची रहती हैं। पर इतना अवश्य याद है कि जब से अपने होने का हल्का-सा बोध हुआ, तब से रंग किसी आत्मीय उपस्थिति की तरह मेरे आसपास थे।

वे केवल रंग नहीं थे –

हर रंग की अपनी एक अलग गंध थी.

अपना एक अलग ताप, एक अलग चुप्पी।

मैं उन्हें याद करता तो उनके साथ उनकी ख़ुशबुएँ भी लौट आतीं। पाउडर कलर्स, पोस्टर कलर्स, ऑयल कलर्स -या चित्र बनाने में काम आने वाली कोई भी छोटी-सी चीज़ -उनके पास जाते ही मुझे लगता, जैसे मैं किसी अपरिचित वस्तु के नहीं, बल्कि अपने बहुत पुराने परिचित के निकट आ गया हूँ।

उनसे उठती हुई वह हल्की-सी नशीली गंध मुझे एक विचित्र-से सम्मोहन में भर देती। जैसे अचानक भीतर कोई बंद खिड़की खुल गई हो और उसके पार एक दूसरी दुनिया दिखाई देने लगी हो -अधिक शांत, अधिक गहरी, अधिक सच्ची। उन क्षणों में मैं अपने भीतर एक अनाम उल्लास महसूस करता था, एक ऐसी शक्ति, जिसका कोई बाहरी कारण नहीं था।

अजीब बात है, इतने वर्षों बाद भी वह अनुभूति वैसी ही बनी हुई है।

उम्र अब सत्तर की देहरी पार कर चुकी है.

समय ने बहुत कुछ बदल दिया है –

चेहरों की चमक, स्मृतियों की आकृतियाँ, दिनों की रफ्तार –

पर रंगों के पास जाते ही आज भी भीतर वही पुराना कंपन जाग उठता है।

जैसे समय वहाँ आकर ठहर गया हो।

जैसे मेरे और रंगों के बीच अब भी कोई बहुत पुराना, बहुत गहरा संवाद चुपचाप चलता रहता हो।



पर बात शायद केवल इतनी भर थी। या केवल यही थी कहना शायद सही नहीं होगा। मेरे इस कथन की सच्चाई, हो सकता है जो मैं अब आगे लिखने जा रहा हूँ। उसमें उजागर हो।

मेरी पिछले जन्म वाली बात बहुत संभव है मेरी अपनी सोच ही हो।

इस जन्म में मेरे पिछले जन्म की कुछ बातें साथ चली आई हों, ये भी बिल्कुल हो सकता है। किन्तु इस जन्म का क्या ? मेरे रंगों , रेखाओं , आकारों और छवियों के सृजन के पीछे क्या बाबूजी का हाथ नहीं था। क्या जेनेटिक्स का कोई संबंध नहीं। शायद आनुवंशिक विकास क्रम में मुझे ये सब मिला हो। फिर मेरा उस परिवार में जन्म

लेना जहाँ रंग और ब्रश मेरी जैसे प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ भी हो। ये अस्तित्व के काम करने का अपना अद्भुत, बहुत गहरा और अनकहा तरीक़ा है।

मेरे पिता रंगों से प्रेम करते थे।

यह बात मैं पहले भी कहीं दर्ज़ कर चुका हूँ कि बनखेड़ी की रामलीला के लिए बड़े-बड़े परदे वही बनाया करते थे। वे परदे केवल मंच सज्जा नहीं होते थे, उनमें किसी लोक-स्मृति की साँस चलती रहती थी। घर में भी वे पाउडर रंगों से छोटी-बड़ी पेंटिंग बनाते। देवी-देवता, पहाड़, नदी, पेड़, संध्या के दृश्य - जैसे बाहर की दुनिया धीरे-धीरे उनके भीतर उतरकर रंग बन जाती हो।

शायद इसी कारण रंग मेरे लिए कभी बाहर की वस्तु नहीं रहे।
उनसे परिचय अक्षरों से भी पहले हुआ।

मुझे आज भी याद है - मिट्टी के वे चौड़े सकोरे, जो किसी बड़े दीये जैसे लगते थे; उनमें घुलते रंग; सरेस की गंध; पानी में धीरे-धीरे खुलता हुआ पाउडर; लकड़ी के पट्टों को जोड़कर फ्रेम बनाना; मोटे कपड़े को खींचकर उस पर छोटी-छोटी कीलें ठोकना; फिर सफेद चॉक मिट्टी और सरेस का घोल बनाकर केनवास पर पहली कोटिंग करना।

मैं घंटों चुपचाप यह सब देखता रहता।
कभी-कभी लगता, जैसे चित्र बनने से पहले ही कोई दूसरी, अदृश्य पेंटिंग बन रही हो - मेरे भीतर।

बाबूजी जब ब्रश चलाते, उनके चेहरे पर एक विचित्र एकाग्रता उतर आती थी। जैसे वे सामने के कैनवास पर नहीं, किसी और ही जगह देख रहे हों। उनके बनाए कई चित्र अब भी स्मृति में वैसे ही सुरक्षित हैं, जैसे पुराने संदूक में रखे कपड़ों में वर्षों बाद भी किसी परिचित गंध का बचा रह जाना।

उनमें एक चित्र था - समाधिस्थ महादेव का।

वह चित्र आज भी मुझे लगभग उसी स्पष्टता से याद है, जैसे किसी सांझ अचानक बंद आँखों के भीतर कोई पुराना दृश्य उजाला बनकर लौट आए।

करीब तीन फुट चौड़ा और पाँच फुट ऊँचा वह चित्र बनखेड़ी की रामलीला समिति के पास रखा था। बाबूजी उस समिति के केवल सदस्य नहीं थे; उन कुछ लोगों में थे जिनके भरोसे पूरा आयोजन साँस लेता था। तब तक उन्हें जबलपुर आए कई वर्ष हो चुके थे, लेकिन बनखेड़ी से उनका संबंध पूरी तरह कभी टूटा नहीं। हर वर्ष नवरात्रि के दिनों में वे वहाँ जाते। फैक्ट्री की नौकरी से अधिक छुट्टी नहीं मिलती थी, फिर भी दो-तीन दिन के लिए निकल ही जाते। अक्सर नवमी के आसपास - दशहरे के जुलूस की तैयारियों के लिए। शेर बनने वाले लड़कों का मेकअप करना उन्हें विशेष प्रिय था।

लेकिन यह प्रसंग कहीं और चला जाएगा।
असल बात उस महादेव वाले चित्र की है।

एक बार उन्होंने वह पेंटिंग बनखेड़ी से जबलपुर मँगवाई। क्यों मँगवाई - यह मैंने कभी नहीं पूछा। उस उम्र में प्रश्नों की जगह केवल चीज़ों को विस्मय से देखने की आदत होती है। बाद में भी जीवन कुछ इस तरह बिखरा कि बहुत-सी बातें पूछी ही नहीं जा सकीं। कॉलेज के बाद मैं बाहर चला गया। फिर वर्षों तक शहर बदलते रहे। लौटना भी हुआ तो जैसे कोई अतिथि लौटता है - कुछ दिनों के लिए।

रिटायर होकर जब स्थायी रूप से जबलपुर आया, उसके दस महीने बाद ही बाबूजी चले गए। अंतिम दिनों में उनकी स्मृति बहुत क्षीण हो चुकी थी। उनसे बातें करते हुए लगता था, जैसे वे धीरे-धीरे उस दुनिया से दूर जाते जा रहे हों जहाँ शब्द अब भी अर्थ रखते हैं। मेरे कई प्रश्न उन्हीं के साथ चुपचाप चले गए।

वह पेंटिंग कौन लाया था, अब ठीक से याद नहीं। शायद शब्बू भइया। लेकिन उसे रोल करके लाने के बजाय काग़ज़ की तरह मोड़ दिया गया था। जहाँ-जहाँ मोड़ पड़े थे, वहाँ रंग उखड़ गए थे।

मुझे आज भी याद है - बाबूजी ने उस दिन शब्बू भैया को कुछ नहीं कहा था।

वे बस चुप हो गए थे।

मुझे भी उस उम्र में क्या समझ में आता।

ये तो बहुत बाद की बात है या आज की कि मैं समझ पा रहा हूँ, पेंटिंग को उस हालत में देखकर उन्हें कैसा महसूस हुआ होगा। निश्चित ही नाराज़गी से अधिक दुख हुआ होगा। उन्होंने जिस कारण भी वो पेंटिंग मँगवाई थी, यह तो मैं नहीं जानता पर वह बात अर्थहीन हो चुकी होगी यह अब समझ सकता हूँ।

बाद में वह पेंटिंग फिर रोल करके रख दी गई।

कभी-कभी घर की सफ़ाई के दौरान मैं उसे चुपके से खोलकर देखता। वह सचमुच बहुत सुंदर चित्र था। पर सबसे अधिक मुझे महादेव की आँखें आकर्षित करती थीं - आधी खुली, आधी भीतर डूबी हुई। अधमुँदी पलकों के बीच झलकती हल्की सफेदी, पलकों के महीन बाल, चेहरे पर उतरती हुई समाधि की निस्तब्धता - उस उम्र में भी मुझे लगता था कि उन आँखों में कुछ ऐसा है जिसे मैं समझ नहीं पा रहा, फिर भी उनसे नज़र हटती नहीं।

फिर जीवन अपनी गति से आगे बढ़ता गया।

मैं नौकरी के कारण जबलपुर से दूर चला गया। बीच-बीच में लौटना हुआ भी तो घर धीरे-धीरे स्मृतियों का घर अधिक लगता था, रहने की जगह कम।

बहुत-सी चीज़ों की तरह वह पेंटिंग भी कहीं पीछे छूट गई।
अब वह कहाँ है - बची भी है या नहीं - मुझे नहीं मालूम।

लेकिन कभी-कभी सोचता हूँ, इस तरह की चीजें भले ही कहीं अनजान जगहों पर अनदेखी पड़ी हों, हमारे लिए गुम हो जाएँ या अपना भौतिक स्वरूप ही खो दें । वे स्मृति की किसी भीतरी सतह पर अंकित रह जाती हैं - और फिर समय भी उन्हें पूरी तरह नष्ट नहीं कर पाता। वे वहाँ सदैव बनी रहती हैं।



अब स्मृति की किसी दूसरी गली में चलें।

नागेश पेंटर !!

उनका वास्तविक नाम गणेश चित्रकार या मूर्तिकार था। वे अपना सरनेम चित्रकार ही बताते थे। मैं जब दूसरी या तीसरी कक्षा में था तब वे अपने परिवार सहित हमारी गली में रहने ये थे। उस समय उनके परिवार में सिर्फ़ वे और उनकी पत्नी ही थे। उनकी पत्नी का नाम 'मनोरमा' था। मनोरमा एक सामान्य रूप से सुंदर महिला थीं। परंतु उनकी नाक उनके चेहरे के अनुपात में कुछ ज़्यादा बड़ी थी। जो मुझे हमेशा खटकती थी। मैं उन्हें देखते ही, उनकी नाक के सही अनुपात के साथ उनके चेहरे की कल्पना करने लगता था। ऐसा क्यों होता था ? आज जब इसकी पड़ताल कर रहा हूँ तो समझ में आता है। इसके पीछे मेरा परिपूर्णता वादी होना ही है। दरअसल मैं हर चीज़ पूर्णरूपेण सटीक और दोषमुक्त रूप में पसंद कर्ता हूँ। और इसी तरह किए जाना भी। मैं दूसरों से भी यही अपेक्षा कर्ता हूँ। मेरी यही एक बात कई बार मेरे लिए परेशानी का सबब बनी है। हाँ तो, मुझे लगता कि पहले मनोरमा जी की नाक बनी फिर उस नाक पर बाक़ी चेहरा उग आया। ये बहुत बरस पहले की बातें हैं – इन्हें छोड़ें। मैं जो नागेश पेंटर के बारे में बताना चाहता हूँ उस बात पर लौटें।

वे बहुत ही कुशल चित्रकार थे इसमें मुझे कभी कोई शक नहीं था। उनका स्किल क़ाबिल-ए-ता'रीफ़ था। लेकिन वे पूरी तरह से कमर्शियल चित्रकार थे। वे दुकानों के साइनबोर्ड बनाते थे। छोटी सी ब्लेक एण्ड व्हाइट फ़ोटो देखकर रंगीन पोर्ट्रेट बनाया करते थे। लोगों की दी हुई या बताई हुई तस्वीरों को देखकर हूबहू बड़ी पेंटिंग बनाते थे। सिनेमाघर में दिखाए जाने वाले स्लाइड भी बनाते थे। यानी उस समय के हिसाब से कमर्शियल आर्ट के लगभग पूरे पैकेज़ थे।

मैं उनका उल्लेख अपनी इस कहानी में करना न सिर्फ़ ज़रूरी बल्कि अपना फ़र्ज़ भी समझता हूँ।

मुझे कमर्शियल आर्ट के बहुत सारे गुर उन्हीं से सीखने मिले।

वे जब काम कर रहे होते तब मैं घंटों उन्हें देखता राहत था। कई बार वे मुझे स्वयं भी ध्यान देकर देखने के लिए कहते साथ ही एक्सप्लेन भी करते थे। बहुत बार तो नहीं पर कभी कभार मुझे ब्रश पकड़ा देते और काम करने को कहते।

किसी भी चित्र को हूबहू बड़ा बनाने के लिए वर्गाकार खंडों में चित्र पर नेट बनाकर, चित्र जिस अनुपात में बड़ा करना है उस अनुपात में कैनवास पर नेट बनाकर स्केच बनाने का तरीक़ा मैंने उन्हीं से सीखा।

उनसे सीखी चीज़ों की लिस्ट बनाने बैठूँगा तो फिर वह बहुत लंबी हो जाएगी और यह चैप्टर चित्रकला सिखाने वाली पुस्तक सरीखा लगने लगेगा।

फिर भी जो मुख्य-मुख्य चीजें मैंने सीखीं उनका तो ज़िक्र करना लाज़िमी है।

जैसे ऑयल कलर ट्यूबस् पहली बार मैंने उन्हीं के पास देखे थे।

रंगों का विज्ञान, ह्यू , टिंट, शेड, टोन – कलरव्हील , प्रायमरी, सेकंडरी कलर इत्यादि के बारे में तो मैंने बाद में स्वयं पढ़कर जाना, परंतु उनके पास मैंने रंगों को और अच्छी तरह से जाना पहचाना।

अलग-अलग रंग मिला कर नया रंग बनाना, उसका टिंट , टोन और शेड जैसा चाहिए किस तरह प्राप्त करना उन्हीं के पास सीखा। ब्रश चलाने की कला भी उन्हें देखते-देखते मैं सीख गया।

(एक छोटा स क़िस्सा याद आ गया वो सुनाता चलूँ। रंगों की दुनिया और इस कला के मेरे तीसरे गुरुदेव थे कामतासागर जी। उन्होंने मुझे स्कूल स्तर पर कला शिक्षा दी। वे मॉडल हाई स्कूल में कला शिक्षक थे। कक्षा के अतिरिक्त भी वे मुझे कुछ न कुछ सिखाते रहते थे। उनके बारे में विस्तार से आगे बताऊँगा। अभी वो क़िस्सा – मैं मॉडल हाई स्कूल की तरफ़ से एक बार वाई. डब्ल्यू. सी. ए. (यंग वुमन क्रिश्चियन एसोसिएशन जबलपुर) द्वारा आयोजित एक चित्रकला प्रतियोगिता में गया था। तब मैं शायद दसवीं कक्षा में पढ़ रहा था। उस प्रतियोगिता में मुझे द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इस बात से कामतासागर सर बहुत खिन्न हुए थे। इसके पूर्व प्रतियोगिताओं में मैं प्रथम पुरस्कार पाता रहा था। वहाँ उस प्रतियोगिता में चूँकि कोई विषय नहीं दिया गया था अतः मेरे ग्रुप के सभी प्रतियोगियों को अपने मन से चित्र बनाना था। मुझे यह तय करने में बहुत समय लग गया कि मैं क्या बनाऊँ। जब तय भी हुआ तो बीच-बीच में उसे मैंने दो तीन बार बदला भी। नतीज़तन चित्र बहुत ओवर-वर्कड् हो गया।

प्रथम पुरस्कार सेंट अलाएसीयस स्कूल की ग्यारहवीं की एक छात्रा को मिला था। उसने क्या बनाया था, मैंने उसकी एक झलक दूर से पुरस्कार मिलते समय देखी थी। उसने चटख नारंगी और कोबाल्ट ब्लू रंगों का इस्तेमाल किया था, बस इतना याद है। जबकि मेरे रंग बार-बार मिलाए जाने के कारण डल हो रहे थे। कुल मिलकर चित्र कुछ बे -ढब स ही बना था।

वापसी में सभी विद्यार्थी और कामतासागर सर वाई. डब्ल्यू. सी. ए. क्लब सदर-गोरा बाज़ार रोड से पैदल ही लौट रहे थे। बाबूजी भी साथ में थे। वह रविवार, छुट्टी का दिन था। रास्ते में कामतासागर सर ने मुझे बहुत डाँटा। बाबूजी भी सुन रहे थे, वे क्या बोलते। उन्हें बोलना भी नहीं चाहिए था, उन्होंने वही किया। कामतासागर सर ने जो और बातें कीं इनमें से एक तो थी कि विषय के चुनने में ध्यान देना दूसरी पूरे कलर बॉक्स का चित्र में उपयोग करना बिल्कुल आवश्यक नहीं है। ओवरवर्क से बचना। इसके साथ ही उन्होंने आखिर में कहा – "तुम्हें क्योंकि ब्रश चलाना अच्छे से आ गया है – इसलिए उन्होंने तुम्हें ये दूसरा पुरस्कार ये देख कर ही दिया है। नहीं तो तुम्हारा चित्र दो कौड़ी का नहीं था।")

ये क़िस्सा मैंने ब्रश चलाने वाली बात की कितनी अहमियत होती है के संदर्भ में तथा राह चलते हुए डाँटकर जो सीख उन्होंने मुझे दी उसे बताने सुनाया है। मैं यहाँ थोड़ा भावुक हो रहा हूँ – गुरु चाहे तुमसे नाराज़ हो, तुम्हें डाँटे–डपटे यहाँ तक कि पीट भी दे – पर वह सब तुम्हारे ही अच्छे के लिए होता है। तुम्हें कुछ न कुछ सिखाने के लिए होता है।

नागेश पेंटर ने अपना नाम गणेश से बदल कर नागेश कर लिया था, ताकि उनकी कमर्शियल गतिविधियों का संबंध उनकी सरकारी नौकरी से न जुड़े। वे गन कैरिज़ फैक्ट्री में सहायक ड्राफ्ट मेन के पद पर कार्यरत थे। जबलपुर के पास स्थित 'दमोह' जिले के रहने वाले थे। उनकी पत्नी मनोरमा जैसा मुझे याद है 'खंडवा' जिले की थीं। उनके तीन छोटे भाई गोविंद, लाल जी और अशोक थे। उनकी माँ का देहांत हो चुका था। पिता थे। तीनों भी और पिता बीच-बीच में जबलपुर उनके पास रहने के लिए आते रहते थे। एक बार अशोक के पेट की किसी बीमारी के इलाज के लिए अशोक और

लाल जी काफ़ी लंबे समय तक जबलपुर में रहे थे। उस समय मेरी उन दोनों से अच्छी दोस्ती हो गई थी। पर कुछ महीने रहकर वे वापस दमोह चले गए थे।



एक बार नागेश पेंटर के पिता जी ने मेरे सामने गणेश भगवान की एक बहुत सुन्दर मिट्टी की मूर्ति बनाई थी। उससे भी मुझे बहुत कुछ सीखने मिला था। उन्होंने पहले चिकनी मिट्टी की एक लगभग डेढ़ इंच मोटी अंडाकार रोटी बनाई, जो करीब आठ या दस इंच लंबी और छह साढ़े छह इंच चौड़ी थी। फिर घर की रसोई के चाकू से ही उस पर मिट्टी काट-काट के गणेश जी की आकृति उत्कीर्ण कर दी। फिर अपनी उंगलियों पर पानी लगाकर उस मूर्ति को फिनिशिंग टच दे दिए। मुझे याद है उन्होंने रसोई की चम्मच का भी उपयोग किया था। मूर्ति बनाते समय उन्होंने मुझे बताया था कि दमोह में उनके पास मूर्तियाँ बनाने के लिए कटिंग के अलग-अलग प्रकार और नाप के कटर हैं, जिससे और जल्दी तथा ज़्यादा सुंदर मूर्तियाँ बनती हैं। यह मूर्ति बनाने का एक सबसे आसान तरीक़ा था, जो उन्होंने मुझे बनाकर दिखाया था।

इतना आसान तरीक़ा देख कर मुझे लगा था कि मैं भी मूर्तियाँ बनाऊँ। पर सबसे कठिन था मूर्ति बनाने के लिए चिकनी मिट्टी तैयार करना। जो उस वक़्त मेरे लिए पढ़ाई के साथ-साथ कर पाना बहुत मुश्किल था। इसके साथ ही मेरी रुचि द्वि-आयामी सृजन में अधिक थी बनिस्पत त्रि-आयामी के। आपने कभी गौर किया है कि द्वि-आयामी सृजन अर्थात् चित्र बनाते समय तीसरा आयाम दो आयामी फलक पर ही उकेरा जाता है। यह एक इल्यूज़न या भ्रम होता है। इसे रंगों में प्रकाश और छाया का मिश्रण रंगों के ह्यू , टोन, शेड इत्यादि निर्धारित करते हुए चित्रित किया जाता है। पेंटिंग करते हुए प्रकृति के नियमों का गणित की तरह प्रयोग करना पड़ता है। यहाँ मैं विशुद्ध फाइन आर्ट की बात कर रहा हूँ, एब्सट्रेक्ट आर्ट या पेंटिंग की अन्य कई सारी विधाओं में ऐसा होना या न होना चित्रकार पर निर्भर कर्ता है।



वैसे यह बात भी उतनी ही सच है कि सृजन के क्षणों में कोई नियम अंतिम नहीं रह जाता।
वहाँ न तो अनुशासन का कठोर आग्रह होता है, न ही अवज्ञा का कोई अपराध-बोध। जो कुछ घटित होता है, वह आपकी इच्छा और आपकी कल्पना के बीच बहुत धीमे-धीमे बनने वाला एक गुप्त संतुलन होता है - जैसे किसी शांत झील पर हवा बिना आहट के उतरती हो।

और उस पूरी प्रक्रिया का प्रतिफल भी बाहर कहीं नहीं होता।

वह लौटकर आपके भीतर ही आता है - एक बहुत निजी सुख की तरह, एक ऐसे संतोष की तरह जिसे शब्द पूरी तरह छू नहीं पाते।

शायद इसलिए कि सृजन करते समय मनुष्य अकेला नहीं रह जाता।
उसके भीतर कोई और जागता है - कोई अत्यंत प्राचीन, अत्यंत उज्ज्वल सत्ता।

उसे आप ईश्वर कह सकते हैं, या वह प्रथम सर्जक , जिसने इस समूची सृष्टि को कभी अपने स्वप्न की तरह रचा होगा।

वे कुछ विरल क्षण ऐसे होते हैं जब वही सत्ता आपको चुन लेती है -
एक माध्यम की तरह,
एक शांत बहती हुई नदी की तरह,
जिससे होकर कोई अंधकार से प्रकाश की दुनिया में उतरना चाहता है।

□□

एक बार नागेश पेंटर को बहुत बड़े चित्र फलक पर महाभारत युद्ध का चित्र बनाने का काम मिला जिसमें रथ पर आरूढ़ युद्धरत अर्जुन को और उनके सारथी के रूप में रथ में जुते हुए अश्वों को नियंत्रित करने वाली वल्गा थामें श्री कृष्ण को दर्शाया गया है। पेंटिंग बहुत बड़ी थी। शायद छह–सात फुट चौड़ी और चार फुट ऊँची। उस समय उनका छोटा भाई गोविंद भी उनके पास आया हुआ था। वह उनसे दो या तीन बरस छोटा था। और मुझसे अंदाज़न पंद्रह-सोलह साल बड़ा रहा होगा। गोविंद भी बहुत कुशल चित्रकार था। मैंने दिन में देखा गोविंद पेंसिल से उस चित्र की स्केचिंग कर रहा

है। मैं भी अपनी आदत के मुताबिक वहाँ चला गया। तब तक मेरी गोविंद से अच्छी जान पहचान हो चुकी थी। जो मूल चित्र था वह केनवास पर ऊपर एक जगह क्लिप से फँसा हुआ था। उसे देखकर ही गोविंद स्केचिंग कर रहा था। उसने मुझे भी स्केचिंग करने आमंत्रित किया। मुझे भी एक दूसरी पेंसिल दे दी, और शुरू करने कहा। मुझे शुरू में थोड़ी सी झिझक हुई परंतु फिर मैंने मान लिया। उसने मुझे चित्र के बाईं तरफ़ ऊपर अर्जुन के रथ की ध्वजा बनाने को कहा। वही ध्वजा जिसपर 'महाभारत' के अनुसार हनुमान जी महाराज विराजे हुए थे। तब मैं इस बात को नहीं जानता था। आज सोचता हूँ गुरु महाराज ने तो मेरा हाथ बहुत पहले मेरे बचपन में ही थाम लिया था। मैं पहली बार इतने बड़े चित्र फलक पर काम कर रहा था। धीरे-धीरे मेरा डर गायब हो गया। मैंने ध्वजा के साथ-साथ रथ के ऊपर का गुंबद और जिन स्तंभों पर वह गुंबद स्थापित था वे स्तम्भ भी बना डाले। गोविंद ने मुझे काम जारी रखने दिया बीच-बीच में वह स्वयं भी स्केचिंग करते हुए मेरी स्केचिंग भी देखता जा रहा था। जहाँ उसे कुछ सुधार की आवश्यकता महसूस होती, मुझे टोक देता और या तो खुद सुधार कर देता या मुझे करने कहता। सुबह फैक्ट्री जाते समय नागेश पेंटर गोविंद को निर्देश दे जाते थे। रात को दोनों भाई फिर पेंटिंग पर काम करते। रात में मैं नहीं जा पाता था पर दिन में जब भी समय मिलता अवश्य जाता था। उस पेंटिंग में मैंने गोविंद के कहने पर पहली कोट के रूप की जगह रंग भरे थे। गोविंद रंग मिक्स कर देता फिर मुझे बताता कहाँ सीधा-सीधा रंग भरना है। इस तरह मैंने अर्जुन के रथ की ध्वजा, अर्जुन की भुजाओं, आसमान और रथ के हिस्सों पर बेसिक रंग भरे। बाद में आसमान पर बादलों और रथ पर नक्काशीदार सजावट, प्रकाश-छाया का समावेश ये सब गोविंद ने किए। लगभग सप्ताह भर में वह चित्र तैयार हो गया। उसे जहाँ जाना था, वहाँ चला भी गया।

□□

इतने बरसों बाद अब वह चित्र कहाँ होगा ?

यह सोचते ही मन के भीतर एक अजीब-सी उदासी उतर आती है।

कौन जाने, वह अब भी कहीं किसी दीवार पर टँगा हो, समय की धूल और उपेक्षा के बीच चुपचाप साँस ले रहा हो; या फिर किसी अँधेरे कोने में पड़ा-पड़ा धीरे-धीरे अपने रंग खो चुका हो।

यह भी हो सकता है कि वह अब इस दुनिया में हो ही नहीं - समय की निर्मम
उँगलियों ने उसे चुपचाप मिटा दिया हो।
मेरे पास यह जानने का कोई साधन नहीं।

पर स्मृतियाँ . . .

वे शायद वस्तुओं से अधिक दीर्घजीवी होती हैं।

उस चित्र से जुड़ी हुई यादें आज भी मेरे भीतर वैसी ही जीवित हैं - जैसे किसी पुरानी उदास संध्या की बची हुई सुनहरी आभा, जो रात गहरा जाने के बाद भी आँखों में ठहरी रहती है। उन यादों में कुछ छोटे-छोटे सूत्र छिपे हैं - इतने सूक्ष्म, इतने साधारण कि उस समय उनका महत्व समझ में नहीं आया था। लेकिन अब लगता है, जीवन की सही और अनुकूल दिशाएँ अक्सर ऐसे ही मामूली दिखने वाले संकेतों से बनती हैं।

आज भी वे सूत्र कभी किसी थके हुए क्षण में मेरा हाथ पकड़ लेते हैं। राह दिखाते हैं। और कभी-कभी तो सचमुच ऐसा लगता है जैसे वे मुझे उठाकर किसी दूर, बहुत दूर की शांत वादियों में ले गए हों - जहाँ स्मृति, करुणा और एक गहरा मानवीय सुकून, तीनों एक साथ उपस्थित रहते हैं।

□□

इस बीच नागेश पेंटर के परिवार में एक नए मेहमान का आगमन हो गया। एक पुत्र ने जन्म लिया। जिसका नाम शायद राजेश रखा गया था, अब ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा है। परंतु उसे घर पर राजू कहकर बुलाते थे। बड़ी अजीब बात है इतने दिनों से मेरा उनके घर आना जाना था। बल्कि उसे आना जाना भी नहीं कह सकते थे। बस मैं उन्हें चित्रकारी करते यदि देख लेता तो उनके घर चला जाता था, और घंटों, जब तक वे काम करते रहते या फिर मुझे मेरे अपने घर से बुलावा नहीं आ जाता मैं चुपचाप उन्हें काम करते देखता रहता। इस बीच मैंने उनसे बात करने के लिए कोई सीधा सम्बोधन

तय नहीं किया था। बस बिना सम्बोधन के उनसे सीधे सवाल करता था। जैसे कि – इस रंग को क्या कहते हैं ? ये रंग किस-किस रंग को मिलाने से बना है ?

कभी-कभी मुझे कुछ कमी लगती तो मैं वह ज़ाहिर करता इसके जवाब में या तो वे उसे मान लेते या फिर स्पष्टीकरण देते थे। इसी तरह हमारी ट्यूनिंग बनी रही। राजू के जन्म के बाद, जब राजू का घर का नाम राजू तय हो गया और उसे इसी नाम से संबोधित किया जाने लगा तब मैंने उन्हें 'राजू के पिता जी' कहकर संबोधित करना शुरू कर दिया था। आज इस बात पर थोड़ा विस्मय होता है थोड़ी हँसी भी आती है और शर्म भी महसूस होती है। वह समय कुछ इसी तरह का था। नासमझी भरा। मेरे घर पर जब कभी उनसे संबंधित कोई बात होती तो बाई, बाबूजी या बुआ यहाँ तक कि पड़ोस के परिवारों में भी उन्हें 'गनेश' कहकर संबोधित किया जाता। बड़े उन्हें सामने से 'गनेश' ही कहते थे पर मैं तो मुँह पर उन्हें 'गनेश' नहीं कह सकता था। इसलिए मैं बड़े सुरक्षित तरीक़े से बिना किसी सम्बोधन के बात कर लेता था। राजू के जन्म के बाद मुझे एक बेवकूफ़ाना तरीक़ा सूझ गया। मैंने उन्हें 'राजू के पिता जी' कहकर संबोधित करना शुरू कर दिया। उन्होंने इस बात पर कभी गौर किया या नहीं। मैं न तो कभी समझ पाया था, ना ही ऐसा कोई संकेत स्मृतियों में दबा-छिपा दिखाई पड़ता है। हाँ वे शुरू से मुझे 'मुन्ना' कहकर बुलाते थे। जैसे मेरी बुआ , हमारे सामने वाले घर में रहने वाली मीरा भाभी जी या उनके पति भैया जी - मानिक राव।

□□

एक बार उन्हें किसी सेमिनार के लिए ड्राइंग शीट पर पॉइंट-वाइज़ कुछ रुल्स या जो कुछ भी वे थे लिखने का ऑर्डर मिला। ऐसी दो शीट्स उन्हें बनानी थीं। डेकोरेटिव बाउंड्री और ऊपरी हिस्से में टाइटल। सब कुछ हिन्दी देवनागरी में ही था। जल्दी बनाकर देना था। वह सेमिनार या जो कुछ भी था सोमवार को होना था। उन्होंने सोचा कि रविवार को काम पूरा करके शाम तक दे देंगे।

(वह समय फ्लेक्स प्रिंटिंग का नहीं था। और केवल एक शीट की प्रेस-प्रिंटिंग बहुत खर्चीली होती। इसलिए जिन्हें वह शीट चाहिए थी उन्होंने किसी पेंटर से बनवाने का निर्णय लिया होगा।)

रविवार सुबह से ही राजू के पिताजी उसे पूरा करने में जुट गए होंगे। क्योंकि जब मैं लगभग बारह, साढ़े-बारह बजे उनके घर पहुँच था तब तक वे पहली शीट लगभग तीन चौथाई पूरी कर चुके थे। बाउंड्री बन चुकी थी। लिखाई का काम चल रहा था। एक-एक अक्षर वे पतले ब्रश से लिखते या बनाते जा रहे थे। शब्द पूरा हो जाता तो ऊपर की शिरोरेखा बनाते थे। काम बहुत मंथर गति से चल रहा था। किन्तु वे ध्यान पूर्वक उसमें जुटे हुए थे। शायद सुंदरता बढ़ाने के लिए वे अलग-अलग जल रंगों का प्रयोग कर रहे थे। दो तीन पंक्तियाँ एक रंग से फिर अगली दो तीन किसी अन्य रंग से। उस समय उनके घर उनकी बड़ी साली अर्थात् उनकी पत्नी की बड़ी बहन भी आई हुई थीं। उनकी शक्ल अपनी छोटी बहन से काफ़ी मिलती जुलती थी – बस वे थोड़ी स्थूल थीं और उनका रंग अपनी बहन के रंग से हल्का गहरा था। उनका नाम शायद 'माया' था। नागेश या राजू के पिताजी के पास चीनी मिट्टी की छोटी-छोटी कटोरियाँ थीं। जिनमें वे यानी माया नया रंग बनाकर उन्हें पकड़ाती जाती थीं। जब दो तीन पंक्तियाँ उस रंग से लिख जातीं तब तक वे दूसरा रंग तैयार कर चुकी होती थीं। वे पुरानी कटोरी ले लेतीं और नए रंग की कटोरी राजू के पिताजी को पकड़ा देती थीं। काम पुन: प्रारंभ हो जाता। इस बीच बड़ी देर से मेरी इच्छा भी हो रही थी कि मैं भी अपनी पसंद के रंग बनाकर राजू के पिताजी को दूँ। किन्तु संकोच वश ऐसा नहीं कर पा रहा था। मैं चुपचाप देखता रहा।

अचानक वह हुआ जो सर्वथा अनपेक्षित और अवांछित था। जब माया ने पुराने रंग की कटोरी उनके हाथ से अपने उलटे हाथ में ली और सीधे हाथ में थामी कटोरी राजू के पिताजी को थमाई। तब तक सब ठीक था, लेकिन जैसे ही उन्होंने अपना बायाँ हाथ जिसमें उन्होंने पुरानी कटोरी पकड़ी हुई थी, पीछे खींचा – कटोरी में बचा हुआ रंग बूंदों की एक लकीर बनाता हुआ उस लगभग पूर्ण हो रही शीट के ऊपर गिर गया। यह गाढ़े लाल रंग की लगभग एक फुटिया बूंदों से बनी तिर्यक रेखा थी।

समय जो अपनी गति से कुछ अधिक ही गति में गति शील था। सहसा थम गया। चारों ओर स्तब्ध सन्नाटा फ़ाइल गया। वे दोनों एक दूसरे की तरफ़ आश्चर्य मिश्रित, भयाक्रांत और फटी-फटी आँखों से देख रहे थे। तीसरा मैं जो वहाँ मौजूद था उन दोनों और शीट

पर बन गई उस गाढ़े लाल रंग की बूंदों से बनी लकीर को बारी-बारी से देख रहा था। मेरे मन में क्या था – अब मैं भूल चुका हूँ, लेकिन तेज़ी से ये ज़रूर सोच रहा था। इस बिगड़ी बात को कैसे सुधारा जा सकता है। लेकिन हम सभी जानते थे ऐसा संभव नहीं है। यदि किसी तरह से सुधार किया भी जाता तो वह उन लोगों को कतई स्वीकार्य नहीं होता जिन्होंने उन शीटों को बनवाने का ऑर्डर राजू के पिताजी को दिया था।

कुछ बेहद पीड़ादायी क्षणों तक समय ठहरा रहा। पर कब तक ! आखिर उसे आगे तो बढ़ना ही था। कुछ देर तक उन दोनों के बीच थोड़ा गुस्सा, थोड़ा पछतावा, थोड़ी शर्म, थोड़े लिहाज, थोड़े संकोच, थोड़ी चिड़चिड़ाहट का मिलाजुला वार्तालाप हुआ और 'माया' रुआँसी सी वहाँ से चली गई। राजू के पिताजी एकटक अपनी मेहनत पर 'रंग फिरा' देख रहे थे।

"अब कैसे पूरा हो पाएगा काम ? आधे से ज़्यादा दिन बीत चुका है।"

मेरे दिमाग में तब तक एक तरीक़ा आ चुका था। मैंने उनसे कहा- "आप भर्रू से क्यों नहीं लिखते।"

(भर्रू (जिसे अक्सर बरु या बांसिया घास भी कहा जाता है) एक प्रकार की जंगली घास है जो आमतौर पर खेतों (विशेषकर मक्के की फसल में), खाली मैदानों और नमी वाले इलाकों में उगती है। पुराने समय में और आज भी कई ग्रामीण क्षेत्रों में भर्रू की सूखी डंठल का उपयोग 'कलम' बनाने के लिए किया जाता है। इसकी डंठल खोखली और सख्त होती है, जिसे तिरछा काटकर दवात की स्याही से लिखने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। सुलेख (कैलीग्राफ़ी) सीखने वाले लोग आज भी पारंपरिक लकड़ी या भर्रू की कलम का उपयोग करना पसंद करते हैं।)

"भर्रू से"- ये क्या होता है ?

मैंने उनसे कहा- "मैं लेकर आता हूँ।"

मैं अपने घर गया और बाबूजी का उसे नाप का "भर्रू कलम" ले आया उसे कुछ पल पानी में डुबोया, हल्का मुलायम किया फिर रंग की कटोरी में थोड़ा पानी मिलकर उसे तरल बनाया। एक अतिरिक्त

काग़ज़ पर उन्हें कुछ अक्षर , कुछ शब्द लिखकर दिखाए। ब्रश की तुलना में "भर्रू कलम" काफ़ी कम समय ले रहा था। वे मंत्र मुग्ध उसे , मेरे लेखन को और मुझे देखते रहे। फिर मेरे हाथ से भर्रू-कलम लेकर उसे कुछ पल अलट-पलट कर देखते रहे। इसके बाद उन्होंने लिखकर भी देखा। संतुष्ट हुए। मुझे मुस्करा के देखा। फिर उस बिगड़ चुकी शीट को हटाकर नई शीट निकाल ली।

मैं फिर वहाँ रुका नहीं। अपने घर आ गया।

□□

मेरे भीतर उस समय एक गहरा, शांत संतोष उतर आया था - वैसा संतोष, जो किसी उपलब्धि से नहीं, बल्कि किसी आत्मीय स्पर्श से जन्म लेता है।

एक दिन मैंने उन्हें काम करते देखा।

वे नील और गेरू मिट्टी में गोंद घोलकर चुनाव के पोस्टर बना रहे थे। बड़े मनोयोग से अक्षर उकेरते जाते, पर हर शब्द में बहुत समय लग रहा था। उनके हाथों में धैर्य था, लेकिन साधन जैसे उनकी गति को बाँधे हुए थे।

मैं कुछ देर चुपचाप देखता रहा।
फिर न जाने क्यों मेरे भीतर एक छोटी-सी कौंध उठी। मैंने बाबू जी को भी लिखते देखा था, खुद भी कई बार दीवार पर लिखा था। मैंने उनका एक पुराना ब्रश लिया और उसके बालों को भर्रू-कलम के निब की तरह काट दिया। उनसे कहा - "ज़रा इससे लिखकर देखिए।"

उन्होंने लिखना शुरू किया।
और सचमुच, अक्षर वैसे ही सुंदर बने - वही सधे हुए, उतने ही जीवंत - पर अब उनमें एक नई गति भी आ गई थी। जैसे शब्दों के पैरों में अचानक हवा लग गई हो।

उनके चेहरे पर जो प्रसन्नता उभरी, वह आज भी मेरी स्मृति में वैसी ही उजली है। बहुत छोटी-सी बात थी शायद, पर उस क्षण मुझे लगा था - मैंने उन्हें कुछ लौटाया है।

बहुत थोड़ा।
बहुत ही थोड़ा।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, वह शायद मेरी ओर से दी गई एक मौन गुरु-दक्षिणा थी।

हालाँकि यह भी उतना ही सत्य है कि उनसे - और केवल उन्हें काम करते हुए देखते रहने भर से - मैंने जितना सीखा, उसकी तुलना में मेरा वह छोटा-सा उपाय रेत पर खींची एक रेखा से अधिक कुछ नहीं था।

फिर भी . . . .
जीवन में कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जिनका मूल्य उनके आकार से नहीं, उनके भीतर छिपे प्रेम से आँका जाता है।
और वह क्षण मेरे लिए वैसा ही एक दीपक है - छोटा, स्थिर, लेकिन आज तक बुझा नहीं।

□□

नागेश पेंटर शुरू में जब हमारे मोहल्ले में आए थे तब हमारे घर के सामने जो चार मकानों की श्रृंखला थी, उसके तीसरे मकान में रहे थे। गली के मेन रोड की तरफ़ वाले सिरे से पहला, दूसरा और तीसरा मकान गली के समानांतर थे, जबकि चौथा मकान तीसरे के पीछे बना हुआ था। ये सभी मकान कस्तूरी बाई श्रीवास्तव के थे , जिन्हें सब मास्टरनी कहते थे। वे थीं भी शिक्षिका। वे और उनके पति सुंदर लाल श्रीवास्तव भी हेड-मास्टर थे। लेकिन उस समय दोनों बालाघाट में पदस्थ थे। कभी जबलपुर में ही थे, लेकिन वह मेरे जन्म के पहले। वे दोनों सर्विस से रिटायर होने के बाद जबलपुर आ गए थे। कुछ महीने या एक आध साल रहने के बाद उन्होंने ये चारों मकान बेच दिए थे। पहला और दूसरा इन मकानों की श्रृंखला के बाद रहने वाले नारायण प्रसाद दुबे को और तीसरा तथा चौथा उस समय तीसरे मकान के किराएदार मानिक राव जी के पुत्रों को। मानिक राव या भैया जी तब तक गुज़र चुके थे। इसके पहले नागेश पेंटर कैसे तीसरे मकान से पहले में हमारे घर के ठीक सामने आ गए और उसमें रहने वाले मानिक

राव भैया जी तीसरे में शिफ्ट हो गए। ये कहानी, मैं 'आरंभ' के 'अड़ोस-पड़ोस' शीर्षक वाले चैप्टर में विस्तार से लिख चुका हूँ। परंतु नागेश पेंटर भी उस मकान में ज़्यादा समय नहीं रहे थे। उसे मकान में रहते हुए उनके छोटे भाई गोविंद का विवाह हुआ था। विवाह वैसे तो दमोह में ही हुआ था किन्तु विवाह के पश्चात् गोविंद अपनी पत्नी के साथ जबलपुर आकार अपने बड़े भाई के साथ ही रहने लगा था। वहीं रहते हुए उसके यहाँ उसके प्रथम पुत्र का जन्म हुआ था। उसके कुछ आगे पीछे नागेश पेंटर की पत्नी ने भी अपने दूसरे पुत्र को जन्म दिया था। उसका नाम 'कमलेश' रखा गया। अब उस दो कमरे के मकान में दो परिवार रह रहे थे। जो रसोई वाला कमरा था, उसी के सामने वाले दाएँ कोने में नहाने का स्थान भी था। शौचालय पूर्ववत् चौथे मकान के आखिर में था। बहरहाल कुछ दिन तक तो दोनों भाइयों का साथ-साथ रहना चलता रहा। मगर ज़्यादा नहीं। अंततः गोविंद अपनी पत्नी और बच्चे को लेकर दूसरे मकान में चल गया। घमापुर से बाहर किसी दूरस्थ इलाके में। इसके कुछ दिनों के बाद नागेश पेंटर भी अपनी पत्नी और बच्चों के साथ घमापुर के ही एक उप-मोहल्ले शीतला माई मंदिर के नज़दीकी इलाक़े में एक गली में रहने लगे।

मैं उस समय शायद आठवीं या नौवीं क्लास में रहा होऊँगा। उनके परिवार के बारे में घर पर अब ज़्यादा बातें नहीं होती थीं। मुझे उनके घर का पता भी नहीं मालूम था। बस अंदाज़ा था। लेकिन मैं पता लगाते वहाँ पहुँच गया। मुझे पता लगा था उस समय तक वे शराब पीने लगे थे। उनकी पत्नी और बच्चे उस समय उनके साथ नहीं थे। वे किसी राम लीला समिति के लिए पर्दा बना रहे थे। पर्दा बहुत बड़ा था जो की उनके छोटे से कमरे की ढाई दीवारों से चिपका कर हुआ टाँगा गया था। परदे का निचला हिस्सा भी मुड़ा हुआ था। वे एक लकड़ी के स्टूल पर चढ़कर काम कर रहे थे। कुछ समय तक उन्हें पता नहीं चला कि मैं आया हुआ हूँ। फिर जब वे दूसरे रंग का सकोरा उठाने स्टूल से नीचे उतरे तब उन्होंने मुझे देखा और मैंने उन्हें। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी। वे कमज़ोर भी लग रहे थे। मुझे देखते ही मुझसे बोले – "तुम यहाँ क्यों आए हो, जाओ यहाँ से !" उनके स्वर में कुछ गुस्सा और कुछ तल्ख़ लहज़ा मैंने महसूस किया। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। उनके इस मकान में आने के पहले मेरा उनके घर जाना काफ़ी कम हो गया था। उन्हें काम भी कम मिल पा रहा था। घर में भी माहौल हमेशा कुछ तनाव पूर्ण

रहता था। उनके इस मकान में शिफ्ट होने की वजह मुझे नहीं मालूम थी। उस रोज़ उनका मुझसे बहुत रूखे पन से चले जाने को कहना। ये सब अजीब लगा था, कुछ दुख भी हुआ था। परंतु मैं उनसे कुछ भी पूछने की हिम्मत नहीं कर सकता था। हमारी उम्र में इतना फ़ासला था कि मुझे चुपचाप लौट आना ही ठीक लगा वही मैंने किया। घर आकर भी किसी से कुछ नहीं बताया। उन लोगों के जाने के बाद भी कोई उनकी चर्चा नहीं करता था। ये बात मुझे उनके घर से इस तरह से वापस भेज दिए जाने के बाद सूझी थी। पर इस बाबत मैं किसी से भी कैसे पूछता।

फिर धीरे-धीरे ये बात मेरे ध्यान से ओझल होती चली गई। बीच में एक बार सुनने में आया था कि वे अब रिटायरमेंट के पश्चात् अपने परिवार के साथ पुराने मोटर स्टैन्ड के पास जहाँ फ़ोटो फ्रेमिंग कि दुकानें हैं वहीं गली में कहीं रहते हैं। उनके लड़के राजू को भी उन्होंने फोटो फ्रेम करने की दुकान खुलवा दी है।

फिर बहुत लंबा समय गुज़र गया।
शायद विवाह के बाद, एक बार जब मैं जबलपुर आया था , तो किसी बहुत निजी और अनाम क्षण में अचानक उनसे मिलने की इच्छा जाग उठी।
मैंने वहाँ की लगभग हर फ़ोटो फ्रेम करने वाली दुकान पर पूछताछ की, पर कोई भी उनके या उनके बेटे के बारे में कुछ बता न सका।

उसके बाद से - और आज भी, जब कभी उस रास्ते से गुज़रता हूँ, और वहाँ से अक्सर गुज़रना पड़ता है, क्योंकि 'मालवीय चौक' से 'लार्डगंज' होते हुए 'बड़े फुहारे' तक जाने वाली वह जबलपुर की बेहद व्यस्त और महत्वपूर्ण बाज़ार की सड़क है। तब अक्सर नागेश पेंटर अनायास याद आ जाते हैं।

भीड़, शोर, दुकानों की चकाचौंध और भागती हुई दुनिया के बीच, स्मृति जैसे अचानक किसी पुराने रंग की गंध बनकर मन में उतर आती है। लगता है, जैसे हमारा बीता हुआ हमारे आसपास ही मँडलाता रहता है, जैसे ही उसे मौका या अनुकूलता दिखाई पड़ती है, झट से सामने आ जाता है।

कभी ये भी लगता है स्मृतियाँ भी दुकानों की तरह होती हैं -
कुछ समय के साथ बंद हो जाती हैं,
कुछ का नाम बदल जाता है,
और कुछ…
बिना कहीं दिखाई दिए भी भीतर हमेशा खुली रहती हैं।



अब जब मेरी अपनी उम्र सत्तर वर्ष की देहरी पर आ खड़ी हुई है,

तो कभी-कभी यह सोचकर एक हल्की-सी उदासी घेर लेती है कि नागेश पेंटर अब कहाँ होंगे।
या शायद यह पूछना ही व्यर्थ है।

समय कुछ लोगों को हमसे इस तरह अलग कर देता है कि वे धीरे-धीरे किसी व्यक्ति से अधिक एक धुँधली रोशनी, एक गंध, एक आवाज़ में बदल जाते हैं।
नागेश पेंटर भी अब मेरे लिए वैसे ही हैं -
घमापुर की उस सड़क, रंगों की हल्की-सी गंध, और धूप में उड़ते बारीक धूल कणों के बीच कहीं उपस्थित।

मैं आज तक नहीं जान पाया कि उन्होंने घमापुर क्यों छोड़ा था।
क्या वह उनका अपना निर्णय था ?
या परिस्थितियों ने उन्हें वहाँ से धीरे-धीरे बाहर कर दिया था ?

कुछ प्रश्न जीवन में ऐसे रह जाते हैं जिनका उत्तर कभी नहीं मिलता, और समय के साथ उनका अनुत्तरित रहना ही उनका स्वाभाविक रूप लगने लगता है।

लेकिन यह सच है कि उनकी स्मृति मेरे भीतर किसी कटुता के साथ नहीं आती। उन्हें या उनके साथ गुज़रे वक़्त को याद करते हुए मन में वैसा ही भाव उठता है जैसा, बहुत दिनों से किसी बंद अलमारी या सन्दूक में पड़ी बहुत पुरानी किताब खोलते समय उठता है –

एक हल्की-सी सीलन, पीले अकड़े हुए पन्ने, शब्दों की उबासियाँ लेती बासी गंध, उनके बीच अपनी ही स्मृतियों में स्वयं को तलाशते हम, और बीते समय की बहुत धीमी, लगभग सुनाई न देने वाली आहटें।

वे जहाँ कहीं भी हों -
यदि होना अभी भी किसी रूप में शेष रहता है -
तो शांत हों, प्रसन्न हों।

हो सकता है,

शायद किसी अदृश्य कोने में अब भी रंग घोल रहे हों,
बहुत धैर्य से,
जैसे उन्हें कभी कोई जल्दी थी ही नहीं।



यहाँ नागेश पेंटर के किस्से को या वास्तव में मेरे किस्से के उस हिस्से को विराम देते हैं, जिसमें नागेश पेंटर नायक थे।

वस्तुतः ये भी सच है कि बहुत कुछ बताने को अब भी छूट ही गया होगा। कुछ मैंने जान बूझकर छोड़ा होगा और कुछ बिसर जाने के कारण अपने आप छूट गया होगा। याद आ गया और आगे कहीं माकूल जगह मिली और बताने लायक हुआ तो अवश्य बताऊँगा।



अब वहाँ चलते हैं, जहाँ मेरी स्मृति में - वे शुरुआती दिन हैं जब मैंने रंगों और ब्रुशों से दोस्ती बनाई थी।

हमारे घमापुर वाले किराये के मकान का विस्तृत वर्णन मैं कर ही चुका हूँ। हमारे मकान और गली में अंदर की तरफ़ जो दुबे परिवार का खाली पड़ा मकान था, उसके बीच लगभग चार फुट चौड़ी जगह खाली पड़ी थी। हमारे मकान मालिक ने उस बीस फुट लंबी और चार फुट चौड़ी जगह को सीमेंट से पक्का करवा रखा था। पीछे का सिरा

ईंटों की दीवार से बंद करवा दिया था। ये पूरा हिस्सा हमारे मकान के सामने वाली गली से दो-ढाई फुट ऊँचा था। वास्तव में हमारा पूरा मकान ही गली से दो-ढाई फुट ऊँचाई पर था। उस बीस फुट लंबी चार फुट चौड़ी जगह को हम 'कुलिया' कहते थे। जब कि उस से होकर कोई बाहरी व्यक्ति कभी नहीं गुज़रता था। वह कुलिया केवल हम लोगों के उपयोग में आती थी। कुलिया की दाहिनी ओर से घर की दीवार से लगकर एक नाली जाती थी उसपर बाबूजी ने पत्थरों के छोटे बड़े स्लैब रख दिए थे। इस नाली के विपरीत कुलिया में एक-डेढ़ फुट ऊँची और एक फुट चौड़ी मिट्टी की छपाई वाली एक पट्टी थी जिसपर गमले रखे हुए थे। कुलिया के गली के सामने वाले सिरे पर लकड़ी के फ़्रेम में टीन के पत्तरों को ठोंककर बाबूजी ने स्वयं एक दरवाज़ा बनाकर लगा दिया था।

यही स्पेस मेरा स्टूडियो था। मैं छह सात बरस का रहा होऊँगा तब से इस कुलिया में अपना शौक पूरा करने लगा था। रंगों के रूप में सबसे सहज उपलब्ध 'नील', 'गेरू मिट्टी', 'पीली मिट्टी' 'चूना' और 'खड़िया मिट्टी' थी। खड़िया मिट्टी को छुई मिट्टी भी कहा जाता है। कैनवास के रूप में कुलिया की दोनों ओर कि दीवारें थीं। बाद में मुझे बाबूजी के दो पुराने फ़्रेम भी मिल गए थे। जिनपर कभी उन्होंने दृश्य चित्र बनाए हुए थे और वे हमारे बड़े कमरे में दीवार पर लगे थे। पर पुराने हो जाने के बाद और उनके रंग फ़ीके पड़ जाने , जगह-जगह से उनमें दरारें पड़ जाने के कारण बाबूजी ने उन्हें उतार कर कुलिया में रख दिया था। इस बात को मैंने उनकी मौन स्वीकृति मान लिया था कि अब मैं उन फ़्रेमों का उपयोग कर सकता हूँ। मैंने उनपर चूना पोत दिया। और वे मेरे कैनवास बन गए। बाबूजी के कुछ पुराने ब्रश भी मैंने अपने पास रख लिए थे। जब बाबूजी का काम चल रहा होता तो मुझे वास्तविक रंग भी मिल जाते। अन्यथा मेरे अपने रंग तो थे ही।

उन फ़्रेमों पर बार-बार चूना या खड़िया मिट्टी पोत कर मैंने पता नहीं कितने आड़े तिरछे चित्र बनाए, ये स्वयं समय को याद हो तो वही बता सकता है। मैं बस इतना जानता हूँ धीरे-धीरे मेरे बनाए आकार सुडौल और सुगढ़ होने लगे थे। लिखावट सुलेख में बदल रही थी। जब एक चित्र पूरा हो जाता तो मैं उसे बाई और बाबूजी को दिखाता। उनकी

प्रशंसा मुझे प्रेरणा देती। हाँ बाई ये जरूर टोकतीं – पढ़ाई कब करोगे। किसी ने भी कभी चित्र बनाने से मुझे नहीं रोका। पर पढ़ाई भी पूरे अनुशासन के साथ करवाई।

कुलिया की दीवार भी जब भर जाती तो मैं उसे भी चूने से या खड़िया मिट्टी से पोत देता था। मेरे सामने फिर नया चित्र फ़लक आ जाता। उस समय फिल्मों के पोस्टर मेरा बहुत ध्यान आकर्षित करते थे। खासकर वे पोस्टर जिनमें सिर्फ़ अलग-अलग स्टाइल में फिल्म का नाम , कलाकारों के नाम और अन्य सूचनाएँ लिखी होती थीं। रंग भी वही होते जो मैं उपयोग करता था। मैं उनकी भी ख़ूब नकल करता था।

तब तक मेरी सीमा, दृश्य चित्र बनाने या लिखाई या वस्तु चित्रण तक सीमित थी। और मैं मज़े में उसी सीमा के भीतर कला साधना में रत था। ख़ुश था।

मुझे भले ही कला क्या चीज़ होती है ?

चित्रकला के विशाल संसार में कला और कलाकार कब एक हो जाते हैं,

कब अलग-अलग जमीनों पर खड़े होकर एक दूसरे को समझते हैं, बातें करते हैं,

चित्र कलाकार का ही विस्तार होता है या चित्रों के विस्तृत फ़लक पर कलाकार बार-बार जन्मता है, चित्रकला की तकनीकी और वैज्ञानिक समझ,

कल्पना और वास्तविकता एक दूसरे से कितना दूर या पास होती हैं –

ये सब गूढ़ बातें कुछ भी नहीं पता थीं। पर ब्रश को रंग में डुबोकर आकार बनाना, उनमें रंग भरना उन्हें देर तक निहारना सब कुछ बहुत अच्छा लगता था। मैं उस संसार में घंटों डूबा रहता- जबकि मेरे हमउम्र ठीक उसे समय कंचे खेलते, पतंग उड़ाते, गीली-डंडा खेलते, मार गेंद, छिपा-छिपाई, छुला-छुलाई या कबड्डी खेलते। मैं इसीलिए इस तरह के खेलों में कभी पारंगत नहीं हो सका। मेरे दोस्त जब ज़्यादा ही इसरार करते तो उनके साथ चला जाता था। कुछ देर खेलता भी। पर उस सब में मुझे कभी वैसा आनंद नहीं मिलता था जो मुझे रंगों और ब्रश के साथ मिलता था।

मैं जल्दी ही उकता कर अपनी दुनिया में वापस आ जाता था।

ऐसा नहीं है कि वहाँ से वापस आकर सीधे चित्र बनाने लगता। कभी ऐसा भी होता था परंतु कई बार मैं अपने घर के किसी कोने में या कक्का के दुमंज़िला मकान की बालकनी में जाकर कुर्सी पर बैठ जाता और सड़क पर आ जा रहे लोगों को, गाड़ियों को देखता रहता। कई बार किताब लेकर पढ़ने बैठ जाता। अपने स्कूल की किताबों से इतर किताबें।



आज अब इतने बरस बीत जाने के बाद यह समझ में आता है कि यह केवल एक बच्चे की रुचियों का संसार नहीं था, बल्कि उसके भीतर धीरे-धीरे आकार ले रही एक विशिष्ट संवेदनात्मक दुनिया का दस्तावेज़ बन रहा था। शायद चित्रकला किसी शौक भर की तरह उपस्थित नहीं थी ; वह आत्मा की एक स्वाभाविक भाषा बनकर उभर रही थी। उस बच्चे को कला के सिद्धांत, तकनीक, सौंदर्य शास्त्र या कलाकार की दार्शनिक अवस्थाओं का ज्ञान नहीं था, फिर भी रंगों और आकृतियों के प्रति उसका आकर्षण सहज, गहरा और लगभग जन्मजात था। सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ अकसर बौद्धिक समझ से पहले भावनात्मक स्तर पर जन्म लेती हैं।

मुझे अब साफ़ दिखाई पड़ रहा है , यह एक अंतर्मुखी, अवलोकन शील और अत्यंत संवेदनशील व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया थी। जहाँ उस बच्चे के हमउम्र बाहरी संसार के खेलों में ऊर्जा और उत्साह खोज रहे थे, वहीं उसका मन एकांत, रंगों, आकारों और निरीक्षण में रमता था। वह प्रतिस्पर्धा या सामूहिक शोर की बजाय आत्म-संवाद और कल्पना की दुनिया में अधिक सहज था।

वह नहीं जानता था पर उसके बावजूद भी कला उसके लिए केवल चित्र बनाने तक सीमित नहीं थी। सड़क पर चलते लोगों को देर तक देखना, बालकनी में चुप बैठना, स्कूल की किताबों से अलग किताबें पढ़ना- ये सब उसी रचनात्मक चेतना के विस्तार हैं। वह संसार को देखना सीख रहा था। वह बाहरी दृश्य के भीतर छिपे भाव, लय और जीवन को आत्मसात कर रहा था।

यह स्मृति एक ऐसे बाल मन का चित्र खींचती है जो भीड़ में रहकर भी भीतर से अकेला और अपनी ही दुनिया में आबाद है। वहाँ कोई शिकायत नहीं, कोई विद्रोह नहीं - केवल एक शांत वापसी है, अपनी उस दुनिया में जहाँ रंग, विचार, अवलोकन और कल्पना मिलकर उसे एक अलग पहचान देते हैं।



किसी को, शायद तुम्हें भी – ये बातें 'आत्म प्रवंचना' या 'आत्म-मुग्धता' प्रतीत हो सकती हैं। किन्तु अब मैं जब भी अपने आप से बाहर निकल कर अपने आप को देखने का समझने का प्रयास करता हूँ। तो समझ पाता हूँ कि यह स्वयं को जानने की सीढ़ियाँ हैं। जब तुम अपने आप के भीतर उतरते जाते हो तो तुम्हें वो सब दिखने लगता है- जिसने तुम्हें 'वह' बनाया जो तुम अब उन सीढ़ियों से उतरते हुए –'हो'।

हाँ यहाँ शर्त ईमानदारी की है, जो कुछ जैसा देखो उसे वैसा ही जानो, समझो और मानो।

तब यह 'आत्म प्रवंचना' या 'आत्म-मुग्धता' नहीं 'आत्म-बोध' की ओर बढ़ते कदम होंगे।

ये बातें कुछ ज़्यादा ही गूढ़ हो गईं; इन्हें यहीं छोड़ दें। यादों की बस्ती में किसी और गली में चलते हैं।



इसी उम्र में मेरा दाखिला मॉडल हाई स्कूल में छटवीं कक्षा में हो गया। घमापुर मोहल्ले की परिधि के बाहर ये मेरी नई दुनिया थी। बहुत कुछ नया था। डेस्क पर बैठ के पढ़ने का नया अनुभव, अलग-अलग पीरियड में अलग-अलग विषयों की पढ़ाई। नए दोस्त, नया माहौल, नए शिक्षक। टाइम टेबल के हिसाब से पढ़ाई। मुझे पहले सप्ताह ही ड्रॉइंग के पीरियड का बेसब्री से इंतज़ार था। सप्ताह में दो दिन यानी दो पीरियड ड्रॉइंग की पढ़ाई के लिए नियत थे। पहला पीरियड किस दिन था ये तो मुझे याद नहीं। किन्तु जिस दिन था - उस रोज़ मैं घर से ही बहुत उत्साहित होकर स्कूल के लिए निकला था। वह शायद उस दिन का दूसरा पीरियड ही था।

मैंने इस बीच कामता सागर सर के बारे में बहुत कुछ सुन लिया था। मेरे साथ के वे छात्र जिनके बड़े भाई इसी स्कूल में ऊपर की कक्षाओं में थे या पढ़ कर निकाल चुके थे – उनसे या उनकी बात चीत से पता लगा कि वे कितने कड़क किस्म के शिक्षक हैं। परंतु उनकी ड्रॉइंग बहुत आला दर्ज़े की है। वे एक बार चॉक से ब्लैक बोर्ड पर कुछ बनाना शुरू करते हैं तो फिर तभी चॉक हटाते हैं जब ड्रॉइंग पूरी बन जाती है। वे सिर्फ़ सफ़ेद कुर्ता पाजामा पहनते हैं। कुर्ता भी न पूरी बाँह का न आधी बाँह का। बस कोहनी से थोड़ा और नीचे तक। पान लगातार खाते हैं। मुँह में हमेशा पान दबा रहता है। किसी छात्र से गुस्सा हो जाएँ तो उसकी अच्छी धुनाई कर देते हैं। मैंने उन्हें अब तक नहीं देखा था।

उस दिन का दूसरा पीरियड शुरू हुआ। वे नहीं आए। जब लगभग आठ दस मिनिट हो चुके होंगे तब, कक्षा में पी.के. चौधरी सर आए। वे हमें गणित पढ़ा रहे थे। उनका एक पीरियड हो चुका था। उन्होंने बताया कि ड्रॉइंग वाले सर यानी कामता सागर सर आज नहीं आयेंगे। उन्होंने क्लास की लकड़ी की लंबी स्केल नुमा पट्टी की सहायता से ब्लैक बोर्ड पर एक तिरंगा झण्डा बनाया। फिर हम लोगों से उसे अपनी अपनी कॉपी बनाने को कहा , और ये कहकर चले गए कि- *"शोर और आपस में बात चीत नहीं होना चाहिए।"*

हम लोग ड्रॉइंग बनाने में लग गए। कमरे में वैसी ही आवाज़ें थीं- कागज़ पर चलती पेंसिलों की खरखराहट, डेस्कों के खिसकने की धीमी ध्वनि, और बीच-बीच में छात्रों की दबी-दबी फुसफुसाहटें। लेकिन उस दिन मेरे भीतर कुछ और ही चल रहा था। कामता सागर सर नहीं आए थे, और उनकी अनुपस्थिति मुझे अनुपस्थिति से कहीं अधिक लगी थी- जैसे किसी तय मुलाक़ात का अचानक टल जाना।

शायद मैंने उनसे कुछ ज़्यादा ही उम्मीद बाँध ली थी। जाने क्यों मुझे लग रहा था कि वे आएँगे और चित्रकला का कोई ऐसा दरवाज़ा खोल देंगे, जिसके पीछे अब तक अनदेखी दुनिया छिपी बैठी है। रंग, रेखाएँ, आकृतियाँ - सब अचानक किसी रहस्य की तरह मेरे सामने खुल जाएँगे। पर उस दिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। दिन वैसे ही बीत गया जैसे स्कूल के और दिन बीते थे।

फिर अगले दिन यानी किस दिन ड्रॉइंग का पीरियड था। कामता सागर सर आए। उनके चेहरे पर सामान्य भाव थे - न कोई उत्साह, न किसी विशेष बात का संकेत। उन्होंने ब्लैक बोर्ड पर चॉक से एक सीधा-सादा रेखाचित्र बनाया। इतना सरल कि उसे देखकर किसी को भी लग सकता था, इसमें सीखने जैसा क्या है। फिर उन्होंने हम लोगों से उसे कॉपी में उतारने को कहा और खुद टेबल-कुर्सी पर जाकर बैठ गए, जैसे यह सब एक रोज़मर्रा की प्रक्रिया हो।

मैं चित्र बना रहा था, लेकिन भीतर कहीं एक हल्की निराशा तैर रही थी। शायद इसलिए कि मैं जिस चमत्कार की प्रतीक्षा कर रहा था, वह इतने साधारण ढंग से सामने आया था कि पहचान में ही नहीं आ रहा था। या शायद कला का संसार सचमुच इसी तरह खुलता है - धीरे-धीरे, बिना किसी घोषणा के, बिल्कुल साधारण क्षणों के भीतर।

लेकिन बाद के दिनों में कामता सागर सर से मेरे संबंध इतने सीधे-सीधे नहीं रहे।

अब वही कथा कहता हूँ -

स्कूल के दिनों में उनसे बहुत कुछ सीखने मिला।

कक्षा में वे जो सिखाते थे, वह तो था ही, पर असली सीख कई बार उन क्षणों में मिलती थी जब मैं किसी न किसी बहाने उनके कमरे तक पहुँच जाता था। उनका कमरा ड्रॉइंग हॉल के एक कोने में था।

वह ड्रॉइंग हॉल वास्तव में हमारे स्कूल का ऑडिटोरियम था - अपने समय के हिसाब से अत्यंत व्यवस्थित और लगभग भव्य। स्कूल की पूरी इमारत एक वर्गाकार योजना में बनी थी। दो लंबी एक-मंज़िला इमारतें समकोण बनाते हुए खड़ी थीं, जिनमें मिडिल और हाई स्कूल की कक्षाएँ लगती थीं। तीसरी भुजा पर, फिर उसी सम कोणीय क्रम में, प्राचार्य कक्ष, कार्यालय, रसायन-शास्त्र प्रयोगशाला और अन्य कमरे थे। चौथी भुजा पर मुख्य इमारत के रूप में ड्रॉइंग हॉल स्थित था।

उस ऑडिटोरियम का अपना एक पूरा संसार था - मंच, ग्रीन रूम, बैक-स्टेज गैलरी और सामने बना 'ऑर्केस्ट्रा पिट'। मंच के दाहिनी ओर स्थित ग्रीन रूम को कामता सागर सर ने अपने छोटे-से स्टूडियो में बदल लिया था।

वहाँ जाकर मुझे हमेशा ऐसा लगता मानो स्कूल की सामान्य दुनिया से हटकर किसी और ही लोक में प्रवेश कर रहा हूँ - एक ऐसा लोक जहाँ रंग, रेखाएँ, काग़ज़, लकड़ी, गंध और कल्पनाएँ एक साथ साँस लेती हों।

मैं उन्हें प्रायः किसी-न-किसी काम में डूबा हुआ देखता। उन दिनों वे 'नव-भारत' अख़बार के लिए रेखाचित्र और कभी-कभी लिनोकट प्रिंट ब्लॉक भी बनाया करते थे। लिनोकट की तकनीक मैंने पहली बार वहीं देखी थी। उसी कमरे में मैंने पहली बार ऑइल पेस्टल्स को भी जाना।

पंडित जवाहरलाल नेहरू के दो अत्यंत सुंदर पोर्ट्रेट उन्होंने ऑइल पेस्टल पेपर पर बनाए थे। मैं आज भी उन चित्रों की रंग-संरचना और उनमें उभरती हुई रोशनी को याद कर सकता हूँ। वे केवल चित्र नहीं थे, रंगों से रची हुई एक जीवित उपस्थिति थे।

ऑइल पेस्टल्स को किस तरह चलाना चाहिए, रंगों को एक-दूसरे में कैसे घुलाना चाहिए, किसी चेहरे में चमक, गहराई या त्वचा की मृदुलता कैसे पैदा की जाती है - ये सब उन्होंने मुझे उसी छोटे-से कमरे में सिखाया था।

यहाँ ये भी बताता चलूँ कि उन्होंने फाइन आर्ट की डिग्री सर जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से ली थी।

पंडित नेहरू के जिन दो चित्रों का मैंने उल्लेख किया है, उनका कुछ हिस्सा मैंने उन्हें बनाते हुए भी देखा था। एक कलाकार को सृजन करते हुए देखना अपने-आप में एक शिक्षा होती है। वहाँ केवल हाथ काम नहीं कर रहे होते, भीतर की दृष्टि भी आकार ले रही होती है। शायद उसी समय मुझे पहली बार यह समझ में आने लगा था कि चित्र केवल बनाए नहीं जाते, वे धीरे-धीरे भीतर से प्रकट होते हैं।

□□

मैं नवमी या दसवीं कक्षा में रहा होऊँगा तब उनके निर्देशन में पंडित माखन लाल चतुर्वेदी सभाकक्ष में लगाए जाने के लिए उस समय के शीर्षस्थ साहित्यकारों के पोर्ट्रेट्स बनाने का काम हुआ था। जब वे कलाकृतियाँ बन रही थीं तब उन्होंने मुझे भी वहाँ आकर वह काम देखने कहा था। मारे वहाँ न जाने का प्रश्न ही नहीं था। मैं

अखिलेश के साथ वहाँ पहुँच गया। वह सभागार जबलपुर के पुराने बस स्टैन्ड के स्थान पर बने सुपर-मार्केट के बाजू में करीब एक हजार वर्ग गज की जगह छोड़कर जो सामने नगर-निग़म की दुकानें बनी थीं, उसके ऊपर पहली मंज़िल पर नया-नया बना था। उस सभागार के अलावा कुछ सरकारी कार्यालय भी बने थे। परंतु उनके बारे में मुझे ठीक से जानकारी नहीं है। सभागार का उस समय तक उद्घाटन नहीं हुआ था। उसी कक्ष में काम चल रहा था। एक लंबी दीवार के सहारे कैनवास बोर्ड टिके हुए थे। वहाँ कई चित्रकार काम कर रहे थे। कुछ जमीन पर बैठकर अपने कार्य में तल्लीन थे। दो तीन जने ईजल पर कैनवास रखकर स्टूल या कुर्सियों पर बैठे कार्यरत थे। कामता सागर सर भी एक पोर्ट्रेट बनाने में संलग्न थे। हमें वहाँ आया देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे एक बहुत वरिष्ठ चित्रकार से मिलवाया। उन्हें कामता सागर सर गुलाब बाबू कहकर संबोधित कर रहे थे। गुलाब बाबू की उम्र उस समय करीब-करीब पचपन और साठ के बीच रही होगी। वे मोटे कांच का कमानी वाला सुनहरे फ्रेम का पुराना चश्मा पहने हुए थे। वे मैथिली शरण गुप्त जी का चित्र बना रहे थे। चेहरा या कहें चित्र लगभग बन चुका था। उस समय तक उतना सुंदर पोर्ट्रेट मैंने नहीं देखा था। एक दम जीवंत, जैसे मैथिली शरण गुप्त जी अभी बोल पड़ेंगे और मेरे कानों में 'पंचवटी' के पद गूँजने लगे। साथ ही साथ मैं हैरत में भी पड़ गया – कि कोई व्यक्ति जो चश्मा लगाता हो कैसे इस कदर बारीक कम कर सकता है। पर जो कुछ भी मेरे सामने था एकदम सच था। जब हम वहाँ पहुँचे थे तब गुलाब बाबू अपनी अंगुलियों में ब्रश पकड़े लकड़ी की एक पट्टी जो कैनवास से दूरी बनाए दीवार से टिकी थी उसपर हथेली के निचले हिस्से को टिकाए चित्र पर काम कर रहे थे। वे एक कुर्सी पर बैठे थे। उनका कैनवास के छोटी टेबल पर रखा हुआ दीवार से टिका था। सामने टेबल पर ही लकड़ी की कलर पैलेट रखी थी।

जिसपर विभिन्न रंग फैले हुए थे। रद्दी कपड़े के टुकड़े, थिनर, रंग बनाने के लिए गाढ़ा चमकदार तेल इत्यादि सब वहीं आस-पास रखा था।

जब कामता सागर सर अपने साथ हमें उनके पास लाए वे अपने ध्यान में मगन थे। सर ने "गुलाब बाबू" कहकर उनका ध्यान भंग किया। उन्हें मेरे बारे में बताया और मुझे

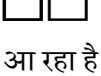
बताया कि वे कितने कुशल चित्रकार हैं। इस बीच गुलाब बाबू ने सिर उठाकर अपने चश्मे के पीछे से मुझे घूरा। फिर मुस्कराए – उनके सीताफल के गूदा लगे बीजों जैसे दांतों की झलक दिखी।

"देखो-देखो ध्यान से देखो, देखने से बहुत कुछ आ जाता है।"

सर हिलाते हुए वे वापस अपने काम में जुट गए। फिर अचानक उन्होंने काम रोक कर अपना सर मेरी ओर मोड़ा और बोले – ***". . .देखते हुए सोचो सामने मैं नहीं , तुम ही सब कुछ कर रहे हो तुम ही चित्र बना रहे हो।"***

यह वाक्य या सूत्र आज भी मेरे मन के ब्लैक-बोर्ड पर अंकित होकर रह गया है।

उस दिन मैंने वहाँ पाउडर कलर से कैसे तैल रंग बनाते हैं यह भी सीखा।



इसी तरह का एक और वाक़िया याद आ रहा है –

वह 1969 की बात थी। यह सन् ठीक-ठीक इसलिए याद है कि इस बात का संबंध गांधी जन्म शताब्दी वर्ष से है। जो कि1968 से 1969 तक मनाया गया था। उस समय मैं नौवीं कक्षा में था। जब मैं आठवीं कक्षा में था, तब सुभाष गोधने नाम के एक छात्र ने हमारे स्कूल में प्रवेश लिया और उसे आठवीं 'अ' वर्ग में शामिल किया गया। मैं आठवीं 'ब' वर्ग में था।

फिर भी कामता सागर सर ने मेरा और उसका परिचय करवाया। वह भी चित्रकला में विशेष रुचि रखता था। उसके पिता मनोहर गोधने मध्यप्रदेश के अत्यंत ख्याति प्राप्त काष्ठ-शिल्पी थे। वे भोपाल से स्थानांतरित होकर जबलपुर की सेंट्रल जेल में पदस्थ हुए थे। उन्हें रहने के लिए कालूराम ऑयल मिल के पास स्थित एक बंगला मिला था। उस बंगले को लोग 'जेलर साहब का बंगला' कहकर जानते थे।

कालूराम ऑयल मिल के पास एक बड़ा मैदान भी था, जहाँ मैं और मेरे साथी हॉकी खेला करते थे। मनोहर गोधने जी को हम लोग जेलर के रूप में ही जानते थे, हालांकि मैंने उन्हें कभी जेलर की वर्दी में नहीं देखा। वे हमेशा सामान्य वेशभूषा में ही रहते थे।

इसलिए उस समय भले ही मैं उन्हें जेलर मानता था, पर अब सोचता हूँ तो मन में थोड़ी शंका होती है। संभव है कि वे किसी अन्य पद पर पदस्थ रहे हों।

बहरहाल, यह बात पूरी तरह सच थी कि वे अत्यंत कुशल काष्ठ-शिल्पी थे। उनकी बनाई हुई कुछ कृतियाँ उस बंगले में भी रखी थीं, जिन्हें मैंने स्वयं देखा था। उनकी कुछ अन्य कृतियों के चित्र मुझे सुभाष गोधने ने भी दिखाए थे।

उसी वर्ष वे जबलपुर आए थे। उससे एक वर्ष पूर्व उन्होंने मध्यप्रदेश राज्य की उस झाँकी का निर्माण कराया था, जो नई दिल्ली में 26 जनवरी की परेड में शामिल हुई थी।

चूँकि मेरी मित्रता सुभाष गोधने से हो चुकी थी, इसलिए अब मैं उनके घर भी आने-जाने लगा था।

□□

मैं बात गांधी शताब्दी वर्ष की कर रहा था -
उसी प्रसंग पर लौटता हूँ।

उस वर्ष गांधी जी की जन्म-शती के अवसर पर जबलपुर जिले में अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित हुए थे। उन्हीं में एक महत्त्वपूर्ण आयोजन यह भी था कि गांधी जी की सम्पूर्ण जीवन-यात्रा को हस्त निर्मित तैल चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया जाए।

एक रविवार दोपहर सुभाष गोधने ने मुझे अपने घर बुलवाया। 'जेलर साहब का बंगला' हमारे घर से अधिक दूर नहीं था। जब मैं वहाँ पहुँचा, तो बंगले की बाईं ओर दीवार से सटे लंबे बरामदे में एक अद्भुत दृश्य मेरा इंतज़ार कर रहा था। वहाँ कई बड़े चित्र फ़लक टिके हुए थे और उन पर एक साथ काम चल रहा था। जबलपुर फाइन आर्ट कॉलेज से जुड़े अनेक प्रतिष्ठित चित्रकार वहाँ उपस्थित थे-

हरी भटनागर, श्रेणिक जैन, ओ.पी. पाण्डेय, विष्णु शर्मा और स्वयं मनोहर गोधने। उनके साथ कॉलेज के कुछ वरिष्ठ विद्यार्थी भी काम में लगे हुए थे।

हर चित्रकार के सामने एक छोटा-सा संदर्भ चित्र रखा था, जिसे देखकर वे तीन बाई चार या साढ़े चार फ़ुट के बड़े कैनवास पर वही दृश्य उकेर रहे थे। संभवतः वे छोटे चित्र किसी एक कलाकार ने कॉमिक शैली में बनाए थे, ताकि पूरी श्रृंखला में एक समान दृश्य भाषा बनी रहे। चित्रों में मोटी काली आउट लाइनें थीं और उनके भीतर सपाट रंग भरे जा रहे थे। जहाँ प्रकाश और छाया का आभास देना होता, वहाँ भी उसी रंग के सीमाबद्ध आकारों से काम लिया जा रहा था।

पूरा बरामदा चित्र फ़लक़ों से भरा हुआ था। वे दीवार से टिके सीधे फ़र्श पर रखे थे और उनके सामने कलाकार अपनी-अपनी रंग-पट्टिकाएँ, विभिन्न रंगों के ट्यूबस् , ब्रश, रद्दी कपड़े, इत्यादि लिए , तल्लीन होकर काम कर रहे थे। मैं सुभाष के साथ कभी एक चित्र के सामने रुकता, कभी दूसरे के पास चला जाता। बहुत देर तक मैं केवल देखता रहा- रंगों का मिलना, पैलेट पर उनका धीरे-धीरे नया स्वर ग्रहण करना, फिर ब्रश के माध्यम से कैनवास पर उतर जाना।

मुझे कलाकारों की उँगलियों, हथेलियों और कलाइयों की लयबद्ध गतियाँ सम्मोहित कर रही थीं। ऐसा लगता था मानो वे चित्र नहीं बना रहे, किसी मौन संगीत की ताल पर रंगों को नचा रहे हों। चारों ओर तैल रंगों की एक भीनी, गाढ़ी गंध तैर रही थी, जो आज भी स्मृति में वैसी ही बसी हुई है।

बंगले के बाहर आम, नीम, जामुन और इमली के विशाल वृक्ष खड़े थे। गर्मियों के दिन थे, लेकिन उन घने पेड़ों की छाया हवा की तपिश को काफी हद तक थाम लेती थी। वातावरण पूरी तरह शीतल तो नहीं था, फिर भी असहनीय भी नहीं लगता था। वैसे उस समय मेरा ध्यान बाहर की दुनिया से अधिक उन बनते हुए चित्रों में डूबा हुआ था।

फिर भी मुझे आज तक याद है- कालूराम ऑयल मिल के पास फैला हुआ वह खुला मैदान, जिस पर धूप निर्दयता से बरस रही थी। धरती तप रही थी, हवा झुलसा रही थी। और उसी के ठीक पास जेलर साहब का वह बंगला था, जहाँ पेड़ों की घनी छाँव मानो उसी झुलसी हुई हवा पर ठंडे मरहम की तरह बिछी हुई थी।

उस तपते हुए बाहरी संसार और भीतर रंगों से भरे उस शीतल बरामदे के बीच का विरोधाभास, तैल रंगों की महक, कलाकारों की तन्मयता और धीरे-धीरे आकार लेते गांधी जी के चित्र- यह सब मेरे लिए किसी स्वप्न लोक से कम नहीं था।

सुभाष और मैं उस बरामदे में काफ़ी समय गुजारने के बाद बंगले के भीतर एक बड़े कमरे में आ गए। उस कमरे में उसके पिता जी की कुछ काष्ठ कृतियाँ जो कि बहुत बड़ी और सुंदर थीं दीवारों पर टँगी हुई थीं। वे सभी लकड़ी के मोटे पटरों पर खुदाई करके उत्कीर्ण की गई थीं। उन में से प्रायः सभी प्राचीन धार्मिक कथाओं या विषयों पर बनी थीं। मैं उन्हें पहली बार देख रहा था। वास्तव में उस कमरे में मैं पहली दफ़ा आया था। बाद में मैंने अंदाज़ लगाया कि वह कमरा शायद उसके पिता जी का स्टूडियो था। वहाँ कुछ भी बाहर अस्त व्यस्त नहीं था। सब कुछ व्यवस्थित और अपने स्थान पर था। कमरे में एक पुराना सोफ़ा-सेट भी था, कुछ कुर्सियाँ भी थीं। वह बंगला बहुत पुराना था । निश्चित ही अंग्रेजों के जमाने का। बहुत ऊँची छत, ऊपर रोशनदान, अंग्रेजी खपरे, लकड़ी के ऊँचे दरवाज़े। सब कुछ पुराना पर मज़बूत। दीवारों में बनी ऊँची-ऊँची अलमारियों में बहुत सारी किताबें रखी हुई थीं। लेकिन जिन अलमारियों के दरवाज़े लकड़ी के थे उनके भीतर क्या था, यह मैं नहीं जान पाया बस फिर यही अंदाज़ लगा पाया कि शायद उन अलमारियों उनके काष्ठ शिल्प कार्य में उपयोग में आने वाले औज़ार रखे होंगे। आज सोच पा रहा हूँ - दरअसल उस समय मैं उस वातावरण से लगभग सम्मोहित सा था। हो सकता है इसी कारण मैं सुभाष से ज़्यादा पूछ ताछ नहीं कर सका था। उस कमरे में एक लकड़ी की ख़ूबसूरत टेबल भी थी। सुभाष ने बताया कि वह भी उसके पिता ने ही बनाई थी। उस टेबल में दीवार की तरफ़ कांच के पल्लों वाले रैक बने हुए थे। टेबल में बड़ा सा ड्रॉर भी था जिसका टेबल की चौड़ाई के बराबर वाला दरवाज़ा टेबल टॉप के सामने की तरफ़ ऊपर से दबाव डालने पर खुल जाता था। उस टेबल पर कुछ कॉपी किताबें रखी थीं। ड्रॉर में कुछ रंग और ब्रश भी रखे थे। वह सुभाष की स्टडी टेबल थी। टेबल पर कुछ कोरे सफ़ेद कार्ड भी पड़े थे। साथ ही कुछ और वे छोटे संदर्भ चित्र भी रखे थे जो बाहर बरामदे में रची जा रही श्रृंखला में अभी बनना बाक़ी थे। पता नहीं किस अन्तः प्रेरणा से मैंने सुभाष से कहा – "चलो इन चित्रों में से एक-एक चित्र हम दोनों भी बनाते हैं।"

सुभाष तैयार हो गया। आवश्यक तैयारी कर हम दोनों ही चित्र बनाने या उन छोटे संदर्भ चित्रों में से दो चित्र छाँट कर उनकी कॉपी करने उसी टेबल पर बैठ गए।

सुभाष और मैं देर तक उस बरामदे में बैठे रहे। बाहर की धूप धीरे-धीरे मंद पड़ रही थी और भीतर का सन्नाटा जैसे अपने आप फैलता जा रहा था। फिर सुभाष मुझे बंगले के भीतर एक बड़े कमरे में ले गया।

कमरे में प्रवेश करते ही मुझे लगा, जैसे किसी और ही दुनिया में आ गया हूँ। दीवारों पर लकड़ी के मोटे पटरों पर उत्कीर्ण बड़ी-बड़ी काष्ठ कृतियाँ टँगी थीं। उनमें पुरानी धार्मिक कथाओं के दृश्य थे - कहीं युद्ध, कहीं तपस्या, कहीं किसी देवता का शांत चेहरा। लकड़ी की सतहों पर छेनी के निशान जैसे जीवित थे। मैं उन्हें देखता रहा। पहली बार। मैं पहली बार उस कमरे में आया भी था।

अब आज इतने बरस बाद मैं सोचता हूँ, वह उसके पिता का स्टूडियो रहा होगा। उस समय तो केवल इतना महसूस हो रहा था कि कमरे की हर वस्तु अपने भीतर कोई रहस्यमय कहानी छिपाए हुए है। वहाँ कुछ भी बिखरा नहीं था। सब कुछ अपनी जगह पर, चुपचाप - जैसे वर्षों से वहीं रखा हो। एक पुराना सोफ़ा-सेट था, कुछ कुर्सियाँ थीं। ऊँची छत, रोशनदान, अंग्रेजी खपरे, लकड़ी के भारी दरवाज़े। पूरा बंगला अंग्रेजों के ज़माने की किसी थकी हुई स्मृति की तरह खड़ा था; पुराना, लेकिन अब भी दृढ़ अब भी मज़बूत।

दीवारों में बनी ऊँची अलमारियों में किताबें भरी थीं। जिन अलमारियों पर लकड़ी के पल्ले लगे थे, उनके भीतर क्या रखा था, यह मैं नहीं जान पाया। शायद औज़ार होंगे - वे औज़ार जिनसे लकड़ी बोलना सीखती है।

आज सोचता हूँ, उस समय मैं उस वातावरण से लगभग सम्मोहित था। शायद इसी कारण सुभाष से ज़्यादा कुछ पूछ नहीं सका। केवल देखता रहा - और भीतर कुछ धीरे-धीरे बदलता रहा। सुभाष भी लकड़ी पर काम करने लगा था। और इसमें मुझे ही नहीं किसी को भी कोई तअज्जुब नहीं होना चाहिए था। उसने मुझे अपनी कुछ कृतियाँ दिखाई भी थीं।

कमरे में एक ख़ूबसूरत लकड़ी की टेबल भी थी। सुभाष ने बताया, उसे भी उसके पिता ने ही बनाया था। टेबल दीवार से लगी थी। उसकी पिछली तरफ़ काँच के पल्लों वाले छोटे रैक बने थे। नीचे एक चौड़ा ड्रॉअर था, जो ऊपर से हल्का दबाव देने पर खुल जाता था। उस युक्ति में भी एक तरह की कलात्मकता अपने आप को जैसे पूरी विनम्रता के साथ प्रस्तुत कर रही थी। जैसे कुछ वस्तुएँ बिना शोर किए अपना रहस्य खोलती हों।

टेबल पर कॉपियाँ और किताबें रखी थीं। ड्रॉअर में रंग और ब्रश। वह सुभाष की स्टडी टेबल थी। वहीं कुछ कोरे सफ़ेद कार्ड पड़े थे और साथ ही पड़े थे उसी श्रृंखला के बकाया छोटे संदर्भ चित्र भी, जिनकी बड़ी प्रति - लिपियाँ अभी निर्मित होनी थी।

अचानक उस कमरे की निस्तब्धता के बीच मेरे भीतर एक इच्छा जागी।

मैंने सुभाष से कहा -
“चलो, इन चित्रों में से एक-एक हम भी बनाते हैं।”

उसने मेरी ओर देखा। फिर बिना कुछ कहे तैयार हो गया।

हमने उन छोटे संदर्भ चित्रों में से दो चुने। रंग और ब्रश निकाले। और उसी टेबल पर, उसे कमरे में जहाँ कुछ देर पहले सभी वस्तुएँ चुपचाप केवल रखी हुई प्रतीत हो रही थीं। पर अब धीरे-धीरे जीवंतता पसर रही थी। हम दोनों बैठ गए – उन छोटे -छोटे सफ़ेद कार्डों पर पहले स्केच बने फिर जल रंग फ़ैले। फिर हमारे चित्र बने। बेशक़ वे प्रति-लिपि थे, किन्तु थे तो हमारे बनाए हुए।

हर चित्र अनजाने में ही किसी एक नया संसार रच देता है।

मैंने जो चित्र चुना था, वह बापू की दांडी यात्रा का चित्रण था।

जो चित्र या प्रति-चित्र हम दोनों ने बनाए थे वे बाहर बरामदे में काम कर रहे वरिष्ठ चित्रकारों को सुभाष ने दिखाए। मैं भी उसके साथ था। ज़ाहिर है सभी को तारीफ़ तो करनी थी। लेकिन मेरी स्मृति कह रही है कि उन वरिष्ठ चित्रकारों में से ही किसी एक ने कुछ टिप्पणी भी की थी।

मेरा कार्ड देखकर उन्होंने कहा था – "तुम बहुत अच्छे कॉपी आर्टिस्ट बनोगे।"

उस समय ही मुझे समझ में आ गया था, यह सही अर्थ में तारीफ़ तो नहीं है।

आज भी मुझे यही लगता है। भले ही उनके मन में जो भी रहा हो। मुझे अच्छा नहीं लगा था। वे बहुत वरिष्ठ आर्टिस्ट थे। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद सही उत्तर उस समय दे भी नहीं पाता। मेरे अंदर जो भाव उस समय पैदा हो रहे थे उन्हें प्रकट करने का सटीक ज्ञान या उपयुक्त शब्द तब तक मेरे पास नहीं आ पाए थे।

अब आज इतने बरस बाद मुझे मौका मिला है, इस बात को मैं जड़ से समाप्त करूँगा। क्योंकि जब भी यादों की पुस्तक का ये पन्ना मेरे जेहन में अचानक खुल जाता है। मुझे इस बात से आज भी तकलीफ़ होती है। सीधा-सीधा यही लगता है कि किसी ने मुझे बहुत कमतर आँका है।

मेरे समझ जो अब तक विकसित हुई है वह किसी ज्ञानी, पंडित या विद्वान जितनी तो शायद नहीं है पर आज यदि उन्होंने ये कहा होता तो मैं जो जवाब देता वह कुछ इस तरह से होता-

"सर जी 'कॉपी-आर्टिस्ट' या नकल-कार बनने का मेरा उद्देश्य कतई नहीं है। मैं एक मौलिक चित्रकार बनना चाहता हूँ। पर कोई भी कलाकार सिर्फ़ इच्छा मात्र से तो अपना सोचा हुआ प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अभ्यास या रियाज़ करना होता है।

रियाज़ का मतलब है नियमित, धैर्य पूर्ण और बार-बार किया गया अभ्यास, खासकर किसी कला को निखारने के लिए। रियाज़ सिर्फ तकनीक दोहराना नहीं है, बल्कि- रंग, रेखा और आकार के साथ लगातार जुड़ना, हाथ, आँख और मन का तालमेल बनाना, देखते-देखते सीखना और अभ्यास के माध्यम से भीतर की संवेदना को परिष्कृत करना है।

सरल शब्दों में कहें तो बार-बार चित्र बनाना, दूसरों को काम करते हुए ध्यान से देखना, रंग मिलाने, ब्रश चलाने, आकृतियाँ बनाने का अभ्यास और धीरे-धीरे अपनी कला-भाषा विकसित करना ये सब कुछ रियाज़ के दायरे में आते हैं। ये सब अपनी मंज़िल की ओर बढ़ते कदम हैं जिन्हें आगे बढ़ने के लिए उठाना आवश्यक हैं।

रियाज़ वह मौन साधना है, जिसमें कलाकार बार-बार अपने ही भीतर लौटता है और हर बार थोड़ा अधिक स्पष्ट, थोड़ा अधिक गहरा होकर बाहर आता है। यह केवल हाथ का अभ्यास नहीं, दृष्टि, धैर्य और संवेदना का धीरे-धीरे परिपक्व होना है। रंग, रेखा और रूप के साथ यह निरंतर संगति ही अंततः कला को कौशल से उठाकर आत्म-अभिव्यक्ति बना देती है।

रियाज़ केवल अभ्यास नहीं, अपने भीतर छिपे कलाकार से धीरे-धीरे परिचित होने की प्रक्रिया है।

यह हाथ की गति से अधिक, चेतना की परिपक्वता और संवेदना की जागृति है।
रियाज़ वह मार्ग है, जहाँ कौशल धीरे-धीरे आत्मबोध में बदलता है।
बार-बार का अभ्यास अंततः मनुष्य को उसकी ही गहराई से मिलाता है।
रियाज़ में कलाकार केवल चित्र नहीं बनाता, वह स्वयं भी बनता है।
हर पुनरावृत्ति में रूप सँवरता है, और भीतर का मौन थोड़ा और आलोकित हो उठता है।''

जहाँ मैं आज हूँ - वह कोई बहुत ऊँचा शिखर नहीं है। कोई भी कलाकार अपनी अंतिम सांस तक सीखता रहता है। मैं भी सीख रहा हूँ। जो सीखा है वह उस सबसे बहुत-बहुत कम है, जो सीखा जा सकता है। मैं यह भी अच्छी तरह से जानता हूँ कि सब कुछ सीख पाना नामुमकिन है। और यहाँ तक पहुँचने के लिए मैंने अनगिनत चित्रों की प्रति-लिपि बनाई होगी, अनुकृति बनाई होगी और उनसे प्रेरणा लेकर उन जैसे या उन शैलियों में चित्र बनाए होंगे। और आगे भी यह क्रम चलेगा ही। अपनी अभिव्यक्ति को नियमों में बांधना अनुचित ही नहीं मेरे दृष्टि में स्वयं अपने ऊपर अत्याचार है।

मेरी स्मृति के अनुसार आज तक वह एक टिप्पणी मेरे भीतर किसी बहुत पुरानी किरच की तरह चुपचाप धँसी हुई महसूस होती है - अपनी उपस्थिति से अंतस को बार-बार छूती हुई। उस समय मैं कुछ कह नहीं पाया था; शायद इसलिए कि जो आहत हुआ था, वह अभी शब्द नहीं बना था, केवल एक मौन टीस की तरह मेरे भीतर उतर गया था। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, उस एक वाक्य का उत्तर मैंने कभी किसी प्रतिवाद में नहीं दिया; वह धीरे-धीरे मेरे रियाज़ में, मेरी जिद में, मेरे एकांत में और मेरी

साधना की आँच में पकता रहा। इसलिए आज उन्हें सादर प्रणाम करते हुए केवल इतना कहना चाहता हूँ कि ऊपर लिखी गई बातें किसी क्षणिक आवेग की नहीं, मेरे जीवन के भीतर लंबे समय तक जलते रहे उस धीमे, अखंड दीप की लौ हैं, जिसमें अनुभव भी है, पीड़ा भी, और अपनी राह पहचान लेने की एक शांत, अर्जित उजास भी।

इस बात को अब हमेशा-हमेशा के लिए यहाँ दफ़न कर देते हैं।

और इस बात के तुम भी साक्षी हो।



कामता सागर सर का एक और ऋण मेरे ऊपर बाक़ी है, जिसे चुका पाना संभव नहीं है। वैसे भी गुरु से जो कुछ भी मिलता है वह हर अर्थ में अनमोल होता है। हम जिस 'गुरु-दक्षिणा' की बात अपनी भारतीय सांस्कृतिक विरासत में देखते हैं। मैं समझता हूँ भले ही वह शिष्य द्वारा गुरु को समर्पित आभार जैसा दिखाई दे परंतु वह भी गुरु के द्वारा ही शिष्य को प्रदान की हुई अंतिम भेंट ही होती है। गुरु शिष्य से गुरु-दक्षिणा स्वीकार कर उसे मुक्त करता है। शिष्य को उसने जो कुछ भी दिया उसके ऋण से मुक्त कर देता है। उस मुक्ति के बिना आगे बढ़ पाना शिष्य के लिये संभव नहीं, इसलिए गुरु प्रतीक रूप में गुरु-दक्षिणा लेता है और शिष्य को उसके अपने मार्ग में आगे बढ़ने का आशीर्वाद देता है।

बात कुछ और हो रही थी किसी और तरफ़ मुड़ गई, वापस लौटते हैं।

कामता सागर सर ने मुझे स्वयं अपने साथ ले जाकर जबलपुर में रह रहे प्रायः सभी वरिष्ठ चित्रकारों से मिलवाया था। इनमें अमृत लाल बेगड़ जी का मैं विशेष रूप से उल्लेख करूँगा। बेगड़ जी ने चित्र कला शिक्षा 'शांति-निकेतन' से प्राप्त की थी। उन्होंने जबलपुर के फाइन आर्ट स्कूल में अध्यापन भी किया था। परंतु जाने जाते हैं – अपने माँ नर्मदा से असीम प्रेम के कारण। पैडल चलकर नर्मदा परिक्रमा उन्होंने एक से अधिक बार की थी। रास्ते में रेखाचित्र बनाते और साधु सन्यासियों की तरह आगे बढ़ते जाते। मेरे जाने अनुसार उन्होंने अपने आप को, अपनी कला को माँ रेवा – नर्मदा को पूरी

तरह समर्पित कर दिया था। उन्होंने काग़ज़ की कतरनों से कोलाज़ बनाने में महारत हासिल की हुई थी। उनके अधिकांश कोलाज़ नर्मदा को मुख्य विषय बनाकर ही बने थे। पहली बार मैं 1994 में कामता सागर सर के कहने पर ही उनसे मिलने उनके घर पहुँचा था। बिल्कुल एक गुरु की तरह उन्होंने मुझे बहुत कुछ बातों बातों में बता दिया था। उन्होंने अपना वह कमरा भी दिखाया जहाँ वे काम करते थे। जो कोलाज़ बन रहा था उसे भी दिखाया। जो बहुत अच्छे काग़ज़ वाली पत्रिकाएँ और उनके चित्रों की कतरनें वे उपयोग में लाते थे सब दिखाईं। काग़ज़ काटना , चिपकाना आदि विस्तार से बताया।

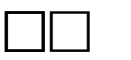
मुझे लग रहा था जैसे मैं एक साधना रत किसी संत के सानिध्य में बैठा हूँ। उस मुलाकात के दरमियाँ उन्होंने एक बात कही थी, जो मुझे आज भी याद है। उन्होंने मुझसे कहा था –

“देखो कोई भी कला सिर्फ़ साधना होती है। हम अपनी अंतिम श्वास तक साधना में लगे रहते हैं, सीखते रहते हैं। कोई कभी पूर्ण नहीं हो पाता। पूर्ण तो सिर्फ़ वही है जिसकी रचना हम सब और यह सारा अस्तित्व है। हम सब तो साधना के रास्ते के मुसाफिर हैं, जो पहले आए वे इस पंक्ति में आगे चल रहे हैं। जो बाद में आए वे कुछ पीछे चल रहे हैं। छोटा बड़ा कोई नहीं है। इसलिए इस बारे में कभी मत सोचना , बस अपने काम में पूरी निष्ठा और ईमानदारी से लगे रहो।“

मैंने उन्हें अपने बनाए कुछ स्केचेज़ दिखाए थे। जिसकी उन्होंने प्रशंसा भी की थी। कुछ बारीकियाँ भी सुझाई थीं। उनमें से बहुत से स्केचेज़ बाद में मैंने ‘हँस’ और अन्य पत्रिकाओं में भेजे थे,जो कि प्रकाशित भी हुए थे।

बेगड़ जी ने मेरी जबलपुर में लगी एकल चित्रकला प्रदर्शिनी का उद्घाटन भी किया था। उनसे हुई बाद की मुलाकातों और उस प्रदर्शिनी का वर्णन इस शृंखला के अगले भाग में करूँगा। उनके अलावा भी जिन गुरुजनों से कामता सागर सर ने मिलवाया था- वह सब वृतांत भी तब ही करूँगा।

अभी बेगड़ जी की स्मृति को प्रणाम करता हुआ इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ।



अब एक स्मृति, जो रंगों की उन तमाम स्मृतियों के बीच आज भी अलग से चमकती है-या शायद चमकती नहीं, किसी पुराने बंद कमरे में रखी हुई वस्तु की तरह हल्की-सी साँस लेती रहती है।

तब मैं बहुत छोटा था। इतना छोटा कि रंगों के बारे में मेरी जानकारी चूने, गेरू, खड़िया मिट्टी और नील से आगे नहीं जाती थी। बाबूजी के पाउडर कलर बहुत दूर की चीज़ थे। वाटर कलर की ट्यूबें तो जैसे किसी दूसरी दुनिया की चीज़ थीं, उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उन्हीं दिनों मैंने पहली बार एक वाटर कलर बॉक्स देखा था।

वह मेरे ननिहाल के पास की एक छोटी-सी स्टेशनरी की दुकान में रखा रहता था। दुकान के काउंटर के सामने काँच जड़ा था और उसके पीछे तरह-तरह की वस्तुओं के बीच वह बॉक्स भी रखा दिखाई देता था। काउंटर के काँच से सटा हुआ। उसका ढक्कन सफेद था। उस पर किसी कंपनी का नाम छपा था, जो अब याद नहीं। बस एक चित्र याद है-एक दुबला-पतला कुत्ता गाढ़े लाल रंग से बना हुआ, अपने पिछले पैरों पर बैठा, जैसे किसी अदृश्य आवाज़ को सुन रहा हो।

मैं न जाने कितनी बार उस दुकान के सामने जाकर खड़ा हुआ हूँ। कभी किसी काम से नहीं, केवल उसे देखने के लिए। वह काँच के पीछे रखा रहता और मैं बाहर। हमारे बीच बस एक पारदर्शी दूरी थी, जिसे पार करना मेरे लिए उतना ही असम्भव था जितना किसी सपने के भीतर प्रवेश कर जाना।

अजीब बात है, उसे पाने की इच्छा धीरे-धीरे किसी और चीज़ में बदल गई थी। शायद ख़ुशबू में। शायद प्रतीक्षा में। शायद उस उदासी में, जो किसी सुंदर वस्तु को दूर से देखते रहने पर मन में जमा होती जाती है। उसे देखते हुए मुझे एक ऐसी पीड़ा का अनुभव होता था जिसमें एक गहरा सुख मिला रहता था। जैसे अभाव स्वयं एक गुप्त संपत्ति हो।

बाद के वर्षों में रंग मेरे जीवन में आते गए। पहले रंगीन पेंसिलें, फिर रंगीन चॉक, फिर वाटर कलर की टिकियाँ, ट्यूबें, पोस्टर कलर की शीशियाँ, पेस्टल, ऑयल कलर,

पाउडर कलर, ऑइल कलर्स, एक्रिलिक कलर्स - न जाने कितने रंग, कितने माध्यम। कामतासागर सर ने रंगों की एक नई दुनिया का दरवाज़ा खोल दिया था। जो कभी दुर्लभ था, वह धीरे-धीरे सुलभ हो गया।

लेकिन आश्चर्य यह है कि उन सब रंगों के बीच वह पहला कलर बॉक्स कहीं खोया नहीं।

वह आज भी वहीं है।

उसी दुकान में।

उसी काँच के पीछे।

उसी तरह सजा हुआ।

स्मृतियों ने न दुकान को बदला है, न मुझे। समय भी उसके सामने खड़े उस बच्चे से मुझे पूरी तरह अलग कहाँ कर पाया है। कभी-कभी लगता है, वह कलर बॉक्स कोई वस्तु नहीं था; वह रंगों के प्रति मेरे प्रेम का पहला रूप था। वह मुझे कभी मिला नहीं, इसलिए शायद कभी पुराना भी नहीं हुआ।

कुछ चीज़ें मिल जाने पर समाप्त हो जाती हैं। कुछ न मिलने पर जीवन भर साथ चलती रहती हैं।

वह छोटा-सा वाटर कलर बॉक्स मेरे लिए ऐसी ही एक अनुपस्थित उपस्थिति है-एक ऐसी महबूबा की तरह, जो जीवन में कभी हाथ न आ सकी, लेकिन जिसकी ख़ुशबू स्मृति के किसी कोने में अब भी बसी हुई है। और शायद जब तक साँसें चलती रहेंगी, वह वहीं रहेगी। कौन जाने, साँसों के रुक जाने के बाद भी।

□□

नागेश पेंटर का प्रसंग तो जैसे समाप्त हो गया था। कम-से-कम मैंने यही सोचा था। पर कुछ नाम ऐसे होते हैं जो एक बार स्मृति में प्रवेश कर जाएँ तो फिर केवल इच्छा भर से वहाँ से विदा नहीं होते। *"पर कुछ नाम ऐसे होते हैं जो एक बार स्मृति में प्रवेश कर जाएँ तो केवल इच्छा भर से वहाँ से विदा नहीं होते। वे किसी पुराने पत्र पर बची हुई*

स्याही की गंध की तरह हमारे भीतर ठहरे रहते हैं - अनदेखे, पर अनुपस्थित कभी नहीं।"

नागेश पेंटर के ससुराल पक्ष में एक रिश्तेदार थे- डी.सी. वर्मा। रिश्ते की ठीक-ठीक शाखा अब याद नहीं। शायद वे उन वरिष्ठ संबंधियों में से थे जिन्हें परिवारों में चचिया, ममिया, मौसिया या फुफिया श्वसुर जैसे किसी नाम से पुकारा जाता है। स्मृति ने उनका परिचय तो बचा लिया है, पर संबोधन का वह अंतिम सूत्र कहीं छूट गया है।

उनका एक छोटा-सा फोटो स्टूडियो हमारे पश्चिमी घमापुर वाले मकान से कोई एक-डेढ़ फर्लांग दूर, शीतला माई मंदिर की ओर जाती सड़क पर था। मैं कभी-कभी वहाँ चला जाया करता था। वहाँ काँच के शोकेस में रखे कुछ चित्र मुझे अनायास रोक लेते। नागेश पेंटर ने बताया था कि डी.सी.वर्मा ने सर जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से फाइन आर्ट्स की शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय यह जानकारी मेरे लिए किसी किंवदंती जैसी थी। मैंने उनके बनाए कुछ पेंसिल पोर्ट्रेट देखे थे, कुछ इंक-ड्रॉइंग्स, और एक नटराज शिव का चित्र भी, जिसकी स्मृति आज भी कहीं धुँधली रोशनी की तरह बची हुई है।

वे चित्र किसी कलाकार की दक्षता का परिचय मात्र नहीं देते थे; उनमें एक तरह का संयम था। उस समय मैं उसे समझ नहीं पाता था। मुझे केवल इतना लगता था कि वे किसी दूसरी दुनिया की वस्तुएँ हैं-उस दुनिया की, जहाँ रंगों और रेखाओं के अपने गुप्त नियम होते हैं।

वह श्वेत-श्याम फोटोग्राफी का समय था। कम-से-कम हमारे शहर में तो रंगीन फोटोग्राफ अभी किसी दूर की चीज़ थे। डी.सी.वर्मा श्वेत-श्याम तस्वीरों में हाथ से रंग भरकर उन्हें रंगीन बनाने का काम भी करते थे। विशेष प्रकार के जलरंग होते थे- इतने महीन कि पानी में घुलकर पूरी तरह पारदर्शी हो जाते। उन रंगों की पतली परत तस्वीर पर चढ़ती तो चेहरों में जैसे जीवन का हल्का-सा संकेत उभर आता। आज की चकाचौंध भरी रंगीन तस्वीरों की तुलना में वे चित्र निस्संदेह फीके लगेंगे, पर उनमें एक अजीब-सी विनम्रता थी; जैसे रंग स्वयं को प्रकट करने के बजाय केवल जीवन का संकेत भर देना चाहते हों।

डी.सी. वर्मा का नाम मैं यहाँ दो कारणों से याद कर रहा हूँ।

पहला सबसे बड़ा कारण यह कि उन्होंने ही मेरी पहली तस्वीर खींची थी।

उस दिन की कोई स्मृति मेरे पास नहीं है। शायद मैं इतना छोटा था कि स्मृति ने उस क्षण को अपने अभिलेख में दर्ज़ ही नहीं किया। मैं शायद छह माह का था – हाथ में एक खिलौना पकड़े हुए बैठा। फ़्रेम की हुई वह तस्वीर बरसों तक हमारे घमापुर वाले किराये के मकान की दीवार पर टँगी रही। उसके साथ दूसरे फ़्रेम में रमेश, मन्नू चाचा का लड़का; उसके साथ मेरी एक तस्वीर थी, और तीसरे फ़्रेम में मेरे छोटे भाई अतुल की भी। अब वे तस्वीरें कहाँ हैं, यह मुझे नहीं मालूम। शायद किसी पुराने संदूक, किसी भूले हुए बक्से या समय की किसी अदृश्य तह में खो गई हों। पर उनका न होना भी उनके होने को मिटा नहीं पाया है।

दूसरा कारण एक छोटी-सी घटना है, जो वर्षों बाद भी कभी-कभी भीतर हल्की-सी कसक जगा देती है।

दशहरे के दिनों में हमारे मोहल्ले में दुर्गा प्रतिमा स्थापित होती थी। जिस साल यह घटना हुई उस बरस मैं प्रतिमा के पीछे और दोनों ओर लगने वाले विशाल पर्दों पर चित्र बनाने का काम कर रहा था। काम अभी अधूरा था कि डी.सी. वर्मा वहाँ आए। उन्होंने कुछ देर चुपचाप देखा और चले गए। लगभग डेढ़ घंटे बाद वे लौटे। उनके हाथ में चार इंच गुणा चार इंच का एक छोटा-सा चित्र था।

उस चित्र में उगते हुए सूर्य की एक मद्धिम झलक थी। नीचे कुछ घने वृक्षों की छाया-आकृतियाँ थीं। रंग इतने संयत थे कि पहली दृष्टि में वे लगभग रंगहीन-से लगते थे। उन्होंने वह चित्र मुझे देते हुए कहा कि मैं उसकी प्रति कृति प्रतिमा के पीछे वाले भाग में बना दूँ।

फिर वे चले गए।

मैं देर तक उस छोटे-से चित्र को देखता रहा।

उस समय मेरी समझ में रंगों का अर्थ कुछ और था। मुझे लगता था कि उत्सव का संसार चटख रंगों से बनता है-लाल, पीला, नीला, हरा। वह चित्र मुझे उदास, फीका और लगभग अधूरा-सा लगा। ऊपर से मेरा अपना काम आधा बन चुका था। उसे मिटाकर फिर से शुरू करना आसान नहीं था। मैं आठवीं या नौवीं कक्षा में रहा होऊँगा। मेरे पास न पर्याप्त समय था, न सहायक, न उतनी समझ।

मैंने वह चित्र नहीं बनाया।

या शायद सच यह है कि मैं उसे बना नहीं पाया। इसलिए नहीं कि बना नहीं सकता था। पर उसे ना बनाने के मेरे पास पर्याप्त कारण थे। लेकिन एक बड़े चित्रकार ने मुझे इस काबिल समझा, मेरे लिए ये बहुत बड़ी बात थी – और मैं उस भरोसे के साथ न्याय नहीं कर पाया।

वर्षों तक वह छोटा-सा चित्र मेरे पास रखा रहा। उसके साथ एक हल्का-सा अपराध बोध और ग्लानि भी। जैसे किसी ने विश्वास के साथ एक दीपक मेरे हाथों में रखा हो और मैं उसे जलाने का साहस न जुटा पाया होऊँ।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समझ में आता है कि वह चित्र अपनी प्रकृति में कहीं अधिक सच्चा था। वह यथार्थ वादी दृष्टि का चित्र था-संयमित, शांत और भीतर से प्रकाशित। पर उसी क्षण यह विचार भी आता है कि यदि मैं उसे बना भी देता तो संभव है समिति के लोगों को वह पसंद न आता। शायद उन्हें लगता कि मैंने मेहनत बचाने के लिए कोई आसान रास्ता चुन लिया है। कौन जाने।

समय बीत जाने के बाद घटनाएँ कभी पूरी तरह सही या गलत नहीं रह जातीं। वे केवल स्मृतियाँ बन जाती हैं, और स्मृतियाँ न्याय नहीं करतीं- वे केवल साथ चलती हैं।

शायद इसी कारण आज भी उस घटना को याद करते हुए मन में एक हल्की-सी टीस उठती है। किसी बड़े कलाकार की इच्छा पूरी न कर पाने की टीस। और शायद उसी के साथ यह संतोष भी कि उन्होंने मुझे इस लायक समझा। उन दिनों मैंने अनेक काम केवल करने के आनंद में किए थे-बिना किसी पारिश्रमिक की अपेक्षा के।

दशहरे के पंडाल हों, होली की सजावट हो, या मोहल्ले की कोई और सामूहिक तैयारी- लोग आकर कहते, "रंग-रोगन का खर्च हम उठा लेंगे, तुम बस चित्र बना दो।" और मैं प्रायः मना नहीं कर पाता था। शायद इसलिए कि आग्रह करने वाला कोई परिचित होता, या इसलिए कि उस उम्र में कला और श्रम के बीच मैंने अभी कोई स्पष्ट रेखा खींचना नहीं सीखा था।

एक बार रज्जन मामा मुझे कमानिया गेट के पास होलिका-दहन के मंच की सजावट के लिए ले गए थे। वह रात आज भी याद है। देर रात तक मैं चित्र बनाता रहा। बीच-बीच में केवल चाय मिलती रही। वही चाय उस रात भोजन भी थी और विश्राम भी।

अब सोचता हूँ तो लगता है कि जीवन वास्तव में किसी सुव्यवस्थित कथा की तरह नहीं बीता। वह ऐसे ही असंख्य टुकड़ों से बना- कुछ सीधे, कुछ टेढ़े; कुछ मन से स्वीकारे हुए, कुछ परिस्थितियों से मिले हुए। उन्हीं बेतरतीब क्षणों ने मिलकर मुझे धीरे-धीरे गढ़ा।

और आज, जब उन दिनों को याद करता हूँ, तो भीतर कहीं एक शांत-सी कृतज्ञता भर उठती है। जो कुछ मिला, जैसा मिला, उसी ने मुझे बनाया। अधूरा, अपूर्ण, कहीं-कहीं टूटा हुआ-पर फिर भी जीवित। और शायद यही सबसे बड़ी बात है कि मैंने जीवन को दूर खड़े होकर नहीं देखा; उसे जितना संभव था, उतना निकट जाकर जिया। जैसे कोई रस से भरा फल हाथ में लेकर उसे अंतिम बूंद तक चूस लेना चाहता हो, वैसे ही। स्मृतियों की मिठास और कसैलेपन सहित।

□□

चलो अब दूसरी तरफ़ चलें, इस जगह से बहुत दूर।

शासकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, जबलपुर – जहाँ से मैंने 'यांत्रिक अभियांत्रिकी' शाखा से स्नातक उपाधि अर्जित की थी। मेरे समय में अभियांत्रिकी स्नातक उपाधि का पाठ्यक्रम पाँच सालों का हुआ करता था। मैंने वहाँ सन् 1972 से 1977 तक अभियांत्रिकी की शिक्षा ग्रहण की थी। मेरे चित्रों और चित्रकला से जुड़ी कुछ ख़ुशनुमा यादें वहाँ से भी जुड़ी हैं।

जब मैं अभियांत्रिकी के प्रथम वर्ष में था, उन्हीं दिनों महाविद्यालय में रजत जयंती महोत्सव बड़ी गरिमा और उत्साह के साथ मनाया जा रहा था। परिसर का वातावरण उन दिनों कुछ और ही था - उत्सव, हलचल, युवाओं की चहल-पहल, विविध कार्यक्रम, प्रतियोगिताएँ और हर ओर फैली हुई एक ऐसी जीवंतता, जो साधारण दिनों में दिखाई नहीं देती। उन्हीं आयोजनों के बीच एक चित्रकला प्रतियोगिता भी रखी गई थी। मैंने भी उसमें भाग लिया।

उस समय तक चित्र बनाना मेरे लिए केवल एक अभ्यास या शौक भर नहीं रह गया था। रंगों और रेखाओं के साथ मेरा संबंध बहुत भीतर तक जाता था; इसलिए जब भी किसी चित्र के सामने बैठता, तो केवल कोई दृश्य नहीं बनाता था, अनजाने ही अपने भीतर चल रही किसी अनुभूति, किसी प्रश्न, किसी धुँधले विचार को आकार देने लगता था। उस प्रतियोगिता में भी कुछ ऐसा ही हुआ।

मैंने उस चित्र में एक बीन बनाई, एक सर्प उकेरा, एक टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता रचा और पृष्ठभूमि में लाल तथा काले रंगों के तीव्र स्ट्रोक्स दिए। उस समय मैं यह सब किसी सिद्ध विचार के साथ नहीं कर रहा था, पर अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, वह चित्र वस्तुतः जीवन के प्रति मेरी उस समय की मौन समझ का ही रूप था।

जीवन मुझे तब भी सीधी रेखा की तरह नहीं दिखाई देता था।

उसमें आकर्षण भी था, भय भी; संगीत भी था और फुफकार भी; दिशा भी थी और भटकाव भी।

बीन और सर्प शायद इसी द्वंद्व के प्रतीक थे।

टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता उस यात्रा का, जिस पर मनुष्य चलता तो है, पर हर मोड़ पहले से जान नहीं पाता।

और लाल तथा काले रंगों के वे स्ट्रोक्स - वे केवल रंग नहीं थे; वे जीवन की बेचैनी, संघर्ष, आवेग, अनिश्चितता और भीतर दबी हुई किसी तीव्रता के संकेत थे।

उस चित्र को मैंने शीर्षक दिया था - **“When I Consider Life”**।

आज लगता है, वह शीर्षक भी संयोग से नहीं आया था।

जीवन के बारे में जब भी हम विचार करते हैं या सोचते हैं तो वह हमारे सामने वह कभी एक अर्थ में नहीं खुलता; वह विरोधी तत्त्वों के सह-अस्तित्व के रूप में सामने आता है। एक पहेली बनकर। उस पहेली के एक साथ कई जवाब होते हैं। हमें उनमें से कोई एक चुनना पड़ता है। जो कि सबसे मुश्किल काम होता है। सभी उत्तरों में अलग-अलग लय होती है और विसंगति भी, सभी का अलग-अलग आलोक होता है और अंधियारा भी, सभी उत्तरों में आशा की चमक भी अलग होती है और गहरा, अनाम संशय भी।

मैंने उस समय कोई एक उत्तर चुना और शायद वही उत्तर उस चित्र में बिना कहे उतर आया था।

जब उसी चित्र के लिए मुझे 'सर्वश्रेष्ठ चित्रकार' का पुरस्कार प्राप्त हुआ, तब वह क्षण केवल प्रसन्नता का नहीं था। वह मेरे लिए भीतर उठी किसी मौन स्वीकृति का क्षण था - जैसे मेरे अंतर के किसी कोने में बैठे सर्जक ने पहली बार बाहर की दुनिया से स्वीकृति पाई थी कि तुम गलत नहीं हो।

जीवन में कुछ पुरस्कार अपने बाहरी रूप से अधिक इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि वे हमारे भीतर सोई हुई किसी आस्था को जगा देते हैं। वह पुरस्कार मेरे लिए वैसा ही था। अब सोचता हूँ, उस दिन मिला सम्मान केवल एक चित्र के लिए नहीं था; वह शायद उस अदृश्य यात्रा की भी स्वीकृति था, जो बचपन से रंगों, आकृतियों और स्मृतियों के सहारे मेरे भीतर चलती रही थी।

चित्र बनाने वाला कई बार समझता है कि वह, चित्र बना रहा है, जबकि सच ये है कि चित्र धीरे-धीरे उसे भी बनाते रहते हैं-

"उसकी दृष्टि को, उसकी संवेदना को और जीवन को देखने के ढंग को।"

□□

मैं जब थर्ड ईयर में पहुँचा।

तब एक दिन मुझे एन. के. शर्मा सर ने बुलाया।

वे सिविल विभाग में शायद उस समय रीडर के पद पर रहते हुए अध्यापन कर रहे थे।

उन्होंने मेरे चित्र **"When I consider life"** देखा था।

रजत जयंती वर्ष की उस प्रदर्शनी में मेरे दो चित्र प्रदर्शित हुए थे। जिनमें से एक को पुरस्कृत किया गया था। दूसरा था – **"The women- mother, wife and daughter"**। इस चित्र में भी मैंने लाल और काले रंगों का प्रयोग किया था। स्त्री के इन तीनों रूपों को एक ही आकृति में समाहित किया था। रंग योजना में चटख लाल रंग से गाढ़े मैरून जैसे काले-लाल रंग और फिर एकदम काले रंग तक के घटते-बढ़ते संयोजन को चुना था। उस रंग-संयोजन में मुझे एक ऐसी तीखी, लगभग तपस्विनी पवित्रता का आभास मिलता था, जो विषय को केवल दृश्य रूप में नहीं, भीतर की किसी गहरी अनुभूति में भी रूपांतरित कर देती थी। सच तो यह है कि पहली दृष्टि में यह रंग-योजना अपने स्वभाव में कुछ भयाक्रांत भी करती थी; उसमें एक ऐसा तीव्र कंपन था, जो दर्शक को सहज नहीं रहने देता। पर उसी क्षण आकृति की मृदुलता, उसकी आंतरिक लयात्मकता और स्त्रीत्व की सहज कोमल उपस्थिति उस भय को ठहरने नहीं देती थी। वे उसे धीरे-धीरे बदलकर एक ऐसे भाव में रूपांतरित कर देती थीं, जहाँ आतंक नहीं, बल्कि एक गहरी, शांत और निर्भय पवित्रता अनुभव होती थी।

यह उस चित्र को स्मरण करते हुए आज की मेरी विवेचना है। स्वाभाविक है कि यह प्रश्न भीतर उठे कि जब मैं उस समय यह चित्र बना रहा था, तब भी क्या मेरे मन में मेरे भीतर यही भाव, यही विचार, यही अर्थ और संकेत बन बिगड़ रहे थे। संभव है, हाँ - किन्तु तब वे विचार या भाव इस प्रकार भाषित नहीं रहे होंगे; शायद वे सीधे-सादे, अधिक सहज और अधिक अंतःप्रेरित रहे होंगे।

युवावस्था प्रायः अपने सत्य को जानती तो है, पर उसे शब्दों में नहीं, संवेदनाओं में जीती है।

आज वही अनुभूति, एक लंबी जीवन-यात्रा से गुज़रकर, मेरे सामने अधिक स्पष्ट, अधिक संयत और अधिक दार्शनिक रूप में उपस्थित है।

उस समय तक स्त्री के रूप में मैंने मुख्यतः केवल माँ को जाना था; आज की बात करूँ तो जीवन ने मुझे स्त्री के तीनों रूपों - माँ, पत्नी और पुत्री का सान्निध्य दिया है। पर अनुभव के इस विस्तार ने मेरे मूल बोध को बदला नहीं, केवल उसे अधिक गहरा किया है। अब मुझे और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है कि स्त्री का सत्य उसके किसी एक रूप में सीमित नहीं है; वह रूपों में प्रकट होकर भी रूपातीत बनी रहती है। वह संबंधों में विभाजित दिखाई देती है, किन्तु अपने तत्व में एक ही रहती है - पवित्र, उज्ज्वल और सृष्टि के नैतिक संतुलन को निःशब्द थामे हुए। यदि उस समय मेरी दृष्टि में यह भाव सहज आस्था की तरह उपस्थित था, तो आज वही बात जीवन के तमाम अनुभवों के दीर्घ आलोक में एक गहरे मानवीय और लगभग आध्यात्मिक सत्य की तरह प्रतीत होती है।

□□

बात ये हो रही थी कि जब मैं थर्ड ईयर में था तब मुझे एन.के. शर्मा सर ने बुलाया था।

बीच में एक लंबी वार्ता जुड़ गई। मैं तो नहीं मानूँगा पर हो सकता है तुम्हें असंगत लगे। तो शर्मा सर ने दोनों ही चित्र देखे थे। मेरे बारे में कुछ जानकारी भी प्राप्त कर ली थी।

वे उस वर्ष के वार्षिक उत्सव आयोजन समिति के अध्यक्ष थे या प्रभारी। मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है।

उन्होंने मुझसे कहा कि वे मेरे चित्रों की एकल प्रदर्शनी वार्षिक उत्सव के अन्य कार्यक्रमों के साथ लगाना चाहते हैं। मेरे लिए यह एक बड़ा अवसर था। मैं क्योंकर इनकार करता। मेरे पास चित्र भी पर्याप्त थे पर वे सब काग़ज़ पर जल रंगों से बने थे और फ़्रेम किए हुए नहीं थे।

उन्होंने कहा हम चित्रों को ड्रॉइंग पिनों से लगा लेंगे।

कॉलेज की ऐड्मिनिस्ट्रेटिव बिल्डिंग में एक बड़ा-सा हॉल था। उसी में मेरी प्रदर्शनी लगाई गई। शर्मा सर ने उसकी व्यवस्था कैसे की, यह मैं ठीक-ठीक नहीं जानता; क्योंकि उस समय मेरा ध्यान अधिकतर अपने चित्रों, वहाँ प्रदर्शनी देखने आते-जाते छात्रों और अन्य लोगों को देखने उनकी प्रतिक्रिया जान पाने की चाह और भीतर

उठती हुई हल्की-सी उत्सुकता तथा आशंका में उलझा हुआ था। पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जो कुछ भी हुआ, वह अत्यंत सुव्यवस्थित था। सब कुछ इतना सधा हुआ, संतुलित और आत्मीय लगा कि मुझे एक क्षण के लिए भी यह नहीं लगा कि कहीं कोई कमी रह गई है। बल्कि सच तो यह है कि जितना अच्छा वह सब हो सकता था, लगभग वैसा ही हुआ।

हॉल की लंबाई में पीछे की ओर लगभग एक-तिहाई जगह छोड़कर चित्रों को टाँगने के लिए स्टैंड लगाए गए थे, जिन पर लंबे पैनल जड़े हुए थे। उन्हीं पर गहरे खाकी रंग के कागज़ की पृष्ठभूमि बनाकर मेरे चित्र ड्रॉइंग पिनों से सलीके से लगाए गए थे। पूरी सज्जा इतनी सुंदर, संतुलित और विचारपूर्वक की गई थी कि हर चित्र अपनी अलग उपस्थिति के साथ उभर आता था। हॉल में प्रवेश करते ही मुझे एक क्षण के लिए विश्वास ही नहीं हुआ कि ये वही चित्र हैं, जो इतने दिनों तक मेरे कमरे, मेज़ और एकांत के साथी बने रहे थे। वहाँ वे जैसे मेरे निजी संसार से निकलकर एक सार्वजनिक संवाद का हिस्सा बन गए थे।

जो चित्र शर्मा सर को सबसे अधिक प्रिय लगा था, उसमें मैंने एक राजस्थानी युवती को सीधी-सादी, संयत रेखाओं में चित्रित किया था। रेगिस्तानी पृष्ठभूमि में वह इस तरह बैठी थी कि उसकी आँखें कहीं दूर टिकी हुई लगती थीं, मानो वह किसी की प्रतीक्षा कर रही हो। उस चित्र की रंग-योजना उज्ज्वल पीले, नारंगी, गेरुए और मिट्टी के पीले रंगों के संयोजन से बनी थी, जिसमें एक साथ तपन भी थी और एक अनकही कोमलता भी। उसके माथे पर मैंने एक बड़ी-सी चटख लाल बिंदी बनाई थी, जो पूरे चित्र का मुख्य आकर्षण बन गई थी। शर्मा सर ने उसी चित्र को शीर्षक दिया था - ‘लाल बिंदी’। चित्र-श्रृंखला में सबसे पहले उसी को टँगवाया गया था, और शायद वहीं से प्रदर्शनी का दृश्यात्मक स्वर भी बनता था।

उस प्रदर्शनी में लगाए गए अधिकांश चित्र कहाँ चले गए, इसकी कथा कहने बैठूँ तो मन पर एक पुरानी उदासी उतर आती है। जीवन में कुछ वियोग ऐसे होते हैं जिन्हें शब्दों में बाँधना उन्हें फिर से जीने जैसा हो जाता है; इसलिए बेहतर यही है कि उस प्रसंग को समय की धूल में दबे किसी भूले-बिसरे किस्से की तरह वहीं पड़ा रहने दिया जाए। पर

स्मृति का संसार केवल दुखी क्षणों से नहीं बना होता। उसमें अनायास बची रह जाने वाली कुछ उजली चीज़ें भी होती हैं, जो हमें यह विश्वास दिलाती हैं कि समय बहुत कुछ छीन लेने पर भी सब कुछ नष्ट नहीं कर पाता। 'लाल बिंदी' शीर्षक वाला वही चित्र, जिसे मैंने सन् 1975 में बनाया था, तीन-चार अन्य चित्रों के साथ मुझे कई बरस बाद वापस मिल गया। उसकी दशा अच्छी नहीं थी। किनारे और कोने कटे-फटे थे, काग़ज़ थक चुका था, और उस पर समय के हाथों के निशान स्पष्ट दिखाई देते थे। पर उसे देखते हुए मुझे लगा कि हर विनाश चीज़ों को सिर्फ़ नष्ट नहीं करता ; कभी-कभी कुछ टूटना उस चीज़ को हमारे और अधिक करीब ले आता है , और अधिक प्यार बना देता है। मैंने उस चित्र के कटे-फटे किनारों को वैसा ही रहने दिया, उन्हें उसे तरह से रहने दिया - जैसे शरीर पर लगे गहरे ज़ख्म अपने निशान छोड़ जाते हैं, ताकि हम उनकी पीड़ा को बिल्कुल ही भुला न दें। जीवन भी अपने दिए घावों को पूरी तरह कहाँ मिटने देता है, ये घाव जीवन भर टीसते रहते हैं और उन ग़लतियों की याद दिलाते रहते हैं जो हमने जाने-अनजाने की होती हैं।

केवल पूरे चित्र को सावधानी से सीधा किया, एक नए काग़ज़ पर चिपकाया और उसके मूल आकार में काटकर जितना संभव था उतना उसका पुनरुद्धार कर दिया। शायद वह केवल एक चित्र का संरक्षण नहीं था; वह अपनी ही किसी पुरानी, लगभग विस्मृत होती हुई संवेदना पर मरहम लगाने जैसा, उसे फिर से सहला लेने जैसा था। अब वह चित्र मेरे पास एक वस्तु की तरह नहीं, बल्कि एक उजली और अत्यंत मीठी प्यारी स्मृति की तरह सुरक्षित है।

उसे देखता हूँ तो लगता है कि कला का वास्तविक निवास दीवारों पर नहीं, मनुष्य की स्मृति और उसके भीतर बचे रह जाने वाले अर्थों में होता है।

आज जब मैं 'लाल बिंदी' को देखता हूँ, तो केवल एक पुराना चित्र नहीं देखता; मुझे उसमें अपने ही बीते हुए समय का एक शांत, उज्ज्वल अंश दिखाई देता है। वह मुझे बार-बार यह अनुभव कराता है कि मनुष्य अपने बनाए हुए रूपों से कभी भी बाहर नहीं निकलता। उसके वे रूप ही बहुरूपिये की तरह पल-पल किसी न किसी थोड़े बहुत बदले रूपों में लौट लौटकर उसे उसका लगभग भूला हुआ स्वरूप याद भी

दिलाते हैं और ज़रूरत पड़े तो बीता हुआ क़िस्सा फुसफुसा कर कान में कह भी जाते हैं।

शायद इसी अर्थ में कला एक साथ –
समय की उलटी दिशा में भी बहती है
और उसे विनम्रता से स्वीकार कर उसके साथ-साथ भी चलती है।



7

झिलमिल सितारों का आँगन

(कुछ सपने, कुछ सितारे, कुछ मजबूरियाँ)

“जो वादा किया वो निभाना पड़ेगा. . . .”

बिल्कुल सच बात है।

लेकिन किसी ने किसी से कोई वादा नहीं किया था।

. . . . !

लेकिन वादा टूटा।

झिल मिल सितारों का आँगन होगा. . . .

ये गीत

. . . . !!

दो दिलों ने मिलकर कभी नहीं गाया!!!

लेकिन दोनों ने माना था –

अपने अपने भीतर – अपने दिलों में महसूस किया था,

कि हाँ ! झिल मिल सितारों का आँगन होगा

और रिम झिम बरसता सावन भी होगा

और ये भी के –

ऐसा सुंदर सपना अपना जीवन होगा

झिलमिल सितारों का आँगन होगा ...

प्रेम की गली में एक छोटा सा घर बनाएंगे
कलियाँ ना मिले ना सही काँटों से सजाएंगे
बगिया से सुंदर वो वन होगा
रिमझिम बरसता सावन होगा

एक किशोरी थी तेरह चौदह बरस की।

एक किशोर था उस किशोरी से साल डेढ़ साल बड़ा।

फिर दिन गुज़रते गए, हफ़्ते गुज़रे – महीने भी और साल दर साल भी।

समय की इस छोटी सी राह पर दोनों चलते रहे, बस एक दूसरे को महसूस करते हुए। किसी ने किसी का हाथ नहीं पकड़ा पर दोनों के भीतर एक संबंध एक रिश्ता पनप रहा था, गुप-चुप, धीरे धीरे।

ये जो कुछ भी ऊपर लिखा गया है। ऐसा हुआ ज़रूर लेकिन मन की उस ज़मीन पर उस परत पर जो बाहर से दिखाई नहीं देती। ये सब कुछ घटनाओं सरीखा नहीं घटा।

इस पनपते हुए रिश्ते के इर्द-गिर्द और बाहर बाहर जो कुछ भी घटा, जो दिखाई भी देता था; सुनाई भी देता था - उसे भी बताऊँगा पर माकूल जगह पर।

"अभी तो एक दोपहर की छोटी सी कहानी सुनाता हूँ जिसे याद करते हुए मुझे आज भी और आज तक हर दिन हर पल जब भी वो याद आती है, यही सोचता हूँ वो दिन क्या उस रोज़ बिना दोपहर के नहीं गुज़र सकता था। काश वो बदनसीब, बदबख़्त दोपहर उस दिन आई ही न होती। लेकिन क़ुदरत ने जो अफ़साना लिख रखा होता है, उससे वो रत्ती भर भी इधर से उधर नहीं होती; उसे जो करवाना होता है, वो तुमसे किसी भी तरह करवा ही लेती है।"

वे दोनों, किशोर और किशोरी अब युवक और युवती हो चुके थे।

और उस सियाह'किस्मत दोपहर को जो हुआ उसे शायद ऊपर बैठा ईश्वर भी नहीं चाहता होगा कि हो। मुझे लगता है सब से ज़्यादा विवश तो शायद ईश्वर ही होता है।

वो भी कुदरत से किए वादे से कहाँ मुकर पाता है। कुदरत अपना काम पूरी ईमानदारी से करती है। उसमें ईश्वर भी कभी कोई दखल नहीं दे पाता।

उस युवक के मन में जाने किसने कौन सी अंधड़ चला दी जिसने सब कुछ तहस नहस हो गया। तहस नहस हुआ नहीं ! उस युवक ने स्वयं वह बगिया सरीखा छोटा सा वन उजाड़ दिया।

मति भ्रष्ट हुई या बुद्धि पर पत्थर पड़े, कोई नहीं जानता। वह युवक भी आज तक तय नहीं कर पाया। आखिर उस दोपहर ऐसा क्या हुआ था। किसी ने जादू किया, टोना किया या तंत्र कि मंत्र। पर ये जादू जब तक उसके सर चढ़ा रहा – उसे ये समझ में ना आ सका कि उसने अपने ख़ुद के साथ ये क्या कर डाला। और उसके साथ भी जिसने गुप चुप - सारे ज़माने से, और उस युवक से भी यहाँ तक के ख़ुद से भी छिप छिपा कर 'प्रेम की गली में एक छोटा सा घर बनाएंगे. . . .'' गुनगुना लिया था। वो धुन वो गीत वे सारे शब्द उनके सारे अर्थ उस युवती के दिल के किसी कोने में गूँजते रहते थे। युवक सुन नहीं पाता था पर महसूस करता था। उस गीत के मोतियों सरीखे शब्दों की ध्वनि नहीं पर स्पंदन उस के भी हृदय तक पहुँच रहे थे ।

"परंतु इसके बावजूद, न जाने कौन सी आसेब-ज़दा बदरूह उसके दिल-ओ-दिमाग़ पर हावी हो गई कि उसने उस बदनसीब दोपहर को युवती से अपनी मोहब्बत का, अपने इश्क़ का साफ़-साफ़ इक़रार और इज़हार करने की जगह, जिसका कि शायद वह युवती शिद्दत से इंतज़ार कर रही थी- न सिर्फ़ अपनी हिजरत का, अपने पीछे हटने का एलान कर दिया, बल्कि पूरी शिद्दत से उसका जवाज़ भी पेश कर दिया और उसे अपने नज़रिये से सही भी साबित कर दिया।"

"इसके कुछ हफ़्तों या महीनों के बाद, जब उस 'बदरूह या साए' को लगा होगा कि उसका मक़सद पूरा हुआ और वो युवक को आज़ाद करके अपने अगले पड़ाव की जानिब रुख़सत हो गई, तब युवक को इस बात का शिद्दत से अहसास हुआ कि उसने यह क्या गज़ब ढा दिया है!

उसे अब उस युवती के उस दोपहर बे-आवाज़ ज़ार-ज़ार रोने का मतलब और उन पायदार, लगातार बहते आँसुओं की नमी अपनी छाती के बाईं तरफ़ धड़कते हुए दिल की गहराइयों में महसूस हुई।"

" उस युवक ने जो कुछ किया और कहा था अपनी उस हरकत को ज़िंदगी की सबसे बड़ी भूल मानते हुए, वह युवक बेहद पशेमान और शर्मिंदा था। उसने पूरी शिद्दत से उस युवती को यक़ीन दिलाने की कोशिश की - 'इस ख़ता की तलाफ़ी और भरपाई में तू मुझसे जो चाहे वादा ले ले, जो चाहे क़सम खिला दे, मगर मुझ परले दर्जे के अहमक़ को मुआफ़ कर दे। मैं चाहता हूँ कि तेरे दिल की गहराइयों में फिर से वही "झिलमिल सितारों का आँगन होगा..." की धुन गूँजने लगे।"

लेकिन सावन के बादल उस युवती की आँखों से बरस कर ख़त्म हो चुके थे और दिल का चमन ख़ुश्क और बंजर हो चुका था। जो वादा कभी ज़बान पर आया ही नहीं था, उसे बड़ी बेदर्दी और बे-रहमी से पामाल कर दिया गया था। उसने अपने मन के कच्ची मिट्टी के आँगन से उन तमाम अनकही बातों के पुरज़े, कतरनें बुहार दिए थे और वहाँ सख़्त पत्थर लगा लिए थे।

उसका दिल बेज़ार हो चुका था - न सिर्फ़ उस बेमुराद और बेवफ़ा युवक से, बल्कि शायद 'इश्क़' नाम के लफ़्ज़ से भी! फिर वो भला क्यूँकर उसी राह की मुसाफ़िर बनती, जहाँ उसे सिर्फ़ ज़िल्लत, रुसवाई और शर्मिंदगी हासिल हुई थी।"



"शायद मैंने तुम्हें पहले कभी यह न बताया हो, पर यह जिस युवक और युवती की एक मुख़्तसर सी कहानी है, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा दुनिया की नज़रों से दूर, सिर्फ़ उनके दिल की ज़मीनों पर भीतर ही भीतर घटा। बाहर न कभी उसका कोई ज़िक्र आया, और न ही कोई तर्जुमा किसी और शक्ल में नमूदार हुआ।

युवती के दिल की ज़मीन पर से होकर जो कुछ भी गुज़रता था, वह किस रंग, किस रूप और किस शक्ल में उसके सामने आता था वह उसे किस रंग रूप में समझती थी - इसे देखने और जानने वाली या तो वह ख़ुद थी, या फिर उसका ईश्वर। युवक के पास

देखने को बस उसकी आँखें थीं। उन आँखों की खामोशी में उसे जो कुछ दिखाई देता, उसी से वह अंदाज़ा लगाता कि खुद उसके अपने भीतर जो चुपचाप घट रहा है, वह उसी साझी मुहब्बत का एक और मुख़्तलिफ़ रंग-रूप है; रंग जुदा थे, मगर दोनों की रूह एक ही थी।

फिर भी, इस ख़ामोश समंदर के बाहर-बाहर जो घटा, उसकी चंद तस्वीरें मैं तुम्हें ज़रूर दिखाऊँगा। उनसे वाबस्ता उन छोटी-छोटी कहानियों को भी सुनाऊँगा, जिन्हें आज तक किसी ने नहीं सुना, किसी ने नहीं देखा. . . शायद आसमान पर बैठे उस ईश्वर ने भी नहीं। वरना, अगर उसने देखा होता, तो क्यूँकर वह इतना ज़ालिमाना सुलूक उन दो मासूम दिलों के साथ करता?"

□□

अब ये ऊपर लिखे हुए को, जो कुछ भी वह है; यहीं छोड़ते हैं।

कुछ और बातें करते हैं- कुछ तुम्हें सफ़ाई दूँगा कुछ ख़ुद को समझाने का प्रयास करूँगा।

कुछ दास्तानों में सबसे ज़रूरी क़िस्से कभी वजूद में ही नहीं आते। वे न इब्तिदा में मिलते हैं, न किसी मोड़ पर अचानक सामने आ खड़े होते हैं, न अंजाम तक पहुँचते-पहुँचते अपना चेहरा दिखाते हैं। वे कहीं लिखे नहीं होते, फिर भी पूरी दास्तान उन्हीं के इर्द-गिर्द एक ख़ामोश गर्दिश में चलती रहती है।

किताब का हर सफ़्हा पलटते हुए एक अजीब-सी आहट सुनाई देती है। जैसे किसी ने अभी-अभी इस पन्ने से होकर गुज़रना चाहा हो, मगर अचानक कुछ कदम चलकर पलट गया हो। कुछ लम्हे होते हैं जो आते-आते ठिठक जाते हैं; कुछ रिश्ते होते हैं जो बनने से ज़रा पहले ही अपनी परछाईं समेट लेते हैं; कुछ ख़्वाब ऐसे होते हैं जो आँखों में उतरने के बजाय उनकी नमी बनकर रह जाते हैं। दास्तान उन्हें कभी बयान नहीं करती, लेकिन उसके हर लफ़्ज़ के पीछे उनकी ख़ामोश मौजूदगी महसूस होती रहती है।

शायद हर बड़ी कहानी के भीतर एक और कहानी रहती है- वह जो कभी लिखी नहीं गई, कभी कही नहीं गई, कभी घटी ही नहीं। मगर उसी अन-लिखी और अन-घटी

कहानी की परछाईं इस लिखी हुई कहानी के हर मानी को जन्म देती है। जो कुछ हमारे सामने है, वह शायद उतना अहम नहीं, जितना वह जो हमेशा हमारी नज़रों से ओझल रहा।

कभी-कभी मुझे लगता है, कहानियाँ अपने घटित प्रसंगों से कम और अपने छूटे हुए मुक़ामों से ज़्यादा बनती हैं। जिन रास्तों पर कोई चला ही नहीं, वे भी हमारी याद में उतनी ही गहरी लकीर छोड़ जाते हैं, जितनी वे राहें जिन पर पूरी उम्र सफ़र किया गया हो। शायद इसलिए कुछ ग़ैर-वाक़िआत, कुछ अन-घटे क़िस्से, हमारी रूह में उन घटनाओं से कहीं ज़्यादा देर तक आबाद रहते हैं जो सचमुच घट चुकी होती हैं।

आख़िर में जो बचा रह जाता है, वह कहानी नहीं होती- उसकी एक हल्की-सी महक होती है, एक बुझी हुई रौशनी, एक ख़ामोश इंतज़ार। और तब समझ में आता है कि पूरी दास्तान दरअसल उस एक क़िस्से की तलाश थी, जिसे मुकम्मल होने की इजाज़त कभी मिली ही नहीं।

कभी-कभी तो एक अजीब-सा वहम घेर लेता है कि जिस धुरी के गिर्द पूरी दास्तान अपनी तमाम गर्दिश के साथ घूमती हुई मालूम पड़ती है, वह धुरी अपने वजूद में आने से बहुत पहले ही कहीं गुम हो गई थी। शायद उसे कभी मुकम्मल होना ही नहीं था। शायद वह महज़ एक इमकान थी- एक ऐसा ख़्वाब, जो ताबीर तक पहुँचने से पहले ही किसी ख़ामोश धुंध में विलीन हो गया।

इसके बावजूद दास्तान अपनी रवानी नहीं छोड़ती। वक़्त अपने सिलसिले से बहता रहता है। वाक़िआत एक-एक करके सामने आते हैं, अपनी बारी निभाते हैं और गुज़र जाते हैं। किरदार मिलते हैं, बिछड़ते हैं, मोहब्बत करते हैं, शिकवे पालते हैं, उम्र की धूप और साये अपने चेहरों पर समेटते हुए आगे निकल जाते हैं। बाहर से सब कुछ वैसा ही दिखाई देता है जैसा हर कहानी में दिखाई देता है; मगर उसके भीतर, बहुत भीतर, एक ख़ाली जगह बराबर साँस लेती रहती है।

वह रिक्तता किसी हादसे की तरह नहीं आती; वह तो जैसे शुरू से ही वहाँ मौजूद थी। कोई उसे देख नहीं पाता, फिर भी हर रिश्ता अनजाने में उसी के इर्द-गिर्द अपना फ़ासला

तय करता है। हर ख़ुशी की तह में उसका हल्का-सा मलाल घुला रहता है, हर बिछोह में उसकी पुरानी पहचान झलक उठती है। ऐसा महसूस होता है मानो तमाम मौजूदगियाँ उसी एक ग़ैर-मौजूदगी का हाशिया भर हों।

अजीब बात यह है कि अनुपस्थिति भी कभी-कभी एक जीवित शय बन जाती है। वह बोलती नहीं, लेकिन हर ख़ामोशी में उसकी आवाज़ सुनी जा सकती है। वह दिखाई नहीं देती, लेकिन हर मंज़र के पीछे उसकी परछाईं ठहरी रहती है। वह किसी किरदार की तरह कहानी में दाख़िल नहीं होती, फिर भी तमाम किरदार उसी की अदृश्य गिरफ़्त में जीते रहते हैं। उसकी ख़ामोश मौजूदगी इतनी गहरी होती है कि जो लोग सामने हैं, वे भी कभी-कभी परछाइयों जैसे लगने लगते हैं।

शायद इसी वजह से कुछ दास्तानों का असल मरकज़ वह नहीं होता जो घट चुका है, बल्कि वह होता है जो कभी घट ही नहीं सका। जो हासिल हो गया, वह आख़िरकार याद बनकर ठहर जाता है; मगर जो हमेशा अधूरा रह गया, वह उम्र भर हमारे भीतर अपनी धड़कन बचाए रखता है। उसकी कसक वक़्त के साथ कम नहीं होती, बल्कि और ज़्यादा महीन, और ज़्यादा गहरी होती चली जाती है।

तब लगता है कि पूरी दास्तान दरअसल उस खोई हुई धुरी की तलाश है, जिसे शायद कुदरत ने जन्म तो दिया, मगर मुकम्मल होने की मोहलत कभी नहीं दी। बाक़ी सब कुछ - घटनाएँ, रिश्ते, मुस्कुराहटें, बिछोह, यहाँ तक कि पूरी कहानी भी - उसी अनाम, अन-घटी और अन-हासिल धुरी की परिक्रमा भर है।

मेरे हिस्से में भी शायद ऐसा ही एक रिश्ता आया था - या शायद रिश्ता कहना भी उसके साथ कुछ ज़्यादती होगी। वह किसी परछाईं की तरह मेरी ज़िंदगी के आँगन से गुज़रा; कभी हसरत बनकर, कभी एक धुँधले ख़्वाब की तरह, और कभी एक ऐसी ख़ामोश मौजूदगी की तरह, जिसका एहसास उसकी ग़ैर-मौजूदगी में ज़्यादा होता था।

उस वक़्त उसे कोई नाम देना मुमकिन नहीं हुआ। कुछ रिश्ते नाम मिलते ही अपनी परवाज़ खो देते हैं; शायद यह भी उन्हीं में से एक था। हम दोनों के दरमियान जो कुछ

था, वह अल्फ़ाज़ से पहले का इलाक़ा था - जहाँ तआरुफ़ से ज़्यादा ख़ामोशी बोलती है, और यक़ीन से ज़्यादा इंतज़ार।

वह महज़ एक ख़्वाब नहीं था। उसमें साँस लेती हुई एक हक़ीक़त भी थी, धड़कती हुई एक इमकान भी। जितनी दूर तक वजूद उसका साथ दे सकता था, उसने दिया भी। मगर फिर न जाने किस मोड़ पर ज़िंदगी ने अपने ही हाथों अपनी बसी-बसाई बस्ती पर चुपचाप आग रख दी। उसके बाद धुआँ तो बहुत देर तक उठता रहा, मगर यह कभी मालूम न हो सका कि सबसे पहले कौन-सा घर जला था और किसने पहली चिनगारी देखी थी।

कुछ हादसों का कोई मुजरिम नहीं होता। वे बस वक़्त की तहों में पलते रहते हैं और एक दिन हमारी आँखों के सामने घट जाते हैं। जब तक हम उन्हें समझने की कोशिश करते हैं, बहुत कुछ राख हो चुका होता है। फिर आदमी अपनी ही हथेलियों में बची हुई थोड़ी-सी गरम राख को देर तक देखता रहता है, जैसे उसमें किसी बीती हुई रौशनी का आख़िरी निशान तलाश रहा हो।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो कभी-कभी लगता है कि सबसे बड़ी त्रासदी किसी रिश्ते का टूट जाना नहीं होती; उससे कहीं बड़ी त्रासदी यह होती है कि उसके टूटने की आवाज़ हमें बहुत देर बाद सुनाई देती है। जब तक वह आवाज़ हमारे भीतर पहुँचती है, तब तक हम अपनी ज़िंदगी का एक लंबा फ़ासला तय कर चुके होते हैं। लौटने की तमाम राहें ख़ामोशी की धूल से ढँक चुकी होती हैं।

शायद इसी कैफ़ियत के लिए किसी शायर ने कहा होगा-

"सब कुछ लुटा के होश में आए तो क्या किया।"

लेकिन इस मिसरे का असल दर्द लुट जाने में नहीं, होश के इतनी देर से लौटने में है। कुछ सच्चाइयाँ वक़्त रहते समझ में नहीं आतीं। वे अपनी पूरी शिद्दत के साथ तब खुलती हैं, जब उन्हें बदल पाना हमारे इख़्तियार में नहीं रह जाता।

तब आदमी सिर्फ़ इतना ही जान पाता है कि उसकी पूरी उम्र जिस खोई हुई धुरी की तलाश में गुज़री, शायद वह कभी उससे बहुत दूर नहीं थी। वह तो उसके बिल्कुल

क़रीब थी- इतनी क़रीब कि उसे देखने के लिए जिस फ़ासले की ज़रूरत थी, वही फ़ासला कभी न बन सका।



मेरे हिसाब से यहाँ इस जगह, स्पेस बन रहा है साल 1951 में आई मशहूर फिल्म 'साधना' के इस सिचुएशन में साहिर साहब के इस गीत को याद करने का इस दिल को छू लेने वाले गाने को हरदिल अज़ीज़ महान गायक मोहम्मद रफ़ी साहब ने अपनी जादुई आवाज़ दी और इस गीत का ख़ूबसूरत संगीत एन. दत्ता ने तैयार किया था।

"करते रहे ख़िज़ाँ से हम सौदा बहार का
बदला दिया तो क्या ये दिया उनके प्यार का
हम बदनसीब प्यार की रुसवाई बन गये
ख़ुद ही लगा के आग तमाशाई बन गये,
दामन से अब ये शोले बुझाये तो क्या किया?
ले-ले के हार फूलों के आई तो थी बहार
नज़रें उठाके हमने ही देखा न एक बार
आँखों से अब ये परदे हटाये तो क्या किया?
दिन में अगर चराग़ जलाये तो क्या किया?
सब कुछ लुटा के होश में आये तो क्या किया?"



मुझे अब अक्सर ऐसा महसूस होता है कि शायद हमने नहीं, बल्कि वुजूद ने ही हमारे भीतर एक ऐसी नाकामिल व्यवस्था पहले से कर रखी है, जो हमें सारी उम्र किसी ऐसे काम में लगाए रखे, जिसका मुकम्मल होना उसकी फ़ितरत में ही न हो। जैसे हम सब अपनी-अपनी ज़िंदगी में किसी ऐसे 'प्रोजेक्ट' पर काम कर रहे हों, जिसे पूरा करने का ख़्वाब तो दिया गया हो, लेकिन उसकी तकमील कभी हमारे हिस्से में लिखी ही न गई हो।

बड़ी ख़ामोशी से हमारे भीतर वे सारे हालात ख़ुद-ब-ख़ुद बनते चले जाते हैं, जिनकी आहट भी हमें उस समय नहीं मिलती। एक दिन अचानक महसूस होता है कि हमारे

भीतर का एक बड़ा हिस्सा किसी बंजर ज़मीन में तब्दील हो चुका है- एक ऐसी ख़ामोश ज़मीन, जहाँ न कोई आवाज़ जन्म लेती है, न बाहर की कोई सदा वहाँ तक पहुँच पाती है। लेकिन अजीब बात यह है कि वही सबसे ज़्यादा आबाद जगह होती है। शायद यादें वहीं अपना आशियाना बनाती हैं। शायद अधूरी मोहब्बतें, बिछुड़े रिश्ते, कभी न कहे गए जुमले और टूटे हुए ख़्वाब भी वहीं आकर उम्र-भर के लिए बस जाते हैं।

अब पीछे मुड़कर अपने गुज़रे हुए बरसों को देखता हूँ, तो हैरत होती है कि मेरी बहुत-सी यात्राएँ उन रास्तों पर हुई हैं, जिन पर मैं कभी चला ही नहीं। जिन लोगों से मेरी मुलाक़ात मुक़द्दर में नहीं थी, वे भी किसी अनकहे अंदाज़ में मेरी ज़िंदगी के हमसफ़र बने रहे। जिन अल्फ़ाज़ को कभी ज़ुबान नहीं मिली, वे बरसों तक मेरे भीतर अपना मानी तलाशते रहे। और जिन विदाइयों का कोई मंज़र कभी घटा ही नहीं, उनका ग़म सबसे ज़्यादा सच्चा निकला।

धीरे-धीरे समझ में आने लगा कि ज़िंदगी केवल हासिल की हुई चीज़ों का हिसाब नहीं होती। वह उन ग़ैर-हाज़िर चीज़ों की दास्तान भी होती है, जिनके बिना हमारी मौजूदगी कभी पूरी नहीं हो सकती। इंसान शायद अपनी उपलब्धियों से कम, अपने भीतर बसे अभावों से ज़्यादा बनता है। जो हमारे पास नहीं है, वही कभी-कभी हमें सबसे अधिक परिभाषित करता है।

मेरी स्मृतियों में भी एक ऐसी ही अनुपस्थिति है। यह कहना ग़लत होगा कि वक़्त ने उसका चेहरा धुँधला कर दिया है। चेहरा आज भी वैसा ही रौशन है; बल्कि उसकी अनुपस्थिति की जगह उससे भी ज़्यादा साफ़ दिखाई देती है। पहले मैं उसे तलाशता था। अब नहीं तलाशता। इसलिए नहीं कि वह मिल गई है, बल्कि इसलिए कि अब समझ गया हूँ- कुछ चीज़ें पाने के लिए नहीं होतीं। उनका काम केवल इतना होता है कि वे हमारे भीतर एक बेहद हल्का-सा स्पंदन ज़िंदा रखें, ताकि हम पूरी तरह संगदिल या प्रस्तर न हो जाएँ।

आज सोचता हूँ, शायद वही चेहरा मेरी धुरी था।

क़ुदरत ने मुझे उससे मिलवाया भी। यह भी कोई वहम नहीं था कि कुछ बहुत थोड़े दिनों के लिए मुझे सचमुच लगा था- अब मेरी ज़िंदगी इसी एक धुरी के इर्द-गिर्द घूमेगी। जैसे बरसों से भटकते किसी मुसाफ़िर को आख़िरकार अपनी मंज़िल का पहला निशान मिल गया हो। लेकिन वह लम्हा उतनी ही ख़ामोशी से गुज़र गया, जितनी ख़ामोशी से आया था। अगले ही पल सब कुछ वैसे ही ओझल हो गया, जैसे घने कुहरे में कोई पगडंडी कुछ दूर चलकर अचानक ख़त्म हो जाए। उसके बाद जो मेरे पास बचा, वह रास्ता नहीं था- उस रास्ते की महज़ एक स्मृति थी; और कभी-कभी स्मृतियाँ, वास्तविकताओं से कहीं अधिक लंबी उम्र पाती हैं।

अब जब अपनी पूरी ज़िंदगी पर नज़र डालता हूँ, तो लगता है कि मेरी कहानी किसी घटना के चारों ओर नहीं, बल्कि उसी एक स्मृति के चारों ओर चुपचाप घूमती रही है। बाहर से बहुत कुछ बदलता रहा- समय, शहर, लोग, ज़िम्मेदारियाँ, रिश्ते, सफलताएँ, असफलताएँ- लेकिन भीतर कहीं वही एक केंद्र स्थिर रहा। जैसे किसी पहिए की धुरी दिखाई न दे, फिर भी पूरा पहिया उसी के सहारे घूमता रहे।

शायद यही वजह है कि कुछ कहानियाँ आगे नहीं बढ़तीं। कुछ क़िस्से कभी घटते ही नहीं। वे हमारी रूह के किसी सुनसान कोने में एक खोई हुई धुरी की तरह पड़े रहते हैं। पूरी उम्र हम उनके चारों ओर गर्दिश करते रहते हैं और हमें गुमान बना रहता है कि हम आगे बढ़ रहे हैं; जबकि हक़ीक़त यह होती है कि हम उसी अनुपस्थित केंद्र की परिक्रमा कर रहे होते हैं, जिसने कभी हमारे साथ होना तय किया था, लेकिन हमारे हिस्से में ठहरना नहीं।

मैं वुजूद से कोई शिकवा भी नहीं कर सकता। यह कहना भी इंसाफ़ न होगा कि उसने मुझसे कुछ छीन लिया। उसने तो अपना सबसे नाज़ुक और सबसे ख़ूबसूरत तोहफ़ा मेरी झोली में रख दिया था। कसूर शायद मेरा ही था कि मैं उसे सँभाल न सका। या फिर शायद कुछ तोहफ़े सँभालने के लिए नहीं होते; वे केवल यह एहसास देने आते हैं कि हमारी ज़िंदगी किस दिशा में बह सकती थी। वे हमें मंज़िल नहीं देते, बस उसकी एक झलक दिखाकर चले जाते हैं।

आज इतने बरस बाद भी मुझे लगता है कि मेरी ज़िंदगी की सबसे बड़ी घटना वह नहीं थी जो घटी, बल्कि वह थी जो घटते-घटते रह गई। शायद हर इंसान के भीतर ऐसी एक कहानी होती है, जो कभी लिखी नहीं जाती, फिर भी वही उसकी पूरी आत्मकथा का सबसे सच्चा अध्याय बन जाती है।



तुम मेरी इस फ़लसफ़ियाना गुफ़्तगू से यक़ीनन ऊबने लगे होगे - और अगर ऐसा है भी, तो भी मैं तुम्हें छोड़ने वाला नहीं हूँ। मुझे ख़ुद भी कई बार ऐसा महसूस होता है कि मैं बातों से ज़्यादा उनके सायों में भटकता रहता हूँ। एक बार तुम भी इस तरह मेरे साथ भटकने का लुत्फ़ लो।

तो सुनो, बात आगे बढ़ाएँ-

मगर कुछ क़िस्से ऐसे होते हैं जिनका आग़ाज़ कहाँ से किया जाए, यह समझ ही नहीं आता। हर दास्तान का एक ज़ाहिर हिस्सा होता है - जो वाक़ई घट चुका होता है, और एक उससे कहीं ज़्यादा बड़ा और विस्तृत, ख़ामोश हिस्सा, जो कभी घटा ही नहीं; लेकिन जिसकी मौजूदगी, घटी हुई बातों से भी ज़्यादा गहरी और सच्ची मालूम होती है।

फिर दुविधा यह रहती है कि बयान की इब्तिदा किससे करूँ? उस वाक़िए से जो कभी हुआ ही नहीं, लेकिन जिसका न होना आज तक दिल ने क़बूल नहीं किया। या कि फिर उन लम्हों से, जो वाक़ई गुज़रे थे, मगर अब यादों में इतने हल्के, इतने धुँधले और इतने ग़ैर-यक़ीनी हो चुके हैं कि वे किसी ख़्वाब के बचे हुए टुकड़े लगते हैं। या किसी जादूगर के ऐसे करिश्मे, जिसका राज़ तमाम उम्र समझ में नहीं आता।

शायद ज़िंदगी की सबसे सच्ची दास्तानें वही होती हैं जिनमें 'घटा हुआ' और 'अन-घटा' एक-दूसरे में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उनके दरमियान कोई साफ़ लकीर बाक़ी नहीं रहती। वहाँ हक़ीक़त और तसव्वुर एक-दूसरे का हाथ थामे चलते हैं, और आख़िरकार यह फ़ैसला करना नामुमकिन हो जाता है कि हमारी ज़िंदगी को किसने

ज़्यादा तराशा, वह शक्ल और शख़्सियत दी जो दुनिया देखती है। किसने हमें वजूद दिया, जो हमारे साथ वाक़ई हुआ, या उसने जो हमेशा होने की इंतज़ार में ही रह गया।



इस बहस को यहीं छोड़ें, ये तो मुझे यकीन है यदि मैं 'फोर्सफुली' अपनी सोच को इससे न दूर करूँ तो पता नहीं कब तक मुझे अपनी पहेलियों में उलझाए रखेगी।

अब उस तरफ़ लौटता हूँ जहाँ सचमुच कुछ घटा था।

जो कुछ उन दिनों हुआ, उसे उस युवक और उस युवती के सिवा शायद केवल ईश्वर ने देखा था,

और शायद वही उसे पूरी तरह जी भी पाया था।

दुनिया की निगाह में वे बस कुछ मामूली-से लम्हे रहे होंगे, जो वक़्त की धूल में खो जाते हैं। लेकिन कुछ लम्हे अपनी उम्र ख़ुद तय करते हैं; वे कैलेंडरों और घड़ियों के मोहताज नहीं होते।

मैं अब उन्हीं लम्हों का ज़िक्र करना चाहता हूँ, उन अनमोल लम्हों का, जो मेरी यादों में आज भी वैसे ही महफ़ूज़ हैं, जैसे किसी पुरानी किताब के पन्नों के बीच रखा हुआ सूखा फूल। उसकी ख़ुशबू भले ही उड़ चुकी हो, मगर उसका स्पर्श अब भी उँगलियों पर ठहरा हुआ है।

मैं ये छोटे-छोटे किस्से तुम्हें सुनाना शुरू करूँ, उससे पहले एक बात साफ़ कर देना चाहता हूँ। इन्हें तारीख़ों के सिलसिले में बाँधकर सुनाना लगभग नामुमकिन है। स्मृतियाँ कभी कैलेंडर के पन्नों पर नहीं उतरतीं; वे तो मन की किसी पुरानी अलमारी से, बिना किसी दस्तक के, जब चाहे जिस क्षण बाहर चली आती हैं। इसलिए जो वाक़िया जब और जैसे याद आएगा, वही तुम्हें सुना दूँगा।

आख़िर उस सफ़र की कहानी सिलसिलेवार कैसे सुनाई जा सकती है, जो कभी मुकम्मल ही न हो पाया? जिसकी मंज़िल तक पहुँचने से बहुत पहले, एक मोड़ पर, मैंने ही अपने हाथों उसे अधूरा छोड़ दिया। जब सफ़र का न कोई मुकम्मल आग़ाज़

बचा हो, न कोई तयशुदा अंजाम, तब उसके बीच के लम्हे ही उसकी असली कहानी बन जाते हैं।

इसलिए इन्हें किसी क्रम में मत सुनना। इन्हें ऐसे सुनना जैसे कोई पुरानी बगिया में टहलते हुए एक ही डाल से नहीं, अलग-अलग मौसमों में खिले फूल चुनता जाए और फिर उन्हें किसी नियम से नहीं, केवल अपने मन की रज़ामंदी से एक माला में पिरो दे। मेरी यादें भी कुछ ऐसी ही हैं - बिखरी हुई, बेतरतीब, मगर एक अदृश्य धागे से अब भी एक-दूसरे से जुड़ी हुई।



अभी-अभी मेरे ज़ेहन में एक ख़याल कौंधा है - क्यों न तुम्हें इस आधी-अधूरी यात्रा के दौरान खिंची हुई कुछ तस्वीरें दिखा दूँ। एक पूरा एल्बम है मेरे पास। हर तस्वीर के पीछे एक वाक़िआ है, हर चेहरे के पीछे एक ख़ामोश कहानी। एक-एक तस्वीर पर ठहरूँगा, तुम्हें उसका क़िस्सा सुनाऊँगा। अगर किसी लम्हे तुम्हारे मन में कोई सवाल उठे, तो बेझिझक पूछ लेना। अब तुम अजनबी कहाँ रहे... इस सफ़र के इतने मोड़ पार कर लेने के बाद तुम भी उन चंद लोगों में शामिल हो गए हो, जिनसे कोई बात छुपाने का जी नहीं चाहता।

तो चलो, देर किस बात की...

ये रहा मेरी ज़िंदगी के उस अधूरे सफ़र का एल्बम- जिसमें कुछ तस्वीरें जैसे मधुर गीत हैं, कुछ कसैली सी कहानियाँ, कुछ चिरपिरे से क़िस्सों सरीखी, कुछ ऐसी जिनकी तह में आज भी एक बारीक-सी चुभन दबी हुई है। अजीब बात यह है कि बरसों बाद भी इन तस्वीरों के रंग भी नहीं बदले, ना उन्हें देखने वाली मेरी आँखों का मिज़ाज बदल पाया है।

इस पहली तस्वीर को ज़रा ग़ौर से देखो।

युवक पहली मंज़िल पर बने उस फ़्लैट की बालकनी की ओर खुलने वाले दरवाज़े के चौखट से पीठ टिकाए खड़ा है। उसका एक पैर देहरी के भीतर है, दूसरा बाहर- मानो वह किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पा रहा हो। तय ही न कर पा रहा हो कि उसे इस घटना

का हिस्सा बने रहना है जो सब के बीच बड़े गुप-चुप तरीक़े से घट रही है या बाहर की दुनिया में लौट जाना है सब कुछ छोड़ कर। कई बार ज़िंदगी आदमी को ठीक ऐसी ही देहरी पर लाकर खड़ा कर देती है, जहाँ भीतर और बाहर के बीच की लकीर के किस ओर उसे खड़े होना है वह तय नहीं कर पाता।

उसके पैरों में जूते नहीं हैं। पैरों में साधारण-सी घिसी हुई सेंडलें हैं, जैसे उन्हें पहनना भी किसी फ़ैसले के तहत नहीं, बस पैरों में कुछ हो इसलिए पहन लिया गया हो।

बाल बिना किसी कोशिश के जैसे अपने हाल पर छोड़ दिए गए हैं। लंबे होने के कारण जगह-जगह उलझे हुए, जैसे कई दिनों से किसी कंघी ने उन्हें छुआ तक न हो। दाढ़ी भी हफ़्ते भर पुरानी है। चेहरे पर उसकी अनगढ़ परतें किसी फ़ैशन का हिस्सा नहीं, बल्कि भीतर पसरी हुई उदासी की बेपरवाही का बयान हैं।

धूसर रंग की कुछ ढीठ-सी बेलबॉटम पैंट, छोटे-छोटे चेकों वाली काले और कत्थई रंग की कमीज़, जिसके ऊपर शहद के रंग की ऊनी जैकेट। कपड़ों में "ज़ाहिरा तौर पर कोई खराबी नहीं दिखाई पड़ती थी, मगर उन्हें देखकर महसूस होता था कि कई दिनों से वे भी अपने मालिक के साथ एक ही मनःस्थिति में जी रहे हैं। कपड़े भी कभी-कभी अपने पहनने वाले की ख़ामोशी ओढ़ लेते हैं।

सर्दियों की वह सुबह थी। घड़ी के कांटे शायद सवा नौ और साढ़े नौ के बीच का समय बता रहे थे। धूप निकल तो आई थी, मगर उसमें अभी तक रात की ठंडक का असर बाक़ी था। हवा के झोंके चेहरे को नहीं, सीधे भीतर कहीं छूते हुए निकल रहे थे।

युवक ने अपने दोनों हाथ सीने पर बाँध रखे थे। पहली नज़र में लगता था कि शायद ठंड से बचने की कोशिश है, लेकिन कुछ देर तक देखने पर मालूम होता था कि यह सिर्फ़ मौसम से बचाव नहीं, अपने भीतर उठती हुई किसी बेचैन लहर को थामे रखने की कोशिश भी है।

उसके चेहरे पर जो भाव थे, उन्हें किसी एक शब्द में बाँधना मुश्किल था। वहाँ इंतज़ार था, मगर सिर्फ़ इंतज़ार नहीं। वहाँ झुँझलाहट थी, मगर महज़ झुँझलाहट भी नहीं। ग़ुस्सा था, मगर किसी पर बरस पड़ने वाला नहीं। आतुरता थी, मगर ऐसी जो हर पल अपने

ही क़दम रोक लेती हो। इन सब एहसासों की महीन परतें एक-दूसरे में इस तरह घुल गई थीं कि कोई एक रंग अलग से दिखाई नहीं देता था।

ऐसा लगता था जैसे उसकी शख़्सियत हर दो-चार साँसों के बाद कोई नया फ़ैसला करती हो। कभी अचानक उसका जिस्म तन जाता, जैसे अभी इसी पल कुछ कर गुज़रेगा। अगले ही पल वही जिस्म ढीला पड़ जाता, जैसे किसी अदृश्य हाथ ने उसके सारे इरादे वापस खींच लिए हों। फिर एक लंबी, लगभग अनसुनी-सी निश्वास उसके सीने से निकलती, आँखों में एक हल्की-सी शिकस्त उतर आती, और वह सब कुछ सर्द हवा में घुलकर जाने कहाँ खो जाता।

सबसे अजीब बात यह थी कि उसे ख़ुद भी नहीं मालूम था कि वह किसका इंतज़ार कर रहा है।

क्या किसी शख़्स का?

या कुछ घटने का?

या फिर अपने ही भीतर किसी ऐसे डिसीज़न लेने का, जिसे ले पाना उसके लिए दुनिया का सबसे कठिन काम था?

इंसान की ज़िंदगी में कुछ इंतज़ार ऐसे भी होते हैं जिनका कोई नाम नहीं होता। वे किसी चेहरे से नहीं जुड़े होते, किसी तय वक़्त से भी नहीं। बस एक धुँधली-सी उम्मीद भीतर कहीं साँस लेती रहती है, और आदमी उसके साथ ख़ुद भी अनजाने में साँस लेता रहता है।

उसकी आँखें भी कुछ वैसी ही थीं। कभी उनमें अचानक एक हल्की-सी चमक कौंध जाती, जैसे अभी किसी ने दूर कहीं उसका नाम लिया हो। अगले ही पल वही रोशनी बुझ जाती, और आँखें फिर से वैसी ही ख़ाली हो जातीं, जैसी सर्दियों की दोपहर से पहले की धुँध।

वह कभी भीतर ड्रॉइंगरूम की ओर खुलने वाले दरवाज़े को देखता। वहाँ रखे सोफ़ा-सेट पर उसकी निगाह ठहरती, फिर दीवारों पर टँगी हुई चीज़ों पर, कमरे के कोनों पर,

मानो हर वस्तु से कोई जवाब माँग रही हो। लेकिन कमरे की हर चीज़ उतनी ही ख़ामोश थी जितना उसका अपना मन।

कुछ देर बाद उसकी नज़र नीचे डामर की काली सड़क पर उतर आती। लोग आ-जा रहे थे। कोई जल्दी में था, कोई बिल्कुल बेफ़िक्र। कुछ चेहरे पल भर को उसकी निगाह में आते और अगले ही क्षण भीड़ में गुम हो जाते। वह उन्हें तब तक देखता रहता, जब तक वे मोड़ के उस पार ओझल नहीं हो जाते। फिर उसकी निगाह वापस उसी चौखट, उसी कमरे, उसी ख़ामोशी में लौट आती।

यह सिलसिला कोई बहुत देर से नहीं चल रहा था पर उसे जाने क्यों ऐसा लग रहा था जैसे वह पता नहीं कब से वहाँ इसी तरह खड़ा हो। सदियों से, कई जन्मों से।

इस तस्वीर में साफ़ साफ़ दिखाई दे रहा है, युवक बाहिरी तौर पर भले स्थिर खड़ा है किन्तु उसके भीतर ही भीतर जैसे आँधियाँ और तूफ़ान चलरहे हों। बाहर से उसकी ख़ामोशी भी धीरे-धीरे साँस लेती दिख रही है। किन्तु उसके भीतर वक़्त किसी घड़ी की सूइयों से नहीं, उम्मीद और मायूसी की बारी-बारी से उठती गिरती लहरों से मापा जा रहा है।

और शायद इस तस्वीर का सबसे बड़ा राज़ यही था कि उसमें कोई दिखाई नहीं देता था, फिर भी वहाँ कोई अनुपस्थित होकर भी मौजूद था। पूरी तस्वीर उसी ग़ैर-मौजूद शख़्स की मौजूदगी से भरी हुई थी।

अचानक जैसे कोई बहुत बड़ा कांच झनझनाकर टूटा हो, या किसी शांत झील में किसी ने पत्थर फेंक दिया हो, 'छपाक' की आवाज़ और उसी के साथ आस-पास पेड़ों पर बैठे पंछी चिंचियाते हुए उड़ने लगें। सन्नाटा भंग हुआ ड्रॉइंग रूम के भीतरी दरवाज़े पर किवाड़ों के हिलने डुलने की धीमी आवाज़ ने युवक को भीतर तक झँझोड़ दिया। उसने युवती को ड्रॉइंग रूम के भीतर आते देखा।

दोनों के बीच पिछले एक सप्ताह से किसी छोटी से बात पर अबोला था। वे लगभग एक सप्ताह से आपस में बात नहीं कर रहे थे। बात वास्तव में युवती नहीं कर रही थी। बेशक युवक ने उसे नाराज़ किया था और शुरू में एक दो दिन उसे इग्नोर किया था।

लेकिन उसके बाद बात ना करने की जिम्मेदारी युवती ने संभाल ली। ज़ाहिर से बात है इसके बाद युवक की फ़ज़ीहत शुरू हो गई। न वो साफ़ साफ़ युवती के घर पर उससे माफ़ी मांग सकता था। न अपनी सफ़ाई दे सकता था। घर में किसी को कुछ नहीं मालूम था। कौन नोटिस करता। सभी के लिए सब कुछ सामान्य था। किन्तु युवती रूठी हुई है ये बात बस वो युवक या युवती जानते थे या फिर ईश्वर जो ऊपर से देख भी रहा था और मज़े भी ले रहा था।

तो, जैसे ही युवक ने युवती को ड्रॉइंग रूम में प्रवेश करते देखा। उसने अपना चेहरा थोड़ा स तिरछा कर के उसे देखा। वह कॉलेज जाने के लिए तैयार हो रही थी। कपड़े पहन चुकी थी, अपने कंधों तक कटे बालों को कंघी से संवार रही थी। उसने तिरछी निगाह से युवक को देखा। फिर धीरे धीरे बालों में कंघी फेरते हुए युवक के पास तक आई। अब दोनों की नज़रें पल भर को मिलीं। युवक के भीतर, एक बिजली सी कौंधी। युवती मुस्कराई, आदतन अपने होंठों को सिकोड़ा फिर अपनी नाक फुलाई। उसकी ये अदा उन अदाओं की फ़ेहरिश्त में बहुत ऊपरी पायदान पर थी जिनके आगे युवक की सारी समझदारी और अक्ल फ़ना हो जाती थी। फिर भी युवक लगभग निर्विकार सा खड़ा रहा।

युवती ने पहली बार ख़ामोशी तोड़ी।

"ये क्या हाल बना रखा है?"

"कैसा हाल?"

युवती ने कोई सफ़ाई नहीं माँगी, कोई शिकायत नहीं की। बस जैसे किसी लंबे मुक़दमे का फ़ैसला सुना रही हो-

"शाम को मिलेंगे. . . लेकिन अपना हुलिया सुधार लेना।"

इतना कहकर वह तेज़ क़दमों से भीतर चली गई।

युवक कुछ देर वहीं खड़ा रहा।

उसे मालूम था कि उसे जो चाहिए था, वह मिल चुका है।

युवक को अब बस शाम का इंतज़ार था।

वह चुपचाप फ्लैट से नीचे आ गया। उसने अपनी 'हरकुलिस' उठाई और उसपर सवार होकर वहाँ से चल दिया।

□□

अब ये तस्वीर देखो पहली नज़र में वह बस एक साधारण-सी तस्वीर लगती है-एक लड़का, एक लड़की, सामने खुली हुई फ़िज़िक्स की किताब, कुछ कॉपियाँ, कुछ फ़ॉर्मूले और दोपहर की ख़ामोशी। लेकिन तस्वीरें अक्सर वह सब भी अपने भीतर महफ़ूज़ रख लेती हैं, जिसे उस वक़्त वहाँ मौजूद लोग भी नहीं पहचान पाते।

यह उस मकान की बात है, जहाँ लड़की का परिवार इस शहर में पहली बार आकर आबाद हुआ था। उसके वालिद का दूसरे शहर से तबादला हुआ था और उसके साथ ही जैसे पूरे परिवार की ज़िंदगी ने भी एक नया मोड़ लिया था। भाई-बहनों के दाख़िले अलग-अलग स्कूलों और कॉलेजों में हुए। लड़की हाई स्कूल में थी और लड़का इंजीनियरिंग कॉलेज का तालिब-ए-इल्म।

धीरे-धीरे एक छोटी-सी रवायत बन गई। जब भी मैथ्स या फ़िज़िक्स का कोई पेचीदा सवाल लड़की की समझ में न आता, वह उसी लड़के के पास चली आती। उसके पास दूसरे रास्ते भी थे, दूसरे प्रोफ़ेसर्स वगैरह भी उस बिल्डिंग में रहते थे जो उसे पढ़ाने से मना नहीं करते, मगर जाने क्यों उसके मुश्किल सवालों की आख़िरी मंज़िल वही लड़का हुआ करता था। दोनों ड्रॉइंगरूम के उसी सोफ़े पर साथ-साथ बैठते। किताब कभी लड़की की गोद में होती, कभी लड़के के हाथ में। पेंसिल की नोक से वह हवा में आकृतियाँ बनाता, या लड़की के रफ़ काम के रजिस्टर में लिखकर, डायग्राम बनाकर समझाता। लड़की पूरी तवज्जो से सुनती रहती। उसके माथे पर कभी उलझन की हल्की शिकन आती, फिर अचानक कोई बात समझ में आते ही उसकी आँखों में एक नर्म-सी चमक उतर आती। शायद उस चमक के लिए ही लड़का हर मुश्किल सवाल को आसान बनाने की कोशिश करता था। लड़के के लिए ये एक तरह का अलग सा थ्रिल होता था। तब तक शायद लड़की बस पढ़ती ही थी। उसके मन में कुछ

और भी चल रहा होता था, ये लड़का नहीं बता सकता था। लेकिन सच पूछा जाए तो फ़िज़िक्स वहाँ सिर्फ़ फ़िज़िक्स नहीं रह गई थी। दोनों के दरमियान कुछ और भी मौजूद था- एक ऐसी ख़ामोश हवा, जो हर मुलाक़ात में उनके साथ बैठती थी। वह हवा दिखाई नहीं देती थी, मगर हर सफ़्हा पलटते वक़्त, हर सवाल हल करते वक़्त, हर बार उँगलियों के अनजाने स्पर्श के बाद कुछ देर तक ठहरी रहती थी।

लड़के के लिए यह सब किसी अजीब-सी कैफ़ियत से कम न था। वह ख़ुद भी नहीं समझ पाता था कि उसे ज़्यादा ख़ुशी लड़की का कोई मुश्किल सवाल हल कर देने या कोई चैप्टर सरलता से समझा पाने से मिलती है या इस बात से कि लड़की ने अपनी मुश्किल उससे शेयर की और उसके पास उनका हल पाने के लिए आई।

वह बहुत पहले ही अपने दिल में उसे अपने बहुत बहुत करीब मान चुका था। इतना करीब कि इस एहसास को किसी नाम की ज़रूरत ही महसूस नहीं होती थी। मगर यही अपनापन सबसे ज़्यादा ख़ामोश भी था। उसने कभी अपने लहजे को बदलने नहीं दिया, कभी निगाहों को ज़्यादा देर ठहरने नहीं दिया, कभी किसी जुमले में कोई इशारा शामिल नहीं होने दिया। यहाँ तक कि लड़की भी शायद उस राज़ से बेख़बर रही।

कौन जाने?

ज़िंदगी के कुछ सवालों का कोई हल नहीं होता। वे हमेशा "शायद" के दायरे में ही साँस लेते रहते हैं।

हाँ, इतना ज़रूर था कि लड़का लड़की की निगाहों में अपने लिए एक हल्का-सा इम्तियाज़ महसूस करता था। वह एहसास बहुत धुँधला था, जैसे सर्दियों की सुबह दूर कहीं धूप उतर रही हो और उसके होने का यक़ीन तो हो, मगर उसे छू पाना मुमकिन न हो। लेकिन उसी धुँधले उजाले के साथ एक और साया भी चलता था - "परंतु" का साया।

यही "परंतु" सबसे बड़ी दीवार था।

उस दौर की सामाजिक मर्यादाएँ, घरों की तहज़ीब, रिश्तों की नाज़ुक हदें, उम्र की झिझक, और सबसे बढ़कर यह डर कि कहीं एक ग़लत लफ़्ज़ बरसों की यह नज़दीकी

भी छीन न ले - इन सबने मिलकर उसके दिल में पड़ चुके उस नन्हे से बीज को मिट्टी की कई-कई तहों के नीचे दबाए रखा।

कोंपल हर रोज़ फूटना चाहती थी।

मगर हर रोज़ झिझक कर वापस भीतर लौट जाती।

बात फिर फ़िज़िक्स के किसी मुश्किल चैप्टर में उलझ जाती। न्यूमेरिकल हल हो जाते, डेरिवेशन पूरे हो जाते, सवालों के जवाब मिल जाते, लेकिन एक सवाल हर मुलाक़ात के बाद भी जस का तस रह जाता- वह सवाल, जिसे दोनों में से किसी ने कभी ज़ुबान पर नहीं लाया।

अब सोचता हूँ, शायद प्रेम सबसे पहले भाषा नहीं, मौन सीखता है।

वह बोलना बहुत बाद में चाहता है।

और कभी-कभी तो पूरी उम्र बोल ही नहीं पाता।

इसी सिलसिले में क़ैसर ख़ालिद का एक बेहद दिलनशीं शे'र याद आता है-

“उम्र भर खुल नहीं पाते हैं रुमूज़-ओ-असरार
लोग कुछ सामने रह कर भी निहाँ होते हैं।“

कैसा अजीब सच है। कोई शख़्स आपके सामने बैठा हो, आपकी बातों पर मुस्कुरा रहा हो, आपके साथ घंटों वक़्त गुज़ार रहा हो, मगर उसके दिल की अस्ल दुनिया आपसे कोसों दूर रहे। इंसान के अंदर एक ऐसा मुल्क भी आबाद होता है, जहाँ दूसरे की रसाई शायद कभी नहीं हो पाती।

उस ज़माने में उस लड़के ने यह शे'र नहीं पढ़ा था। मगर उसकी रूह शायद इसी शे'र का मतलब जिए जा रही थी।

कबीर ने कहा था - "ढाई आखर प्रेम के।"

लेकिन यह भी सच है कि ये 'ढाई आख़र' सबसे कम बोले जाते हैं। न इन्हें कहना आसान होता है, न भूलना। कई बार पूरी ज़िंदगी इन ढाई आख़रों के इर्द-गिर्द गुज़र जाती है और वे फिर भी अनकहे रह जाते हैं।

उस ज़माने के जाने कितने वाक़ियात अब यादों की धुँध में तैरते हुए दिखाई देते हैं। किताबें बदलीं, क्लासें बदलीं, मौसम बदले, घर बदले, उम्र बदली, शहर बदले। दुनिया की लगभग हर मामूली और ग़ैर-मामूली बात घटती रही - इम्तिहान हुए, रिज़ल्ट आए, त्योहार आए, हँसी आई, शिकवे हुए, मुलाक़ातें हुईं, जुदाइयाँ भी।

सिर्फ़ एक बात कभी नहीं घटी।

वह, जो उस लड़के के दिल में थी।

शायद इसलिए कि कुछ रिश्ते मुकम्मल होने के लिए नहीं, इंसान के भीतर हमेशा अधूरे रहने के लिए पैदा होते हैं। उनकी ताबीर मिल जाए तो कहानी ख़त्म हो जाती है; न मिले तो वही अधूरापन पूरी उम्र उसकी सबसे ख़ूबसूरत याद बनकर साथ चलता रहता है।

उस दरमियाँ इस पूरी कायनात में छोटा बड़ा जाने क्या क्या न घटा होगा जिनमें दुनिया की हर मामूली और गैर मामूली सारी बातें हुई होंगी पर वो ना हुआ जो लड़के के दिल में था।



ये तस्वीर भी उन्हीं दिनों की है। लड़के के घर पर हरितलिका तीज का त्योहार मनाया जाता था। फूलों पत्तियों कमल पुष्पों से सजा हुआ फुलहरा एक कमरे की छत से लटकाया जाता था। जिसमें चारों ओर गेंदे, चाँदनी, मोगरे, रातरानी आदि फूलों से बने बंदनवार और झालरें झूलतीं थीं। नीचे लकड़ी के एक ऊँचे से आसान पर माँ पार्वती और भोले नाथ विराजे होते। रात होते-होते मोहल्ले की लगभग सभी स्त्रियाँ और नवयुवतियाँ वहाँ इकट्ठा हो जातीं।

पंडित जी रात्रि में मुहूर्त के अनुसार आदि देव शिव और माँ पार्वती का ब्याह सम्पन्न कराते, सभी स्त्रियाँ और युवतियाँ जो निर्जला व्रत कर रही होतीं अपनी अपनी लाई हुई पूजा की थाली और पूजन सामग्री से एक के बाद एक पूजा करतीं। यह व्रत विवाहित स्त्रियाँ अपने अपने पति के लंबे और स्वस्थ जीवन की कामना पूर्ति हेतु करतीं। जबकि नव युवतियाँ भोले शंकर जैसे वर प्राप्ति की कामना के लिए करती हैं। पूजन सम्पन्न होने के बाद। पूजन के बाद रतजगा शुरू होता। रात धीरे-धीरे बीतती रहती और उसके साथ ढोलक, मंजीरे और स्त्रियों के सामूहिक स्वरों में मंगलगीत, विवाहगीत, भजन और कभी-कभी फिल्मी गीत भी घुलते चले जाते। वह पूरी रात किसी लोककथा की तरह जागती रहती थी।

उस बरस लड़की भी लड़के के घर अपनी बहनों और माँ के साथ पहुँची। लड़का अपने दोस्तों के साथ घर के बाहर की सीमेंट की पट्टी पर बैठा बतिया रहा था।

लड़की ने भी एक भजन गाया, अचानक उसका स्वर उभरा – पहचानी हुई आवाज़, फिर भी नई नई सी जिसे कभी इस तरह न सुना गया था।

"मेरी छोटी सी है नाव, तेरे जादू भरे पाँव,
डर लागे मोहे राम, कैसे बिठाऊँ तुम्हें नाव में. . . .

जब पत्थर से बन गई नारी, ये तो लकड़ी की नाव हमारी,
करूँ यही रोजगार, या से पालूँ परिवार, सुनो सुनो जी दातार,
कैसे बिठाऊँ तुम्हें नाव में . . . . "

किसी ने ध्यान दिया हो या नहीं, लड़के ने उस गीत को बहुत डूब कर सुना।

उसकी कल्पना में राम के इस गंगा पार करने का दृश्य ढेर सारे स्वप्न और आकांक्षाएँ जगा गया।

उसे ये भी लगा जैसे लड़की कोई संकेत तो नहीं दे रही है कि किस तरह तुझे अपने साथ अपनी यात्रा का हमसफ़र बनाऊँगी ?

इस तरह के हालात से गुज़रने वाले पता नहीं क्या क्या सोच लेते हैं। लड़का यदि ये सोच रहा था तो इसमें क्या ग़लत था। वह गीत आने वाले भविष्य की तरफ़ इशारा ही तो था। परंतु उस समय का 'वर्तमान' तो कुछ और ही मंसूबे बाँध रहा था।

लेकिन प्रेम के आरंभिक दिनों में मन अक्सर वही सुन लेता है, जो किसी ने कहा ही नहीं होता। वह अर्थों से अधिक संकेतों पर विश्वास करने लगता है।

आज पीछे मुड़कर देखने पर लगता है, वह गीत मानो आने वाले समय का रूपक था। उस समय दोनों को इसका अनुमान नहीं था कि जीवन की सबसे बड़ी विडम्बनाएँ अक्सर सबसे सहज गीतों के भीतर चुपचाप छिपी रहती हैं।

अब भी हर साल हरितालिका व्रत मनाया जाता है, शिव बाबा और माँ पार्वती का ब्याह होता है।

किन्तु . . . .

अब इस बात का क्या किया जाए कि –

वो लड़का और वह लड़की एक नाव में नहीं सवार हो पाए कभी भी !!

□□

अगली तस्वीर में युवती सोफ़े पर बैठी है। चेहरा दर्द से बुझा हुआ है। आँखों के कोरों पर नमी है, जैसे आँसू अभी-अभी पलकों के पीछे ठिठक गए हों। वह कुछ कह नहीं रही, बस चुपचाप अपना घायल पैर आगे किए बैठी है। युवक फ़र्श पर घुटनों के बल बैठा है। उसके हाथ में रुई, एंटीसेप्टिक मरहम और पट्टी है। घुटने के ठीक नीचे की चमड़ी बुरी तरह छिल गई है। वह बहुत एहतियात से घाव साफ़ कर रहा है, जैसे ज़रा-सी बेएहतियाती से दर्द और बढ़ जाएगा।

यह उन्हीं दिनों की बात है, जब युवती हाई स्कूल में पढ़ती थी।

स्कूल से लौटते समय अपनी बिल्डिंग की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसका पैर फिसल गया था। वह गिर तो नहीं पाई, पर घुटना सीढ़ी के किनारे से बुरी तरह रगड़ खा गया। जब वह घर पहुँची, युवक पहले से वहीं बैठा था। शायद किसी किताब या पढ़ाई की बात

चल रही थी। युवती बिना कुछ बोले उसके पास आकर सोफ़े पर बैठ गई। चेहरे पर दर्द की शिकनें थीं।

युवक ने घाव देखा तो लगभग झुँझलाते हुए बोला,
"रुको... मैं अभी आता हूँ।"

वह अपने घर भागा। उसका घर बिल्कुल पास ही था। कुछ ही मिनटों में फर्स्ट-एड किट, मरहम, रुई और पट्टी लेकर लौट आया।

उधर घर के बड़े लोग भीतर के कमरों में थे। बाहर ड्राइंगरूम में एक अजीब-सी ख़ामोशी पसरी थी। युवती ने आँखें मूँद ली थीं। शायद दर्द की वजह से, शायद इसलिए कि उसे अपने घायल होने से ज़्यादा यह एहसास बेचैन कर रहा था कि कोई उसके दर्द को इतनी तवज्जो दे रहा है।

युवक ने बिना किसी दिखावे के घाव साफ़ किया। जब एंटीसेप्टिक मरहम लगा तो युवती की भौंहें हल्की-सी सिकुड़ गईं। वह दर्द से काँपी, मगर आवाज़ नहीं निकाली। फिर उसने बड़े सलीक़े से पट्टी बाँध दी। उसकी उँगलियों में किसी डॉक्टर की महारत नहीं थी, लेकिन किसी अपने की फ़िक्र ज़रूर थी।

पट्टी बाँधकर भी वह कुछ पल वहीं फ़र्श पर बैठा रहा।

तभी युवती ने धीरे से आँखें खोलीं। होंठों पर हल्की-सी सिकुड़न आई, जैसे दर्द और मुस्कान एक ही जगह आकर ठहर गए हों। उसने कुछ शर्माते हुए युवक की ओर देखा।

युवक ने उस नज़र को ज़्यादा देर ठहरने नहीं दिया। वह बनावटी ग़ुस्से से बोला-

"सीढ़ियाँ चढ़ते वक़्त दिमाग़ भी साथ में रखा कर. . . नहीं तो ज़िंदगी भर लँगड़ी होकर घूमेगी।"

युवती ने भी उसी अंदाज़ में आँखें तरेरीं, जीभ निकालकर उसे चिढ़ाया और हल्का-सा लँगड़ाती हुई भीतर के कमरे की तरफ़ चल दी।

उसका स्कूल-बस्ता वहीं सोफ़े के पास पड़ा रह गया था।

युवक कुछ क्षण उसे जाता हुआ देखता रहा। फिर झुककर बस्ता उठाया, धूल झाड़ी और उसे बहुत सँभालकर एक ओर रख दिया।

उस समय शायद उसे ख़ुद भी यह एहसास नहीं रहा होगा कि वह केवल एक बस्ता नहीं उठा रहा था। वह उस लड़की से जुड़ी हर छोटी-बड़ी चीज़ को, अनकहे तौर पर, अपनी हिफ़ाज़त में लेने लगा था।

किसी और की निगाह से देखा जाए तो यह एक बिल्कुल मामूली-सा वाक़िआ था- स्कूल से लौटती एक लड़की गिर गई, एक लड़के ने मरहम लगा दिया, पट्टी बाँध दी और बात ख़त्म हो गई।

लेकिन कुछ रिश्ते अपने बड़े ऐलानों से नहीं, ऐसे ही ख़ामोश लम्हों से जन्म लेते हैं।

मुहब्बत अक्सर "मैं तुमसे प्यार करता हूँ" कहने से पहले, किसी के ज़ख़्म पर मरहम रखने का हुनर सीख लेती है।

उस दिन युवक पहली बार यह समझ रहा था कि किसी इंसान का दर्द अपने भीतर महसूस होना कैसा होता है। उसे घाव युवती के घुटने पर दिखाई दे रहा था, मगर टीस उसके अपने भीतर उठ रही थी। शायद इसी एहसास का कोई नाम नहीं होता। या शायद बाद में दुनिया उसे मुहब्बत कहती है।

और युवती?

यह सवाल आज भी उस तस्वीर की तरह ख़ामोश है।

क्या उसके लिए भी यह महज़ एक पट्टी थी?

या जब उसने आँखें खोलकर युवक को फ़र्श पर बैठे देखा था, तब उसके भीतर भी कोई बहुत महीन-सी लहर उठी थी, जिसे वह ख़ुद भी पहचान नहीं पाई?

कौन जाने।

कुछ एहसास उस वक़्त पैदा तो हो जाते हैं, मगर उन्हें अपना नाम बरसों बाद मिलता है।

आज उस तस्वीर को देखते हुए लगता है-पट्टी घुटने पर बँधी थी, लेकिन शायद उसी दिन दो मासूम दिलों के बीच एक बेहद नाज़ुक, लगभग अदृश्य रिश्ता भी बँध गया था। ऐसा रिश्ता, जिसकी गिरह किसी ने लगाई नहीं थी, और जिसे किसी ने खुलते हुए भी नहीं देखा।

निर्मल वर्मा ने कहीं लिखा है कि *"स्मृतियाँ हमें बीते हुए समय में नहीं ले जातीं, वे उस मनुष्य के पास ले जाती हैं जो कभी हम थे।"*

शायद इसलिए इस तस्वीर में दिखाई देता घाव अब बहुत पहले दशकों पहले भर चुका था ; मगर उस घाव पर झुककर बैठा हुआ वह युवक, और आँखें मूँदे दर्द सहती वह युवती - दोनों आज भी स्मृति के उसी कमरे में वैसे ही बैठे हैं। समय वहाँ से गुज़र तो गया, लेकिन उन्हें अपने साथ ले जाना शायद भूल गया।

□□

जिस बिल्डिंग में उस युवती का परिवार रहता था, वह मुख्य सड़क पर थी। कुल बारह फ़्लैट थे उस इमारत में। नीचे सड़क की ओर खुलती तीन दुकानें। दिन भर वहाँ लोगों की आवाजाही लगी रहती। वह एक घनी बस्ती वाला क्षेत्र था। सड़क भी शहर की मुख्य सड़कों में से एक थी। जिसपर दिनभर आवाजाही होती थी। साइकिलों की घंटियाँ, रिक्शों की चरमराहट, सब्ज़ीवालों की आवाज़ें और सुबह-शाम को ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्रियों के कर्मचारियों की साइकिलों के रेले उस सड़क का एक अलग ही मिज़ाज बना देते थे।

पर उसी चहल-पहल के ऊपर एक ऐसी जगह भी थी जहाँ पहुँचते ही सड़क की आवाज़ें जैसे कुछ दूर छूट जाती थीं- वह थी उस बिल्डिंग की छत।

वह छत उन दोनों की कोई तयशुदा मुलाक़ातगाह नहीं थी। न वहाँ आने का कोई वादा होता, न कोई इशारा। फिर भी जाने कैसे, अक्सर ऐसा होता कि लड़का चुपचाप सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चला जाता, और कुछ ही देर बाद युवती भी किसी बहाने से वहाँ आ पहुँचती। कभी इसका उलट भी होता। जैसे दोनों एक-दूसरे को पुकारते नहीं

थे, फिर भी एक अनकही सदा दोनों तक पहुँच जाती थी। उस उम्र में शायद कुछ रिश्तों को आवाज़ की ज़रूरत नहीं पड़ती।

इस तस्वीर में दोनों छत के उस हिस्से में खड़े हैं जो मुख्य सड़क की ओर था। नीचे दुनिया अपने रोज़मर्रा के शोर में मशग़ूल है और ऊपर हवा में एक ऐसी ख़ामोशी तैर रही है जिसमें दो लोगों की मौजूदगी ही सबसे साफ़ सुनाई देती है।

उस दिन युवती ने काले रंग का एक नया टॉप पहन रखा था।

कम से कम लड़के के हिसाब से वह साधारण 'टॉप' नहीं था। उसके निचले बाएँ कोने से सफ़ेद फ़ैब्रिक रंग की पतली-सी एक डाल उभरती थी, जो तिरछी होती हुई ऊपर दाहिनी ओर बढ़ती चली गई थी। उस डाल पर बड़ी-बड़ी पत्तियाँ थीं- इतनी कम रेखाओं में बनी हुई कि लगता था जैसे हवा ने स्वयं उन्हें आकार दिया हो। और फिर सबसे ऊपर, ठीक उसके दिल के स्थान पर, कई पंखुड़ियों वाला एक बड़ा-सा फूल खिलता था।

वह डिज़ाइन लड़के ने बनाई थी।

जब उसने वह चित्र बनाया था, तब वह टॉप अभी सिला भी नहीं गया था। केवल कपड़ा था। युवती ने मुस्कराकर कहा था-

"बस इतना हिस्सा सामने आएगा... यहाँ कुछ अच्छा-सा बना दो।"

उसने बिना कुछ सोचे वह डाल बना दी थी। फिर पत्तियाँ। फिर जाने क्यों सबसे अंत में वह फूल।

आज जब वही टॉप उसके सामने था, तो पहली बार उसकी नज़र उस फूल पर ठिठक गई।

अजीब इत्तिफ़ाक़ था।

या शायद इत्तिफ़ाक़ भी नहीं।

वह फूल ठीक वहीं था जहाँ युवती का दिल धड़कता होगा।

उसे एक पल को लगा, यह उसने नहीं बनाया था। जैसे किसी और ने उसके हाथों से बनवा लिया हो। ऊपर बैठा कोई ख़ामोश मुसव्विर वह सबसे बड़ा चितेरा जिसने दुनिया बनाई, जो दोनों की ख़बर उनसे कहीं ज़्यादा रखता था। उसने शायद उसी दिन वह फूल वहाँ टाँक दिया था-जहाँ उसकी जगह थी।

उस रोज़ इतवार था।

नहाकर आई हुई युवती के भीगे बाल अब तक पूरी तरह सूखे नहीं थे। हवा चलती तो उनकी कुछ लटें बार-बार उसके चेहरे पर चली आतीं और वह उन्हें उँगलियों से पीछे सरका देती। धूप हल्की थी। कपड़ों में धुले साबुन की ताज़गी थी और हवा में भी शायद नीम या अमलतास की बहुत हल्की-सी महक घुली हुई थी।

कुछ देर बाद लड़का भी जैसे अनजाने ही उसकी टोह लेता हुआ ऊपर चला आया।

दोनों आमने-सामने खड़े थे।

लड़के ने पहली बार लड़की को वह टॉप पहने हुए देखा था। उसे एक नामालूम सी ख़ुशी हुई। उसकी नज़र बार-बार उस फूल पर चली जाती।

उसके भीतर एक छोटी-सी उम्मीद जागी -

शायद वह ख़ुद कहेगी -

"देखो, तुम्हारी बनाई हुई डिज़ाइन कैसी लग रही है?"

बस इतना भर कह देती तो बात का एक सिरा हाथ आ जाता। फिर शायद वे उस डाल की बात करते। पत्तियों की। उस पवित्र सफ़ेद रंग की। और धीरे-धीरे, बहुत धीरे, उस फूल तक पहुँच जाते। और कौन जाने, फूल से दिल तक का फ़ासला भी उसी बातचीत में तय हो जाता।

लेकिन ज़िंदगी हमेशा वहीं से शुरू नहीं होती जहाँ हम चाहते हैं।

युवती ने उस डिज़ाइन का एक बार भी ज़िक्र नहीं किया।

वह दूसरे ही सवाल पूछती रही।

-स्कूल की बातें।

-घर की बातें।

-किसी किताब का ज़िक्र।

-किसी अध्यापिका की नकल।

-बिल्डिंग में रहने वाले परिवारों की बातें। अड़ोस-पड़ोस की बातें।

बीच-बीच में बिना किसी वजह के हँस पड़ना, वह ख़ुश थी लड़का समझ रहा था, पर ख़ुशी के बारे में बताती क्यों नहीं – ये भी लगातार सोच रहा था।

वह कुछ और ही सवाल कर रही थे और लड़का उन्हीं सवालों के जवाब दे रहा था।

वह जानता था कि युवती इस तरह सबसे बातें नहीं करती।

बाक़ी लोग उससे बात करने की कोशिश करते तो वह दो-चार सीधे, सपाट जवाब देकर ख़ामोश हो जाती। न बेरुख़ी, न अपनापन- बस एक फ़ासला।

पर उसके साथ ऐसा नहीं था।

उसके सामने उसके सवाल ख़त्म ही नहीं होते थे।

जैसे वह हर जवाब के पीछे छिपे उस लड़के को थोड़ा-थोड़ा और जान लेना चाहती हो।

शायद यही उसका अपनापन था।

शायद यही उसका इज़हार।

या शायद वह ख़ुद भी नहीं जानती थी कि यह क्या है?

और लड़का?

वह भी क्या जानता था?

वह तो बस उस फूल के ज़िक्र का इंतज़ार करता रहा।

मगर फूल पूरे वक़्त ख़ामोश रहा।

डिज़ाइन भी।

दिल भी।

काफ़ी देर तक बातें होती रहीं।

सड़क पर लोगों की आवाजाही बदलती रही। धूप धीरे-धीरे सरकती रही। पड़ोस की किसी छत पर कपड़े सूखते रहे। दूर किसी रेडियो पर शायद कोई पुराना गीत भी बज रहा था।

फिर जैसे हर मुलाक़ात का एक अनकहा वक़्त होता है, वैसे ही इस मुलाक़ात का भी वक़्त पूरा हो गया।

दोनों बिना किसी नतीजे पर पहुँचे सीढ़ियाँ उतर आए।

न कोई इकरार हुआ।

न कोई इशारा।

न उस फूल का ज़िक्र।

न उस दिल का, जिस पर वह फूल खिला था।

घर लौटते हुए लड़का अपने ही भीतर उलझा रहा।

उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह ख़ुश है या उदास।

उसने अपनी बनाई हुई डिज़ाइन को पहली बार उस रूप में देखा था, जिसके लिए वह बनाई गई थी। यह ख़ुशी कम न थी।

पर उसी डिज़ाइन के बहाने वह जो एक छोटी-सी राह तलाश रहा था, वह आज भी बंद ही रह गई। यह उदासी भी कम न थी।

उसे तब पहली बार लगा कि शायद ज़िंदगी की सबसे महीन कैफ़ियतें इन्हीं दो एहसासों के बीच कहीं जन्म लेती हैं।

कुछ ख़ुशियों के दामन में उदासी की बहुत बारीक तहें छिपी रहती हैं।

और कुछ उदासियाँ अपने भीतर किसी आने वाली ख़ुशी का ख़ामोश बीज सँजोए रहती हैं।

उस दिन वह इन्हीं दोनों के दरमियान चलता हुआ अपने घर लौट आया।

"उसे क्या मालूम था कि बरसों बाद जब वह इन लम्हों को याद करेगा, तो उसे फूल का रंग भी याद होगा, उसकी पंखुड़ियों की बनावट भी, और यह भी कि उस रोज़ किसी ने दिल की बात नहीं की थी-लेकिन क्या शायद उसी ख़ामोशी में दिल की सबसे गहरी बात कह दी गई थी ?"



अगले फ़ोटोग्राफ में लड़की एक मिनिएचर पेंटिंग की प्रतिलिपि लड़के को दिखा रही है। पेंटिंग में एक 'उत्का' नायिका एक पेड़ से टिकी हुई खड़ी है और उस पेड़ की एक डाल पकड़े हुए है जिसमें सुंदर पत्तियाँ और पीले सफ़ेद फूल भी खिले हैं। इस फ़ोटोग्राफ को देख लो फिर तुम्हें मैं पहले "उत्का या कि उत्कंठिता" नायिका के बारे में बताऊँगा।

भारतीय काव्यशास्त्र की अष्ट-नायिकाओं में एक नायिका 'उत्कंठिता' या 'विरहोत्कंठिता' कहलाती है। वह अपने महबूब के इंतज़ार में किसी तयशुदा मिलन-स्थल पर बेचैनी से राह तकती रहती है। पहाड़ी और राजस्थानी लघुचित्रों में उसे प्रायः किसी सुनसान उपवन या घने वन में, पेड़ के नीचे फूलों और पत्तियों की सेज सजाए, बार-बार पगडंडी की ओर मुड़कर देखते हुए चित्रित किया गया है। कभी वह किसी डाल का सहारा लिए खड़ी होती है, कभी आहट भर पर चौंक उठती है। उसके मन में उम्मीद और मायूसी, विश्वास और आशंका की लहरें एक साथ उठती-बैठती रहती हैं। केशवदास की *रसिकप्रिया* और जयदेव के *गीतगोविंद* में यही उत्कंठा, यही इंतज़ार और यही विरह प्रेम की सबसे मार्मिक अभिव्यक्तियों में से एक बनकर सामने आता है।

अब यदि तुम्हें रुचिकर लगे तो 'अष्ट-नायिकाओं' के बारे में भी कुछ जानकारी दे दूँ –

भारतीय लघुचित्र परम्परा-विशेषकर पहाड़ी और राजस्थानी चित्रशैलियों में, प्रेम की अनेक मनःस्थितियों को अद्भुत सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। इन चित्रों की प्रेरणा संस्कृत और ब्रजभाषा के उन काव्यग्रंथों से आती है जिनमें "नायिका-भेद" का अत्यंत भावपूर्ण वर्णन मिलता है। भानुदत्त की *रसमंजरी*, केशवदास की *रसिकप्रिया* और *गीतगोविंद* जैसी रचनाओं ने चित्रकारों को मानो रंगों में कविता रचने की दृष्टि दी।

इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं 'अष्ट-नायिकाएँ' - प्रेम की आठ अलग-अलग अवस्थाओं में जीती हुई स्त्रियाँ। *'स्वाधीनभर्तृका'*, जिसका प्रिय पूरी तरह उसके अनुराग में बँधा है; *'उत्कंठिता'*, जो मिलन-स्थल पर बेचैनी से उसकी राह देखती है; *'वासकसज्जा'*, जो अपने प्रिय के स्वागत में फूलों से सेज सजाकर स्वयं भी श्रृंगार किए बैठी है; 'कलहांतरिता', जो रूठने के बाद अपने ही पश्चाताप में डूबी है; *'विप्रलब्धा'*, जिसे प्रिय ने आने का वचन तो दिया, पर आया नहीं; *'प्रोषितभर्तृका'*, जिसका प्रिय परदेस चला गया है और जो विरह में दिन गिन रही है; *'अभिसारिका'*, जो रात, वर्षा, अँधेरे और हर भय की परवाह किए बिना प्रेमी से मिलने निकल पड़ती है - कभी कृष्णाभिसारिका, कभी शुक्लाभिसारिका के रूप में; और अंत में *'खंडिता'*, जिसके द्वार पर प्रिय किसी और के साथ रात बिताकर लौटता है और जिसके मन में प्रेम से अधिक आहत स्वाभिमान और रोष उमड़ पड़ता है।

इन अष्ट-नायिकाओं में दरअसल केवल आठ स्त्रियाँ नहीं हैं; प्रेम के आठ रंग हैं, आठ मनःस्थितियाँ हैं, जिन्हें प्राचीन भारतीय चित्रकारों ने शब्दों से नहीं, रंगों और रेखाओं की ख़ामोश ज़बान में अमर कर दिया है।

अब हम अपने मूल स्वर और क़िस्से की ओर लौटते हैं।

लड़की को वह चित्र कहाँ से मिला मैंने नहीं पूछा, बल्कि मैं थोड़ा सा हतप्रभ भी था। वह मुझसे उस चित्र को बनाने के लिए कह रही थी। यह बात भी सच है नायिका भेद की जो बातें मैंने यहाँ तुम्हें बताई हैं वे सब उस समय मुझे इतने विस्तार से कतई मालूम नहीं थीं। फिर भी 'ब्रज माधुरी सार की टीका' जो हमारे घर पर थी उसे और कई अन्य किताबों को पढ़ने से 'नायिका' शब्द और उसका अर्थ मुझे पता था। उसके कुछ रूप और प्रकार भी जानता था। चित्रकला में रुचि होने के कारण मिनिएचर पेंटिंग्स भी देखी

थीं। पत्रिकाओं में प्रिन्ट देखे थे उनके बारे में बिल्कुल अनजान नहीं था। किन्तु उसके द्वारा उस पेंटिंग की नकल बनाने की बात मेरा गल ख़ुश्क कर रही थी।

वह बोली – "क्या हुआ?"

"कुछ नहीं !" – मैं कुछ अटकते हुए बोला।

"तुम तो बना लोगे !" उसने फिर कहा।

"हाँ ! क्यों नहीं, ठीक है बना दूँगा।"

"पर ठीक से बनाना।"

"ठीक से ! क्या मतलब ? तुम्हें लगता है मैं नहीं बना पाऊँगा ?"

वह बोली – "अरे मेरा मतलब वो नहीं है, बस तुम इस पोर्शन को इतना बड़ा बड़ा मत बनाना। ठीक से बनाना।"

उसने चित्र पर एक जगह अपनी अंगुली रखी और कुछ शरमाते कुछ झेंपते हुए वहाँ से भाग गई।

मैं चित्र पकड़े कभी चित्र को और कभी जो अभी अभी घटा था, घट चुका था – फिर भी जैसे मेरी नज़रों के सामने एक चित्र की तरह ठहरा हुआ था देख रहा था अवाक। मेरे मन में कोई ग़लत विचार बिल्कुल नहीं आया। सच कहूँ तो उसे लेकर आज तक कभी नहीं आया। पर मैं हैरान था। अब भी जान नहीं पाया हूँ वह सब क्या था ?

इतना सिम्पल जैसे – "दो प्लस दो बराबर चार" या फिर कुछ और ?

आज, इतने बरस बाद भी जब उस लम्हे को याद करता हूँ, तो उसकी कोई एक तफ़्सीर मेरे हाथ नहीं आती। कभी लगता है, वह महज़ एक मासूम-सी गुज़ारिश थी-उसे अपने कमरे के लिए एक ख़ूबसूरत तस्वीर चाहिए थी और उसे यक़ीन था कि मैं उसे बना सकता हूँ। शायद बात बस इतनी-सी थी।

फिर कभी लगता है, इंसान की हर बात का मतलब उसके अल्फ़ाज़ में कहाँ होता है। कुछ बातें उसकी झिझक में छिपी रहती हैं, कुछ उसकी मुस्कान में, कुछ उस उँगली

के हल्के-से इशारे में, जो एक पल को किसी जगह ठहरती है और अगले ही पल जैसे कुछ हुआ ही न हो, हट जाती है।

उस दिन उसने जिस हिस्से की ओर इशारा करके कहा था - "इसे इतना बड़ा-बड़ा मत बनाना..."- उस वाक्य का अर्थ तब भी मेरी समझ से बाहर था, और शायद आज भी पूरी तरह नहीं खुला है। वह अपने ही कहे पर झेंप गई थी। जैसे शब्द उससे आगे निकल गए हों और वह ख़ुद उनसे घबरा गई हो।

मुझे हैरत इस बात की थी कि उसके सामने बैठा मैं भी तो लगभग उसी उम्र का था। मेरे भीतर भी देह थी, जिज्ञासाएँ थीं, सपने थे; लेकिन उस क्षण मेरे मन में कोई अश्लील या दूषित विचार नहीं आया। सच तो यह है कि उस पूरे रिश्ते में शायद कभी नहीं आया। उसके लिए मेरे भीतर जो था, वह किसी और ही मिट्टी से बना हुआ था - इतना निर्मल कि आज के समय में उसकी तस्दीक़ करना भी लोगों को मुश्किल लग सकता है।

इसलिए आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो उस पूरे दृश्य को किसी आसान समीकरण में नहीं बाँध पाता। ज़िंदगी की कुछ घटनाएँ सचमुच "दो और दो चार" नहीं होतीं। वे कभी तीन भी नहीं होतीं, पाँच भी नहीं - वे बस एक ऐसी अनुभूति बनकर रह जाती हैं, जिसे अंकों से नहीं, केवल स्मृति से समझा जा सकता है।

शायद वह भरोसा था। शायद अपनापन। शायद पहली बार किसी किशोरी का अपने भीतर जागती हुई स्त्री से संकोचपूर्ण परिचय। शायद वह भरोसा था। शायद अपनापन। शायद उम्र के उस मोड़ पर पहुँचकर पहली बार अपने ही भीतर घट रही किसी अनजानी हलचल से उसका सामना हुआ था। या शायद मैं ही आज, इतने बरस बाद, उस एक क्षण के अर्थ तलाशने की नाकाम कोशिश कर रहा हूँ। हो सकता है उस दिन वहाँ कोई अर्थ था ही नहीं। केवल एक निष्कलुष क्षण था, जो बिना कुछ कहे गुज़र गया और मेरी स्मृति में हमेशा के लिए ठहर गया।

शायद कुछ भी नहीं - सिर्फ़ एक क्षण, जो घटते ही समय से बाहर चला गया और स्मृति में हमेशा के लिए ठहर गया।

मैं आज भी उसके लिए कोई अंतिम फ़ैसला नहीं लिखना चाहता। कुछ लम्हों की सबसे बड़ी खूबसूरती यही होती है कि वे अपनी ताबीर ख़ुद कभी नहीं बताते। वे बस उम्र भर हमारे भीतर एक ख़ामोश सवाल बनकर साथ चलते रहते हैं।

यह घटना इस चैप्टर के सबसे नाज़ुक और सबसे सच्चे हिस्सों में से एक है। मुझे लगता है इसकी सबसे बड़ी ताक़त यही है कि मैंने उस घटना पर कोई आरोपित अर्थ नहीं थोपा। उसे उसी निर्मलता के साथ याद किया है, जैसी वह उस समय घटी थी। ऐसी घटनाएँ और ऐसे दृश्य कोई तुम्हें किसी निर्णय पर नहीं पहुँचने देते, कोई उत्तर भी नहीं देते, वे भीतर एक दीर्घ प्रतिध्वनि छोड़ जाते हैं।

यह बात मेरे आत्ममंथन की विश्वसनीयता का आधार है। मैं चाहता हूँ कि तुम भी किसी घटना के नहीं, एक ईमानदार स्मृति के साक्षी बनो।

□□

ये सन् 1972-73 का वक़्त रहा होगा। उन दिनों उस एकतरफ़ा-सी दास्तान की आहटें धीरे-धीरे मोहल्ले की फ़िज़ाओं में घुलने लगी थीं। अजीब बात है जिस बात को इंसान अपने दिल की सबसे महफ़ूज़ तह में छिपाकर रखना चाहता है, वही बात जाने किन रास्तों से निकलकर सबसे पहले दुनिया की ज़बान पर आ जाती है। किसी की निगाह, किसी की मुस्कान, किसी के अधूरे जुमले, किसी की बेवजह की ख़ामोशी शायद हर चीज़ मिलकर राज़ को राज़ नहीं रहने देती।

लड़के ने तो कभी किसी से कुछ नहीं कहा था। उसने अपने दिल का हाल किसी दोस्त से बाँटा, न किसी हमराज़ से। यहाँ तक कि उस लड़की से भी कभी इतने साफ़ लफ़्ज़ों में कुछ कह नहीं पाया था कि वह उसकी ज़िंदगी में क्या मायने रखती है। फिर भी, न जाने कैसे, यह बात हवा में तैरने लगी कि अगर वह कभी शादी करेगा तो उसी लड़की से करेगा।

उसे बरसों बाद क़मर जलालवी का वह मशहूर मतला पढ़ते हुए लगा था कि जैसे यह शेर उसी के लिए लिखा गया हो -

"कभी कहा न किसी से तिरे फ़साने को,
न जाने कैसे ख़बर हो गई ज़माने को।"

शायद मुहब्बत की अपनी कोई ज़बान होती है, जो लफ़्ज़ों की मोहताज नहीं होती। वह आँखों के ठहराव में, किसी के इंतज़ार में, बार-बार एक ही गली से गुज़र जाने में, या किसी ख़ास घर के सामने बेवजह क़दम धीमे कर लेने में भी पढ़ ली जाती है। लोग न जाने क्या-क्या देख लेते हैं, जिन बातों पर ख़ुद आशिक़ की भी नज़र नहीं जाती।

आहिस्ता-आहिस्ता यह फुसफुसाहट लड़के के अपने घर तक भी पहुँच गई। किसी ने सीधे कुछ नहीं कहा। न कोई ऐलान हुआ, न कोई सवाल-जवाब। बस, कभी माँ की निगाह थोड़ी देर तक उसके चेहरे पर ठहर जाती, कभी घर के किसी बड़े के होंठों पर आधी-अधूरी मुस्कान उभर आती। ऐसा लगता था जैसे सब कुछ जानते हुए भी कोई कुछ कहना नहीं चाहता। उस ज़माने में ऐसी बातों पर खुलकर गुफ़्तगू करने का रिवाज भी कहाँ था। इशारे ही बहुत होते थे।

उधर लड़की तक यह बात पहुँची या नहीं, उसके घरवालों के कानों में कभी कोई भनक पड़ी या नहीं। यह रहस्य हमेशा रहस्य ही बना रहा। लड़का कभी यह जानने की हिम्मत भी नहीं जुटा पाया। वह पहले की तरह उनके घर आता-जाता रहा। उसके आने-जाने के अंदाज़ में कोई बदलाव नहीं था, कम-से-कम बाहर से तो नहीं। भीतर क्या बदल रहा था, इसका हिसाब वह ख़ुद भी कहाँ रख पा रहा था।

हाँ, एक बात ज़रूर थी। उस परिवार को उस मोहल्ले में आए अभी ज़्यादा समय नहीं हुआ था। वहाँ उनका किसी पुराने बाशिंदे से कोई ख़ास तआरुफ़ नहीं था। उनका छोटा-सा दायरा बस उसी बिल्डिंग तक सीमित था, जहाँ लगभग सभी परिवार नए-नए आए थे। अधिकांश लोग अच्छी नौकरियों और ऊँचे ओहदों पर थे। सुबह अपने-अपने दफ़्तरों के लिए निकल जाते, शाम को लौटते, और अपनी दुनिया में मसरूफ़ हो जाते। मोहल्ले की चुहल, गपशप और बेवजह की दख़लअंदाज़ियाँ अभी वहाँ पूरी तरह दाख़िल नहीं हुई थीं। शायद इसी वजह से वह ख़बर अगर पहुँची भी होगी, तो किसी हल्की-सी हवा की तरह- जिसका एहसास तो होता है, पर जिसकी दिशा का पता नहीं चलता।

इसी बीच वक़्त भी अपनी रफ़्तार से आगे बढ़ता रहा। लड़का अब इंजीनियरिंग कॉलेज जाने लगा था। उसकी दुनिया में किताबें, ड्रॉइंग शीटें, प्रैक्टिकल, नए दोस्त और भविष्य के धुँधले-से ख़्वाब शामिल होने लगे थे। लेकिन उन सबके बीच एक चेहरा था, जो हर नए दिन के पीछे किसी पुराने उजाले की तरह मौजूद रहता।

लड़की तब दसवीं कक्षा में थी। उसकी अपनी दुनिया थी- स्कूल, सहेलियाँ, इम्तिहान, घर और भविष्य की उन मासूम कल्पनाओं से भरी हुई, जिनमें अभी जीवन के कठिन फ़ैसलों की कोई जगह नहीं होती।

और तभी, जैसे किसी कहानी का एक पूरा अध्याय बिना किसी शोर के समाप्त हो जाता है, एक दिन ख़बर मिली कि लड़की का परिवार राइट टाउन चला गया है।

न कोई विदाई हुई, न आख़िरी मुलाक़ात। किसी ने यह नहीं कहा कि यह बिछड़ना है। बस एक दिन वह घर आबाद था, दूसरे दिन उसके दरवाज़े पर दूसरा नाम लिखा था। कभी-कभी ज़िंदगी बड़े फ़ैसले किसी संवाद के बिना ही लिख देती है। पीछे सिर्फ़ कुछ बंद खिड़कियाँ, सूनी सीढ़ियाँ और स्मृति में बची हुई आवाज़ों की हल्की-सी गूँज रह जाती है।

□□

वह 1973-74 का एक अजीब-सा वक़्त था। ऐसा वक़्त, जब लड़के की ज़िंदगी जैसे अपनी सीधी राह छोड़कर किसी अनजान, ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर उतर आई थी। उसके साथ बहुत कुछ उल्टा-पुल्टा हो रहा था। यह पिछले जन्मों के कर्मों का कोई अदृश्य क़र्ज़ था या इसी जन्म की भूलों का ख़ामियाज़ा, वह नहीं जानता था। इतना भर महसूस होता था कि कोई अदेखी क़ुव्वत, कोई बेनाम तदबीर, हर मोड़ पर उसके ख़िलाफ़ अपनी चालें बिछाए बैठी है। जैसे हर रास्ते के पीछे एक और रास्ता खुलता, और हर उम्मीद के पीछे एक नई मायूसी चुपचाप उसका इंतज़ार करती मिलती।

अगर तुम इस किताब के 'अभियांत्रिकी' अध्याय तक जब पहुचओगे, तो शायद उन दिनों की बहुत कुछ गिरहें खुलें। वहाँ तुम्हें मालूम होगा कि कैसे एकाएक कई हादसे एक-दूसरे के पीछे इस तरह चले आए थे कि लड़के को सँभलने की मोहलत तक नहीं

मिली। घटनाएँ जैसे किसी अदृश्य सिलसिले में बँधी चली आती थीं। वह समझ ही नहीं पाता था कि उसके साथ जो घट रहा है, उसमें क्या उसकी अपनी ग़लती है, क्या मुक़द्दर का फ़ैसला, और क्या महज़ इत्तिफ़ाक़।

उसे यह भी कहाँ मालूम था कि उसकी कहानी अब एक ऐसे मोड़ की तरफ़ बढ़ रही है, जहाँ आगे चलकर बहुत कुछ स्मृतियों में तब्दील हो जाएगा और बहुत कुछ किसी की अनुपस्थिति में। कुछ रिश्ते टूटते नहीं, बस धीरे-धीरे अपनी आवाज़ खो देते हैं। वे बाहर से ख़ामोश दिखाई देते हैं, लेकिन भीतर एक लम्बे समय तक गूँजते रहते हैं। उस वक़्त लड़का इस गूँज को सुन नहीं पा रहा था। वह तो बस जी रहा था, या शायद जूझ रहा था।

मगर उसने हथियार नहीं डाले। जो कुछ बिखर रहा था, उसे फिर से समेट लेने की ज़िद उसके भीतर अब भी बाक़ी थी। वह हर टूटन के बाद अपने हिस्से का आसमान फिर से जोड़ना चाहता था। हर नाकामी के बाद उसे लगता, शायद अगला क़दम कुछ बेहतर होगा। आदमी की सबसे बड़ी ताक़त शायद यही है कि वह उम्मीद का दामन आख़िरी लम्हे तक नहीं छोड़ता, चाहे उम्मीद ख़ुद उससे कितनी ही दूर क्यों न चली गई हो।

यह वही दौर था जब 'कम-से-कम' भारत में,और उससे भी ज़्यादा उस छोटे-से शहर में, जहाँ लड़का और लड़की रहते थे। लड़के-लड़कियों की अपनी इच्छाओं की कोई ख़ास अहमियत नहीं होती थी। उनकी ज़िंदगी के फ़ैसले अक्सर उनके बजाय दूसरे लोग किया करते थे। घर, बिरादरी, समाज, परम्पराएँ। सब मिलकर एक ऐसा घेरा बना देते थे, जिसके बाहर झाँकना भी गुस्ताख़ी समझा जाता। लड़कियाँ तो अपने मन की बात कहने की कल्पना भी बहुत कम कर पाती थीं। उनकी ख़ामोशी को ही उनका संस्कार मान लिया गया था।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है कि मेरी पीढ़ी ने जो कुछ सहा, उसकी टीस शायद भीतर कहीं इतनी गहरी रह गई कि हमने अपने बच्चों के लिए वही रास्ते दुबारा नहीं दोहराने चाहे। इक्कीसवीं सदी ने कम-से-कम इतना तो किया है कि उसने नई पीढ़ी को अपने हिस्से के फ़ैसले लेने का कुछ साहस दिया। यह आज़ादी मुकम्मल

नहीं है, मगर उस ज़माने की तुलना में किसी खुले झरोखे की तरह है, जहाँ से ताज़ा हवा का पहला झोंका भीतर आता है। लेकिन जिन दिनों की मैं बात कर रहा हूँ, उन दिनों यह सब विरले ही मुमकिन हो पाता था। जो ऐसा कर लेते थे, उन्हें अक्सर अपने ही लोगों की निगाहों में कटघरे में खड़ा होना पड़ता था।

बहरहाल, वक़्त को तो अपनी रवानी में बहते जाना था। उसे किसी की उलझन, किसी की मोहब्बत या किसी के ख़्वाब से कोई सरोकार नहीं होता। वह अपनी ही रफ़्तार से बहता है। कभी उसकी सतह पर मुलायम लहरें खेलती हैं, कभी वही नदी अचानक भँवर बन जाती है। कहीं जलमग्न चट्टानें पाँव लहूलुहान कर देती हैं, कहीं कोई तीखा मोड़ आदमी को उसकी अपनी पहचान से भी दूर ले जाता है। और कभी वही नदी, बिना किसी चेतावनी के, झरना बनकर ऊँची चट्टानों से नीचे पटक देती है। उस गिरावट में सिर्फ़ जिस्म नहीं टूटता, आदमी के भीतर का भरोसा भी दरकने लगता है।

समय अपने रास्ते ख़ुद चुनता है। उसे हमारी मर्ज़ी से कोई वास्ता नहीं होता। उन दिनों भी उसने वही किया जो उसे करना था। लड़का और लड़की बस उसके बहाव में बहते चले गए। बाद में सोचने पर लगता है कि जो कुछ उनके साथ घटा, वह शायद घटने के लिए ही लिखा गया था। अगर वह न घटता, तो शायद उनकी कहानी वह कहानी न बनती, जिसे आज इतने बरस बाद भी याद करते हुए दिल के किसी कोने में एक हल्की-सी कसक जाग उठती है।

कभी-कभी तो यह भी लगता है कि क़ायनात के पास कोई ऐसा इल्म है, जो हमारी समझ से बाहर है। कोई ऐसी तहरीर, जो हमारे पैदा होने से बहुत पहले लिख दी जाती है। हम अपने फ़ैसलों को अपना समझते रहते हैं, जबकि जाने कितनी डोरियाँ कहीं और से हिल रही होती हैं। उस वक़्त लड़का और लड़की भी शायद उन्हीं डोरियों से बँधे हुए दो किरदार थे-चलते हुए, मुस्कुराते हुए, सपने देखते हुए। लेकिन अपनी मंज़िल से बेख़बर।

और फिर ऐसे ही किसी लम्हे में, जब इंसान की सारी अक़्ल, सारे तर्क और सारी शिकायतें थककर बैठ जाती हैं, भीतर से बस यही आवाज़ उठती है -

"दाता, तेरी करणी तू ही बेहतर जाणे. . . और न जाणे कोय।"

□□

लड़का जब कुछ सँभला, यानी हालात कुछ बेहतर हुए, तब लड़की के राइट टाउन वाले मकान में उसके आने-जाने का एक नियमित-सा सिलसिला फिर से शुरू हो गया। उन्हीं मुलाक़ातों के दौरान उसने महसूस किया कि लड़की के चेहरे पर अब कभी-कभी एक ऐसी मायूसी उतर आती है, जिसका कोई वाज़ेह सबब नज़र नहीं आता था। वह पहले की तरह हँसती भी थी, बात भी करती थी, लेकिन उसकी मुस्कान के पीछे जैसे कोई ख़ामोश परछाईं रहने लगी थी।

अब वह किशोरी से युवती की दहलीज़ पर क़दम रख रही थी। यक़ीनन कुछ ऐसा ही बदलाव लड़के के भीतर भी घट रहा था, मगर लड़कियों की दुनिया शायद कुछ और ही तरह से बदलती है। उनके लिए यह सिर्फ़ ज़ेहन का नहीं, जिस्म का भी एक लंबा और पेचीदा सफ़र होता है। देह का बदलना, निगाहों का बदलना, घरवालों का रवैया बदल जाना। इन सबके बीच उन्हें अचानक अपने ही घर में पहले से ज़्यादा सँभलकर चलना पड़ता है। शायद इसी वजह से उनकी आँखों में उम्र से पहले एक अजीब-सी संजीदगी उतर आती है।

ज़िंदगी में कभी-कभी ऐसा भी मुक़ाम आता है, जब हर हसीन हक़ीक़त एक साया बन जाती है। जो चीज़ें कल तक दिल को सुकून और उम्मीद देती थीं, वही अचानक ख़ौफ़ और मायूसी का सबब मालूम होने लगती हैं। हक़ीक़तन मंज़र नहीं बदलता, वही आँगन, वही कमरे, वही लोग, वही दिन और वही शामें रहती हैं; लेकिन ऊपर वाला जाने किस कीमिया से इंसान का नज़रिया बदल देता है। एकाएक लगता है कि दुनिया पहले जैसी नहीं रही, जबकि बदला हुआ होता है केवल भीतर का मौसम।

शायद इसका एक सबब यह भी था कि दोनों बड़े परिवारों से आते थे। घर में चार-पाँच और भाई-बहन। हर निगाह जैसे किसी अदृश्य ज़िम्मेदारी की निगहबान हो। दोनों के भीतर धीरे-धीरे यह एहसास जड़ें जमाने लगा था कि उनका कोई भी क़दम, चाहे वह उनके अपने दिल की नज़र में कितना ही पाक और दुरुस्त क्यों न हो, घर-परिवार

की निगाह में एक बड़ी ख़ता ठहर सकता है। मोहब्बत से ज़्यादा उन्हें उस मोहब्बत के अंजाम का ख़ौफ़ सताने लगा था।

लेकिन अजीब बात थी कि इस कश्मकश के बावजूद दोनों ने अपने क़दम पीछे नहीं खींचे। जैसे किसी अनदेखी ताक़त ने उन्हें एक-दूसरे की तरफ़ बढ़ते रहने की ख़ामोश इजाज़त दे रखी हो। न कोई वादा था, न कोई इकरार, फिर भी दोनों एक ऐसे रास्ते पर चल रहे थे जहाँ से लौटना शायद अब किसी के बस में नहीं था।

अब भी जब लड़का लड़की के घर पहुँचता, तो कभी-कभी वह चुपके से रिकॉर्ड प्लेयर पर *हमराज़* फ़िल्म का गीत लगा देती -

"कौन आया कि निगाहों में चमक जाग उठी..."

गीत बजते ही कमरे का माहौल जैसे बदल जाता। दोनों सामान्य बने रहने की नाकाम कोशिश करते। कोई किताब उठा लेता, कोई खिड़की के बाहर देखने लगता। लेकिन उस गीत का हर मिसरा उन दोनों के बीच बैठ जाता, जैसे किसी तीसरे हमराज़ की तरह, जो वह सब कह देता था जिसे कहने की उनमें हिम्मत नहीं थी।

थोड़ी देर बाद लड़का मुस्कराकर फिल्म '*वक़्त* ' का गीत बजा देता -

"दिन हैं बहार के, तेरे मेरे इक़रार के. . ."

यह उसका जवाब होता, बिना कुछ कहे दिया गया जवाब। जैसे वह कहना चाहता हो कि दुनिया चाहे जितनी मुश्किल हो जाए, इन कुछ लम्हों में अभी भी बहार बची हुई है।

इन्हीं ख़ामोश सरगोशियों के बीच दिन गुज़रते रहे। कभी-कभी लड़का मोहम्मद रफ़ी साहब का वह नग़मा बजा देता -

"तेरी प्यारी-प्यारी सूरत को किसी की नज़र न लगे. . ."

यह गीत सुनते हुए लड़की के चेहरे पर एक अजीब-सी चमक और डर एक साथ दिखाई देते। जैसे वह किसी अनहोनी से पहले ही डरी हुई हो। जैसे वह उस रिश्ते को

दुनिया की नज़रों से बचा लेना चाहती हो, जिसे अभी किसी नाम तक की पनाह हासिल नहीं थी।

और वह उसी रिकॉर्ड पर गीत बजा देती -

"ये आँसू मेरे दिल की ज़ुबाँ हैं. . ."

बस, इतना सुनना होता कि लड़के के भीतर जैसे कोई पुराना ज़ख़्म फिर से हरा हो उठता। वह अनमना-सा हो जाता। कमरे में मौजूद हर चीज़ वैसी ही रहती - दीवारें, परदे, मेज़, रिकॉर्ड प्लेयर, खिड़की से आती धूप - लेकिन उसके भीतर जाने कैसी वीरानी उतर आती। उसे लगता, यह गीत लड़की नहीं, उसकी ख़ामोशियाँ बजा रही हैं। उन दोनों के दरमियान जो कुछ कभी अल्फ़ाज़ में नहीं कहा गया, वही शायद इन धुनों की शक्ल में बार-बार जन्म ले रहा था।

□□

उस घर में लड़की के परिवार के आने की असली वजह बहुत बाद में मालूम हुई। उस समय तो लड़का अपनी ही ज़िंदगी के ऐसे उबड़-खाबड़ मोड़ से गुज़र रहा था कि बाहर घटती हुई बहुत-सी घटनाएँ उसकी आँखों के सामने होकर भी उसकी स्मृतियों में ठीक से दर्ज़ न हो सकीं। 1973-74 का वह बरस जैसे भीतर किसी लगातार चलती हुई आँधी का मौसम था। वह जब अपने ही अँधेरे में रास्ता खोज रहा था, तब आस पास क्या घट रहा है, वह कहाँ देख पाता।

बरसों बाद किसी ने बताया कि उस बिल्डिंग की निचली मंज़िल पर सड़क की ओर वाली दुकानों में से एक जो हेयरकटिंग सैलून था। उसे चलाने वाला युवक किसी इश्क़िया झगड़े और उलझन में फँस गया था। बात इतनी बढ़ी कि झगड़ा, शोर-शराबा और मार पीट तक की नौबत आ गई। कुछ लोग बिल्डिंग की ऊपरी मंज़िलों तक भी चढ़ आए थे। उस मोहल्ले का वह हिस्सा वैसे भी ऐसी लड़ाइयों और झगड़ों की घटनाओं के लिए बदनाम था। लिहाज़ा लड़की के पिता ने, दफ़्तर के सहयोगियों की सलाह पर, परिवार को वहाँ से हटाकर राइट टाउन में किराए का एक नया मकान ले लिया।

वह नया घर पहले वाले से बिल्कुल अलग था। वह एक पुरानी इमारत थी जिसमें चार फ़्लैट थे या आठ - अब स्मृति इस बात को तय नहीं कर पाती उलझ जाती है। बस इतना याद है कि लड़की का परिवार ऊपर की मंज़िल पर रहता था। नीचे से ऊपर जाती हुई सीढ़ियाँ ऊपर जाकर दाएँ और बाएँ के दोनों फ़्लैटों तक पहुँचती थीं। नीचे के फ़्लैटों के सामने छोटे-छोटे बाग़ीचे थे। उन्हीं की वजह से सीढ़ियों तक जाने के लिए खुले आसमान के नीचे एक सँकरा-सा रास्ता बन जाता था। रास्ता बस इतना चौड़ा कि दो लोग अगल-बगल से निकल पाएँ।

उसी रास्ते में किनारे, नीचे वाले फ़्लैट की बाड़ी से सटाकर, लड़का अपनी हरकुलिश साइकिल खड़ी कर देता था। अब सोचो तो लगता है, वह साइकिल वहाँ केवल साइकिल नहीं थी; वह उन मुलाक़ातों की एक ख़ामोश गवाह भी थी।

वह सँकरा रास्ता, जिसके ऊपर नीला आसमान छत की तरह फैला रहता था, धीरे-धीरे उनकी गुफ़्तगू का सबसे महफ़ूज़ ठिकाना बन गया। वहाँ कोई तयशुदा वादा नहीं होता था। कोई घड़ी नहीं देखी जाती थी। बस, कभी लड़की ऊपर से उतरती हुई अचानक मिल जाती, कभी लड़का लौटते हुए उसे सीढ़ियों पर पा लेता। कभी वह उसे नीचे तक छोड़ने चली आती और फिर जाने कब दोनों सीढ़ियों से उतरकर उसी खुले रास्ते में ठिठक जाते।

ऊपर से कभी कोई उसे पुकारता।
वह एक बार सुनकर भी अनसुना कर देती।

दूसरी पुकार आती।

वह मुस्कराकर लड़के की ओर देखती, जैसे पूछ रही हो -*"अभी चली जाऊँ?"*

तीसरी पुकार तक पहुँचते-पहुँचते वह धीरे से कहती - "अच्छा. . . अब जाती हूँ।"

लेकिन उसके कदम वहीं ठहरे रहते। बात किसी और मोड़ पर निकल जाती।

कई बार लड़के को ही झिझक होती। वह धीमे से कहता -
"अब जाओ. . . ऊपर बुला रहे हैं।"

लड़की कुछ क्षण उसे देखती, जैसे उस छोटी-सी विदाई को भी थोड़ा और लंबा कर लेना चाहती हो, फिर अनमने क़दमों से सीढ़ियाँ चढ़ने लगती। आधी सीढ़ी पर पहुँचकर कभी पलटकर देख भी लेती। लड़का तब तक वहीं खड़ा रहता, जब तक वह ओझल न हो जाती।

बात करते हुए लड़की की एक आदत लड़के की नज़र से कभी बची नहीं। वह अपने शरीर का सारा वज़न एक पैर से दूसरे पैर पर ले जाती रहती। फिर कुछ देर बाद वापस पहले पैर पर। जैसे भीतर कोई अदृश्य लय चल रही हो, जिसे केवल उसका शरीर सुन पा रहा हो। उसके हाथ कभी दुपट्टे के कोने से खेलते, कभी उँगलियाँ एक-दूसरे में उलझ जातीं। कोई मनोवैज्ञानिक शायद इन छोटी-छोटी हरकतों का अर्थ बता सके। लड़का इतना भर जानता था कि जब वह किसी बात में सचमुच डूब जाती, तब यह सब अपने-आप होने लगता था। वह उन हरकतों से ज़्यादा उसकी आँखों में तैरते सवालों और उसकी आवाज़ की महीन थरथराहट में खोया रहता।

शाम कब उतर आती, किसी को पता नहीं चलता। पहले पेड़ों की परछाइयाँ लंबी होतीं, फिर आकाश का नीला रंग धीरे-धीरे धुँधला पड़ जाता। कहीं दूर किसी घर में बत्ती जलती, फिर दूसरी, फिर तीसरी। हवा में रात की हल्की ठंडक घुलने लगती। और वे अब भी वहीं खड़े होते - जैसे समय उस सँकरे रास्ते से बचकर निकाल गया हो।

उनके बीच बातें बहुत होती थीं। इतनी कि अब उनमें से शायद ही कोई पूरी याद रह गई हो। किस किताब की चर्चा हुई, किस अध्यापक की, किस परीक्षा की, किस पड़ोसी की- सब धुँधला गया। स्मृति ने शब्दों को नहीं बचाया, केवल उन शब्दों के बीच पसरी हुई ख़ामोशियों को बचाकर रखा है।

आज पीछे मुड़कर देखो तो लगता है, वे सारी बातें शायद उस एक बात के चारों ओर बुना गया एक लंबा घेरा थीं- वह एक वाक्य जिसे दोनों कहना चाहते थे, लेकिन जिसकी दहलीज़ तक पहुँचकर हर बार पीछे लौट जाते थे।

मुहब्बत कभी-कभी अपने इज़हार से नहीं, अपनी हिचक से पहचानी जाती है।

दोनों उसे अपने भीतर महसूस करते थे। वह उनके साथ चलती थी, उनके साथ घर लौटती थी, रात को उनके तकियों के पास बैठी रहती थी। मगर ज़ुबान तक आते-आते जैसे कोई अपना अदृश्य हाथ उनके होंठों पर रख देता।

शायद लड़के का डर कुछ और था, लड़की की झिझक कुछ और।

शायद लड़का भविष्य से डरता था, लड़की अपने घरवालों से। शायद एक को खो देने का भय था, दूसरे को पा लेने के बाद सब कुछ बदल जाने का।

या शायद कोई कारण भी नहीं था।

कुछ रिश्ते अपने सबसे सुंदर रूप में इसलिए बने रहते हैं कि वे अपनी अंतिम परिभाषा तक पहुँचने की जल्दबाज़ी नहीं करते। वे बस दो धड़कनों के बीच की उस ख़ामोश जगह में साँस लेते रहते हैं, जहाँ शब्द पहुँचते तो हैं, लेकिन जन्म नहीं ले पाते।

उन दिनों उस खुले आसमान वाले सँकरे रास्ते पर खड़े दो युवा मनों को यह सब कहाँ मालूम था। उन्हें केवल इतना महसूस होता था कि कोई महीन-सी डोर है, जो दिखाई नहीं देती, फिर भी कई कई बार शाम उन्हें वहीं खींच लाती थी । वह डोर दोनों के डर से भी बनी थी, दोनों की उम्मीद से भी; दोनों की ख़ामोशी से भी, और उस अनकहे इश्क़ से भी, जो शायद कहे जाने के बाद इतना ख़ूबसूरत न रह जाता।

□□

वह लड़की भी अजीब थी- इतनी अजीब कि उसे किसी एक परिभाषा में बाँधना मुमकिन नहीं था। उसे समझने की कोशिश करना अक्सर किसी साफ़ बहती नदी में अपनी ही परछाईं पकड़ने जैसा था। वह जो एक बार ठान लेती, उससे फिर लौटती नहीं थी। लेकिन उसकी ज़िद में किसी और को हराने का जुनून नहीं होता था; वह अपनी ही ख़्वाहिशों का गला घोंट देती थी। अपने हिस्से की तकलीफ़ अपने भीतर उतार लेती, मगर किसी और के हिस्से में दर्द न आने देती। जैसे उसने अपने लिए कोई ऐसा उसूल चुन लिया हो जिसमें जीत का मतलब अपने को पीछे कर देना हो।

उसके जीने के कुछ अपने तौर-तरीक़े थे। वे किसी किताब से नहीं निकले थे, न किसी धार्मिक उपदेश से। वे शायद उसकी अपनी रूह ने गढ़े थे। छल, प्रपंच, झूठ, दिखावा- इन सबके लिए वहाँ कोई जगह नहीं थी। वह किसी पर बेवजह नाराज़ नहीं होती थी। क्रोध उसके स्वभाव में जैसे आया ही नहीं था। मगर उतनी ही सतर्कता से वह इस बात का भी ख़याल रखती कि स्वयं भी किसी के ग़ुस्से, उलाहने या आलोचना का बेमानी निशाना न बने। वह अपने चारों ओर एक ऐसी महीन-सी मर्यादा खींचकर चलती थी जिसे कोई देख नहीं सकता था, पर जिसे लाँघना आसान भी नहीं था।

कभी-कभी लड़के को लगता, वह अपने भीतर कोई अनकहा व्रत लेकर जी रही है। ऐसा व्रत जिसके बारे में उसने कभी किसी से कुछ नहीं कहा। शायद स्वयं से भी नहीं।

उसे आज तक समझ में नहीं आया कि अस्तित्व ने उसका और उस लड़की का रिश्ता आख़िर किस सोच के तहत बनाया था। यह रिश्ता था भी या केवल दो जीवन-रेखाओं का कुछ दूर तक साथ-साथ चलना? इसे प्रेम कहा जाए, आत्मीयता, मित्रता, श्रद्धा, करुणा या उन सबके बीच का कोई ऐसा प्रदेश, जहाँ भाषा के सारे शब्द पहुँचकर अपनी सीमाएँ स्वीकार कर लेते हैं?

वर्षों बाद भी जब वह उस धुरेड़ी की दोपहर को याद करता है तो सबसे पहले कोई संवाद नहीं, कमरे का वातावरण याद आता है। धूप खिड़की पर पड़े परदों से छनकर भीतर आ रही थी। काँच में जड़ी इंदिरा जी की तस्वीर पर वह छोटा-सा लाल टीका किसी दीपक की लौ की तरह चमक रहा था। बाहर गली में बच्चों की शोर-भरी हँसी थी, कहीं दूर ढोलक की थाप, हवा में भीगे हुए गुलाल और गीली मिट्टी की मिली-जुली महक। लेकिन उस कमरे के भीतर जैसे समय कुछ देर के लिए ठहर गया था। वहाँ होली का रंग नहीं, एक विचित्र-सी निस्तब्धता पसरी हुई थी।

अब वह सोचता है - क्या उस लड़की ने सचमुच केवल एक तस्वीर को गुलाल लगाया था?

या वह किसी व्यक्ति को नहीं, एक विचार को प्रणाम कर रही थी?

या शायद वह किसी आदर्श, किसी निष्ठा, किसी ऋण या किसी निजी संकल्प के सामने अपना रंग अर्पित कर रही थी, जिसके बारे में किसी दूसरे को जानने का कोई अधिकार नहीं था।

फिर उसे लगता है कि शायद यह सब उसके अपने मन की कल्पनाएँ हैं। संभव है, बात इससे कहीं अधिक सरल रही हो। और यह भी उतना ही संभव है कि उससे कहीं अधिक गहरी।

स्मृतियों की यही तो अजीब फ़ितरत होती है। वे कभी पूरी नहीं लौटतीं। वे हर बार अपने साथ थोड़ी-सी धुंध भी ले आती हैं। शायद इसलिए कि मनुष्य केवल घटनाओं को याद नहीं रखता, वह उनके अर्थ भी गढ़ता रहता है। हर उम्र में वही घटना अपना नया अर्थ लेकर लौटती है।

उसने कई बार चाहा कि उस दिन की लड़की से, जो अब केवल स्मृति में रहती है, जाकर पूछे-"उस दिन तुमने गुलाल, लगाने को मना क्यों किया था?"

लेकिन स्मृतियों में रहने वाले लोग उत्तर नहीं देते। वे केवल मुस्कुरा देते हैं। बिल्कुल उसी तरह, जैसे उस दिन वह मुस्कुराई थी - धीमे से, बिना किसी सफ़ाई के, बिना किसी आग्रह के।

वह मुस्कान भी कितनी विलक्षण थी।

उसमें न स्वीकार था, न अस्वीकार।

न निकट आने का निमंत्रण, न दूर जाने का संकेत।

मानो वह कह रही हो - हर बात का अर्थ जान लेना ज़रूरी नहीं होता।

जीवन में कुछ बातें केवल जीने के लिए होती हैं, समझ लेने के लिए नहीं।

और तब लड़के को लगता है कि शायद वह लड़की उससे कहीं अधिक परिपक्व थी। उम्र से नहीं- भीतर से भी । कुछ लोग बहुत कम आयु में ही अपने भीतर एक शांत सरोवर लेकर चलते हैं। बाहर की हवाएँ उस पर लहरें तो बना देती हैं, पर उसकी गहराई को विचलित नहीं कर पातीं। वह लड़की शायद ऐसी ही थी। उसने अपनी इच्छाओं

को कभी प्रदर्शन का विषय नहीं बनाया। अपने त्याग का भी कभी हिसाब नहीं रखा। उसने जो खोया, वह चुपचाप खोया। जो पाया, उसे भी उतनी ही ख़ामोशी से अपने भीतर रख लिया।

लड़के को आज भी कभी-कभी लगता है कि वह लड़की दरअसल किसी और समय की मनुष्य थी। जैसे भूल से इस समय में आ गई हो। इस समय की तेज़ आवाज़ें, स्पर्धाएँ, छोटे-छोटे छल, सुविधानुसार बदलते रिश्ते - इन सबके बीच वह किसी पुराने वृक्ष की तरह खड़ी थी, जिसकी जड़ें बहुत भीतर तक जाती हैं। उसे देखकर लगता था कि सत्य भी कभी-कभी मनुष्य का स्वभाव हो सकता है, केवल उसका सद्गुण नहीं।

समय बीत गया।

दोनों अपनी-अपनी दिशाओं में बहुत दूर निकल आए।

लेकिन कुछ रिश्ते समय के साथ समाप्त नहीं होते; वे केवल अपना रूप बदल लेते हैं। वे बाहर की दुनिया से हटकर भीतर के परिदृश्य का हिस्सा बन जाते हैं। वहाँ वे किसी स्मारक की तरह नहीं, बल्कि किसी नदी की तरह रहते हैं - निरंतर बहते हुए। कभी उनकी आवाज़ सुनाई देती है, कभी केवल उनकी नमी महसूस होती है। वे दोनों एक दूसरे के भीतर ज़िंदा रहे। जब लड़की ने बरसों बाद अपनी अंतिम सांस ली तब भी वह लड़का उसके भीतर ज़िंदा था।

“ये बात लड़के को पता हो या नहीं परंतु मैं जानता हूँ।

बताऊँगा इसे बात को भी बताऊँगा इस बात को अनकहा छोड़कर कैसे जा सकता हूँ। ये बोझ कैसे ढोया जा सकेगा। धीरज रखो अपने सारे कोने अंतरे तुम्हें दिखाकर ही जाऊँगा।“

आज जब वह लड़का पीछे मुड़कर देखता है तो उसे लगता है कि उस लड़की ने उसके जीवन में आकर शायद उसे प्रेम करना नहीं सिखाया था; उसने उसे प्रेम की मर्यादा सिखाई थी। यह सिखाया था कि किसी को पा लेना ही प्रेम नहीं होता। कभी-कभी किसी की सीमा का सम्मान कर लेना, उसकी चुप्पी को उसी की तरह स्वीकार

कर लेना, उसके निर्णय के सामने अपने आग्रह को बिना शोर किए रख देना और फिर स्वयं ही वापस उठा लेना- शायद प्रेम की सबसे कठिन साधना यही है।

और तब वह उस अदृश्य चतुष्फलक को फिर अपने सामने खड़ा देखता है।

दिल।

दिमाग़।

उस लड़की की दृष्टि।

और एक चौथा कोण- जिसे वह आज भी कोई नाम नहीं दे पाया।

कभी-कभी उसे लगता है कि वही चौथा कोण ईश्वर का है। या शायद अस्तित्व का।

मनुष्य तीन कोणों तक पहुँच सकता है; चौथा उसके हाथ में नहीं होता। वही इस आकृति को पूर्ण बनाता है और वही सबसे अधिक रहस्यपूर्ण रहता है।

शायद इसलिए जीवन में कुछ प्रश्न कभी हल नहीं होते। वे हल होने के लिए बने ही नहीं होते। वे केवल मनुष्य को विनम्र बनाए रखने के लिए होते हैं, ताकि वह यह भूल न जाए कि इस विराट अस्तित्व में समझ लेने से कहीं अधिक बड़ी चीज़ है- "विस्मय"।

और शायद उसी विस्मय का दूसरा नाम प्रेम है।

और मैं उस लड़के से दूर खड़ा अब इतने बरस बाद ये सोच पाने के करीब पहुँचा हूँ –

शायद हर रिश्ता किसी नाम का मोहताज नहीं होता। कुछ रिश्ते केवल इसलिए जन्म लेते हैं कि वे मनुष्य को उसकी अपनी गहराइयों से परिचित करा सकें। वे जीवन में ठहरते कम हैं, भीतर उतरते अधिक हैं। उनका हासिल साथ नहीं, बल्कि तुम्हारा तुमही से परिचय करना होता है।

शायद वही उस लड़के और लड़की के इस रिश्ते की असली ताबीर थी।

या शायद . . .

यह भी उन चार उत्तरों में से केवल एक उत्तर भर है।

उस लड़की का उत्तर तो अब कभी न मिल सकेगा। यदि कहीं कोई पुनर्जन्म जैसी चीज़ होती हो और फिर से लड़का और लड़की दोनों कभी टकरा जाएँ –

तो क्या लड़के को याद रहेगा वो सवाल – "तुमने गुलाल लगाने से मना क्यों किया था ?"

मान लो रहा भी तो क्या लड़की को याद रहेगी वो 'धुरेड़ी' की दोपहर, और क्या वह सच बता पाएगी लड़के को।



होली का ही एक और क़िस्सा है। 1974 का साल रहा होगा। इस किस्से का विस्तार से वर्णन मैंने 'आरंभ' में कर दिया है। अब उस किस्से से जुड़ी एक बड़ी प्यारी सी बात याद आ रही है। जिसे यहाँ यदि न लिखूँगा तो शायद कुछ अधूरा सा रह जाएगा। 'अभिमान' फिल्म के बारे में क्या बताऊँ सब जानते हैं, तुम भी।

उस फिल्म में मज़रूह सुल्तानपुरी साहब ने गीत नहीं लिखे थे – शायरी सीधे दिल से काग़ज़ पर उतारी थी। उतना ही बढ़िया संगीत था दादा बर्मन का। रफ़ी साहब, लता जी और किशोर दा इन सबके बारे में क्या कह सकता हूँ, मेरी हैसियत के बाहर की बात है। उसी फिल्म में एक गाना था- " नदिया किनारे हेराई आइ कंगना. . . ."

"हे नदिया किनारे हेराई, आई कंगना
ऐसे उलझ गए, अनाड़ी सजना
नदिया किनारे. . . .
काहे पनघट ऊपर, गई थी चलके अकेली
मारे हँस हँस ताना, सारी सखियाँ सहेली
गोरी और जाओ न मानो कहना
नदिया किनारे. . . .
अब खड़ी खड़ी सोचूँ
देखी है सास ननंदीया सब का करी है बहाना
अब तो सूनी कलाई लै के चोरी चोरी जाना
भारी पड़ा रे पिया से मिलना
नदिया किनारे. . . ."

(दादा एस. डी. बर्मन द्वारा रचित, यह गीत मुख्य रूप से राग पीलू पर आधारित है, जो भाव-प्रधान और चंचल प्रकृति का एक मिश्र राग है। इसमें कोमल स्वरों (ग, नि) के प्रयोग से विरह का भाव प्रबल होता है। मजरूह सुल्तानपुरी के बोल और लता मंगेशकर की आवाज़, इस गीत को ठुमरी शैली के करीब लाती है। इसमें कजरी या लोक संगीत का प्रभाव भी स्पष्ट है। यह गीत 6 मात्राओं वाली दादरा ताल (धा धी ना, धा तू ना) पर आधारित है, जो इसकी मध्यम गति के साथ मिलकर नायिका की व्याकुलता को दर्शाता है।)

यह गीत- "नदिया किनारे हेराई, आई कंगना. . . "- न जाने कब, कैसे और किस तरह उस लड़की से जुड़ गया। जैसे कुछ गीत किसी चेहरे का दूसरा नाम बन जाते हैं। उनके बोल सुनाई देते हैं, लेकिन आँखों के सामने किसी और की तस्वीर उतर आती है। इस गीत का भी लड़के के लिए वही हश्र हुआ।

उन दिनों शहर में डी.जे. का शोर नहीं था। लाउडस्पीकर के बड़े-बड़े चोंगे होते थे। किसी उत्सव पर उन्हें बिजली के खंभों से बाँध दिया जाता, कभी किसी घर की खपरैल पर रख दिया जाता, पक्के मकान हुए तो छतों पर टाँग दिए जाते। और अगर कहीं कुछ भी न हो, तो जिन दुकानों से ये सिस्टम किराये पर मिलता था, वे अपनी दुकान के सामने ही सुबह से शाम तक फिल्मी गीत बजाते रहते थे।

जब-जब यह गीत बजता, एक अजीब-सा मंज़र और अजीब-सा मरहला सामने आ खड़ा होता। जया भादुड़ी की जगह लड़के को वही लड़की दिखाई देने लगती- सिर पर पानी से भरी मटकी, पनघट से लौटती हुई, आँखों में वही संकोच, वही मासूमियत, वही अनकहा अपनापन। गीत के हर अंतरे के साथ वह जैसे उसके और करीब चली आती। लगता, गीत नहीं, उसकी पदचाप हवा में घुल गई हो।

एक किस्सा, जिसे तुम 'आरंभ' में पढ़ ही चुके हो, इसी गीत से वाबस्ता है।

कैसे? चलो, याद दिलाता हूँ।

वह होलिका-दहन की रात थी। फाल्गुन की नशीली पूर्णिमा। मॉडल हाई स्कूल के कुछ पुराने दोस्त, जो अब अलग-अलग कॉलेजों में पढ़ रहे थे, गढ़ा क्षेत्र की गंगासागर

कॉलोनी में रहने वाले अपने एक मित्र के घर के पास, खेतों के बीच फैले हरे-भरे घास के मैदान में इकट्ठा हुए। उस दौर के किशोरों की जैसी छोटी-सी महफ़िल होती थी, वैसी ही हुई। भांग की ठंडाई बनी, भांग की बर्फियाँ आईं। सबके लिए यह अनुभव नया था। जो थोड़े समझदार निकले, उन्होंने कम सेवन किया; जो मस्ती के बहाव में बह गए, उन्होंने ज़्यादा। कुछ ही देर में भांग ने अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया।

सबको समझ में आ गया कि अब यहाँ से निकल लेना ही बेहतर है, वरना बात सँभालना मुश्किल हो जाएगा। लड़का भी अपने दो दोस्तों के साथ लौट पड़ा। इस पूरे वाक़ये का तफ़सीली ज़िक्र मैं 'आरंभ' में कर चुका हूँ।

लड़का अपने एक मित्र की साइकिल के कैरियर पर बैठा था। दूसरा मित्र अपनी साइकिल साथ-साथ चला रहा था।

रास्ते में किसी होलिका के पास लगे लाउडस्पीकर से यही गीत गूँज उठा-

"नदिया किनारे हेराई, आई कंगना. . . "

बस, फिर क्या था !

भांग की तरंग पहले ही सिर चढ़कर बोल रही थी। गीत ने जैसे भीतर दबी सारी यादों पर दस्तक दे दी। लड़के को वह लड़की याद आने लगी। उसने लगभग ऐलान कर दिया- उसे अभी उसी से मिलना है। इसी वक़्त।

पहले से तय था कि जिस मित्र की साइकिल पर वह बैठा है, वह अपने घर उतर जाएगा, और दूसरा मित्र, जो उसका पड़ोसी भी था, उसे घर पहुँचा देगा। लेकिन अब गीत उसके कानों में जैसे बार-बार रिवाइंड होकर बज रहा था-

"नदिया किनारे हेराई, आई कंगना. . . "

और हर बार गीत के साथ उसे वही लड़की दिखाई देती- पनघट से पानी भरकर लौटती हुई, भीगे आँचल की हल्की-सी गंध लिए, जैसे किसी पुराने सपने से निकलकर सामने चली आ रही हो।

आख़िर दोस्तों ने मजबूरी में रास्ता बदल दिया।

वे लड़की के घर पहुँचे। पड़ोसी मित्र नीचे ही रुक गया। दूसरा मित्र लड़के को लेकर ऊपर चला गया।

संयोग से लड़की के माता-पिता शायद घर पर नहीं थे। लड़के के बदले हुए हाव-भाव देखकर बाक़ी भाई-बहन चुपचाप भीतर के कमरे में चले गए।

कुछ क्षण बाद लड़की बाहर आई। उसने स्थिति को भाँपने की कोशिश की। जो सवाल उसने किए, उनके जवाब लड़के की जगह उसके मित्र ने दिए।

वह हल्की-सी नाराज़ थी।

इतने में लड़के ने सुपारी माँग ली।

लड़की भीतर गई, साबुत सुपारी का आधा टुकड़ा और सरौता लाकर उसके सामने रखते हुए बोली-

"तुम्हीं काटो. . . और तुम्हीं खाओ!"

उसके स्वर में झुँझलाहट भी थी, अपनापन भी, और शायद थोड़ी-सी बेबसी भी।

फिर उसने लड़के के मित्र की ओर देखकर कहा-

"प्लीज़, इसे ठीक से घर पहुँचा देना।"

लड़का अभी और बैठना चाहता था। कुछ कहना चाहता था, या शायद कुछ भी नहीं- सिर्फ़ उसे देखते रहना चाहता था। लेकिन उसके मित्र ने उसे उठाया और लगभग जबरदस्ती सीढ़ियों की ओर ले चला।

सीढ़ियों पर भी वह रुक-रुककर पीछे देखने की ज़िद करता रहा।

मित्र ने मुस्कराकर कहा

"मिलना था न? मिल लिए। अब चलो।"

उसके बाद जो कुछ हुआ, वह सब मैं पहले ही सुना चुका हूँ।

हाँ, एक दृश्य आज भी बिल्कुल वैसा ही याद है।

जब दोनों दोस्त साइकिल पर बैठकर लौट रहे थे, लड़की बालकनी में खड़ी उन्हें जाते हुए देख रही थी। चाँदनी उसके चेहरे पर उतर आई थी और लड़के की आँखों में भांग का नशा अब किसी और ही खुमार में बदल चुका था।

शायद उसी रात से यह गीत उसकी स्मृतियों में हमेशा के लिए बस गया।

आज भी कहीं दूर से "नदिया किनारे हेराई, आई कंगना. . . "

सुनाई दे जाए, तो लड़के को न जया भादुड़ी याद आती है, न फ़िल्म का कोई दृश्य। उसकी आँखों के सामने बस वही लड़की चली आती है- मटकी उठाए, पनघट से लौटती हुई. . . . और फिर उसी बालकनी में खड़ी, उसे जाते हुए देर तक देखती हुई।

कुछ गीत कभी पुराने नहीं होते, धड़कनों की तरह उम्र भर साथ चलते हैं।



इस फ़ोटो में देखो लड़का अपने बचपन के मित्र के साथ अपनी अपनी साइकिलों पर घर लौट रहे हैं।

इस दृश्य से जुड़ी कहानी में घटना सिर्फ़ 'एक वाक्य' या 'एक स्टेटमेंट' है, किन्तु एक छोटा सा वाक्य कितना कुछ समेटे हो सकता है अपने भीतर मैं तुम्हें बताऊँगा। पहले बस ये तस्वीर देख लो –

उस दिन की दोपहर किसी और दिन जैसी ही थी। धूप में कोई असाधारण चमक नहीं थी, हवा में भी कोई ऐसा इशारा नहीं था जिससे अंदाज़ा लगाया जा सके कि कुछ ऐसा कहा जाने वाला है जो बरसों तक स्मृति की तहों में वैसे ही सुरक्षित रहेगा, जैसे किसी पुरानी किताब के बीच दबा हुआ कोई ख़त जिसका काग़ज़ पीला पड़ जाता है स्याही धुंधली हो जाती है किन्तु तहरीर अपना अर्थ नहीं खोती।

लड़का अपने बचपन के दोस्त के साथ लड़की के घर से लौट रहा था। दोनों अलग-अलग साइकिलों पर थे। लड़की का परिवार कभी उसी मोहल्ले में रहा था, इसलिए वह घर उस मित्र के लिए भी उतना ही परिचित था जितना लड़के के लिए। उन दोनों की दोस्ती किसी एक उम्र की देन नहीं थी; वह तो गलियों की धूल, बरसात के कीचड़,

स्कूल की घंटियों, साझा किताबों, परीक्षा के दिनों की बेचैन रातों और गर्मियों की लंबी दोपहरों से होकर गुज़री थी। मोहल्ले में लोग उनकी दोस्ती का ज़िक्र ऐसे करते थे जैसे कोई पुरानी, भरोसेमंद मिसाल सुनाई जाती है। दोनों एक-दूसरे के हमराज़ थे। बहुत-से राज़ ऐसे थे जो घरवालों तक को मालूम नहीं थे, मगर एक-दूसरे से कभी छिपे नहीं। अजीब बात यही थी कि लड़की का राज़ ही वह एकमात्र राज़ था जो लड़के ने अपने सबसे अज़ीज़ दोस्त से भी छिपाकर रखा था।

लड़के के लिए ये मुहब्बत किसी ऐलान की चीज़ नहीं थी; वह इबादत की तरह थी- जिसका शोर नहीं किया जाता। कुछ रिश्ते शब्दों में उतरते ही जैसे अपनी पाकीज़गी का एक हिस्सा खो देते हैं। लड़के को हमेशा लगता था कि जिस एहसास को नाम दे दिया जाए, वह सीमित हो जाता है; और जिसे ख़ामोशी में रहने दिया जाए, वह आसमान की तरह फैला रहता है।

दोनों साइकिलें सड़क पर बराबर-बराबर चल रही थीं। कभी एक आगे निकल जाती, कभी दूसरी। बातचीत भी उसी तरह आगे-पीछे डोलती रही - कॉलेज, पढ़ाई, साथ बने नए दोस्तों की अजीब आदतें, हॉकी का मैदान, पुराने मैचों की स्मृतियाँ, मोहल्ले में खुली नई दुकानें और भी जाने क्या-क्या। फिर अचानक, बिना किसी भूमिका के, जैसे कोई पत्थर शांत झील में गिर पड़े, मित्र ने कहा -

“यार... तेरी और लड़की की जोड़ी ख़ूब जमेगी !”

लड़के ने अनायास हैंडल थोड़ा कसकर पकड़ लिया। उसे लगा जैसे किसी ने उसके भीतर रखी हुई वह चिट्ठी पढ़ ली हो जिसे उसने कभी लिखा ही नहीं था।

वह चौंका भी, सकपकाया भी।

उसके मन में एक साथ कई सवाल उठे-*यह कैसे जान गया?*

उसने तो कभी कुछ कहा नहीं।

न इस से, न किसी और से। यहाँ तक कि लड़की से भी कभी साफ़-साफ़ कुछ कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। फिर यह ख़बर किस रास्ते चलकर इस तक पहुँची ?

शायद मुहब्बत की अपनी ज़बान होती है।

वह लबों से कम, निगाहों से ज़्यादा बोलती है।

आदमी अपने जज़्बात को छिपाने के लिए जितनी दीवारें खड़ी करता है, उसकी आँखें उतनी ही ख़ामोशी से उन दीवारों पर खिड़कियाँ खोल देती हैं।

उसी पल उसे उस्ताद शायर 'मीर तक़ी मीर' का वह मशहूर मतला जैसे कहीं भीतर से सुनाई पड़ा-

"पत्ता पत्ता बूटा बूटा हाल हमारा जाने है,
जाने न जाने गुल ही न जाने, बाग़ तो सारा जाने है।"

सचमुच, कैसी अजीब विडम्बना है! पूरी दुनिया उस राज़ को पढ़ लेती है जिसे हम सबसे ज़्यादा छिपाना चाहते हैं। और जिसके लिए वह राज़ होता है, वही उससे बेख़बर रहता है।

मित्र की बात का लड़के ने विरोध नहीं किया।

न स्वीकार किया।

केवल एक छोटा-सा प्रश्न पूछा -

"कैसे?"

मित्र हँस पड़ा।

"अरे! तू इंजीनियर बन जाएगा. . . और लड़की डॉक्टर। अब इंजीनियर और डॉक्टर की जोड़ी नहीं जमेगी तो किसकी जमेगी?"

वाक्य बहुत साधारण था। उसमें न शायरी थी, न दर्शन, न कोई बड़ी घोषणा।

लेकिन कुछ वाक्य अपनी सादगी में ही तक़दीर की तरह उतरते हैं।

वे सुनने में मामूली लगते हैं, मगर बरसों बाद याद आते हैं –

तो लगता है कि उनमें पूरी एक ज़िंदगी छिपी हुई थी।

लड़का पल-भर के लिए किसी दूसरी दुनिया में पहुँच गया।

उसने पहली बार अपने भविष्य को अकेले नहीं देखा।

उस कल्पना में दो आकृतियाँ थीं-एक लड़की सफ़ेद एप्रन में डॉक्टर, दूसरा, एक लड़का इंजीनियर के रूप में। एक छोटा-सा घर, किताबों से भरी अलमारी, शाम की चाय, अस्पताल की थकान और दफ़्तर की फ़ाइलें. . .। यह सब कुछ केवल कुछ क्षणों के लिए आया और उतनी ही जल्दी धुँध की तरह विलीन भी हो गया।

मनुष्य का मन भी कितना अजीब है ! वह एक वाक्य के सहारे कई दशक आगे तक का जीवन देख लेता है, जबकि उसे अगला मोड़ भी मालूम नहीं होता।

शायद इसी को उम्मीद कहते हैं। और उम्मीद, दरअसल, भविष्य का सच नहीं होती; वर्तमान की सबसे ख़ूबसूरत तख़्लीक़ होती है।

कुछ देर दोनों के बीच ख़ामोशी पसरी रही। केवल साइकिल के टायरों की खरखराहट और चेन की धीमी घरघराहट उस सन्नाटे में आवाज़ भरती रहीं। सड़क वही थी, पेड़ वही थे, हवा भी वही; बदल गया था तो केवल लड़के के भीतर का कुछ।

अब हर पैडल के साथ उसे लगता था कि वह सड़क पर नहीं, अपने ख़यालों के ऊपर चल रहा है।

घर अभी दो किलोमीटर दूर था। रास्ते में शायद और भी बातें हुई होंगी-हँसी-मज़ाक, कॉलेज, इम्तिहान या किसी फ़िल्म का ज़िक्र। मगर स्मृति बड़ी बेरहम होती है। वह पूरी दोपहर नहीं सँभालती; केवल उसी एक वाक्य को बड़े जतन से बचाकर रखती है जो आत्मा को छू गया हो।

मोहल्ला आ गया।

गली के मोड़ पर दोनों ने हमेशा की तरह एक-दूसरे की तरफ़ देखा।

रोज़ की तरह दोनों अपनी-अपनी दिशा में मुड़ गए।

सब कुछ जों बाहर बाहर हो रहा था बिल्कुल सामान्य था।

मगर लड़का उस दिन अपने घर अकेला नहीं लौटा था।

उसके साथ एक वाक्य भी चलकर आया था-

"तेरी और लड़की की जोड़ी ख़ूब जमेगी. . . "

बरसों बाद जब ज़िंदगी ने अपने फ़ैसले सुनाए, तब उसे समझ में आया कि मनुष्य की सबसे सुंदर स्मृतियाँ वे नहीं होतीं जो सच हो जाती हैं; वे होती हैं जो कभी सच नहीं हुईं, फिर भी वे सारी उम्र भीतर एक मुलायम रौशनी की तरह जलती रहती हैं।

शायद अधूरी मुहब्बत का यही फ़लसफ़ा है- वह हासिल होकर ख़त्म नहीं होती, बल्कि हासिल न हो के ख़ुशबूदार स्मृति में बदल जाती है। और उस ख़ुशबूदार स्मृति में कुछ मिल न पाने के रंज के साथ रूह की पाकीज़गी भी शामिल हो, तो वह इश्क़ का सबसे दीर्घजीवी रूप बन जाती है। जो शायद साँसों के फ़ना हो जाने के बाद भी धड़कती रहती है।

उस समय न लड़के को मालूम था, न उसके उस बचपन के मित्र को, कि उसने हँसते-हँसते जो बात कही है, वही बरसों तक लड़के की स्मृतियों में किसी ऐसी दुआ की तरह गूँजती रहेगी जो कि सुनी नहीं गई। जीवन की किताब में कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जो लिखे तो सहज भाव से जाते हैं, पर उनका अर्थ समय बहुत बाद में खोलता है।

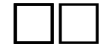
यह भी कितनी अजीब बात है कि भविष्य अक्सर अपने आने की कोई आहट नहीं देता, वह साधारण और सामान्य से क्षणों के वेश में हमारे सामने से गुज़र जाता है। उस दिन दो लड़के साइकिल पर अपने-अपने घर लौट रहे थे। उन्हें कहाँ मालूम था कि उनके साथ-साथ तक़दीर भी चल रही है-ख़ामोश, बेआवाज़ और अपनी ही तदबीरों में मशगूल।

उस दिन लड़के ने पहली बार अपने मन के उस गुप्त संसार को किसी दूसरे के शब्दों में ढलते देखा था। वह हैरान था कि उसकी वह सबसे छिपी हुई ख़्वाहिश - जिसे उसने खुद से भी छुपाकर मन के एक बंद कोने में रखा हुआ था। आख़िर किसी और के हाथ कैसे लग गई ? लेकिन वह इस हकीकत से बेख़बर था कि किसी ख़्वाहिश का महज़ पढ़ लिया जाना, उसके मुकम्मल होने की गारंटी नहीं होता; दोनों दो बेहद अलग रास्ते

हैं। ज़िंदगी शायद इसी जगह आकार सबसे ज़्यादा रहस्यमयी हो जाती है। वह इंसान को उम्मीद भी देती है और उसी उम्मीद के भीतर उसकी परीक्षा का बीज भी छिपा देती है। जो घटता है, वह केवल घटनाओं का सिलसिला नहीं होता; जो नहीं घटता, कई बार वही मनुष्य के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा शिल्पकार बन जाता है।

बरसों बाद जब लड़का पीछे मुड़कर उस दोपहर को देखता है, तो उसे मित्र का वह सहज-सा वाक्य किसी भविष्यवाणी से कम नहीं लगता। फ़र्क़ बस इतना था कि भविष्यवाणियाँ हमेशा वैसे पूरी नहीं होतीं जैसी वे सुनाई देती हैं। तक़दीर अल्फ़ाज़ को नहीं, उनके अर्थों को बदल देती है। और अर्थ बदल जाएँ तो वही वाक्य, जो कभी मुस्कान बनकर आया था, उम्र भर की ख़ामोश टीस भी बन सकता है।

शायद इसी लिए बड़े बूढ़े और जानकार कहते हैं कि इंसान अपने ख़्वाब चुन सकता है, मगर उनकी ताबीर नहीं। ताबीर हमेशा वक़्त के पास रहती है; और वक़्त अपने राज़ किसी से कभी साझा नहीं करता।



आओ अब इस तस्वीर को देखो।

ये तस्वीर उस तीसरे मकान में ली गई है जहाँ लड़की का परिवार 1977 में रहने आ गया था। वह राइट टाउन वाला मकान बहुत पुराना था और धीरे धीरे जर्जर होता जा रहा था। उस डर से कि कभी कोई हादसा न हो जाए। नया मकान तलाशा गया और वे लोग मदन महल क्षेत्र में रहने आ गए। उस घर तक पहुँचने के लिए मदन महल रेलवे स्टेशन का रेलवे का ही बनाया लोहे का ब्रिज पार करना पड़ता था। दोनों ओर सीढ़ियाँ बीच में लोहे की मोटी मोटी चकर प्लेट्स, बीच के इस हिस्से के नीचे रेल की पटरियाँ।

ऊपर चढ़ने और उतरने की सीढ़ियों के दोनों किनारों पर सीमेंट की पत्तियां भी बनी थीं जिससे साइकिल वाले अपनी साइकिलें हाथ से पकड़ कर धकेलते हुए ऊपर चढ़ा सकें या नीचे उतार सकें। इसी पुल पर अपनी 'हरकुलिश' लेकर जाने कितनी बार लड़की के घर गया होगा।

अब तो वह पुल नहीं है। वहाँ दमोह नाके की तरफ़ से आकर त्रिपुरी चौराहे की ओर जाने के लिए अन्डर ब्रिज है। जो पहले भी रहा होगा पर लड़के के घर की तरफ़ से आने के लिये उसका उपयोग नहीं होता था। अब नया फ्लाइओवर बन गया है जिस पर केबल स्टे ब्रिज बना हुआ है, जिससे बहुत आसानी से मदन महल रेलवे स्टेशन को पार किया जा सकता है।

मैं तस्वीर की बात छोड़कर इधर उधर भटक गया, फिर से तस्वीर देखो – लड़की नए मकान के ड्रॉइंग रूम में बैठ कर पढ़ रही है। कमरे में उसकी छोटी बहन भी है। देर शाम का वक़्त है, आज लड़की का जन्म दिन है। लड़का लड़की के लिये एक छोटा सा तोहफ़ा लाया हुआ है, जिसे उसने छिपाकर रखा है।

वह लड़की की छोटी बहन के उठने की प्रतीक्षा कर रहा है – ताकि चुपचाप अपना तोहफ़ा लड़की को दे सके। छोटी बहन उठने का नाम नहीं ले रही, पढ़ भी रही है और बातें भी करती जा रही है। लड़की समझ रही है लड़का किसी प्रतीक्षा में है। लेकिन कहीं कुछ नहीं हो रहा। बस गहराती शाम धीरे धीरे रात में बदल रही है।

लेकिन लड़के के मन की बात ईश्वर ने सुन ली, छोटी बहन उठ कर भीतर गई।

फ़ौरन लड़के ने छिपाकर रखा छोटा सा 'स्मृति चिन्ह' लड़की के हाथ में पकड़ाया।

लड़की ने ले तो लिया, पर अचकचा कर पूछा- "ये क्या है ?"

"आज तुम्हारा जन्म दिन है ना !!" – लड़के ने कहा।

लड़की उसे अविश्वसनीय सी नज़रों से देखते हुए बोली – "वो तो अगले महीने है !!"

लड़के का सर चकरा गया। उसने बहुत साफ़ साफ़ लड़की की किसी मार्क शीट में उसकी जन्म तारीख पढ़ी थी। जो उसी दिन उसी महीने की थी।

लड़का समझ नहीं पाया लड़की क्यों ऐसा कह रही है और कर रही है ?

वह इतना अनमना सा हो गया कि उठ खड़ा हुआ और बिना कुछ कहे बाहर आ गया। उसने अपनी साइकिल उठाई और अपने घर की ओर वापस निकल गया। उसने पीछे

मुड़कर भी नहीं देखा – कि लड़की उसके पीछे पीछे दरवाज़े तक आई या नहीं आई। उसने उससे फिर कभी नहीं पूछा कि उस तोहफ़े का उसने क्या किया।



थोड़ा पीछे चलते हैं।

अब चूँकि साइकिलों की बातें चल रही हैं तो ये तस्वीर देखो – इस तस्वीर में लड़का अपनी हरकुलिश पर सवार है पीछे कैरियर पर लड़की बैठी है।

ये तस्वीर राइट टाउन वाले घर के समय की है।

एक बार लड़के को अपनी छोटी बहन को लंच बॉक्स देना था।

लड़के की छोटी बहन और लड़की दोनों एक ही कॉलेज में थे। लड़के के लिये अपनी बहन को कॉलेज के गेट पर बुलाकर लंच बॉक्स देना थोड़ा कठिन काम लगा। लड़की का घर कॉलेज के नज़दीक ही था। वह पहले उसके घर गया। लड़की घर पर ही थी। क्यों ? अब ये याद, नहीं पर थी।

पहले उसने लड़की की माँ से परमीशन ली।

फिर लड़की से कहा- "चलो तुम मेरे साथ चलो, ये लंच बॉक्स ले जाकर दे देना। दस मिनिट का काम है।" लड़की ने लड़के को घूर कर देखा। फिर आँखें तरेरीं जैसे कह रही हो – "मैं समझ रही हूँ!"

लड़का ये कहता हुआ सीढ़ियों से नीचे उतार आया – "चलो जल्दी फिर देर हो जाएगी।"

लड़की कुछ देर में कपड़े बदल कर नीचे आ गई।

अब लड़के ने साइकिल के कैरियर में फँसा लंच बॉक्स लड़की को थमाया और साइकिल बाहर निकाल कर उसपर सवार हुआ। लड़की कैरियर पर बैठ गई।

हरलुलिश आगे बढ़ी, यहाँ तक तो सब ठीक था। अब लड़के को कुछ धाड़ धाड़ सी ध्वनि कानों में सुनाई देना शुरू हुई। कुछ क्षणों के बाद उसे समझ में आया ये उसके

अपने दिल की धड़कनों की आवाज है। जो बुरी तरह से धक धका रहा था। लड़की चुप थी। लड़का भी चुप था। उसके समझ में नहीं आ रहा था कि कुछ बात करूँ या बस इस आनंद को यूँ ही बहने दूँ जिसमें वह स्वयं को बहता हुआ पा रहा था। यह पहली दफ़ा हुआ था कि लड़की उसके साथ कहीं अकेले बाहर निकली थी।

कुछ और पल गुज़रे अब शब्द नहीं पूरा शब्दकोश उसके मुँह से बाहर आ जाना चाहता था।

किन्तु . . . . इसी किन्तु ने इस बार भी उसे रोक लिया।

'कहीं' – शब्द से शुरू होने वाले कई सवाल कई वाक्य कई संभावनाएँ उसकी सोच पर हावी हो गए।

तब तक कॉलेज आ गया।

जिस काम के लिये कॉलेज आए थे वह काम भी हो गया।

अब वापसी की यात्रा शुरू हुई।

कॉलेज से सीधे घर। लड़के की हिम्मत लड़की से बात करने की नहीं हो रही थी, और तुम सोच रहे हो वह उसे भँवरताल गार्डन या कॉफी हाउस क्यों नहीं ले गया।

अगर यही हो जाता तो आज कहानी ही दूसरी होती।

लेकिन नियति तो सब कुछ अपनी लिखी पटकथा के अनुसार घटने देती है। दुनिया के इस रंगमंच पर बस उसी के निर्देशन में सारे नाटक खेले जाते हैं।

लौटे समय बिल्कुल चुप्पी तो नहीं रही पर जो बातें हुईं वे लड़के की दृष्टि से देखें तो यदि चुप्पी ही रहती तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता।

बहरहाल कुछ नया तो घटा था।

लड़का इतने से ही ख़ुश था।



थोड़ा पीछे चलते हैं।

चूँकि साइकिलों की बातें चल ही रही हैं, तो एक और तस्वीर देखो। तस्वीर में लड़का अपनी हरकुलिश साइकिल पर है और पीछे कैरियर पर लड़की बैठी है। यह वही दौर है जब लड़की का परिवार राइट टाउन वाले मकान में रहता था। देखने वाले के लिए यह एक बिल्कुल साधारण दृश्य हो सकता है - एक लड़का, एक लड़की, एक साइकिल और शहर की दो-चार सड़कें। लेकिन स्मृतियाँ कभी-कभी साधारण दृश्यों को भी इस तरह सँभाल कर रखती हैं कि बरसों बाद उनमें पूरी एक उम्र की धड़कन सुनाई देने लगती है।

उस दिन लड़के को अपनी छोटी बहन का लंच बॉक्स कॉलेज पहुँचाना था। बहन और लड़की, दोनों एक ही कॉलेज में पढ़ती थीं। बहन को कॉलेज के गेट पर बुलाना, ढेरों लड़कियों की निगाहों के बीच उसे टिफ़िन देना, उसे कुछ असहज सा लगा। लड़की का घर कॉलेज से अधिक दूर नहीं था। उसने सोचा, क्यों न उसी की मदद ले ली जाए।

वह सीधे लड़की के घर पहुँचा। कोई कारण ज़रूर रहा होगा जो उसे मालूम था कि लड़की घर पर ही मिलेगी। लड़की घर पर ही थी। आज अब याद नहीं आ रहा है कि उस दिन वह कॉलेज क्यों नहीं गई थी। कुछ भी कारण रहा होगा जो आज याद नहीं आ रहा है। हो सकता है उस दिन नियति ने अपनी कहानी की पटकथा में उसके लिए यह अवसर रख छोड़ा था। स्मृतियाँ घटनाओं को छन लेती हैं जितना ज़रूरी होता है बस उतना ही बचातीं हैं, चाहे वह घटित दृश्य का कोई हिस्सा हो या बातचीत के ज़रूरी शब्द – बह उतना सहेज लेती हैं।

लड़के ने पहले उसकी माँ से इजाज़त माँगी।

"अगर आप अनुमति दें तो इसे इन लोगों के कॉलेज तक साथ ले जाऊँ? मेरी बहन को बस लंच बॉक्स देना है। दस मिनट का काम है।"

माँ ने मुस्कुराकर हामी भर दी।

अब वह लड़की की ओर मुड़ा।

"चलो, तुम दे आना।"

लड़की ने पहले उसे घूर कर देखा। फिर आँखें थोड़ी तरेरीं। लड़के को लगा उस एक क्षण में जैसे बिना कुछ कहे उसने बहुत कुछ कह दिया -

"मैं समझ रही हूँ. . . बहाना लंच बॉक्स है या कुछ और?"

पर उसने यह सब केवल अपनी आँखों से कहा। होंठ बिल्कुल स्थिर रहे।

उधर लड़का जान-बूझकर उस मौन को पढ़ने से बचता हुआ सीढ़ियाँ उतर आया।

"जल्दी आओ, देर हो जाएगी।"

कुछ मिनट बाद लड़की नीचे आई। शायद उसने कपड़े बदले थे। यह भी अब धुँधला पड़ चुका है कि उसने कौन-सा रंग पहना था। स्मृति कभी-कभी चेहरे को बचा लेती है, कपड़ों के रंग भूल जाती है; कभी किसी दुपट्टे की लहर याद रहती है और पूरा चेहरा धुँधला हो जाता है।

उसने आकर कुछ नहीं पूछा।

लड़के ने भी कुछ नहीं कहा।

उसने साइकिल के कैरियर में फँसा लंच बॉक्स निकालकर लड़की के हाथ में थमा दिया, फिर हरकुलिश सीधी की, हैंडल सँभाला और उस पर बैठ गया।

लड़की पीछे कैरियर पर बैठ गई।

बस, इतना-सा।

लेकिन जीवन की कुछ यात्राएँ इतनी-सी ही होती हैं और बाद में वही सबसे लंबी प्रतीत होती हैं।

हरकुलिश धीरे-धीरे सड़क पर उतर आई।

पहले पहिए की चरमराहट सुनाई दी।

फिर हवा की सरसराहट।

फिर पेड़ों की परछाइयाँ सड़क पर पीछे भागती हुई दिखाई दीं।

और फिर. . .

अचानक लड़के को लगा जैसे कहीं बहुत पास कोई लगातार धाड़. . . धाड़. . . धाड़. . . की आवाज़ आ रही हो।

उसने इधर-उधर देखा। सड़क लगभग खाली थी।

कुछ पल बाद उसे समझ में आया। यह आवाज़ बाहर कहीं नहीं, उसके भीतर से उठ रही थी।

यह उसके अपने दिल की धड़कन थी।

दिल जैसे पहली बार उसे अपनी मौजूदगी का एहसास करा रहा था। वह इस तरह धड़क रहा था मानो बरसों से बंद कोई दरवाज़ा अचानक खुल गया हो।

उसे डर भी लगा कि कहीं लड़की यह धड़कन सुन न ले।

आदमी कभी-कभी अपनी ख़ामोशी से ज़्यादा अपनी धड़कनों से घबराता है।

लड़की चुप थी।

लड़का भी चुप।

उसके भीतर शब्दों का मेला लगा हुआ था। एक नहीं, अनेक वाक्य। अनेक सवाल। अनेक स्वीकारोक्तियाँ। पूरा का पूरा शब्दकोश उसके होंठों तक आकर ठिठका हुआ था।

वह पूछ सकता था, कह सकता था। जो पूछ सकता था या कह सकता था वे सारे वाक्य उसके मस्तिष्क में कुलाँचें भर रहे थे। पर बाहर नहीं आ पा रहे थे।

जब भी कोई बात बाहर बस निकलने को होती, हर बात के आगे एक और शब्द आकर पहरेदार की तरह खड़ा हो जाता -

"कहीं. . ."

कहीं वह बुरा मान गई. . . . तो?

कहीं उसे हँसी आ गई. . . . तो?

कहीं उसने इंकार कर दिया. . . . तो?

कहीं उसके बाद उसके घर जाना बंद हो गया. . . .तो ?

कहीं यह छोटी-सी निकटता भी हमेशा के लिए खो गई. . . . . तो?

मनुष्य के जीवन में अनेक अवसर बड़े से बड़े विरोधी को हराकर आगे निकल जाते हैं,किन्तु कई बार छोटे-छोटे शब्दों से हार जाते हैं उस समय ऐसा ही एक शब्द *'कहीं'*. . . उसके सामने बार आ रहा था।

शायद यह 'कहीं' उस दिन उसके साथ-साथ साइकिल पर बैठा चल रहा था।

उसे आज लगता है कि उस दिन हरकुलिश पर वास्तव में तीन लोग सवार थे - वह स्वयं, लड़की और यह अदृश्य 'कहीं'।

इसी 'कहीं' ने उसके होंठों पर रखे सारे शब्द वापस भीतर लौटा दिए।

इतनी देर में कॉलेज आ गया।

जिस काम के लिए आए थे, वह भी चुपचाप पूरा हो गया। बहन ने लंच बॉक्स ले लिया। शायद दो-चार सामान्य बातें भी हुई होंगी। वे बातें अब याद नहीं रहीं। स्मृति ने उन्हें अपने से अलग कर दिया है, क्योंकि वे इस कहानी की नहीं थीं।

असल कहानी तो उन कुछ मिनटों की थी जो कॉलेज आने से पहले साइकिल पर बीते थे।

अब वापसी शुरू हुई।

वही सड़क।

वही साइकिल।

वही वे दोनों।

दोनों बाहर बाहर शांत थे, लड़का अपने बारे में तो जानता था कि भीतर कितना अशांत है। उसके अंदर कितनी उथल पुथल मची हुई है। लेकिन लड़की के बारे में कुछ भी पक्का नहीं था। हो सकता है वह बाहर की तरह भीतर भी शांत हो। जो घटना लड़के के दिल के रास्ते से घट रही थी हो सकता है वह उसके लिये महज़ लड़के की छोटी सी 'हेल्प' करना ही हो।

लेकिन इस सब के बाद भी, जाते समय और लौटते समय के बीच कुछ बदल चुका था।

लड़का अब पहले से भी अधिक संकोच में था। जैसे एक बार जो मौन उनके बीच बैठ गया था, अब उसे हटाना उसके बस की बात नहीं रही। उसने पूरी तरह नियति के आगे 'सरेंडर' कर दिया था।

तुम सोच रहे होगे - वह उसे भँवरताल गार्डन क्यों नहीं ले गया ?

कॉफी हाउस क्यों नहीं चला गया?

कोई बहाना बना सकता था।

थोड़ी देर और साथ रह सकता था।

हाँ, बहाना बना सकता था। कुछ देर का साथ किसी बहाने और चुरा सकता था।

अगर वह ऐसा कर लेता !!

तो शायद उस जीवन कथा के अगले अध्याय कुछ और ही तरह से लिखे गए होते।

शायद बहुत कुछ बदल जाता।

या शायद कुछ भी नहीं बदलता।

उसके बाद भी कुछ नहीं बदलता, यदि बदलना ही नहीं होता तो क्यों कुछ भी बदलता।

मनुष्य बाद में बैठकर संभावनाओं की पूरी दुनिया रच लेता है, लेकिन जीवन केवल वही रास्ता तय करता है जिस पर उस क्षण उसके पैर पड़ते हैं। और वो पैर कहाँ पड़ेंगे? ये तो कोई और ही तय करता है न।

नियति अपनी पटकथा पहले से लिखती है या हम चलते-चलते उसे लिखते जाते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर लड़के को आज तक नहीं मिला। इतना अवश्य समझ में आया कि उस दिन उसने जो नहीं कहा, वह भी उसके जीवन का उतना ही बड़ा हिस्सा बन गया, जितना अगर कह दिया होता।

लौटते समय बिल्कुल ख़ामोशी नहीं रही।

कुछ सामान्य बातें हुईं - सड़क, कॉलेज, घर, मौसम, शायद किसी ऐसे का ज़िक्र भी जिसे दोनों जानते थे। लेकिन लड़के की नज़र से देखा जाए तो वे बातें शब्द नहीं थीं, वे केवल मौन के किनारों पर तैरती हुई छोटी-छोटी लहरें थीं। असली नदी तो भीतर बह रही थी।

घर आ गया।

लड़की उतर गई।

शायद उतरते समय उसके चेहरे पर एक हल्की-सी मुस्कान भी रही हो।

फिर वह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर चली गई।

लड़का कुछ देर तक साइकिल के हैंडल पर हाथ रखे खड़ा रहा। जैसे अभी भी उसे विश्वास न हो रहा हो कि यह छोटी-सी यात्रा सचमुच घट चुकी है।

उसने हरकुलिश का हैंडल थपथपाया।

उसे लगा, आज इस साइकिल ने केवल दो लोगों को नहीं ढोया, बल्कि उसकी उम्र के सबसे निष्कलुष, सबसे मासूम और सबसे ख़ामोश सुख को भी अपने पहियों पर बिठाकर कुछ दूर तक चला दिया है।

उस दिन उसे कुछ मिला नहीं था।

कुछ कहा भी नहीं गया था।

फिर भी लौटते समय उसके भीतर एक अजीब-सी रौनक थी - वैसी, जैसी बरसात के बाद की धूप में पानी से भीगी हुई पत्तियों पर उतर आती है।



ये कुछ और तस्वीरें इस पिछली तस्वीर के जैसी ही हैं। वही हरकुलिश वही उसके दोनों सवार, बल्कि 'तीनों'- हाँ ! 'कहीं' भी हर बार उनके साथ साथ रही।

वही रास्ता, वही बातें जिनका कहा जाना बिल्कुल ज़रूरी नहीं था - कही जाती रहीं। और वे बातें जो कही जानी थीं आस पास मँडराती रहीं। लेकिन ध्वनित नहीं हुईं। अबोली और अनकही ही रह गईं।

परंतु एक बार लड़की ने उसके मोहल्ले के एक लड़के के बारे में ज़रूर उससे कहा –

"वो मुझे कॉलेज जाते वक़्त परेशान करता है। तुम्हारे कॉलेज में ही पढ़ता है। तुम्हारा जूनियर है। उसे अच्छे से समझा देना, लड़ाई वड़ाई मत करना बस सीनियर की तरह से . . . . "

इस बात में कोई रोमेन्टिक अर्थ या भवार्थ कहीं भी नहीं छिपा था।

परंतु लड़के के लिये इस बात के मायने में वो सब छिपा हुआ था जो कि उसकी उम्मीद से भी बहुत ज़्यादा और सुच्चा था।

लड़की के मोहल्ले में रहने वाला लड़का, लड़की को परेशान करता था। ये बात अपनी जगह पर थी। और लड़के को, उस लड़के को तो हैंडल करना ही था; ये भी पक्की बात थी।

पर लड़की ने ये बात किसी और से नहीं सिर्फ़ उससे कही।

"इस बात का मतलब लड़के के लिये बहुत कुछ था !!" -

ये बात ये तो स्थापित करती ही थी कि लड़की को उसपर भरोसा था। उसने अधिकार पूर्वक उससे कुछ मांगा था। साथ ही वह उसके साथ साइकिल पर बाहर थी, सहज थी। जैसे एक तरह से बता रही थी- "जहाँ किसी और का कुछ कमेन्ट पास करना या ऐसी ही हरकतें करना उसे नागवार गुज़रता था, लड़के के साथ वह कम्फर्टेबल महसूस करती थी।"

बाद में लड़के ने अपने ग्रुप के अन्य लड़कों के साथ कॉलेज में उस लड़के का पता लगाया। उसे अच्छे से ताकीद कर दी कि वह उस लड़की से दूर रहे।

इसके बाद लड़की ने फिर दोबारा उससे उस मोहल्ले वाले लड़के की शिकायत कभी नहीं की।

ऐसी ही मन की भीतरी परतों के भी भीतर की मूक अनुभूतियों और उनके बीच होने वाली सामान्य बेमतलब सी बातों के ताने बाने पर समय अपना पट बुनता रहा जिस पर कोई रूपाकृति या डिज़ाइन नहीं उभर रही थी। बस सबकुछ अनगढ़ सी टेढ़ी–मेढ़ी बेमेल रंगों की अमूर्त सी आकृतियाँ बन रही थीं।

हो सकता है ऊपर बैठा 'जुलाहा' जो इन आकृतियाँ को रच रहा था। उसके पास उन आकृतियों का कोई और विश्लेषण हो। पर वे दोनों अपने बीच बुने जा रहे इस पट या वसन पर लिखी या उभर रही आकृतियों की भाषा से कतई अनजान थे।

□□

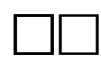
चलो एल्बम का अगला फ्लैप पलटो।

ये सारी तस्वीरें लड़के की एक मुँहबोली बहन के विवाह की हैं।

एक बात बताता चलूँ लड़के के अपने परिवार के अलावा भी एक और परिवार था। जिसमें लड़का उस परिवार के सदस्य की तरह से स्थापित था। वह उसके सबसे अच्छे मित्र का परिवार था। मित्र से बड़े दो और भाई थे और एक सबसे छोटी बहन, लड़का भी इन चार भाई बहनों के साथ जुड़कर पाँचवाँ भाई सरीखा था। शादी मित्र के मामा जी की बड़ी लड़की की हो रही थी। मित्र की छोटी बहन और मामा जी की लड़की ये दोनों लड़के की मुँहबोली बहनें थीं। लड़की और मित्र की छोटी बहन कॉलेज में क्लास मेट थीं। लड़की ये बात अच्छी तरह से जानती थी कि लड़के के संबंध इस परिवार से कैसे हैं।

जिस मुँहबोली बहन का विवाह हो रहा था, लड़की उससे भी मिल चुकी थी। लड़की विवाह में जिस दिन बारात आना था, आई और देर रात जब जाने की बात हुई तो

उसने कह दिया वह रात में यहीं रुकेगी। उसने पूरी शादी अटेण्ड की। वह उस दिन मेहँदी रंग या सैप कलर की साड़ी पहने हुए थी।



एक ये सबसे प्यारी तस्वीर है इस एल्बम की – मुझे नहीं लगता लड़के की ज़िंदगी में इससे ख़ूबसूरत कोई और तस्वीर कभी बनी होगी। पर यही तो कुदरत का करिश्मा है कि ख़ूबसूरत चीज़ें बस या तो यादों में बस के रह जाती हैं या तस्वीरों में कैद होकर। अगर असल ज़िंदगी में भी ऐसी बातें कभी भूल चूक से हो भी जाएँ तो भी वक़्त जल्दी ही अपनी ग़लती सुधार लेता है। हाँ तुम्हें इतनी सहूलियत ज़रूर दे दी जाती है कि उस तस्वीर को जब मर्ज़ी देख लो या उस बात को जब जी चाहे याद कर लो। बस, वक़्त रिवाइन्ड नहीं होता न इतना मेहरबान कि फिर से उन हसीन-तरीन लम्हों को जी लो।

मैं फिर बहकने लगा, तुम तस्वीर में देख रहे हो न ये दोनों किस तरह मासूम परिंदों की तरह बाहरी दरवाज़े की जो दो तीन सीढ़ियाँ हैं उन पर बैठे हुए हैं। लड़के की नौकरी लग गई है। अभी अपॉइंटमेंट लेटर मिला है। बाक़ी फॉर्मेलिटीज़ पूरी हो रही हैं। लड़का एग्रीमेंट पेपर्स पर श्योरिटी लेने वालों के हस्ताक्षर कराके लौटा है। उसने अपने बाक़ी के सारे पेपर्स भी लड़की के पास संभलवा के रखवा दिए हैं। लड़की ने भी उन सभी महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों की फ़ाइलों को रख लिया है। अब वे आपस में धीरे धीरे कुछ बातें कर रहे हैं। जो उनके अलावा किसी और को सुनाई नहीं पड़ रहीं।

अचानक मेरे कानों में कुछ शब्द सुनाई दिए। वो मैं तुम्हें बता देता हूँ – पता नहीं किस बात के किस सिरे को पकड़ कर लड़के ने पूछा –"अच्छा तुम्हें लड़के का कौनसा नाम सबसे अच्छा लगता है या पसंद है?"

लड़की ने सोचने में वक़्त नहीं लिया, धीरे से मुस्कुरा के बोली- '. . . . . '!!

और लड़की का ? लड़के ने धीरे से पूछा।

लड़की ने फिर बिना समय लिये कहा – '. . . . . '!!

लड़की ने जैसे ये नाम बहुत पहले से सोच कर रखे हुए थे।

मैं बस इतना सुन पाया, वे दोनों फिर बातों में मशगूल हो गए।

"बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना" की तर्ज़ पर मैं वहाँ से दूर हो गया। सोचा इन्हें क्यों डिस्टर्ब करूँ।"

हाँ एक बात और बता दूँ कि लड़के को ये बात बहुत बाद में समझ में आई कि लड़की को ये नाम क्यों पसंद आए होंगे ? ये बात उसे इतने दिनों के बाद में समझ में आई कि तब तक सब कुछ मटिया मेट हो चुका था।

तुम्हें भी उत्सुकता होगी – चलो मुझे लड़के ने जो बताया है वही बताए देता हूँ।

" लड़के वाले नाम का पहला अक्षर 'लड़की' के नाम का पहला अक्षर है।

लड़के वाले नाम का अंतिम अक्षर 'लड़के' के नाम का अंतिम अक्षर है।

लड़के वाले नाम के बीच के अक्षर में जो स्वर लगा है वह उसी जगह 'दोनों' के नामों में है।

" लड़की वाले नाम का क़ाफ़िया 'लड़की' के 'घर' के नाम से जुड़ता है।"

क्या ये इस बात का संकेत नहीं है कि लड़की ने नाम सोच समझ कर ही सोच रखे थे।

ये लड़के का सोचना था।

हालाँकि ये नाम उन दोनों के दरमियाँ क्यों आए ?

ये मैं नहीं जानता, पर अंदाज़ा लगाया जा सकता है; और मेरे ख़याल से तुम भी अब तक लगा चुके होगे।

□□

अब इस एल्बम में बहुत थोड़ी सी तस्वीरें बची हैं।

ये जो तस्वीर है इसमें तुम देख रहे हो लड़की बिस्तर पर तकिये में मुँह छिपाए चुपचाप ज़ार ज़ार रो रही है। लड़का पलंग के समीप खड़ा है। उसे इस वक़्त ये भी समझ में नहीं आ रहा कि उसने दरअसल क्या कर डाला है। उसकी एक लंबी सी बेरहम तहरीर ने

उस पेंटिंग पर पानी फेर दिया था। जो अभी पूरी बनी भी न थी। बल्कि अभी तो उस तस्वीर में स्केचिंग ही कम्प्लीट नहीं हुई थी।

कोई कहानी ठीक ढंग से शुरू भी न हुई हो और ख़त्म हो जाए। बल्कि ख़त्म कर दी जाए। मैं ऐसी किसी कहानी के बारे में नहीं जानता। सिवाय इस लड़की और लड़के की कहानी के।

आओ उस दिन मैंने जो कुछ देखा उसका आँखों देखा अहवाल तुम्हें सुनाता हूँ।

दोपहर का वक़्त है।

आसमान में सूरज सर के ऊपर से थोड़ा सा पश्चिम की ओर सरक चुका है।

पर लड़की के घर के सामने वाले हिस्से में अच्छी खासी धूप है।

घर पर काम करने वाला नौकर बाहर ही कपड़े धो रहा है।

लड़का अचानक अपनी हरकुलिस पर आता दिखायी पड़ता है।

वह मकान की बाउंड्री के साथ अपनी साइकिल टिका कर रखता है।

अब बाउंड्री के लोहे के फाटक को खोल कर अंदर दाखिल होता है । लड़का बेहद गंभीर दिखाई पड़ रहा है। शायद तनाव में भी है। गहरी गहरी साँसों के बीच कुछ सोच रहा है। कभी लगता है किसी निश्चय पर पहुँच गया है कभी लगता है हताश हो कर निराशा के आगोश में चला गया है।

अचानक लड़की बाहर आती है और उसे भीतर बुला लेती है।

घर पर कोई नहीं है। यदि कोई है भी तो किसी भीतरी कमरे में हो सकता है।

“क्या बात है ?” लड़की ने सहजता से पूछा।

“तुमसे आज बहुत खास बात करना है – मेरी बात को समझने की कोशिश करना।”

लड़के ने कुछ निश्चय सा कर लिया था।

“अभी ठहरो ! अभी ‘ये’ काम कर रहा है।” - लड़की ने उसे रोका, ‘ये’ से उसका मतलब घरेलू नौकर से था। वह वहीं आस पास था, धुले हुए कपड़े धूप में फैला रहा था।

लेकिन लड़का बहुत बेचैन था। उसके अंदर जो कुछ भी भरा हुआ था वह उसे पूरे का पूरा जल्द बाहर निकाल देना चाहता था।

उस बेमुरव्वत , कमनसीब , बेरहम दोपहर को जाने कौन कौन से गृह-नक्षत्र इस स्थिति में इकट्ठा हो गए थे कि उनकी काली छाया में एक मासूम किस्से को बड़ी बेदर्दी से कत्ल हो जाना था।

सो वही हुआ जो नियति ने चाहा।

वही हुआ जो कुदरत की किताब में पहले से लिखा हुआ था।

ऊपर बैठा ईश्वर निर्विकार भाव से वो सब होता हुआ देख रहा था जो उसने सोच रखा था।

अनहोनी बिजली बनकर उस खेत में आ गिरी जिसमें बीज तो पड़ चुके थे पर अंकुर न फूटे थे।

लड़के ने नियति, कुदरत और विधाता की इच्छानुसार वो सब कुछ लड़की से बोल डाला जिसके लिये होश आने के बाद से वो आज तक पछता रहा है।

उसने जो कुछ कहा उसका भावार्थ ये था कि “मैं अब और तुम्हारा साथ न दे पाऊँगा।”

या

“अब इस राह पर और आगे मैं तुम्हारे साठ न चल पाऊँगा”।

इस बात को जस्टीफाई करने के लिये उसने एक वकील की तरह कई तर्क दिए।

उसने वो सबकुछ कहा जो उसे बहुत पहले सोचना चाहिए था।

देखा जाए तो अब उसे ये अधिकार बिल्कुल भी नहीं था कि इस तरह से पीछे हटता या पलायन करता।

लेकिन मनुष्य के पास एक बेहद आसानी से उपलब्ध ओट है – जिसे वह नियति, प्रारब्ध, किस्मत जैसे नामों से पुकारता है और जिसका इस्तेमाल वह अपने हर ग़लत कार्य को छिपाने, जस्टिफाई या जायज़ साबित करने के लिये कर लेता है। इसके हवाले से वो अपने किसी भी अमल , फैसले या ख़याल को दुरुस्त, मुनासिब या सही साबित कर लेता है।

लड़की उसकी लंबी तहरीर में से कितनी बातें सुन पाई कितनी नहीं ये बताने के लिये वो अब इस दुनिया में नहीं है। लेकिन उस रोज़ आखिर में वह भीतर के कमरे में चली गई। बिस्तर पर तकिये में मुँह छिपा कर रो रही थी। उसका बदन उसकी मूक सिसकियों से बुरी तरह काँप रहा था।

लड़का भीतर आया। उसे अभी भी समझ में नहीं आया था कि सामाजिक मर्यादाओं और पारिवारिक जिम्मेदारियों की आड़ में उसने कितना बड़ा गुनाह कर डाला है।

इसके बाद कुदरत अपने दूसरे कामों में लग गई !

नियति ने अपनी किताब का पन्ना पलट लिया !!

और विधाता सोने चला गया !!!

लड़का भी अपने घर लौट गया।

लेकिन इसके बाद भी सब कुछ ख़त्म नहीं हुआ। अब 'कर्मों' की कहानी शुरू होगी। पर उसमें अभी समय है। वह कहानी सुनाऊँगा इस श्रृंखला की तीसरी कड़ी में।



अब दो एक आखिरी तस्वीरें तुम्हें दिखा दूँ फिर इस चैप्टर को समाप्त करूँ।

इसके बाद यानी उस ऊपर लिखी अनहोनी के बाद भी दुनिया ख़त्म नहीं हुई। होती भी नहीं है। इतने अनंत, अछोर अस्तित्व और बे-कनार क़ायनात में ऐसी कहानियाँ और किस्से तो पल पल जीते मरते रहते हैं। इसका हिसाब किताब रखने विधाता ने किसी को तैनात नहीं किया है। बस किस्से जन्म लेते हैं और मर जाते हैं, कभी पूरे होकर कभी आधे रास्ते में अधूरे बे-मौत।

तुम कहोगे मैं फिर फिलासफ़ी में उलझ गया।

ये एक तस्वीर देखो ये किसी ऐसे मौके की फोटो है जब लड़की के परिवार के कई लोग इकट्ठा हुए थे। लड़की की बड़ी बहन ने लड़के को कुछ देते हुए लड़की को देने के लिये कहा।

लड़की दूसरे कोने में बैठी थी।

लड़का वह सामान ले पाता कि उसके पहले ही लड़की स्वयं उठकर बड़ी बहन के नज़दीक आ गई। वह सामान बड़ी बहन के हाथ से लेते हुए लड़की ने सभी को सुनाते हुए बात समाप्त कर दी –

"इसे मत कहो, ये मेरे लिये कुछ करेगा तो इसे 'पाप' लगेगा।"

□□

अब फिलहाल इस एल्बम की अंतिम फोटो,

लड़के के सबसे अच्छे मित्र का घर, लड़का बरामदे में बैठा है। सामने दीवार पर लड़की का पोर्ट्रेट टँगा

हुआ है। भीतरी कमरे में लड़के की मुँहबोली बहन की सहेलियाँ आई हुई हैं, उन सहेलियों में 'लड़की' भी आई हुई है। लड़का उन लड़कियों के आने के बाद आया था। वह नहीं जानता था। भीतर अन्य लड़कियों के संग वह लड़की भी मौजूद है।

लड़के ने पहले कभी लड़की का एक पोर्ट्रेट बनाया था। कैनवास पर ऑइल पेंट से। वही पोर्ट्रेट एक माकूल जगह पर लड़के के मित्र के घर के बरामदे में दीवार पर टँगा हुआ था। मित्र की बहन जो लड़के की मुँहबोली बहन थी वह अपनी सहेलियों के साथ सबसे भीतरी कमरे में थी। लड़कियों के हँसने खिलखिलाने की आवाज़ें आ रही थीं पर वे तीन चार लड़कियों की आवाज़ें थीं। लड़के ने उतना ध्यान नहीं दिया वह अपने काम में लगा रहा। वह घर लड़के का एक तरह से एक और घर था। इसलिए वह सहज रूप से अपने किसी काम में मशगूल था या कुछ पढ़ रहा था। थोड़ी देर बाद वे

सब लड़कियाँ वापस जाने के लिये बाहर आईं। अभी भी लड़के ने ध्यान नहीं दिया ये सोचकर कि बहन की कॉलेज की दोस्त होंगी।

अचानक उसके कानों में 'उस लड़की' की आवाज़ पड़ी –

"अब इसे क्यों टाँग के रखा हुआ है?"

लड़के ने चौंक कर देखा –

लड़की चलते-चलते एक पल को रुकी भी नहीं। बस तिरछी निगाह से पहले दीवार पर टँगे अपने चित्र को देखा, फिर उसी तिरछी नज़र से लड़के को... और बिना उसके जवाब का इंतज़ार किए अपनी सहेलियों के साथ आगे बढ़ गई।

उस एक वाक्य में शिकायत थी या संकोच ?

छिपा हुआ गुस्सा था या अपने आप पर अफ़सोस ?

उलाहना था या अपने होने का मौन अधिकार ?

लड़का उस दिन भी इसका जवाब नहीं ढूँढ़ पाया. . . और शायद आज तक नहीं।

लड़की उसे तिरछी निगाहों से देखती हुई कह रही थी और आगे बढ़ती जा रही थी।

लड़का उसे अवाक् ! देखता रह गया।

लड़कियाँ आँगन से गुज़रते हुए बाहर चली गईं।

लड़का कभी- आँगन के हरे रंग से पुते हुए लकड़ी के खुले हुए दरवाज़े को देख रहा था !

जिससे गुज़र कर अभी अभी लड़की गई थी।

और कभी –

सामने दीवार पर टँगे पोर्ट्रेट को जिसमें –

'वह लड़की' तिरछी निगाहों से उसे देखते हुए मुस्कुरा रही थी।

□□□

8

सिनेमा

(रजत पट पर ज़िंदगी की धूप-छाँव)

एक बार, जाने किस आवेग में, मैंने अखिलेश से कहा था ठीक उसी नाटकीय अंदाज़ में, जैसे कोई पुराना नारा हवा में गूँजता है *"तुम मुझे कैमरा दो, मैं तुम्हें एक पिक्चर बनाकर दूँगा।"*

कैमरा से मेरा आशय फ़िल्म कैमरे से था और पिक्चर से एक पूरी फ़िल्म। उस समय यह वाक्य मुझे किसी उद्घोषणा की तरह लगा होगा, लेकिन आज उसे याद करता हूँ तो वह अपने भीतर किशोरावस्था की एक भोली, कुछ बेतुकी-सी आकांक्षा को सँजोए दिखाई देता है। उन दिनों मन में फ़िल्म बनाने की इच्छा अवश्य थी। सिनेमा की दुनिया मुझे आकर्षित करती थी उसकी रोशनियाँ, उसके दृश्य, उसके भीतर छिपी अनगिनत कहानियाँ। पर इच्छा और जुनून के बीच जो महीन-सी दूरी होती है, शायद मैं उसे कभी पार नहीं कर सका।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि मेरे भीतर चाह तो थी, पर वह बेचैनी नहीं थी जो मनुष्य को अपनी समूची सत्ता दाँव पर लगाने के लिए विवश कर देती है। शायद उसी कमी ने मेरे जीवन की दिशा भी तय की। कुछ सपने ऐसे होते हैं, जिन्हें केवल देखना पर्याप्त नहीं होता; उन्हें लगातार अपने भीतर जलाए रखना पड़ता है, जैसे अँधेरे कमरे में कोई दीपक।

मेरे साथ शायद यही हुआ। मैंने अपने जीवन में अनेक सपने देखे या यूँ कहूँ कि जितने भी सपने देखे, उन्हें बड़े जतन से पाला-पोसा, उनके लिए मन में जगह बनाई, उन्हें कल्पनाओं की धूप और उम्मीदों का पानी दिया। लेकिन उनमें से अधिकांश, शायद

सभी, किसी मुकाम तक पहुँचने से पहले ही रास्ते में कहीं ठहर गए। वे टूटे नहीं, बस धीरे-धीरे धुँधले पड़ते गए जैसे बरसों पुरानी किसी फ़िल्म की रील, जिसके दृश्य अब भी मौजूद हों, पर उनकी चमक समय की धूल में खो गई हो।

मेरे अपने सपनों से पहले घर के हालात और बाई-बाबूजी के सपने सामने आ खड़े होते थे। हालाँकि, अभी इस क्षण यह सब लिखते हुए मुझे लग रहा है कि कहीं मैं किसी जायज़-से दिखाई देने वाले बहाने के पीछे छिपने की कोशिश तो नहीं कर रहा हूँ। मैं अपने बाई-बाबूजी को दोष नहीं देता, किन्तु उन्हें पूरी तरह दोषमुक्त भी नहीं कर पाता हूँ। यह बात बिलकुल सोलहों आने सच है कि मैंने कभी किसी चीज़ के लिए ज़िद नहीं की। बस मन ही मन यह मनाता था कि वे लोग वही सोचें जो मैं सोचता हूँ। अब यह तो कोई बात न हुई! कोई तुम्हारे मन की बात आखिर जाने तो जाने कैसे। लेकिन मैं तो बस इस बात से डरता रहा कि कहीं उन्हें अपना मन मारकर मुझे अपने मन की करने की अनुमति न देनी पड़े। यह बात मुझे बहुत ज़्यादा डरा देती थी। मैं ऐसा कतई नहीं चाहता था। यहाँ एक बात और मुझे कम-से-कम अब तो मान लेनी चाहिए कि मैं स्वयं भी ऐसा कोई जोखिम नहीं लेना चाहता था, जिससे बाद में ऐसी परिस्थितियाँ बन जाएँ जो उन दोनों के दुःख का कारण बनें। जोखिम लेने की हिम्मत जुटा पाना आज भी मेरे लिए उतना ही कठिन है, जितना उस समय था। फिर मैं कैसे उन्हें दोषी मानूँ। मेरे कारण दूसरे की ख़ुशी खंडित हो, ऐसा मैं कभी नहीं चाहता था, न ही आज चाहता हूँ। पर इसके पीछे मेरा अपने आपको अपने कम्फर्ट ज़ोन में सुरक्षित रखना और कठिनाइयों से बचाना था, या फिर दूसरों की भावनाओं की कद्र करना? यह यक्ष-प्रश्न आज भी मेरे सामने गाहे-ब-गाहे आकर खड़ा हो जाता है। हर बार मैं सोचता हूँ जो उत्तर मुझे सही लगता है, कोई उसे ग़लत करार दे। लेकिन जो सही है, उसे कोई ग़लत कैसे और क्यों मानेगा। इस बिंदु तक आकर मैं 'यू-टर्न' ले लेता हूँ। किसी और विचार को थामकर उस जगह से 'उड़' लेता हूँ।

उपर्युक्त विवेचना से काफ़ी कुछ स्पष्ट हो गया होगा कि मैं इच्छा होने के बाद भी आख़िर क्यों 'पिक्चर' नहीं बना सका।

अब जो नहीं हो सका, सो नहीं हुआ।

और ऐसा भी नहीं है कि अब कभी नहीं हो सकता। वह एक अलहदा बात है उसे यहीं छोड़ देते हैं।

जो बात बताना चाहता हूँ, वह यह है कि स्कूल और कॉलेज की पढ़ाई के दौरान मैं सत्यजित रे, मृणाल सेन, विमल रॉय, गुरुदत्त, राज कपूर, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी जैसे दिग्गज फ़िल्मनिर्माताओं और निर्देशकों की बहुतेरी फ़िल्में देख चुका था। फ़िल्म्स डिवीज़न की कोई अच्छी डॉक्युमेंट्री किसी फ़िल्म के साथ दिखाई जाती, तो वह भी देख डालता था। वे डॉक्युमेंट्रीज़ प्रायः श्वेत-श्याम हुआ करती थीं। उनमें बनराज भाटिया, विजय राघव राव, रघुनाथ सेठ आदि महान संगीतकारों का पार्श्व-संगीत हुआ करता था, जिसका एक अलग आकर्षण होता था।

मैं सामान्य पारिवारिक या मसाला फ़िल्में नहीं देखता था, ऐसा कतई नहीं है। आगे इस पर भी चर्चा करूँगा, पर हाँ, जिन निर्देशकों का नाम मैंने ऊपर लिया है, उनकी फ़िल्में यदि जबलपुर की किसी भी टॉकीज़ में दिखाई जातीं, तो मैं ज़रूर देखता था। वैसे ये फ़िल्में कम ही आती थीं, सिवाय गुरुदत्त, राज कपूर, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य और बासु चटर्जी आदि की।

एक बात, जो मैं यहाँ बताऊँगा, वह शायद बचकानी लगे। मैं इन महान निर्देशकों की अनमोल फ़िल्मों के कुछ दृश्य, जो मुझे अच्छे लगते थे, उन्हें मन ही मन अपने हिसाब से 'शूट' करता था। कई बार कलाकारों को भी बदल देता था। ये खेल मैं मज़े लेकर खेला करता था।

दरअसल निर्देशक बनने का सपना तो मैं बहुत पहले से देखने लगा था। इसके पीछे शायद सबसे बड़ा हाथ कक्का यानी कंधीलाल जी विश्वकर्मा के घर 'राम-कुटीर' में होने वाली राम-लीला की रिहर्सल का था।

□□

शारदीय नवरात्रि के समय होने वाली गिरिजा शंकर रामलीला समिति की की रिहर्सल कोई एक-दो दिन पहले नहीं, बल्कि पूरे एक-डेढ़ महीने पहले से शुरू हो जाती थी। मैं

शाम की पढ़ाई समाप्त करते ही अक्सर वहाँ जा पहुँचता और कभी कक्का के बगल में, तो कभी जहाँ थोड़ी-सी भी जगह मिल जाती, वहीं बैठकर बड़े मनोयोग से सारी गतिविधियाँ देखा करता था। वहाँ मेरे अलावा मेरा कोई और हमउम्र नहीं होता था। केदारनाथ जो कंधीलाल जी का दूसरे नंबर का बेटा था और मेरा मित्र भी इन रिहर्सलों में कभी विशेष रुचि नहीं लेता; उसे उस बमें कोई दिलचस्पी न थी। मैं प्रायः अंत तक वहीं बना रहता। कभी-कभी देर अधिक हो जाने पर बुआ मुझे बुलाने चली आतीं; फिर वे भी कुछ देर काकी के पास बैठतीं और उसके बाद हम घर लौटते। राम-कुटीर एक-दो मंज़िला, पक्की, मजबूती और देखने में अत्यंत सुन्दर इमारत थी। ऊपर की मंज़िल पर कक्का लोग रहते थे, जबकि नीचे के ग्राउंड फ़्लोर में एक सिन्धी परिवार किरायेदार के रूप में बसा हुआ था। रिहर्सल ड्रॉइंग रूम में होती थी, जो वस्तुतः एक बड़ा-सा हॉल था। उसमें पंद्रह-बीस लोग आराम से दीवारों से सटकर बैठ सकते थे। मुख्य प्रवेश-द्वार को छोड़कर शेष दोनों दरवाज़े बंद कर दिए जाते और बीच का स्थान रिहर्सल के लिए खाली छोड़ दिया जाता। हारमोनियम, तबला, ढोलक, खंजरी, मँजीरा और घुँघरू बजाने वाले कलाकार भी वहाँ उपस्थित रहते। समिति के कुछ वरिष्ठ सदस्य रामलीला की मुद्रित स्क्रिप्ट, रामचरितमानस और अन्य आवश्यक ग्रंथ साथ लेकर आते। कंधीलाल जी 'निर्देशक' के रूप में प्रवेश-द्वार के सामने वाली दीवार की ओर तकियों के सहारे गद्दे पर आसन जमाए रहते; कभी-कभी वे हारमोनियम भी अपने सामने रख लेते थे। मैं उनके बारे में पहले ही कह चुका हूँ कि वे लकड़ी की बनी मज़बूत बैसाखियों के सहारे चलते थे। पोलियो के कारण उनके दोनों पैर अत्यंत दुर्बल और पतले थे, किन्तु कमर से ऊपर का शरीर एकदम स्वस्थ, सबल और हृष्ट-पुष्ट था। उनकी आवाज़ अद्भुत रूप से ठोस और स्वरों में गंभीर दबंगता थी। वे रामचरितमानस का पाठ बड़े सरस ढंग से किया करते थे; श्लोक, स्तुति और भजन का उनका गायन सुर, लय और माधुर्य से भरा होता था। कभी-कभी किसी दृश्य के मंचन या प्रस्तुति पर वहाँ उपस्थित अन्य वरिष्ठ सदस्य भी अपना मत रखते; फिर उस पर विचार-विमर्श होता, तर्क-वितर्क चलता। मैं भी मन ही मन कई बार कुछ अलग सोचता, किन्तु उसे कभी प्रकट न कर सका। अभिनेता भी अपने ढंग से किसी 'सीन' के संवाद, अभिनय, हाव-भाव और मुद्राएँ सुझाते, पर अंतिम निर्णय कक्का का ही माना जाता यद्यपि कई बार

वह अभिनेता के पक्ष में भी होता। एक ही दृश्य बार-बार दोहराया जाता। अभिनेता, गायक और वादक-वृंद बीच-बीच में डाँट भी खाते और अच्छा प्रदर्शन करने पर प्रशंसा भी पाते।

यह सब मेरे लिए किसी अलग, रोमांच से भरी दुनिया का द्वार था। उस समय मेरी उम्र महज़ आठ-नौ बरस की रही होगी, किन्तु शायद तभी मेरे भीतर 'निर्देशक' बनने का पहला बीज चुपचाप पड़ गया था।

□□

बहुत लंबे अंतराल के बाद लगभग सोलह बरस पश्चात वही बीज फिर अंकुरित हुआ। सन् उन्नीस सौ इक्यासी-बयासी के आसपास, जब मैंने भारत के महान नाटककार बादल सरकार के अत्यंत चर्चित नाटक *'पगला घोड़ा'* के मंचन का दायित्व अपने हाथ में लिया, तब लगा कि बचपन की वह सूक्ष्म-सी आकांक्षा भीतर ही भीतर जीवित रही थी और अवसर मिलते ही फिर से सिर उठाकर खड़ी हो गई।

अप्रैल 1982 के प्रथम सप्ताह की शायद दूसरी तारीख़ को मध्य प्रदेश विद्युत मंडल के अमर कंटक ताप विद्युत गृह चचाई के उस समय तक आधे अधूरे निर्मित सभागार के मंच पर "पगला घोड़ा" का मंचन हुआ।

ये सब तो बहुत बाद के दिनों की बातें हैं। इन्हें विस्तार से तीसरे भाग में सुनाऊँगा।

अभी वापस आएँ 'सिनेमा' की बातों पर। सिनेमा से मैं केवल एक 'दर्शक' की हैसियत से ही जुड़ सका, अब इस बात का क्या अफ़सोस करूँ। जो जैसा होना था, वैसा हुआ। फिर भी कहीं दिल में कुछ चुभता तो है ही

"अफ़सोस किसी से मिट न सकी इंसान के दिल की तिश्ना-लबी
शबनम है कि रोया करती है, बादल हैं कि बरसा करते हैं"

निसार इटावी

जैसा कि प्रायः सभी के साथ होता है, सिनेमा देखने का सिलसिला परिवार के साथ ही शुरू होता है। मैंने कौन सी फ़िल्म सबसे पहले देखी, ये मुझे बिलकुल भी याद नहीं

है। जो सबसे पुरानी याद है, वो फ़िल्म 'इंसानियत' की है। ये स्मृतियाँ मेरे मन में या चेतना के गलियारे में स्टिल फ़ोटोग्राफ्स की तरह यहाँ-वहाँ टँगी हुई हैं। किसी पेंटिंग एग्ज़ीवीशन की तरह। तो इस फ़िल्म से कनेक्टेड एक चित्र है, वह तुम्हें भी दिखाता हूँ

"मैं बाई की गोद में हूँ, छोटी बहन अनीता नहीं है, इसका मतलब है कि मैं लगभग एक बरस या उससे भी छोटा हूँ। मुझे फ़िल्म छूटने के बाद घर वापस जाती भीड़ दिख रही है। भीड़ बहुत ज़्यादा नहीं है। रात का समय है। यानी शाम का शो रहा होगा। मुझे श्री कृष्णा टॉकीज़ का गेट दिख रहा है। उसके ऊपर फ़िल्म का बड़ा सा पोस्टर दिख रहा है। पोस्टर में एक बड़ा सा बन्दर एक हाथ से किसी चीज़ को पकड़े हुए लटका है। उसकी लम्बी सी पूंछ साफ़-साफ़ दिखाई दे रही है। बाई के साथ बाबू जी और बुआ भी हैं। साथ में कोई और भी है, ये मैं नहीं कह सकता। बाई, बाबू जी और बुआ आपस में बतियाते चल रहे हैं। क्या? मुझे कुछ नहीं पता।"

वह 'इंसानियत' फ़िल्म थी, टॉकीज़ 'श्री कृष्णा' थी – ये सब मुझे बाद में पता चला। पर जिस चित्र का मैंने ऊपर वर्णन किया है, वह मेरी यादों की अलगनी पर तब से आज तक जस का तस फैला या लटका हुआ है। बाद में मुझे ये भी पता चला कि उस फ़िल्म में दिलीप कुमार और देव आनंद पहली और आख़िरी बार साथ-साथ थे। फ़िल्म से जुड़ी कुछ किंवदंती-टाइप बातें भी पता चलीं। और हाँ, उस फ़िल्म में जो बन्दर या चिम्पांजी था, उसका नाम मुझे बाद में बताया गया था, जिसे अब मैं भूल चुका हूँ। अभी लिखते वक़्त विकिपीडिया पर देखा तो फ़िल्म कास्ट में 'जिप्पो' एज़ 'जिप्पी' दिया है। हो सकता है ये उसी के सन्दर्भ में हो। फिर मेटा ए.आई. से पूछा, अंग्रेज़ी में पूछने पर 'जांगोरा' नाम बताया गया, जबकि हिंदी में पूछने पर 'जांगो' बताया गया। फिलहाल मैं संतुष्ट तो नहीं हूँ, पर आगे कभी इस मैटर को टच करूँगा। अभी आगे बढ़ते हैं।

जिस शुरूआती फ़िल्म के बारे में मुझे अच्छे से याद है, वह 'हरिश्चंद्र तारा मति' फ़िल्म है। यह फ़िल्म श्याम टॉकीज़ में लगी थी और मुझे बाबू जी ने अपने साथ ले जाकर दिखाई थी। यानी इस फ़िल्म को मैंने और बस बाबू जी ने साथ में देखा था। परिवार का कोई अन्य सदस्य साथ में नहीं था।

यह फ़िल्म 1963 में बनी थी। इस फ़िल्म में पृथ्वीराज कपूर और जयमाला आदर्श ने मुख्य भूमिकाएँ निभाई थीं। इस फ़िल्म का एक 'गाना' - जगत भर की रोशनी के लिए सूरज रे जलते रहना..." – जब पहली बार मैंने सुना तो रोमांच से भर गया था। मेरी उम्र उस समय महज़ सात बरस की थी। लेकिन उस फ़िल्म ने और उसके इस गाने ने मुझ पर बहुत प्रभाव डाला था।

सत्य के प्रति पूर्ण ईमानदार आस्था और उसे अपने जीवन के हर एक पल में बरतना, कैसी भी कठिन तम परिस्थिति हो, पर सच का साथ न छोड़ना ये सब बातें मुझे उस उम्र में कितनी समझ में आईं, अब शायद ठीक से न बता पाऊँगा। किन्तु सत्य के प्रति मेरे आग्रह को इस फ़िल्म ने दृढ़ ज़रूर किया था।

अब ज़िन्दगी के इतने बरस गुज़ारने के बाद जो कुछ भी सार या सीख समझ में आई है, उसे बापू के शब्दों में कहें तो

"सत्य से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है"।

- महात्मा गाँधी ।

अब इसी कड़ी में एक और बहुत श्रेष्ठ कथन याद आ रहा है,उसका भी यहाँ उल्लेख करूँगा -

"यह मायने नहीं रखता कि आप क्या सहते हैं,
बल्कि यह मायने रखता है कि आप उसे कैसे सहते हैं"।

- मार्कस ऑरेलियस (रोमन एम्परर)

मैं इन कथनों को 'राजा हरिश्चंद्र' से जोड़कर देख रहा हूँ , उन्होंने 'सत्य' को ईश्वर के ऊपर वरीयता दी , क्या कुछ नहीं सहा किन्तु सत्य का साथ कभी न छोड़ा। हम अपने जीवन को ही लें , क्या कुछ नहीं होता हमारे साथ, भले किसी के साथ कुछ ज़्यादा किसी के साथ कुछ कम ; और जो कुछ भी होता है उससे होकर गुज़ारना ही पड़ता है। हममें से कुछ कितना भी कष्ट क्यों ना हो उनसे बचने के लिए आड़े-तिरछे रास्ते नहीं अपनाते, वहीं कुछ लोग कष्ट से बचने 'कुछ भी' कर डालते हैं। ये 'कुछ भी' नियमों का अतिक्रमण होता है,जैसे ही आपने अतिक्रमण किया और नियम तोड़ा

वैसे ही अपने सच को अपने से विलग कर लिया। मेरा अपना मानना है हम साधारण लोग मानसिक और चारित्रिक रूप से 'राजा हरिश्चंद्र' तो नहीं हैं। किन्तु यदि हम इतना भी जान लें और मान लें कि हमने कहाँ ,कब और कैसे सच का रास्ता छोड़ा , यकीन जानिए – हमारे लिए इतना भी पर्याप्त है। परन्तु हममें से अधिकांश अपने को ग़लत कभी नहीं मानते। मुझे लगता है कुछ ज़्यादा ही फ़ल्सफ़ियाना बयान-बाज़ी हो चुकी इसे तर्क करते हैं और असल बात पर आते हैं। मैं कुछ और लिखूँ या बोलूँ , उससे बेहतर है "सूरज रे जलते रहना...." गाने के लिरिक्स से आपको रू-ब-रू कराऊँ –

"जगत भर की रोशनी के लिये
करोड़ों की ज़िंदगी के लिये
सूरज रे जलते रहना
सूरज रे जलते रहना .....

जगत कल्याण की खातिर तू जन्मा है
तू जग के वास्ते हर दुःख उठा रे
भले ही अंग तेरा भस्म हो जाये
तू जल-जल के यहाँ किरणें लुटा रे

लिखा है ये ही तेरे भाग में
कि तेरा जीवन रहे आग में
सूरज रे .....

करोड़ों लोग पृथ्वी के भटकते हैं
करोड़ों आँगनों में है अँधेरा
अरे जब तक न हो घर-घर में उजियाला
समझ ले अधूरा काम है तेरा

जगत उद्धार में अभी देर है
अभी तो दुनिया में अंधेर है
सूरज रे ....."

हो सकता है किसी को लगे , " सूरज का तो धर्म है जलना..." वो जलेगा , जलता रहेगा और उसकी भी अपनी आयु है जिसे पूर्ण कर वह भी नष्ट होगा। ये बात सोलह आने सही है। पर ये जिस ज्ञान की बात है उसका दिमाग़ से वास्ता है दिल से नहीं। मैं यहाँ दिल वाली बात कर रहा हूँ। ये गीत जो 'कवि प्रदीप' ने लिखा है जिसके सुर रचे हैं – 'लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल' ने और स्वर दिया है 'हेमंत कुमार' ने , क्या आपसे कुछ नहीं कहता ?



उन्हीं दिनों यानी इस फ़िल्म के आस-पास दो और फ़िल्में आईं थीं – 'फ़ूल बने अंगारे' जिसमें माला सिन्हा जी और राजकुमार साहब ने फ़िल्म के मुख्य किरदार अदा किए थे। दूसरी फ़िल्म थी, चेतन आनंद साहब की 'हक़ीक़त' जो 1964 में रिलीज हुई थी जिसके कलाकारों में धर्मेन्द्र , विजय आनंद , प्रिया राजवंश , संजय खान आदि थे।

सन् 1962 में हमें अपनी उत्तरी सीमा पर चीन द्वारा किए गए अप्रत्याशित और अचानक आक्रमण का सामना करना पड़ा था। जबकि हमें आज़ाद हुए बहुत थोड़ा समय ही हुआ था। फिर भी हमारे वीर सैनिकों ने डटकर मुकाबला किया और अप्रतिम बहादुरी का प्रदर्शन किया था। उसके फ़ौरन बाद से ही हमारे देश में देशभक्ति के जज़्बे को विषय बनाकर कई फ़िल्में बनीं। ये दो फ़िल्में भी वैसी ही थीं। हालाँकि 'फ़ूल बने अंगारे' फ़िल्म के शुरू-आती हिस्सों में वह एक पारिवारिक और प्रेम कथा ही थी। किन्तु अंतिम भाग में युद्ध की कहानी बताई गई थी। 'हक़ीक़त' तो विशुद्ध 'वार फ़िल्म' ही थी। बेशक इसमें भी नायक नायिका की मुहब्बत की झलक भी थी। परन्तु उस समय उपलब्ध सीमित संसाधनों और तकनीकी उपकरणों के साथ हिमालय की ठंडी वादियों में शूटिंग कर देव साहब के बड़े भाई चेतन आनंद साहब ने एक शानदार फ़िल्म बनाई थी। उस समय मुझे इस बारे में ज़्यादा समझ तो नहीं थी किन्तु फ़िल्म बहुत अच्छी लगी थी। उस फ़िल्म के सभी गाने एक से बढ़कर एक थे। लेकिन मुझे दो गाने बहुत अच्छे लगे थे। एक तो कालजयी गीत *"हो के मज़बूर मुझे उसने भुलाया होगा.....* दूसरा विजय आनंद, देव साहब के छोटे भाई पर फिल्माया गीत *"मस्ती में छेड़ के तराना कोई दिल का आज लुटायेगा खज़ाना कोई दिल का....."*

ये गीत आज भी मेरे प्रिय गानों में से है। रफ़ी साहब ने जिस मस्ती और सहजता से इस गीत को गाया है,वह आज भी मेरे हृदय की धड़कनों को झंकृत कर देता है। जबलपुर की आपा-धापी और बेतरतीब शोर-शराबा कहीं खो जाता है और मैं पहुँच जाता हूँ – लद्दाख़ की वादियों में।

बता दूँ ये दोनों फ़िल्में भी मुझे बाबू जी ने अपने साथ ले जाकर दिखाई थीं। इसके अलावा वे एक और फ़िल्म' लीडर' मुझे दिखाना चाहते थे। इसके बारे में मुझे उन्होंने बताया भी था। लेकिन बाद में ऐसा नहीं हो सका। उन्होंने स्वयं किसी कारण यह प्रोग्राम कैंसिल कर दिया था इस बारे में मैंने उनसे पूछा नहीं न ही उन्होंने कभी बताया। मैं वैसे भी किसी किस्म की ज़िद करने वाला बच्चा नहीं था। और बाबू जी के सामने तो बिलकुल भी नहीं। एक और फ़िल्म थी 'नौनिहाल' जो वे मुझे दिखाना चाहते थे। ये फ़िल्म सन् 1967 में आई थी। पर ऐसा न हो सका। क्यों ? ये बात वे ही जानते थे। मैंने भी उनसे पूछा नहीं था।

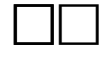
वे जबलपुर की सेन्ट्रल ऑर्डिनेंस डिपो, "सी.ओ. डी." में पेंटर के पद पर कार्य करते थे। जबलपुर की अन्य ऑर्डिनेंस फ़ैक्ट्रीज़ में जो भी सामान बनता था, उनका भंडारण "सी.ओ. डी." में होता था। उन सामानों के बारे में जानकारी उस बॉक्स के ऊपर लिखी जाती थी, जिनमें उन्हें रखा जाता था। बाबू जी का मुख्य रूप से यही कार्य था। इसे वे टिन या मोटे काग़ज़ की शीत पर स्टेंसिल काट कर करते थे। क्योंकि एक सी जानकारी वाले बहुत सारे बॉक्स हुआ करते थे। इसके अलावा जहाँ बस एक बार लिखना होता उसे सीधे ब्रश से लिख दिया करते थे। उनका दो बार पदोन्नति के साथ जबलपुर से बाहर ट्रांसफ़र हुआ था। परन्तु उन्होंने पदोन्नति स्वीकार नहीं की और जबलपुर में ही रहे। ऐसा मुझे बहुत बाद में पता चला कि इसकी मुख्य वजह हम लोगों की पढ़ाई-लिखाई थी। साथ ही, चूँकि बाई भी नौकरी करती थीं, इसलिए वे साथ नहीं जा सकती थीं। बाबू जी को लगता था, उनके बाहर चले जाने से सब कुछ अव्यवस्थित हो जाएगा, लिहाज़ा उन्होंने जबलपुर में रहने को तर्जीह दी। हाँ, जबलपुर में रहते हुए उन्होंने छुट्टियाँ बहुत कम लीं। कभी ज़रुरत पड़ी तो एक, दो या तीन दिन बस। जब वे 'बनखेड़ी' (मेरा ददिहाल) भी जाते, तो रविवार या किसी और छुट्टी के दिन को

मिलाकर तीन-चार दिन का अवकाश बना लिया करते थे। मेरी याददाश्त के अनुसार उन्होंने सिर्फ़ एक बार एक साथ दस दिनों से अधिक छुट्टियाँ ली थीं, जब उनकी जाँघ में बाल-तोड़ का फोड़ा हुआ था।



इन फ़िल्मों के अलावा, जिनका ज़िक्र मैंने ऊपर के पैराग्राफ़्स में किया है, कई और फ़िल्में मैंने बचपन में बाबू जी और पूरे परिवार के साथ भी देखी थीं। ऐसी कुछ याद रह गई फ़िल्में हैं – 'सन ऑफ़ इंडिया', 'कण कण में भगवान्', 'आशीर्वाद', 'मेरा मुन्ना', 'बेटी-बेटे', 'घराना', 'गृहस्थी', 'दो कलियाँ' आदि। कोई अच्छी पारिवारिक फ़िल्म यदि किसी सिनेमा हॉल में लगती, तब कभी-कभी पड़ोस की महिलाएँ भी उसे एक साथ देखने का कार्यक्रम बना लेती थीं। इनमें अक्सर बाई, बुआ, भाभी जी, स्व. मानिक राव जी की पत्नी, अब तो वे भी नहीं रहीं, कृष्णा की अम्मा आदि हुआ करती थीं। पर ऐसे अवसर मेरे बचपन के समय के हैं, जब सभी के घरों में एक या दो बच्चे थे। ये ग्रुप अक्सर मैटिनी शो ही देखा करता था। उस समय 'मैटिनी शो' अर्थात् दोपहर तीन बजे से शाम के छह बजे वाला शो। उन दिनों दोपहर बारह बजे से तीन बजे वाला शो सिनेमाघरों में चालू नहीं हुआ था। जब कुछ सिनेमाघरों में, जिनमें 'ज्योति टॉकीज़' और 'विनीत टॉकीज़' मुख्य थीं, दोपहर बारह बजे का शो भी चालू हुआ, तब अन्य लोगों के साथ मुझे भी बड़ा अचरज हुआ था कि सिनेमा दोपहर में भी देखा जा सकता है। बाद में तो फिर नई फ़िल्में सुबह नौ से दोपहर बारह बजे तक के शो में भी लगने लगीं थीं। तब इतना आश्चर्य नहीं हुआ था। आश्चर्य तो तब भी नहीं हुआ था, जब 'शोले' फ़िल्म जबलपुर के छह सिनेमाघरों में एक साथ रिलीज़ हुई थी और उसके शो सुबह छह बजे से आरंभ हो जाते थे। ये बात सन् 1975 की है। ये छह सिनेमाघर थे – 'ज्योति', 'एम्पायर', 'श्री कृष्णा', 'श्याम', 'आनंद' और 'प्लाज़ा'। मैंने सबसे पहले 'एम्पायर टॉकीज़' में शोले फ़िल्म देखी थी। उसके बाद दो या तीन बार और देखी, 'ज्योति' और 'श्री कृष्णा' सिनेमाघरों में। 'श्री कृष्णा टॉकीज़' में तो सिर्फ़ इसलिए देखी थी, क्योंकि उस सिनेमाघर का पर्दा छोटा था; उस सिनेमाघर में शोले फ़िल्म कैसी दिखेगी, महज़ इसलिए मैं उस टॉकीज़ में टिकट खरीदकर गया था। किन्तु जहाँ

तक मुझे याद है, वहाँ अस्थायी तौर पर थोड़ा बड़ा पर्दा लगाया गया था। 'शोले' फ़िल्म के बारे में कुछ बातें करने में कोई हर्ज़ नहीं है। जिस समय मैंने यह फ़िल्म देखी थी, तब सभी लोगों के समान मैं भी चमत्कृत हुआ था। आज भले ही स्थिति बदल चुकी हो, तकनीकी रूप से फ़िल्में बहुत अच्छी बन रही हैं, परन्तु आज से पचास बरस पहले 'शोले' फ़िल्म, फ़िल्म निर्माण की द्रष्टि से बहुत उत्कृष्ट फ़िल्म थी। मनोरंजन के द्रष्टिकोण से यह एक सम्पूर्ण और सफल फ़िल्म है। आज भी लोग उसे उसी तरह चाव से देखते हैं, जैसा तब देखते थे जब यह फ़िल्म पहली बार रिलीज़ हुई थी। शायद यह अकेली फ़िल्म है जिसके संवाद आज भी दोहराए जाते हैं, कई संवाद तो मुहावरों का रूप ले चुके हैं और बोलचाल की भाषा में शामिल हो गए हैं। किसी भी फ़िल्म के कालजयी होने का इससे बड़ा क्या प्रमाण हो सकता है। इस बात को वैसे अलग से लिखने की कतई आवश्यकता नहीं है, इस संबंध में मैं जो मानता हूँ वह कथन लिख देता हूँ – *"इस फ़िल्म की सबसे बड़ी उपलब्धि 'गब्बर सिंह' का कैरेक्टर है, जो आज तक खलनायक के रूप में श्रेष्ठता के सर्वोच्च शिखर पर अकेला खड़ा है। उसे चुनौती देने वाला कोई दूसरा 'चरित्र' अभी तक तो हिंदी सिनेमा के परदे पर नहीं आया है। स्वयं 'अमज़द खान' फिर दोबारा किसी और नेगेटिव कैरेक्टर का अभिनय करते हुए वो जादू न जगा पाए, जो 'शोले' फ़िल्म में दर्शकों के सर चढ़कर बोला था।"*



बचपन में मेरे फ़िल्म देखने का अवसर तब भी बनता था जब बनखेड़ी से कोई आता था। आने वालों में अक्सर 'भगत जी दादा' , 'मन्नू चाचा' और 'शब्बू भैया' हुआ करते थे। इनके अलावा कभी-कभी बाबू जी को जानने पहचानने वाले कुछ एक और लोग भी आ जाते थे। पर उनके साथ फ़िल्म देखने जाने का अवसर कभी बनता कभी नहीं भी बनता था। परन्तु 'भगत जी दादा' , 'मन्नू चाचा' और 'शब्बू भैया' के साथ तो एक या कभी-कभी दो फ़िल्में भी हो जाती थीं। ये लोग बाबू जी के बहुत करीबी थे,सगे भाइयों की तरह – माने मन्नू चाचा और भगत जी दादा। शब्बू भैया भगत जी दादा के बड़े भाई 'बड़े वीर' के बड़े लड़के थे। बड़ेb बाबू जी को अपना छोटा भाई मानते थे। अब बड़े वीर नहीं हैं, बाबू जी और उस समय के बहुत सारे लोग भी अब

नहीं रहे। परन्तु बड़े वीर के छोटे बेटे 'बूठा', मैं उसे इसी नाम से याद रख पाया हूँ, वह मुझसे थोड़ा सा बड़ा था और अब स्वर्गवासी हो चुका है। उसकी बेवा पत्नी, उसके लड़के बहू और पोते पोतियाँ उसी घर में रहते हैं, जो बाबू जी जबलपुर आने से पहले उन लोगों के लिए छोड़ आये थे। ये सब बयान मैं 'आरंभ' में विस्तार से दर्ज़ कर चुका हूँ। भगत जी दादा , मन्नू चाचा और बाबू जी की एक बहुत पुरानी फ़ोटो अक्सर याद आ जाती है,जिसमें तीनों सिर्फ़ लंगोट पहने पहलवानों की मुद्रा में खड़े हुए हैं। तीनों के समीप ज़मीन पर एक एक मुगदर भी रखा है। वह फ़ोटो हमारे घमापुर वाले घर में बहुत दिनों तक दीवार पर कांच से मढ़ी टँगी रही थी। फ़ोटो बहुत पुरानी थी और उसी समय पीली पड़ चुकी थी। किन्तु मुझे अभी भी लगता है मैं उसे अच्छी तरह से देख पा रहा हूँ। स्मृतियाँ कभी पीली नहीं पडतीं न ही फीकी।

मन्नू चाचा के साथ कभी-कभी 'गोपी चाचा' भी आया करते थे। वे मन्नू चाचा के छोटे भाई की तरह थे। प्रत्यक्ष रूप में तो वे मन्नू चाचा की मिठाई की दुकान में चाय बनाने और ग्राहकों को चाय पिलाने का काम करते थे,किन्तु मन्नू चाचा ने उन्हें कभी भी नौकर नहीं माना। गोपी चाचा पहले गाँव की बारातों या अन्य पारिवारिक समारोहों में स्त्री वेश-भूषा में डांस किया करते थे। पर बाद में मन्नू चाचा ने उन्हें अपनी दुकान पर नौकरी दे दी और उन्होंने बाहर 'डांस' करना बंद कर दिया। उसके बाद से वे सिर्फ़ बनखेड़ी की राम लीला में डांस करते थे। जब भी कोई ऐसी फ़िल्म जबलपुर में लगती जिसमें अच्छे डांस होते, तब गोपी चाचा मन्नू चाचा के साथ उस फ़िल्म को देखने अवश्य ही आते थे।

ऐसी ही एक फ़िल्म 'ज्वेल थीफ़' मुझे याद है, जिसमें सचिन देव बर्मन दादा का कम्पोज़ किया शानदार नृत्य गीत था – " होठों पे ऐसी बात मैं छुपा के चली आई....." आज वैजयन्ती माला का ये नृत्य उतना ही मक़बूल है जितना उस ज़माने,सन् 1967 में था। गोपी चाचा ख़ास इस डांस की वजह से जबलपुर आए थे। वे और मन्नू चाचा। हम लोग - यानी बाबू जी , मन्नू चाचा , गोपी चाचा और मैं शाम छह बजे वाला शो देखने गए थे। ये फ़िल्म 'ज्योति' सिनेमा घर में लगी थी। शो के बाद ज़ाहिर है गोपी चाचा गाने की तारीफ़ करते थक नहीं रहे थे। उनकी बातों के जवाब मन्नू चाचा ही दे

रहे थे। बाबू जी प्रायः ऐसे मौकों पर चुप ही रहते थे,और मुझे बात चीत में शामिल होना अपनी उम्र के हिसाब से उचित नहीं प्रतीत हो रहा था। मैं भी चुप ही रहा। घर लौट कर खाना खाते समय भी लगभग यही आलम रहा था। वह देव साहब की एक शानदार मिस्ट्री फ़िल्म थी। विजय आनंद उसके निर्देशक थे – उनके हुनर के बारे में क्या लिखूँ। वे एक बेहतरीन निर्देशक थे। पर ये सब बातें तो मैंने बाद में जानीं। उस समय मुझे फ़िल्म अच्छी लगी थी। मुझे जो गाने अच्छे लगे थे, वे थे – "रुला के गया सपना मेरा....." और "रात अकेली है....."। ये गाने अब भी मेरी पसंद के फ़िल्मी गानों में शामिल हैं। फ़िल्म 'ज्वेल थीफ़' के अलावा , गोपी चाचा "मैं क्या करूँ राम मुझे बुड्ढा मिल गया....." नृत्य गीत देखने भी जबलपुर आए थे। जो 'संगम' फ़िल्म का गाना है। राज कपूर और वैयजन्ती माला की यह शानदार ट्रेण्ड सेटर फ़िल्म थी। 'त्रिकोणीय' प्रेम कथाओं पर ढेरों हिंदी फ़िल्में बनी हैं , इस फ़िल्म के पहले भी बनी थीं, किन्तु 'संगम' का एक अलग मुकाम तब भी था आज भी है। जब कभी ये फ़िल्म टी.वी. पर आती है और मेरे नज़र पड़ जाती है, तो मैं अभी भी ठिठक कर देखने लगता हूँ। राज कपूर साहब कितने ज़हीन कलाकार थे इस बारे में बात करने की मेरी औक़ात नहीं है। यदि कुछ लिखने बैठूंगा तो फिर उसे ख़त्म करने का छोर नहीं मिलेगा। सब जानते हैं, दुनिया जानती है – इसलिए बात यहीं ख़त्म करूँ। ' संगम' राज कपूर साहब की एक बेहतरीन फ़िल्म है। जिसके साथ और भी कई हैरतंगेज़ बातें जुड़ी हैं – जैसे कि यह पहली 'ईस्टमनकलर' फ़िल्म थी जिसकी प्रोसेसिंग लन्दन में हुई थी, 'राजेन्द्र कुमार' ने फ़िल्म में जिस चरित्र का अभिनय किया था, जैसा मैंने पढ़ रखा है या सुना है उस भूमिका के लिए राज कपूर ने पहले 'दिलीप कुमार' से गुज़ारिश की थी, जो कि उनके अभिन्न मित्र थे। लेकिन बात नहीं बनी। ये बात शायद वे दोनों ही जानते होंगे या फिर ऊपर वाला। मैं आज भी, बावजूद इसके कि राजेन्द्र कुमार ने 'संगम' फ़िल्म में शानदार अभिनय किया है; सोचता हूँ काश दिलीप साहब ने राज कपूर की पेशकश मान ली होती !

एक और फ़िल्म थी – 'मिलन' , सुनील दत्त और नूतन जिस फ़िल्म के नायक तथा नायिका थे। ये फ़िल्म रविन्द्र नाथ टैगोर की कहानी या उपन्यास पर आधारित सुन्दर फ़िल्म थी। इस फ़िल्म का एक गाना 'मुबारक हो सबको समां ये सुहाना...." मुझे आज

भी बहुत अच्छा लगता है। लक्ष्मीकांत और प्यारेलाल जी ने इस फिल्म के यूँ तो सभी गीत बहुत मधुर धुनों में तैयार किये थे। पर ये गीत – किसी और ही लेबल का है, कम से कम मेरे लिए। मन्नू चाचा और गोपी चाचा के साथ मैंने कई फ़िल्में देखी थीं। उनमें से ख़ास फ़िल्मों का ज़िक्र मैंने यहाँ किया है। सच कहूं तो बाक़ी अभी याद भी नहीं आ रहीं हैं।



चलिए आगे बढ़ें –

भगत जी दादा के साथ भी बहुत सारी फ़िल्में देखने का मौका मुझे मिला था। पर भगत जी दादा केवल फ़िल्म देखने के लिए जबलपुर नहीं आते थे। उन्हें जब कोई काम होता या फिर अपनी दुकान के लिए कुछ ख़रीद-फ़रोख्त करनी होती और या फिर कभी सिर्फ़ हम लोगों से मिलने के लिए वे जबलपुर आते तब कम से कम एक फ़िल्म वे अवश्य देखते थे। उनके साथ मैंने – 'सिकंदर-ए-आज़म' और 'महाभारत', फ़िल्में देखी थीं, ये दोनों फ़िल्में 1965 में आई थीं। इसके अलावा भी कई और फ़िल्में देखी होंगी पर इस समय मुझे ये दो फ़िल्में ही याद आ रही हैं। भगत जी दादा फ़िल्म को 'खेल' कहते थे।



आज, 14. 12. 2024 को; जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ – 'राज कपूर' का 100 वाँ जन्मदिन है।

इस शानदार, भावुक, ख़ूबसूरत और हस्सास इंसान का जन्म 14. 12. 2024 के दिन 'पेशावर', अब पाकिस्तान (उस समय के अविभाजित भारत) में हुआ था।

वैसे तो यह चैप्टर मैं तीन साल पहले , सन् 2021 में ही लिख चुका था, किन्तु इसकी अधिकतर बातें हाई स्कूल या कॉलेज के समय की हैं , अतः ये 'आरंभ' में शामिल नहीं हुआ । पर चूंकि ये चैप्टर इंक पेन से काग़ज़ के ऊपर लिखा गया था, इसलिए अब लैपटॉप पर फिर से कॉपी करना पड़ रहा है। ज़ाहिर है बीच-बीच में कुछ घटेगा , कुछ हटेगा और कुछ नया शामिल भी होगा। तो यहाँ उनकी बातें करना लाज़िमी है।

मैंने आज ही किसी पोस्ट में पढ़ा है, शायद पहले भी; कि वे 'फ़िल्म' को 'तस्वीर' कहते थे। मैंने उनकी बनाई अधिकतर 'तस्वीरें' देखी हैं। कुछ पहली बार रिलीज़ के समय कुछ बाद में जब मैटिनी शो में लगा करती थीं। उन्होंने जो 'तस्वीरें' बनाईं , माने निर्माण किया और निर्देशन भी – वे 'तस्वीरें' उन फ़िल्मों से अलग दिखाई पड़ती हैं, जिनमें उन्होंने किसी और निर्माता या निर्माण कम्पनी के लिए किसी और निर्देशक के साथ काम किया। उनकी सोच, उनकी ख़्वाहिश इस दर्द , पीड़ा और अभाव से लबरेज़ बदनुमा और बदशक्ल दुनिया को एक ख़ूबसूरत दुनिया में बदल डालने की थी। उन्होंने इस पर अपनी तरह से काम किया और बहुत काम किया। उनकी बनाई 'तस्वीरें' इस बात की गवाही देती हैं। उन्होंने 1948 में फ़िल्म 'आग' का निर्देशन और निर्माण किया, इसके बाद 'बरसात', आवारा', 'श्री चार सौ बीस', 'संगम','मेरा नाम जोकर', 'बॉबी', 'सत्यम शिवम सुन्दरम' , प्रेम रोग' तथा 'राम तेरी गंगा मैली' जैसी बेहतरीन 'तस्वीरें' बनाईं और निर्देशित कीं । मेरा अपना मानना है यदि 'फ़िल्म' को एक 'प्रोडक्ट' मानें तो वह निर्माता की होती है, किन्तु वहीं यदि उसे एक 'कृति' या 'रचना' मानें तो वह पूरी तरह 'निर्देशक' द्वारा सृजित कृति होती है। इसके अलावा राज कपूर ने अपने 'आर.के. स्टूडियो' के बैनर के बाहर अन्य निर्माताओं और निर्देशकों के साथ भी काम किया था। इनमें से कुछ शानदार फ़िल्में हैं – ऋषिकेश मुखर्जी द्वारा निर्देशित 'अनाड़ी', बासु भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित 'तीसरी कसम', राधू कर्माकर द्वारा निर्देशित 'जिस देश में गंगा बहती है', 'अंदाज़' जिसके निर्देशक थे महबूब खान साहब आदि। राज कपूर उन महान व्यक्तियों में से एक हैं , जिन्होंने किसी न किसी वजह से मुझे बेहद प्रभावित किया। यदि मैं अपनी बात करूँ तो मुझे उनकी दो फ़िल्में सबसे अधिक पसंद हैं एक 'मेरा नाम जोकर' जो उनकी ज़िन्दगी का फ़लसफ़ा बयान करती है और शायद उनकी अपनी कहानी का बहुत कुछ अहम् हिस्सा भी हमारे सामने रखती है। दूसरी फ़िल्म है – 'तीसरी कसम', फणीश्वर नाथ रेणु की कहानी 'मारे गए गुलफ़ाम' पर आधारित और बनी यह फ़िल्म न केवल फ़िल्म बनाने की कला का एक शानदार उदाहरण है वरन् राज कपूर की अभिनय क्षमता के विभिन्न आयामों से भी रु-ब-रु कराती है। यह फ़िल्म गीतकार 'शैलेन्द्र' ने बनाई थी और निर्देशक थे 'विमल रॉय' के दामाद 'बासु भट्टाचार्य'। इस फ़िल्म का एक गाना जो मुकेश जी ने बहुत डूब कर गया

है – "सजनवा बैरी होय गए हमार....." मेरे दिल के बहुत क़रीब है। मैं कभी अकेले में जिन गानों को गुनगुनाता हूँ, यह गाना उनमें से एक है।



बचपन में सबसे ज़्यादा फ़िल्में मैंने अपने मामा "बेनी माधव लखेरा" , जिन्हें मैं रज्जन मामा कहता था। घर पर उन्हें सब राजू , रज्जन या राजेन्द्र कहते थे। वे मुझसे लगभग नौ बरस बड़े थे। उनके साथ मैंने इतनी फ़िल्में देखी हैं कि अब सारी फ़िल्में तो याद नहीं हैं और जो याद भी आती हैं तो अलग-अलग गुच्छों में। मतलब कभी कुछ फ़िल्में याद आ जाती हैं कभी कुछ और। जब जैसा सुराग या संकेत मिलता है या बातों की सुई जहाँ कहीं टिक जाती है तब वह फ़िल्म या उसके आस-पास की कुछ और फ़िल्में याद आ जाती हैं। मामा के साथ बहुत सी फ़िल्में इसलिए भी हो गईं , क्योंकि उन्हें मेरे साथ फ़िल्म देखने जाने की अनुमति आसानी से मिल जाती थी। वे मुझे फ़िल्म दिखाने के बहाने फ़िल्म देख लिया करते थे। टिकिट के पैसों के लिए भी कई बार उनकी यही ट्रिक काम कर जाती थी। कभी वे नाना से , कभी मेरी दोनों नानियों में से किसी एक से , कभी बाई से भी टिकिट के पैसे ले लेते थे। उन दिनों सिनेमा के टिकिट बहुत सस्ते होते थे। छह आने यानी सैंतीस पैसों में लक्ष्मी टॉकीज़, सेन्ट्रल टॉकीज़ इत्यादि की तीसरे दर्जे की टिकिट दर से शुरू होकर ज्योति और विनीत टॉकीज़ की सबसे ऊँचे दर्जे की टिकिट अढ़ाई रुपयों में आ जाती थी। हम जितने पैसे होते उस हिसाब से टिकिट लेते थे। मन्नू चाचा, भगत जी दादा और बाबू जी के साथ प्रायः फर्स्ट क्लास की टिकिट में बैठते थे। कभी-कभी बालकनी में भी।

रज्जन मामा के साथ मैंने जो पहली फ़िल्म देखी थी, उस फ़िल्म का नाम तो मुझे याद नहीं । जहाँ तक मैं याद कर पा रहा हूँ , शायद फिल्म का नाम उन्होंने बताया भी नहीं था। बहुत जल्दी में उन्होंने मुझे अपने साथ फ़िल्म देखने के लिए राज़ी किया था। ये बात मुझे अच्छी तरह से याद है। मैं पाँच या छह बरस का रहा होऊँगा। मामा मुझे सेन्ट्रल टॉकीज़ ले गए। मुझे और घर पर, मेरे ननिहाल में उन्होंने ये बताया था कि वे मुझे एक धार्मिक फ़िल्म दिखने ले जा रहे हैं। फ़िल्म शुरू होने के कुछ देर में ही मुझे समझ में गया कि वह कोई तिलस्मी और जादूगरी से सम्बंधित फ़िल्म है। ये बात मुझे

अब याद नहीं आ रही कि धार्मिक फ़िल्म के न होने की वजह से या फिर किसी और कारण से मुझे वहाँ बैठने में तकलीफ़ होने लगी। पर ये सच है कि मैंने मामा से मुझे घर छोड़ के आने की ज़िद करनी शुरू कर दी थी। मामा फ़िल्म देखते हुए मुझे समझाने की कोशिश कर रहे थे। पर ज़िद तो ज़िद होती है, मैं नहीं माना और वहाँ रुकने से मैंने कतई इनकार कर दिया। इस पर भी जब मामा ने ध्यान नहीं दिया तो अंतिम हथियार के तौर पर मैं ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। आस-पास के लोग हमें देखने लगे और सवाल करने लगे। स्थिति और न बिगड़े ये सोचकर मामा ने मुझे साथ लिया और गेट कीपर से कुछ बात की। फिर मुझे दौड़ाते हुए सेन्ट्रल टॉकीज़ से, जो कि छोटे फुहारे के पास स्थित थी; लगभग एक किलोमीटर दूर कमानिया गेट के पास मेरे ननिहाल तक लेकर आए। मुझे छोड़ा और वापस दौड़ते हुए फ़िल्म देखने चले गए। मैंने नमक मिर्च लगाकर अपने ननिहाल में इस घटना का वर्णन किया यह सोचकर कि उससे मेरा बीच में फ़िल्म छोड़कर आना जस्टिफाई हो सकेगा। लेकिन इस कारण जब मामा घर लौटे उन्हें अच्छी डाँट पड़ी , जबकि मेरा ऐसा इरादा नहीं था, बावजूद इसके कि मुझे मामा पर गुस्सा आ रहा था। मामा ने नाराज़ होकर घोषित कर दिया की अब वे मुझे कभी फ़िल्म दिखाने नहीं ले जाएँगे। पर ऐसा कैसे होता। हुआ भी नहीं । मामा के साथ अगले छह सात सालों तक मैंने ख़ूब फ़िल्में देखीं। यदि उन सभी की लिस्ट बनाने बैठूँगा तो बात लम्बी हो जाएगी। कुछ ख़ास फ़िल्मों के नाम जो याद आ रहे हैं उन्हें यहाँ दर्ज़ किए देता हूँ – ‘वक़्त’, ‘श्रीमान फंटूश’, ‘शहीद’, ‘भूत बंगला’ , ‘दो दिल’, ‘गुमनाम’, ‘जौहर महमूद इन गोवा’, ‘तीन देवियाँ’ , ‘फूल और पत्थर’ , ‘सूरज’, ‘तीसरी कसम’, ‘ एन ईवनिंग इन पेरिस’, ‘मेहरबान’, ‘मिलन की रात’, ‘पत्थर के सनम’, ‘राम और श्याम’, ‘आदमी’ इत्यादि। ठीक से याद करूँगा , कुछ पूछ ताछ करूँगा तो बहुत लम्बी सूची बन जाएगी। संक्षेप में कहूँ तो तेरह चौदह साल की उम्र तक मैं मामा के साथ फ़िल्म देखने ख़ूब गया। महीने दो महीने में एक या दो फ़िल्में तो हो ही जाती थीं।

यहाँ एक बात बताना चाहूँगा, अभी कुछ महीने पहले परिवार के बहुत सारे सदस्य मेरे घर पर ही बैठे थे, तब रज्जन मामा ने बताया कि कई बार बाई उनसे मुझे फिल्म दिखा लाने को बोलती थीं। उन्होंने उसका कारण भी बताया कि बाई यानी मेरी माँ और

उनकी बड़ी बहन का कहना था कि ये अर्थात मैं हमेशा पढ़ाई में लगा रहता हूँ इसलिए मेरा मूड फ्रेश करने इसे सिनेमा दिखा लाओ। बिल्कुल हो सकता है ये बात भी हो, मुझे लगता है दोनों बातें सही होंगी। बहरहाल मुझे फिल्म देखने मिल जाती थी।

लगभग इसी समय से मैंने अपने बाल सखा अनिल दुबे के साथ भी फ़िल्म देखने जाना शुरू कर दिया था। कक्षा तीसरी चौथी तक तो हम लोग अपने परिवार जनों के साथ या फिर कोई पारिवारिक मित्र अथवा रिश्तेदार आ जाता तो उसके साथ ही फ़िल्म देखने जा पाते थे। मुझे याद पड़ता है शायद पाँचवीं कक्षा तक हमने साथ-साथ कोई फ़िल्म नहीं देखी थी, सिवाय उन फ़िल्मों के जो 16 एमएम प्रोजेक्टर, फ़िल्म की रील्स और स्टैंड पर टाँगने वाला पर्दा लेकर चलने वाली सरकारी मोटर गाड़ी द्वारा मोहल्लों और बस्तियों में घूम-घूम कर दिखाई जाती थीं। हमने इस तरह से 'एक के बाद एक', 'हम हिंदुस्तानी', 'बापू ने कहा था' 'आनंद मठ', 'उपकार', 'दो आँखें बारह हाथ', 'डॉ.कोटनिस की अमर कहानी', तथा फिल्म्स डिवीज़न की कई फ़िल्में देखी थीं। ये मोटर गाड़ी अक्सर मेन रोड के किनारे किसी खुली जगह पर डेरा डालती थी। हमारे मोहल्ले में ऐसी दो जगहें थीं – 'कोदूलाल सेठ' के घर के सामने का ख़ाली स्थान या फिर 'सरदार सेठ' के लकड़ी के टाल के आगे वाली ख़ाली जगह। इसके अलावा अनिल के घर के बाजू में जो खुली जगह थी वहाँ भी एक दो बार ऐसी फ़िल्में हमने देखी थीं। 'एक के बाद एक' फ़िल्म जो छोटे परिवार का मैसेज देती थी, देव आनंद साहब की फ़िल्म थी। मतलब वे उस फ़िल्म के नायक की भूमिका में थे। ये फ़िल्म हमने अनेकों बार देखी थी। बाद में तो फ़िल्म देखने नहीं , केवल चुहल-बाज़ी के लिए हम लोग जाते थे ; कुछ समय वहाँ ठहरते फिर इधर उधर हो लेते। शुरुआती दिनों में जब हम लोग अपने परिवार वालों के साथ फ़िल्म देखने जाते थे। फ़िल्म देखकर आने के बाद वाला दूसरा दिन बहुत ख़ास होता था। जो भी लड़का फ़िल्म देख कर आया होता, उसे बाक़ी लड़के पहली फुर्सत मिलते ही घेर लेते और 'स्टोरी' सुनाने की ज़िद करने लगते थे। फ़िल्म देखकर आया हुआ लड़का पहले तो कुछ भाव खाता फिर ज़मीन पर उतरता। ऐसा आदतन सभी लड़के करते थे। जब पर्याप्त चिरौरी हो जाती या बाक़ी के लड़के "ठीक है,मत सुना–चलो बे" पर उतर आते तब वही लड़का "अबे रुको तो बे" तक नीचे आ जाता और कुछ ही मिनटों में "स्टोरी वाचन" प्रारम्भ हो

जाता। स्टोरी वाचन किसी साफ़ सुथरी ओने-कोने वाली जगह, किसी पेड़ के नीचे के चबूतरे पर , किसी के घर के आँगन या फिर सरकारी नल के आस-पास बना हुआ सीमेंट का घेरा होती थी। वैसे हमारी पसंदीदा जगह थी, अनिल के घर का आँगन। आँगन घर के सामने था, हमेशा साफ़ सुथरा, गाय के गोबर से लिपा-पुता। लिपा गोबर से और पुता छुई, छुही या खड़िया मिट्टी से। हर दूसरे तीसरे दिन बाई, अनिल की माँ इस आँगन की लिपाई पुताई करती थीं। आँगन के तीन तरफ़ , दाएँ , बाएँ और सामने लकड़ी के चौड़े पटियों या फरदों की बाड़ी बनी हुई थी। बाड़ी में सामने वाले हिस्से में लकड़ी के फरदों का ही बना हुआ फाटक था, जिसे 'फटकी' कहते थे। आँगन में भीतर की ओर बाड़ी से सटी क्यारियाँ बनी हुई थीं। इन क्यारियों में अधिकांशतः गुलाब के पौधे लगे हुए थे। अधिकतर गुलाबी और कुछ लाल सुर्ख । कुछ पौधे डेढ़ से दो मीटर तक ऊँचे थे। अनिल उस समय गर्व से बताता था – "मेरी बाई का नाम 'गुलाब बाई' है इसीलिए मेरे बाबू जी ने इतने सारे गुलाब के पेड़ लगाए हैं।" उसके यहाँ एक रात रानी का भी बहुत बड़ा और घना पेड़ था। जिसकी मादक मदमस्त कर देने वाली ख़ुशबू रात्रि के समय चारों ओर फ़ैल जाती थी। इस आँगन में शाम के समय बैठकर जिन फ़िल्मों की कहानियाँ मैंने सुनीं थीं, उनमें से कुछ याद आ रही हैं – 'खानदान' , 'लुटेरा' जिसमें दारा सिंह थे, 'सम्पूर्ण रामायण', 'सारंगा', 'अमन', 'अनजाना', 'धरती कहे पुकार के' ' शहीद' जिसमें मनोज कुमार ने भगत सिंह का किरदार निभाया था, 'आँखें' आदि। ये स्टोरी वाचन और श्रवण प्रायः शाम को ही होता था तथा छुट्टियों के दिनों में सुबह और दोपहर के बीच वाले समय। जो 'स्टोरियाँ' मैंने सुनाईं उनमें 'सन ऑफ़ इंडिया', 'काबुली वाला', 'कण कण में भगवान्', 'शतरंज', 'झुक गया आसमान', 'अराउण्ड दि वर्ल्ड' आदि याद आ रही हैं। हमने पाँचवीं कक्षा के बाद से फिर साथ-साथ भी फ़िल्में देखना शुरू कर दिया था। कभी सिर्फ़ हम दोनों यानी अनिल और मैं कभी एक दो मित्र और भी साथ आ जाते थे। मुझे लगता है इसका कारण एक तो हमारी उम्र का बढ़ना था, दूसरा हम अब मोहल्ले के प्राइमरी स्कूल से निकल कर घर से दूर के स्कूलों में जाने लगे थे और तीसरा सबसे बड़ा कारण था – अनिल का 'हितकारिणी स्कूल' में एडमीशन होना। कई बार लंच ब्रेक में अनिल और उसके हितकारिणी स्कूल वाले दोस्त उस समय 'विक्टोरिया

अस्पताल' के नाम से जानी जाने वाली 'डिस्ट्रिक्ट हॉस्पिटल' के परिसर से होकर 'लक्ष्मी टॉकीज़' पहुँच जाते थे,और फ़िल्मों के 'पोस्टर' देखा करते थे। ये 'पोस्टर' क्या होते थे बता दूँ नहीं तो बात का मज़ा अधूरा रहेगा। दरअसल जब भी किसी सिनेमाघर में कोई भी फ़िल्म प्रदर्शित होती थी तो उस सिनेमाघर के बाहर लगे उसके बड़े पोस्टर या बैनर के अलावा आठ इंच गुना दस इंच या इससे थोड़ा बड़े स्टिल फ़ोटोग्राफ्स , दस बारह की संख्या में सिनेमाघर में ही एक ख़ास स्थान पर नोटिस बोर्ड नुमा कांच या लोहे की जाली के पल्लों वाली कम गहराई की एक ही खंड वाली अलमारियों में ड्राइंग पिनों द्वारा लगाए जाते थे। ये भी फ़िल्म के विज्ञापन का एक हिस्सा ही होते थे। हम लोगों के लिए और उस समय हमारे जैसे अन्य लोगों के लिए बल्कि बड़ों के लिए भी , फ़िल्म के पोस्टर देखना भी एक मनोरंजन होता था। जो कोई भी ऐसे पोस्टर देख आता तो बाद में अपने मित्रों या भाई बहनों से बढ़ा चढ़ा कर 'पोस्टरों' का बखान करना अपना कर्तव्य समझता था। उसके बयान को सुनने वाले आँखें फाड़-फाड़ कर हैरत से सुनते थे। लड़के मन ही मन तय कर लेते अब फ़िल्म न सही कम से कम ये पोस्टर देखने तो जाना ही है। लड़कियाँ मन मसोस कर रह जातीं , कुछ अपने लड़की होने पर भन्ना भी जाती थीं। ये गुस्सा किसी और तरह से अपने भाई बहनों पर उतारतीं। आज 'ए.आई.' के ज़माने की पीढ़ी 'पोस्टर' देखने और उसके वर्णन के 'आनंद' को नहीं समझ सकेगी। हम लोगों की वो बहुत छोटी सी , बिना किसी ताम-झाम, लाग-लपेट वाली नन्ही मुन्नी सी दुनिया थी। जिसमें आज के समय जैसी आपा-धापी, कॉम्पिटीशन की मजबूरी, लगातार बने रहने वाले तनाव और दबाव की जगह निर्मल सरलता, सहजता, सच्चाई और प्रेम बहता था। तब सब कुछ इतना कॉम्प्लिकेटेड नहीं था और न ही इतने सारे ऑप्संस हुआ करते थे कि जीवन के हर पल हर कदम पर हम कनफ़्यूज़्ड हो जाएँ।

□□

चलो इसे यहीं छोड़ कर हम अपने मूल विषय पर लौटें –

'सिनेमा' की ओर जिसकी बात चल रही है।

उन दिनों 'सिनेमा' के अलावा आम जनों के मनोरंजन का कोई और इतना सस्ता तथा सुलभ साधन उपलब्ध नहीं था। लिहाज़ा सिनेमा का मज़ा हर कोई हर उस रूप में उठाने से नहीं चूकता था, चाहे वो किसी भी रूप में उपलब्ध हो।

'फ़िल्म साउंड ट्रेक' - ऐसी ही एक विधा के रूप में उन दिनों लोगों के अपने घरों में उपलब्ध थी। बस आपके घर पर 'रेडियो' होना चाहिए होता था। भारतीय 'आकाश वाणी' के दो प्रसारणों के बारे में मुझे पक्की जानकारी है जिनसे फ़िल्मों के साउंड ट्रेक प्रसारित होते थे। एक तो 'विविध भारती' दूसरा 'आल इंडिया रेडियो'। ये दोनों प्रसारण हर रविवार को दोपहर ग्यारह या साढ़े ग्यारह बजे से किए जाते थे। प्रसारण समय के बारे में 'विविध भारती' के सम्बन्ध में तो मैं लगभग 'श्योर' हूँ, किन्तु 'आल इंडिया रेडियो' से फ़िल्म साउंड ट्रेक के प्रसारण के समय के सम्बन्ध में थोड़ा संशय है। पर अब इसके लिए बात क्यों रोकी जाए। इस बात को , इस बात से आगे बढ़ता हूँ कि हमारे घर पर रेडियो सन् 1968 या 1969 में आया था। जबकि मैं आठवीं, नवमी कक्षा में पढ़ रहा था। 'बिजली' का कनेक्शन तो जब मैं आठवीं कक्षा में था, तभी लगा था ये बात मुझे अच्छी तरह से याद है। ज़ाहिर है रेडियो उसके बाद ही आया होगा। उस समय तक 'ट्रान्ज़िस्टर' के बारे में शायद हम लोगों ने सुना भी नहीं था। माने जिस समय की बातें मैं कर रहा हूँ उस समय हमारे घर पर रेडियो नहीं था। मोहल्ले में गिने चुने घरों में ही 'रेडियो' नाम की 'जादुई चीज़' पाई जाती थी। हमारे घर के पड़ोस में सिर्फ़ 'कक्का',कंधीलाल जी विश्वकर्मा और शायद 'राम नारायण जी दुबे' के घर पर ये 'शै' मौज़ूद थी। जैसा मुझे याद है,थोड़ा सा दूर 'कमला बुआ' और 'बिट्टी बुआ' के घरों में भी रेडियो थे। ये दोनों ईसाई परिवार थे। 'कमला बुआ' और 'बिट्टी बुआ' दोनों सगी बहनें थीं। दोनों के घर पश्चिमी घमापुर के जिस हिस्से में हम लोग बसे थे, उसके दो अलग-अलग छोरों पर थे। 'बिट्टी बुआ' का बड़ा सा बंगला मेन रोड पर था जबकि 'कमला बुआ' हमारी गली के आख़िरी छोर पर रहती थीं। इन सभी लोगों के बारे में मैं पहले ही 'आरंभ' में बता चुका हूँ। इन घरों के आस पास रहूँगा तो बात फिर भटक जाएगी, इसलिए उसे खींच खांच के 'सही रस्ते' पर लिए आते हैं।

मैं बात फिल्म साउन्ड ट्रेक ही कर रहा हूँ, हमारे घर के आस-पास बाल काटने की दो दूकानें थीं। दोनों मेन रोड पर ही थीं। हमारी गली के दाहिनी तरफ़ लगभग सौ मीटर आगे 'शिव केश कर्तनालय' जो हमारे मित्र 'शिब्बू' का था। शिब्बू हम लोगों से उम्र में तीन चार साल बड़ा था। वह दुकान पहले उसके बड़े भाई लोग चलाते थे। फिर उनकी नौकरी लगने के बाद शिब्बू दुकान चलाने लगा। वह हम लोगों के साथ भी मित्रवत् व्यवहार करता था। उसका ज़िक्र मैं यहाँ इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि उसकी दुकान में एक 'रेडियो' था। दूसरी दुकान गली के बाईं तरफ़ , 'कृष्णा कालोनी' के सामने थी। ये भी हमारी गली से लगभग सौ मीटर की दूरी पर थी। इस दुकान के साइन बोर्ड पर लिखा हुआ 'कटिंग सैलून' तो मुझे याद है पर जो मुख्य नाम था वह बिलकुल भी याद नहीं आ रहा है। इस दुकान का युवा मालिक हमारे मोहल्ले का रहने वाला नहीं था। कहीं दूर से आता था। इस दुकान में भी एक नया नकोर 'रेडियो' था, जो दुकान के एक कोने में लकड़ी के ब्रेकेट पर रखा रहता था। मैं, अनिल और मोहल्ले के दूसरे मित्रों के साथ अक्सर शिब्बू की दुकान जाया करते थे। कभी कभार बाल कटाने और अक्सर जब कुछ करने को नहीं होता तब रेडियो सुनने। शिब्बू के रेडियो पर मैंने बहुत सारे प्रोग्राम सुने थे। हम लोग रविवार को कई बार सिर्फ़ फ़िल्म साउंड ट्रेक सुनने जाते थे। रविवार को वैसे भीड़ ज़्यादा होती थी। तब हम लोग दुकान के दरवाज़े से लगकर खड़े हो जाते और बड़े ध्यान से साउंड ट्रेक सुना करते। वह 'एफ़.एम.' का ज़माना नहीं था। 'ए.एम.' पर रेडियो की आवाज़ में कभी-कभी बहुत 'डिस्टर्बेंस' रहता था। ऐसा जब कभी होता और साउंड ट्रेक पर कोई अच्छा सीन चल रहा होता तो हम सब परेशान हो जाते थे। शिब्बू भी काम छोड़कर स्टेशन ट्यून करने लगता था। यदि हममें से किसी ने वो फ़िल्म देखी होती , जिसका कि साउंड ट्रेक उस समय आ रहा होता था ; तब उस मित्र की कमेंट्री अलग से साथ-साथ चलती थी। जब ऐसी कमेंट्री कुछ मज़ेदार जानकारी वाली होती तब तो सब ठीक-ठाक रहता था, अन्यथा कोई न कोई उसे डपट कर चुप करा देता था। कभी-कभी रेडियो से अचानक तेज़ सीटी की आवाज़ आने लगती तब कोई बड़ा बुज़ुर्ग जो बाल कटाने के साथ साथ फ़िल्म की कहानी का लुत्फ़ ले रहा होता। भन्ना कर शिब्बू को ही डाँट देता था जैसे कि सीटी बजने में उसका हाथ हो। कुछ लोग लगे हाथ उसे नया रेडियो लेने की सलाह

देने लगते और कुछ तो फ़ैसला सुना देते कि इस 'डब्बे' को अब फेक दिया जाना चाहिए। शिब्बू सब की बातें मुस्करा कर सुनता और चुप ही रहता था। रविवार को दुकान पर ज़्यादा भीड़ रहती तो उसके दूसरे भाई 'पारस' और 'अम्बिका' भी दुकान पर आ जाते थे। ये दोनों शिब्बू से बड़े थे। एक भाई उससे छोटा था – ' दिन्नू ' हम लोग उसे इसी नाम से जानते और पुकारते थे। शिब्बू का सबसे बड़ा भाई 'मथुरा' था जिसकी एक एक्सीडेंट में मृत्यु हो चुकी थी। रविवार के अलावा अन्य दिनों में दुकान में ज़्यादा भीड़ नहीं रहती थी, ख़ासकर दोपहर के समय। यदि स्कूल की छुट्टी होती, तब हम शिब्बू की दुकान पर इत्मीनान से बैठकर गाने सुनते थे। शिब्बू अगर ख़ुश होता या उस दिन कुछ अधिक कमाई हो गई होती तो 'हजारी सेठ' की होटल से चाय बुलवा कर हम लोगों को चाय भी पिलाता था। शिब्बू की दुकान पर मैंने 'हिमालय की गोद में' ,'मुझे जीने दो', 'गंगा जमुना' , 'शहीद' , 'दिल दिया दर्द लिया' आदि फ़िल्मों के साउंड ट्रेक सुने थे। दूसरी जिस दुकान का उल्लेख मैंने ऊपर किया है,उस दुकान में मैं अकेला ही जाता था। उस दुकान पर मैंने 'पत्थर के सनम' , 'अनिता' , 'शागिर्द' आदि फ़िल्मों के साउंड ट्रेक सुने थे। शुरू में मुझे संकोच होता था और मैं सिर्फ़ बाल कटवाने के समय ही उस दुकान पर जाता था। बाद में थोड़ी बहुत पहचान जैसी स्थिति बन गई तो कभी-कभी सिर्फ़ रेडियो सुनने भी चला जाता था।

□□

उन दिनों फ़िल्मों के विज्ञापनों पर इतना पैसा खर्च नहीं किया जाता था । फ़िल्मों के पोस्टर दो या तीन साइज़ में काग़ज़ पर प्रिंट कर के बनते थे। सबसे बड़ा आठ फुट गुणा साढ़े चार या पाँच फुट या इससे थोड़ा कम ज़्यादा। एक और साइज़ होता था पोर्ट्रेट स्टाइल में ढाई फुट गुणा चार-साढ़े चार फुट का जो हर जगह दीवारों पर या पान के बक्से नुमा ठेलों के साइड वाली दीवारों पर या प्रायः सभी मोहल्लों में कहीं सड़क के किनारे ज़मीन में बल्लियाँ गाड़कर उसपर टीन का पत्तर ठोंककर बनाए गए बोर्ड पर चिपका दिया जाता था । इस तरह के बोर्डों पर एक से अधिक फ़िल्मों के पोस्टर चिपके होते थे। इन पोस्टरों के साथ सिनेमाघर का नाम और शो का समय बतातीं हाथ से लिखी या छपी हुई पट्टियाँ भी चिपकाई जाती थीं। फिल्म किस तारीख़ से

प्रदर्शित होगी वह भी इन्हीं पट्टियों में लिखा होता था। ऐसे ही बड़े पोस्टर्स की जगहें स्थाई रूप से नियत थीं। हमारे मोहल्ले में हमारी गली और माँ शीतला माई मंदिर के लगभग बीच में दाहिनी ओर सड़क के किनारे 'बाल्मीकि जी' किराए से रहते थे। उनका नाम मुझे इसलिए पता था कि पहले वे हमारी गली में ही हमारे पड़ोस में रहा करते थे। उनके मेन रोड के किनारे वाले मकान के बगल की साईकिल मरम्मत की दुकान के ऊपर साइन बोर्ड की जगह लम्बा सा टीन का बोर्ड लगा था। इस बोर्ड पर अलग अलग सिनेमाघरों के आठ-दस पोस्टर्स लगे रहते थे। नई फ़िल्म लगने की प्रथम सूचना हमें यहीं से मिलती थी। बीच बीच में यहाँ आकर इन पोस्टरों को देखना भी हमारे टाइम पास करने के साधनों में से एक था। कई बार हम सिर्फ़ पोस्टर देखने ही किसी भी सिनेमाघर पहुँच जाते थे। तब बाहर लगे पोस्टर तो देखते ही थे, उन फ़ोटोग्राफ़िक पोस्टरों को भी देखते थे जो सिनेमाघर के भीतर लगे होते थे। ये सारे पोस्टर्स फिल्म वितरण करने वाली कम्पनियाँ रीलों की पेटियों के साथ भिजवाती थीं। कुछ बड़ी और अच्छा बिजनेस करने वाली टॉकीज़ें अपने सिनेमाघरों के मुख्य द्वार के ऊपर लगने वाले पोस्टर्स जबलपुर में ही बनवाती थीं। ये पोस्टर बहुत बड़े हुआ करते थे दस से बारह फुट गुणा सात से आठ फुट लम्बे चौड़े। इन में सबसे अच्छे और बड़े पोस्टर्स 'ज्योति' टॉकीज़ के हुआ करते थे। इस सिनेमाघर के सामने जो पोर्च बना था उसके ऊपर एक सिरे से दुसरे सिरे तक पूरी लंबाई में ये पोस्टर लगाए जाते थे। कभी पूरी लंबाई में एक ही पोस्टर बनता था तो कभी तीन पोस्टर एक दूसरे से सटाकर लगा दिए जाते थे। ये पोस्टर तैल रंगों से बनते थे। इन पोस्टरों पर फ़िल्म से सम्बंधित सभी ज़रूरी जानकारियाँ ख़ूबसूरत लिखावट और चटख रंगों में लिखी होती थीं। साथ ही मुख्य अभिनेता , अभिनेत्री के उस फिल्म के गेट-उप में बड़े आकार के पोर्ट्रेट्स बने होते। उनके साथ ही सहायक अभिनेताओं के चित्र भी बने होते थे पर वे अपेक्षाकृत छोटे आकार में होते या यूनीकलर स्टाइल में बने होते थे। कभी कभी पोस्टरों पर फ़िल्म के किसी विशेष दृश्य को भी उकेरा जाता था। सामान्य तया ज्योति टॉकीज़ में बड़े बैनर की प्रसिद्ध अभिनेता अभिनेत्रियों की ही फ़िल्में लगा करती थीं, जो प्रायः सिल्वर जुबली या गोल्डन जुबली मनाती थीं।

'ज्योति' सिनेमाघर के अलावा विनीत टॉकीज़, श्याम टॉकीज़, आनंद टॉकीज़, श्री कृष्णा टॉकीज़ आदि में भी तैल रंगों से बने पोस्टर लगते थे। पर वे आकार में थोड़ा छोटे होते थे। कभी कभी ये पोस्टर भी रोल होकर फ़िल्म की रीलों के साथ ही आते थे पर अधिकतर जबलपुर में ही बनते थे। जबलपुर में ये पोस्टर्स 'कुमार आर्ट्स', वीनस आर्ट्स और पेंटर सरफ़राज़ के यहाँ बनते थे। फ़िल्म प्रदर्शन की तारीख़ से बहुत पहले ही फ़िल्म का आर्ट पेपर पर छपा ब्रोशर आ जाता था इसी ब्रोशर पर छपे चित्रों या अन्य फोटोग्राफ्स देख कर इन केन्द्रों पर ये पोस्टर्स कपड़ों पर प्राईमिंग कर या सस्ते कैनवास पर तैल रंगों से बनाए जाते थे। पेंटर सरफ़राज़ के यहाँ उनसे मिलने मैं एक बार गया था तब मेरी उम्र बहुत कम थी मैंने उनके बारे में सुन रखा था तब तक उनकी उम्र काफ़ी हो चुकी थी। उनकी दुकान या स्टूडियो में पीछे की दीवार पर उनका बनाया फिल्म 'मुग़ल-ए;आज़म' का एक बहुत बड़ा पोस्टर लगा था। जिसे मैं वहाँ से आते जाते देखता था। वह बहुत ख़ूबसूरत पोस्टर था। बहुत बड़े आकार में पृथ्वी राज कपूर का शहंशाह अकबर के रूप में गहरे आसमानी नीले रंग में यूनीकलर स्टाइल में बना हुआ साइड पोज़ था जबकि नीचे की तरफ़ दाएँ कोने में दिलीप कुमार और उनके सीने से लगीं मधुबाला यानी सलीम और अनारकली के चित्र थे। उर्दू , हिंदी और अंग्रेज़ी में 'मुग़ल-ए;आज़म' लिखा हुआ भी था। उस मुलाकात का वर्णन मैं आगे मुनासिब जगह पर करूँगा। यहाँ इतना और बता दूँ कि मैं 'कुमार आर्ट्स' स्टूडियो भी गया था और 'कुमार' साहिब से भी मिला था। पर ये वृतांत भी आगे दूसरे चैप्टर के लिए छोड़ रहा हूँ।

इसके अलावा साइकिल रिक्शों , घोड़ा-गाड़ियों यानी ताँगों और उस ज़माने में चलने वाली मोटर कारों में भी फ़िल्मों के पोस्टर लगाकर , लाउड स्पीकरों पर फ़िल्म के वाबत जानकारी देते हुए भी, फ़िल्मों का प्रचार प्रसार किया जाता था। ये सभी मुख्य सड़कों या चौड़ी गलियों में घूमा करते थे। लाउड स्पीकर पर बोलने वाला व्यक्ति थोड़ी थोड़ी देर में फिल्म के पर्चे भी सड़क पर फेंकता चलता था। ये पर्चे सस्ते रिसाईकल्ड लाल हरे पीले रंग के काग़ज़ों पर काली स्याही से छपे होते थे। इन पर्चों को उठाने बच्चे इन गाड़ियों के पीछे भागते थे। चूँकि मोटर कार फिल्म का विज्ञापन या प्रचार कर रही होती इसलिए औसत रफ़्तार से धीमे ही चलती थी। हम लोग भी जब लाउड

स्पीकर की आवाज़ सुन लेते तो जिस किसी भी काम में लगे होते मेन रोड की तरफ़ भागते थे और साइकिल रिक्शे , ताँगे , मोटर कार जो भी होता उसके पीछे भागते हुए हवा में उड़ रहे या ज़मीन पर गिर चुके पर्चे उठाने में लग जाते। हम इस पूरी क्रिया को पर्चे लूटना कहते थे। हम पर्चे लूटने कई बार सरकारी कुएँ के तिराहे तक और दूसरी ओर शीतला माई तक दौड़ जाते थे। हम ये पर्चे बड़े जतन से अपने पास जोड़ कर रखते थे। जिसके पास जितने पर्चे होते वो उतना अमीर होता था। हमारे ख़ज़ानों में उस समय कंचे , इमली और सीताफल के बीज , कौड़ियाँ और ये पर्चे हुआ करते थे। इन पर्चों पोस्टरों की बातें उस समय की हैं जब हम लोग चौथी-पाँचवीं और छटवीं - सातवीं कक्षाओं में पढ़ा करते थे।

एक बार हम एक मोटर कार के पीछे पर्चे लूटते हुए भाग रहे थे अचानक मोटर कार किसी कारण से रुकी और फिर कुछ क्षण बाद आगे बढ़ गई। किन्तु इस बीच अनिल का चेहरा कर के पीछे वाले मड-गार्ड से टकराया। उसके ऊपर वाले ओंठ में चोट आई खून भी निकला अभी भी उस जगह पर उसका ओंठ हल्का सा फूला हुआ है।

□□

अनिल के साथ मैंने जो फ़िल्में देखीं उनकी भी लिस्ट बहुत लम्बी है। मैंने ऊपर कहीं 'लक्ष्मी टॉकीज़' का ज़िक्र किया था। अनिल के साथ बहुतेरी फ़िल्में लक्ष्मी टॉकीज़ में ही देखी थीं। उनमें भी अधिकांश फ़िल्में उस समय के बड़े स्टार 'दारा सिंह' की थीं। इन फ़िल्मों के मुख्य पात्र प्रायः दारा सिंह, उनके छोटे भाई 'रंधावा' और प्रायः एक विदेशी पहलवान 'एमिल क्जाज़ा' हुआ करते थे। उनके नाम की स्पेलिंग सही है या नहीं , कह नहीं सकता – यदि सही नहीं है तो क्षमा प्रार्थी हूँ। वे 'किंगकॉन्ग' के नाम से जाने, जाने लगे थे। वे विदेशी, हंगेरियन - ज़रूर थे पर उनका अधिकांश समय भारत में ही बीता था।

इन फ़िल्मों में कहानियाँ इस तरह से चुनी जाती थीं कि फ़िल्म में कई जगहों पर कुश्तियों के लिए गुंजाइश निकल सके। इन फ़िल्मों के दर्शक वास्तव में इन कुश्तियों को देखने ही सिनेमाघर जाया करते थे। इन फ़िल्मों की नायिकाओं में निशि , मीनू मुमताज़ , बेला बोस , लक्ष्मी छाया, हेलन आदि हुआ करती थीं। इनमें से कुछ फ़िल्मों के नाम

जो मुझे याद हैं – 'फौलाद', 'आया तूफ़ान', 'किंगकॉन्ग', 'रुस्तम-ए-हिन्द', 'डाकू मंगल सिंह', 'सेमसन', 'टार्जन कम्स टू देहली' आदि। ऐसा भी नहीं है कि अनिल के साथ मैंने सिर्फ़ दारा सिंह की फ़िल्में देखी थीं। इन फ़िल्मों के अलावा अन्य अभिनेताओं की फ़िल्में भी लक्ष्मी टॉकीज़ में अनिल के या अन्य दोस्तों के साथ देखी थीं। ये मिडिल स्कूल के समय की बातें हैं। तब हम लोगों के पास ज़्यादा पैसे नहीं हुआ करते थे। लक्ष्मी टॉकीज़ में थर्ड क्लास की टिकिट मात्र छह आने थी यानी सैंतीस पैसे। हम लोग कोशिश करते थे कि हम लोगों के पास कुल मिलाकर एक रुपया या कम से कम नब्बे पंचान्नवे पैसे हो जाएँ, जिससे फ़िल्म की दो टिकिटें, इंटरवल में दो चाय और कम से कम एक तला हुआ पापड़ आ जाए। लक्ष्मी टॉकीज़ में एक आने अर्थात् छह पैसों में चाय और पाँच -पाँच पैसों में बड़ा सा तला हुआ पापड़ मिल जाता था। इससे 'पिक्चर' देखने का मज़ा दुगना हो जाता था। एक आने का 'क्रीम-रोल' भी आता था। कभी कभी हम लोग चाय और पापड़ के स्थान पर क्रीम रोल ले लेते थे। हॉल में व्यवस्था बनाने के लिए एक अधेड़ उम्र का भारी-भरकम पहलवान नुमा आदमी फ़िल्म शुरू होने के पहले यहाँ वहाँ घूमता रहता था। वह हमेशा मुसा-तुसा, सलवटों से भरा हुआ सफ़ेद पाजामा कुरता पहने रहता था। उसका कुर्ता लखनवी चिकन का हुआ करता था। पर उसे धुले अरसा बीत चुका होता था। उसके बाल मेहँदी से रँगे होते थे जिनका रंग कहीं गाढ़ा कत्थई, कहीं नारंगी और कहीं कहीं सफ़ेद दिखाई पड़ता था। उसके एक हाथ में एक छोटा सा काले रंग का सोंटा और दुसरे में एक टॉर्च हुआ करती थी। चूँकि लक्ष्मी टॉकीज़ में सीट नम्बरों की कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः पंखे के नीचे की सीट के लिए मारा-मारी हुआ करती थी। कई बार बहुत सारे दोस्त एक साथ बैठना चाहते मगर उतनी सीटें खाली नहीं होतीं, भरी हुई सीटों वाले सीट छोड़ना नहीं चाहते तब बहस, गाली-गलौच और कई दफ़ा मार-पीट भी शुरू हो जाती थी। यदि फ़िल्म या 'न्यूज़ रील' या विज्ञापन फ़िल्में शुरू हो जातीं तब तो पूरे हॉल में कोहराम मच जाता। बाक़ी के वो सारे दर्शक जिनके सामने से इस झगडे की वजह से पर्दा छिप रहा होता वे भी बुरी तरह चीखने चिल्लाने लगते। इन सारे झगड़ों को निपटाने पहलवान अपनी खरखराती हुई कड़ी बुलंद आवाज़ में गालियाँ देता उस मोर्चे पर आता और ज़रुरत पड़ती तो सोंटे का प्रयोग भी कर लेता था। इसके

अलावा एक समस्या टूटी हुई सीटों की भी होती थी, यानी किसी किसी सीट में पीठ टिकाने वाला हिस्सा गायब होता और किसी किसी में तो बैठने वाला हिस्सा ही नहीं होता था। ये समस्या कुछ को छोड़कर सभी टाकीज़ों में थी। किसी में इस तरह की दो चार सीटें होतीं तो किसी में कुछ अधिक। ऐसी सीटों पर बैठकर कौन पिक्चर देखना चाहेगा। लेकिन यदि फ़िल्म हॉउस फुल होती तो कुछ एक अभागों के मत्थे ऐसी सीटें पड़ जाती थीं। अब ये उसके निर्णय के ऊपर रहता – पिक्चर देखनी है या वापस जाना है। नहीं देखना तो चुपचाप चले जाओ। टिकिट – विकिट वापसी की कोई बात नहीं होती थी। इसके लिए कोई उपलब्ध भी नहीं होता था और पहलवान से बात करने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। जब सब कुछ शांत हो जाता तब पहलवान हॉल के बाहर एक कुर्सी पर बैठ जाता और बीड़ी फूँकने लगता।

ऐसा नहीं है कि दारा सिंह की फ़िल्में सिर्फ़ लक्ष्मी टॉकीज़ में ही लगती थीं। हाँ मैंने ज़रूर उनकी बहुत सारी फ़िल्में अनिल के साथ लक्ष्मी टॉकीज़ में ही देखी थीं।

□□

यहाँ तक पहुँचते पहुँचते , पता नहीं क्यों ? 'ड्रेकुला' की फ़िल्में याद आ गईं।

चलिए उन्हीं फ़िल्मों की बात किए लेते हैं। उस समय ड्रेकुला की फ़िल्में सिर्फ़ अंग्रेज़ी में बनती थीं। हिंदी में उस समय कोई फ़िल्म बनी हो तो , मेरी जानकारी में नहीं है। बाक़ी किसी अन्य भाषा के बारे में भी मेरा यही बयान है। तो ठीक है,बात 'ड्रेकुला' की फ़िल्मों की शुरू हुई है। ड्रेकुला के नाम पर पूरी दुनिया में हर किसी को 'क्रिस्टोफ़र ली' का नाम ही ध्यान में आता है। उनका पूरा नाम था 'सर क्रिस्टोफर फ्रैंक कैरंडिनी ली' (27 मई 1922 - 7 जून 2015)। वे एक अंग्रेजी अभिनेता और गायक थे जो एक गहरी और प्रभावशाली आवाज़ वाले एक्टर के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने अक्सर हॉरर और फ्रैंचाइज़ी फ़िल्मों में खलनायक की भूमिका निभाई। ली को 2009 में ड्रामा और चैरिटी के लिए सेवाओं के लिए 'नाइट' की उपाधि दी गई।

उन्होंने सन् 1958 से सन् 1974 तक कुल 'दस' हॉरर फ़िल्मों में इतने प्रभावशाली ढंग से *'काउंट ड्रैकुला'* की भूमिका निभाई कि उनका नाम एक तरह से उस चरित्र का पर्याय बन गया।

(1. हॉरर ऑफ़ ड्रेकुला (1958), 2. द ब्राइड्स ऑफ ड्रेकुला (1960), 3. ड्रेकुला: प्रिंस ऑफ डार्कनेस (1966), 4. ड्रेकुला हैज़ राइजेन फ्रॉम दि ग्रेव (1968), 5. टेस ऑफ द लिविंग डेड / फियर (1969). 6. दि स्ट्रीम एण्ड सक्रीम अगेन 7. वन मोर टाइम (1970), 8. ड्रेकुला ए. डी. (1972), 9. द सैटेनिक राइट्स ऑफ ड्रेकुला (1973),10. द लास्ट डिसेंट ऑफ ड्रेकुला द गोल्डन वैम्पायर (1974). – एआई से प्राप्त जानकारी)

ये सभी अंग्रेज़ी फ़िल्में थीं और अंग्रेज़ी फ़िल्में उन दिनों जबलपुर में सिर्फ़ 'एम्पायर' तथा 'डिलाइट' सिनेमाघरों में ही लगा करती थीं। साथ ही उन सिनेमाघरों में प्रतिदिन बस दो शो ही हुआ करते थे। पहला शो जिसे 'फर्स्ट शो' या 'ईवनिंग शो' कहा जाता था तथा दूसरा शो जिसे सामान्यतः 'सेकण्ड शो' या 'नाईट शो' या 'रात वाला शो' कहा जाता था। हम लोगों ने जब ड्रेकुला की फ़िल्में देखना शुरू की थीं तब इन दोनों टॉकीज़ों में दो शो ही दिखाए जाते थे। हम लोगों का मूड और फिर प्रोग्राम बनते-बनते सेकण्ड शो का समय हो जाता था। मैं जिन दिनों की बात कह रहा हूँ , उन दिनों हम लोगों के मोहल्ले पश्चिमी घमापुर से ब्योहार बाग़ मोहल्ले तक तो रास्ते में दूकानें थीं और रिहायशी मकान भी बने थे, किन्तु इसके आगे इन दोनों सिनेमाघरों तक लगभग सुनसान रास्ता हुआ करता था। डिलाईट टॉकीज़ की बात करें तो ब्योहार बाग़ के कुछ दूर आगे जाकर सड़क ओमती नाले के ऊपर से होकर गुज़रती थी। नाले के ऊपर वाले हिस्से से बाईं ओर विशाल पुलिस परेड ग्राउण्ड दिखाई पड़ता था और रात में सिर्फ़ स्याह अँधेरा। यही हाल दाहिनी तरफ़ भी था। फिर सीधे डॉ.अंबेडकर चौक, जो उस समय तहसीली चौक कहलाता था। न इंदिरा मार्किट बना था, न ही सिविल लाइन के चौराहे की बड़ी रोटरी बनी थी। उस चौक से यूनिवर्सिटी और जी. सी. एफ़. की ओर जाती सुनसान सड़कों का भयावह अँधेरा घूरता रहता था। यहीं से इलाहाबाद बैंक की सन्नाटे में डूबी इमारत के बाजू से होते हुए और इमली , नीम आदि घने दरख्तों के

साए में एक फ़र्लांग चलने के बाद बड़े बड़े सघन वृक्षों के बीच अचानक डिलाईट टॉकीज़ की एक मंज़िला बिल्डिंग दिखाई पड़ने लगती थी।

टॉकीज़ के कंपाउण्ड में बस एक या दो बिजली के खम्भे हुआ करते थे, जिनपर लटके पीली रोशनी वाले बल्वों से फीका उजाला रिस रिस कर ज़मीन तक पहुँचने की कोशिश कर रहा होता। कंपाउण्ड की दीवार जगह जगह से टूटी हुई थी और कई स्थानों पर बची ही नहीं थी। इस में दो स्थान ऐसे थे जिस जगह पर लगता था कभी गेट रहे होंगे , पर अब बस कच्चा रास्ता बचा था। गेट से कुछ दूरी पर टिकिट बुकिंग का बहुत छोटा सा , एक खिड़की वाला कमरा था, जिसके भीतर और बाहर कम वाट के बल्ब जल रहे होते। इस कमरे के पीछे तीस चालीस क़दमों की दूरी पर एक ब्रिटिश आर्किटेक्ट का प्रभाव लिए हुए एक मंज़िला इमारत थी, जो टॉकीज़ के मैनेज़र का घर या बंगला थी। हालाँकि इस बात से मैं तब भी वाकिफ़ था कि उस बंगले में टॉकीज़ के मैनेज़र 'बड़े नायक जी' के छोटे भाई 'छोटे नायक जी' रहा करते थे,और उस टॉकीज़ के मैनेज़र 'बड़े नायक जी' मेरे सहपाठी 'दिनेश नायक' के पिता हैं। अब न डिलाईट टॉकीज़ रही, न दिनेश नायक और न ही बड़े एवं छोटे नायक जी। आज यदि उस ज़माने का कोई बंदा अचानक पचास सालों के बाद उस सड़क पर खड़ा कर दिया जाए जिसके किनारे डिलाईट टॉकीज़ का कंपाउण्ड और डिलाईट टॉकीज़ हुआ करती थी तो वह कतई ये मानने को तैयार नहीं होगा कि यही वो जगह है जहाँ कभी 'डिलाईट टॉकीज़' हुआ करती थी।

तो! मैं तो जी घूम आया – अपनी ज़िंदगी के उस हिस्से में जहाँ अभी भी डिलाईट टॉकीज़ का कंपाउण्ड और डिलाईट टॉकीज़ उसी हालत में जैसे के तैसे मौज़ूद हैं। अब तुम्हें मैं सुनाऊँगा वो छोटा सा बयान जो कि यदि मैंने नहीं बताया तो कम से कम मुझे बात अधूरी लगेगी। जहाँ तक मुझे याद है डिलाईट टॉकीज़ में बालकनी नहीं थी। 'ड्रेस सर्कल' या 'रिज़र्व क्लास' नाम से सबसे पीछे वाली तीन या चार कुर्सियों की कतारें थीं, जो फर्स्ट , सेकण्ड और थर्ड क्लास से थोड़ा ऊँचे ढ़लान पर पर जमीं होती थीं। हॉल से निकलने के लिए हर क्लास के दरवाज़े दोनों ओर थे किन्तु अंग्रेज़ी फ़िल्मों में इतनी भीड़ भाड़ नहीं होती थी लिहाज़ा दर्शक जिस दरवाज़े से फ़िल्म देखने अन्दर

आते उसी से फ़िल्म छूटने के बाद बाहर भी निकलते थे। जहाँ से दर्शकों की आवाजाही होती वो दरवाज़े एक लम्बे गलियारे में खुलते थे। इस गलियारे में लकड़ी के खम्भे खपरैल वाली छत को सपोर्ट देते थे। गलियारे के अंत में जिस तरफ़ स्क्रीन थी उस छोर पर कैन्टीन थी। इस गलियारे या दालान में दरवाज़ों के ऊपर और बीच में आने वाली फ़िल्मों के काग़ज़ पर प्रिंटेड पोस्टर्स लगे होते थे। दो जालियों के पल्लों वाली नोटिस बोर्ड नुमा बहुत कम गहराई वाली अलमारियां भी यहीं दीवारों पर टँगी हुई थीं उनमें से एक में, जो फ़िल्म चल रही होती उसके एवं दूसरी में 'नेक्स्ट पिक्चर' लिखी हुई पट्टी के साथ अगली आने वाली फ़िल्म के फ़ोटोग्राफ़िक पोस्टर्स लगे होते थे।

अब थोड़ा कुछ 'एम्पायर टॉकीज़' के बारे में – सबसे पहली बात तो ये कि जबलपुर में स्थित यह थिएटर सन् 1918 में अंग्रेजों द्वारा बनवाया गया था। इस को 1951/52 में मशहूर फ़िल्म अभिनेता प्रेमनाथ ने खरीदा था। उस समय यह थिएटर जबलपुर के सिविल लाइंस इलाके का प्रमुख आकर्षण था। 1952 में इसका उद्घाटन राज कपूर के पिता पृथ्वीराज कपूर ने किया था। यह महाकौशल क्षेत्र का पहला थिएटर था। इस थिएटर में कभी लाइव प्रोग्राम होते थे और इसे देखने के लिए बड़े-बड़े रईस और सेना के अधिकारी आते थे। प्रेमनाथ इस थिएटर की दीवार कूदकर फ़िल्में देखने जाया करते थे। एक बार एक अंग्रेज़ सिपाही ने उन्हें पकड़कर थिएटर से बाहर कर दिया था। इसके बाद प्रेमनाथ ने कसम खाई थी कि वह एक दिन इस थिएटर को खरीद लेंगे। फ़िल्मों में सफलता पाने के बाद प्रेमनाथ ने 1951/52 में एम्पायर टॉकीज़ को खरीद लिया था। सन् 1998 तक इस थियेटर में फ़िल्में दिखाई जाती रहीं। उसके बाद इसे बंद कर दिया गया। क्यों ? इस संबंध में बातें तो बहुत सी सुनने में आती हैं – लेकिन मुझे लगता है उन सुनी सुनाई बातों का यहाँ और मेरे किस्से से कोई सीधा तअल्लुक नहीं है साथ ही मुझे ज़्यादा कुछ मालूम भी नहीं है इसलिए उन बातों को छोड़ कर हम आगे बढ़ सकते हैं।

बहुत समय तक सर्किट हाउस नंबर एक के समीप स्थित यह शानदार इमारत सीना ताने खड़ी रही और जबलपुर का ऐतिहासिक सांस्कृतिक गौरव बढ़ाती रही। सन् 2012 में इसके सामने का हिस्सा क्षतिग्रस्त होकर गिर गया। सम्बंधित सरकारी

अधिकारियों के द्वारा सुरक्षा प्रबंध किए गए , लेकिन सन् 2024 तक आते आते एम्पायर थिएटर की इमारत काफी जर्जर हो चुकी थी और इसके गिरने से किसी दुर्घटना की आशंका से इस ऐतिहासिक इमारत को सरकार द्वारा पूरी तरह से ज़मींदोज़ कर दिया गया।

मैंने एम्पायर थिएटर , जिसे हम लोग एम्पायर टॉकीज़ के नाम से ज़्यादा जानते थे ; का इतिहास तो बयान कर दिया। अब मूल बात जहाँ से छोड़ी थी वहाँ लौटा जाए। माने हमारे पश्चिमी घमापुर से डिलाईट और एम्पायर टॉकीज़ तक के रास्तों की । 'डिलाईट' तक के रास्ते के बारे में मैं बता चुका हूँ। एम्पायर टॉकीज़ का रास्ता और भी भयावह था। तहसीली चौक, जो अब डॉ.अंबेडकर चौक के नाम से जाना जाता है, तक तो मेरे घर से दोनों टॉकीज़ों के लिए कॉमन रास्ता थ , किन्तु डिलाईट टॉकीज़ के लिए हम जहाँ डॉ.अंबेडकर चौक से बाईं ओर मुड़ जाते थे, एम्पायर के लिए सीधे निकलना पड़ता था। हाई कोर्ट के सामने से डॉ.राजेन्द्र प्रसाद चौक से होते हुए रेलवे ग्राउण्ड के बाजू से निकल कर दो नम्बर ब्रिज के नीचे से सर्किट हाउस नम्बर एक फिर दाहिनी ओर सामने एम्पायर टॉकीज़ आ जाती थी। यह पूरा रास्ता रात के समय बिलकुल सुनसान रहता था।

इन सब बातों का मतलब सुनसान रास्ते और भयावह सन्नाटे का, अपने आप ही गहरा संबंध बन जाता है – हॉरर फिल्मों से।

मैं बात कर रहा था - हॉरर फ़िल्मों की , बल्कि 'ड्रेकुला' की फ़िल्मों की , जो इन दोनों टॉकीज़ों में ही लगा करती थीं। साथ ही अक्सर न चाहते हुए भी हम रात वाला शो ही देख पाते थे। हो सकता है हमारा अचेतन मन ही ये आयोजन समायोजित कर लेता हो। परन्तु प्रायः होता वही था – हम जब ड्रेकुला की फ़िल्म देखकर लौटते तब जब तक दर्शकों की छोटी मोटी भीड़ आस-पास होती , सब ठीक ठाक रहता था। सारे दर्शक ज़ोर-ज़ोर से बातें करते होते। ठहाके लगा रहे होते। ये भी डर भगाने का तरीका ही होता था। जब हम अपने घर के रास्ते पर पहुँचते तब धीरे-धीरे ड्रेकुला का डर दिमाग में सनसनाना शुरू हो जाता। मैंने ड्रेकुला की फ़िल्म कभी अकेले नहीं देखी । हमेशा मेरे साथ या तो अनिल होता था या फिर अखिलेश। हम अपनी अपनी

साइकिलें तेज़ी से आगे बढ़ाते ख़ासकर रास्ते के उन सुनसान हिस्सों में जो अँधेरे में डूबे होते। उस ज़माने में सड़क के किनारे लगे बिजली के खम्भों में ट्यूब लाइट नहीं लगे होते थे उनकी उजली सफ़ेद रोशनी की जगह पीली मरियल सी रोशनी वाले बल्ब लगे होते थे। उनमें से भी कई खंभों के बल्ब फ्यूज़ होते या टूटे हुए होते। जब बदले जाते तब बदले जाते पर हमारे लिए तो अक्सर उसी समय अँधेरा होता जब हम ड्रेकुला की फ़िल्म देखकर लौट रहे होते। रास्ते में हम कई बार ये मेनिफेस्टेशन दोहराते की अब ड्रेकुला की फ़िल्म नहीं देखेंगे। लेकिन ऐसा कैसे हो सकता था। कुछ दिनों बाद ड्रेकुला की फ़िल्म का हम बेसब्री से इंतज़ार करने लगते।

लौटते समय कई बार हम बहुत लम्बा चक्कर लगाकर रसल चौक से होते हुए , करमचंद चौक , तुलाराम चौक , गलगला चौक और फिर घमापुर चौक पार करके घर आते थे। इस पूरे रास्ते बसाहट थी और दूकानें थीं। उतनी रात को सब कुछ बंद रहता था पर स्ट्रीट लाइट्स और मकानों के कारण जीवन्तता महसूस होती थी। मैं जब ये फ़िल्में अखिलेश के साथ देखता था तब तो लौटने का यही मार्ग होता था। अब काउंट ड्रेकुला की फ़िल्मों की थोड़ी सी बातें करूँ और इस प्रसंग को समाप्त करूँ।

मैं समझता हूँ 'काउंट ड्रेकुला' के नाम से तो प्रायः सभी परिचित हैं , फिर भी जो नहीं जानते उनके लिए कुछ पंक्तियों में ड्रेकुला का परिचय दे देना उचित होगा।

काउंट ड्रैकुला, ब्रैम स्टोकर के 1897 के गॉथिक हॉरर उपन्यास ड्रैकुला का शीर्षक चरित्र है।

बाद के उपन्यासों में उन्हें प्रोटोटाइपिकल और आर्किटेपल वैम्पायर माना जाता है। माना जाता है कि चरित्र के कुछ पहलू 15 वीं सदी के वैलाचियन राजकुमार व्लाद द इम्पेलर से प्रेरित हैं, जिन्हें व्लाद ड्रैकुला के नाम से भी जाना जाता था, ड्रैकुला एक मरे हुए , सदियों पुराने पिशाच और एक ट्रांसिल्वेनियन रईस हैं, जो अट्टिला द हुन के वंशज 'सेकेली' होने का दावा करते हैं। वह बोर्गो दर्रे के पास कार्पेथियन पहाड़ों में एक खस्ताहाल महल में रहता है। पूर्वी यूरोपीय लोककथाओं के पिशाचों के विपरीत, जिन्हें प्रतिकारक

(रिपल्सिव) , लाश जैसे प्राणियों के रूप में चित्रित किया जाता है, ड्रैकुला सुंदर और करिश्माई है, जिसमें अभिजात वर्ग का आकर्षण है।

ड्रेकुला के बारे में किवदंतियां तो अनेकों हैं। कई लोग उसे वास्तविक भी मानते है। कुछ ने इस पात्र को किसी बेहद क्रूर शासक से प्रेरित बताया है,जबकि कुछ इसे पूर्णतया काल्पनिक बताते हैं।

ड्रेकुला को ज़िन्दा इंसानों का खून पीकर शक्ति पाने वाला पिशाच माना जाता है।

वह अपने शिकार की गर्दन पर दांत गड़ाकर न केवल उसका खून पीता है वरन् उसे संक्रमित कर अपने जैसा पिशाच बना लेता है। हर फ़िल्म के अन्त में वह शक्तिहीन होकर नष्ट हो जाता है। किन्तु अगली फ़िल्म में फिर किसी न किसी अविश्वसनीय और हैरतअंगेज़ तरीके से पुनः उठ खड़ा होता है। नई कहानी चल पड़ती है।

मीलों फैले घने सुनसान जंगल के बीच बने पुराने ख़स्ता-हाल से महल में ड्रेकुला अपने ताबूत में दिनभर सोया रहता है। शाम ढ़लते-ढ़लते जब अँधेरा अपने पंख पसारने लगता है चारों ओर नकारात्मक उर्जा की धुंध फैलने लगती है। तब सूरज के पूरी तरह ढ़ल जाने के बाद ड्रेकुला के महल में भयावह हलचलें शुरू होती हैं। महल के सन्नाटे में डर के बादल और लहू जमा देने वाली ख़ामोशी चरमराने लगती। दर्शक अपनी खुद की साँसों की आवाज़ से दहशतज़दा हो जाते।

धीरे धीरे उस ताबूत का ढक्कन धीरे-धीरे खुलने लगता।

भीतर से सफ़ेद धुआँ बाहर फैलता , ताबूत में लेटा ड्रेकुला धीरे-धीरे अपनी सुर्ख़ आँखें खोलता और हवा में तैरता हुआ सा ताबूत के बाहर आ जाता।

इन फ़िल्मों के सेट्स , फ़ोटोग्राफी , लाइटिंग एंगल्स , कथानक और सबसे ऊपर क्रिस्टोफ़र ली की लाजवाब एक्टिंग सब कुछ मिल जुल कर ऐसा माहौल बना देते कि हाल में बैठे दर्शक किंकिया पड़ते थे। किंकियाना के मायने होता है न चीख़ पाना, न चीख़ रोक पाना। यह पूरी चीख़ और घिघियाने के बीच की विचित्र ध्वनि होती है जिसके लिए मैं अभी सही शब्द नहीं ढूँढ पा रहा हूँ।

पर तुम समझ गए होओगे।

जब भी कोई डरावना सीन आता, वो भी एडिटिंग के कमाल से एकदम से स्क्रीन पर आ जाता।

तब इस तरह की और इसकी पर्यायवाची टाइप की आवाज़ें हॉल में जहाँ तहाँ गूँज जातीं।

एक दो बार मेरे साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ था। जब अचानक मेरे मुँह से भी विचित्र सी घरघराहट नुमा आवाज़ निकली थी। वैसे कुछ सीन याद तो हैं लेकिन बात लम्बी हो जाएगी और अब उनमें वो डरा देने वाली इंटेंसिटी भी नहीं महसूस हो रही है। इसलिए उन्हें छोड़ देते हैं। हाँ , एक बहुत छोटा सा वाकिया, जो कुछ मैं बताना चाहता हूँ उसे समझाने के लिए सुने देता हूँ।

बात डिलाईट टॉकीज़ की है। मैं और अनिल आजू बाजू बैठे ड्रेकुला की कोई फ़िल्म देख रहे थे। जिसका नाम अब याद नहीं है। घने जंगल में ड्रेकुला की बग्घी में बैठकर आता ड्रेकुला का मेहमान । ढलता हुआ सूरज। अँधेरे में डूबता ड्रेकुला का महल। डरावना पार्श्व संगीत , मेहमान के जूतों की आवाज़ , महल की ऊँची-ऊँची बदरंग दीवारें , आतिशदान की जलती हुई आग में जलती लकड़ियों के चटकने की चिटचिटाती आवाजें , खौफ़नाक दीवारों पर जहाँ तहाँ टँगी हुई मशालों की कंपकंपाती रोशनी –

ड्रेकुला के महल में प्रवेश का सबसे खतरनाक समय ....

ड्रेकुला के ताबूत का ढक्कन उठना शुरू हुआ।

आखिरी सांसें लेती हुई चरमराती अधमरी सी आवाज़, ताबूत से रिस रिस कर बाहर निकलता सफ़ेद नीला सा धुआँ – धीरे धीरे धुएँ की झीनी परतों के पीछे से उभरता ड्रेकुला का श्वास विहीन मृत शरीर, बेजान चेहरा, मुर्दा आँखें...

सहसा उन फटी आँखों में होती हरकत....

मेरी बाईं ओर बैठे एक सज्जन अचानक बेसाख्ता लगभग चीखते हुए बोल पड़े – " मिलिट्री ले के क्यों नहीं जाते, साले अकेले चले जाते हैं।" उन्होंने कुर्सी के हत्थे पर रखा मेरा बाँया हाथ भी ज़ोर से पकड़ लिया था। मैंने मुड़कर देखा उनके पैर कुर्सी के ऊपर थे।

जब इस तरह के सीन गुज़र जाते तब पूरे हॉल से एक सामूहिक निश्वास की आवाज़ आती जैसे सब ने चैन की सांस ली हो। क्षण भर बाद दो चार ठहाके भी सुनाई देते। लोग ज़ोर ज़ोर से बातें करने लगते।

एक दो फ़िल्मों में तो ये स्थिति बन गई थी कि घर लौटने के बाद अनिल और मैं दोनों हमारे घर पर ही सोए थे। डर का भी एक सम्मोहन होता है। उस समय मन सिर्फ़ और सिर्फ़ कंपकंपाता है,अँधेरे उजाले के बीच डरावने साए मँडराते दिखाई पड़ते हैं। ऐसे समय में मैं सिरहाने के तरफ़ वाली दीवार पर किसी नुकीली वस्तु से क्रूस का निशान भी बना लेता था। अब सोचता हूँ तो हँसी आती है। पर कहीं पर ये भी लगता है कि डरावनी फ़िल्म में डरे नहीं तो फ़िल्म देखने का मज़ा कहाँ आया। जब हम कॉमेडी फ़िल्म में किसी सीन को देखने के बाद , याद आने पर भी हँसना चाहते हैं और अच्छी कॉमेडी हुई तो हँसी नहीं रुकती चाहे हम कहीं भी बैठे हों तो फिर हॉरर मूवी के सीन डराएँ क्यों नहीं ?

अब इस प्रसंग की आख़िरी बातें – ड्रेकुला नामक पात्र के ऊपर सबसे पहली फ़िल्म 1931 में बनी थी। यह फ़िल्म ब्रैम स्टोकर के उपन्यास (1897) पर बनी थी। 'दी लास्ट वॉयेज ऑफ़ दी डिमीटर ' ड्रेकुला के पात्र के ऊपर सन् 2023 में बनी फ़िलहाल-आख़िरी फ़िल्म है। इस बीच लगभग 170 से 200 तक की संख्या में इस पात्र के ऊपर फ़िल्में बन चुकी हैं। इन फ़िल्मों में ढेरों अभिनेताओं ने यह चरित्र परदे पर जिया है। मैंने भी कई अलग अलग अभिनेताओं द्वारा अभिनीत 'ड्रेकुला' को आधार बनाकर निर्मित की गई फ़िल्में देखी हैं। मेरी अपनी राय में 'क्रिस्टोफर ली' ड्रेकुला के पात्र का अभिनय करने वाले सर्वश्रेष्ठ अभिनेता हैं।

मैं आज भी हॉरर फ़िल्में बहुत देखता हूँ। मिस्ट्री , थ्रिलर्स , इन्वेस्टीगेटिंग स्टोरीज़ पर आधारित फ़िल्में , वेब सीरीज़ , डॉक्युमेंट्रीज़ मेरी पहली पसंद होती हैं। अब तो इन्टरनेट

पर और विभिन्न ओटीटी'ज़ पर ढेरों ऐसा मटेरियल उपलब्ध है। ऐसी फ़िल्में और वेब सीरीज़ इत्यादि ख़ूबसूरत पहाड़ों , घने जंगलों , दुर्गम समुद्री टापुओं पर ज़्यादातर शूट किए जाते हैं। कहानी का तो अपना महत्त्व है ही पर शूटिंग लोकेशंस भी बेहद लुभावने होते हैं। मुझे घर बैठे उन स्थानों में घूमने का आनंद मिल जाता है। मैं कोशिश करता हूँ कि हर काम ध्यान पूर्वक करूँ ताकि अलग से ध्यान करने की ज़रुरत न पड़े । बाक़ी चीज़ों में तो थोड़ा बहुत ध्यान इधर उधर भटक भी जाता है परन्तु ये फ़िल्में , वेब सीरीज़ आदि मैं बड़े ध्यान से देखता हूँ। बेक-ग्राउण्ड म्युज़िक , सेट , लोकेशन , एक्टिंग , डॉयलॉग्स , स्क्रिप्ट पर बहुत पैनी नज़र रखता हूँ। होना नहीं चाहिए पर मैं हूँ – 'परफ़ेक्टनिस्ट'। मुझे ग़लतियां निकालने की बुरी आदत है। कई लोग इसी कारण मुझे शायद पसंद भी नहीं करते होंगे। मैं ख़ुद भी अपने काम से जब तक संतुष्ट नहीं होता उसे बार बार करता हूँ , सुधारता रहता हूँ। जब भी अपना कुछ लिखा हुआ दुबारा पढता हूँ तो उसमें कुछ न कुछ करेक्शन हो ही जाते हैं। कई पेंटिंग्स मैंने सालों बाद सुधारी हैं। कभी पूरा केनवास पोत देता हूँ और नए सिरे से चित्र बनाता हूँ। मैं क्या हूँ ? कैसा हूँ ? इस बात की एनालिसिस इस विषय के विद्वान् ज़्यादा अच्छी तरह से कर सकते हैं। मैं यदि संतुष्ट हूँ और मेरी कृति या किया हुआ काम मुझे ख़ुश कर पा रहा है,बस इसके आगे मैं नहीं सोचता। अब मगर उम्र के इस पड़ाव पर आकर मुझे लगने लगा है कि मुझे परफ़ेक्शन के अपने जुनूनी आग्रह को धीरे धीरे कम कर देना होगा। बल्कि छोड़ ही देना होगा। अब अपने भीतर की दुनिया को परफ़ेक्शन की ओर ले जाना ठीक होगा।

□□

इस फ़िलासफ़ी को यहीं छोड़ें , कुछ याद आ रहा है वो बताऊँ।

रविवार का दिन था। श्री कृष्णा टॉकीज़ में सुबह नौ से बारह के शो में 'शशि कपूर' और 'शर्मीला टैगोर' की फ़िल्म 'आमने-सामने' दिखाई जा रही थी। वैसे यह फ़िल्म 1967 में रिलीज़ हुई थी परन्तु शायद एक दो साल बाद दुबारा जबलपुर में प्रदर्शित हुई थी। पहली बार में हम लोगों ने ये फ़िल्म नहीं देखी थी। इस तरह से जब कोई हिट फ़िल्म फिर से लगती थी तो टॉकीज़ में उसे मैटिनी शो या सुबह के शो में चलाया

जाता था। अनिल उस दिन सबेरे-सबेरे कहीं से अख़बार में इस फ़िल्म के बारे में ख़बर ले आए और "फ़िल्म देखना है" का पलीता लगा दिया। छुट्टी का दिन था ही , सुबह आठ-साढ़े आठ बजे से बारह-साढ़े बारह बजे तक आराम से गायब हुआ जा सकता था। घर वाले अनुमान लगाते कि हम लोग डेनियल या रवि नीखरे आदि की तरफ़ गए होंगे। पर समस्या थी टिकिट के पैसों की । हम दोनों के पास दो टिकिटों में लगने वाली कुल राशि में पच्चीस या तीस पैसे कम पड़ रहे थे। ज़्यादा समय भी नहीं था। तुरत फुरत निर्णय लिया गया। हम लोगों ने मेरे घर से कुछ पुरानी पत्रिकाएँ और पिछले सालों की कॉपियाँ अपनी शर्टों के भीतर छिपाकर पेंट और पेट के बीच खोंस लीं , सीधे मोहन की किराने की दुकान पर पहुँचे । दुकान पर अच्छा हुआ मोहन की जगह उसका पिता हरुमल था। उसने बिना पूछ ताछ किए उन पुरानी पत्रिकाओं और कॉपियों को तराजू में तौल कर हमें छह आने यानी सैंतीस पैसे दिए। हमारा काम बन गया हम वहीं से एक के बाद एक शॉर्टकट लेते हुए जब टिकिट लेकर हॉल में दाखिल हुए तब तक फ़िल्म शुरू हो चुकी थी। मैंने बाजू में बैठे दर्शक से पूछा – "कितनी देर हुई शुरू हुए ?" उसने जवाब दिया "यार मैं भी अभी आया हूँ , देखो पिक्चर देखो थोड़ी देर में समझ में आ जाएगा।"

इस तरह का जुगाड़ हमने पहली बार किया था। इसलिए आज भी याद है। क्योंकि मैं उस दिन के बाद कई दिन तक डरता रहा था, कहीं हरुमल इस बात की चर्चा अपनी पत्नी से न कर दे। जिसका हमारे घर आना जाना था और वह बातों बातों में बाई या बुआ से इस बाबत कुछ बता दे। पर हरुमल व्यापारी था वह ऐसा कभी नहीं करने वाला था। उसने किया भी नहीं। ये बात सिर्फ़ उसके, अनिल और मेरे बीच रही। इसके बाद ज़रुरत पड़ने पर पैसों के इंतज़ाम के लिए ये तकनीक दो या तीन बार और भी अपनाई गई थी। हाँ, हम पहले देख लेते थे कि दुकान पर 'हरुमल' ही हो। ऐसा करना सही था या ग़लत ये प्रश्न तो बेताल पच्चीसी में बेताल द्वारा राजा विक्रमादित्य से पूछा जाना चाहिए था। पूछा गया या नहीं ये मुझे नहीं मालूम ।

" प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है " इसमें मैं एक चीज़ और जोड़े देता हूँ और यहाँ लिख भी देता हूँ – *"प्रेम , युद्ध और आपात स्थिति में सब कुछ जायज है।"* उस

समय पैसों का इंतज़ाम तुरत फुरत करना हमारे किए 'आपात स्थिति' बेशक थी, फ़िल्म देखने के प्रति हमारा 'अगाध प्रेम' भी था। बस ! अब इससे ज़्यादा मैं नहीं समझता किसी और जस्टिफ़िकेशन की ज़रुरत है।



अनिल शुरू से ही मुझसे फिज़िकली ज़्यादा तगड़ा रहा है। उम्र में भी मुझसे एक-डेढ़ साल बड़ा ही है। अतः सिनेमाघर में टिकट लेने का काम वही करता था। खासकर जब नई फ़िल्म लगी हो और हम पहले ही दिन फ़िल्म देख रहे हों। उन दिनों हमारी उम्र के लड़कों में "पहला दिन पहला शो" देखने का भी बहुत क्रेज़ हुआ करता था। उस दिन तो सिनेमाघर में ज़बरदस्त भीड़ हुआ करती थी। लेट पहुँचने पर तो कई बार सिनेमाघर के परिसर में ही घुस पाना मुश्किल हो जाता था। प्रायः पहला शो दोपहर बारह बजे का हुआ करता था। ऐसे समय में कई बार दस बजे से ही टिकट घर के सामने लगने वाली लाइन में लगना पड़ता था। पर हम पहला दिन पहला शो तभी जा पाते थे, यदि उस दिन स्कूल की छुट्टी हो। कॉलेज के दिनों में कई बार अलग अलग वजहों से कॉलेज में छुट्टी हो जाती थी। उन वजहों के बारे में अलग से बातें होंगी। अभी मैं ये बताना चाहता हूँ कि स्कूल या कॉलेज बंक करके या गोल मार के हम कभी फ़िल्म देखने नहीं गए। तो बात अनिल की हो रही थी – यदि बहुत भीड़ होती तब लाइन में उसके साथ मैं भी लगता था, किन्तु टिकट वो ही खरीदता था। कई बार ज्यों-ज्यों हम टिकट विंडो के नज़दीक पहुँचने लगते। लाइन में लगे लोगों में बेचैनी बढ़ती जाती। टिकट मिल पाएगी या नहीं, ले पाएँगे या नहीं, कहीं बिलकुल समीप पहुँचते ही टिकट विंडो बंद हो गई तो ! ये सारे सवाल लाइन में कसमसाहट पैदा करते थे। एक दूसरे से ज़ोर आजमाइस शुरू हो जाती। आवाज़ें धीरे धीरे चीखने चिल्लाने में बदलने लगतीं। बेवजह लोग एक दूसरे से लड़ पड़ते। ऐसे में अनिल मुझे लाइन से निकल जाने और पिक्चर हॉल के गेट के पास इंतज़ार करने कह देता था। इसके बाद वो टिकट लेने का कार्य पूरी तरह सम्हाल लेता था।

जब वह पसीने में लथ-पथ , मुसी तुसी शर्ट , बिखरे बालों में टिकट लेकर एक विजेता की तरह वापस आता तो मैं भी टिकट मिल जाने की ख़ुशी से आप्लावित हो जाता

था। हॉल में बैठने के बाद कुछ देर तक वह कितनी मुश्किल से टिकट मिली इसका वर्णन करता रहता।

इसी कड़ी में याद आ रहा है – विनीत टॉकीज़ का वाक़िया जब उसने बहुत मशक़्क़त से टिकट ली थी। फ़िल्म थी 'मुग़ल-ए-आज़म' जो उस समय दूसरी, तीसरी या चौथी बार मैटिनी शो में लगी थी।

'मुग़ल-ए-आज़म' हिंदी सिनेमा का एक शानदार नगीना है जिसकी चमक आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसी वो सन् 1960 में रही होगी जब वो फ़िल्म रिलीज़ हुई थी। तो हम लोग शायद उस फ़िल्म का पहले दिन पहला शो ही देखने पहुंचे थे। बड़ी ज़बरदस्त भीड़ थी। टॉकीज़ के मैनेजमेंट ने पिक्चर हॉल तक पहुँचने के सभी रास्ते बंद कर रखे थे। इस बात का मतलब ये था कि हॉल में वही पहुँच पाएगा जो टिकट विंडो वाली लाइन में लगकर टिकट खरीदेगा। अलग अलग दर्जे के बेहद सँकरे सुरंग नुमा गलियारे या गलियाँ पिक्चर हॉल के गलियारे से जुड़ती थीं। सामने हॉल में प्रवेश करने के दरवाज़े दर्शकों के बैठने की क्लास के अनुसार बने थे। इस बात का असल मतलब ये था कि मुझे भी लाइन में लगना ज़रूरी था। लाइन सँकरी सुरंग के बाहर तक लगी हुई थी। टिकट विंडो खुलने के बाद धीरे-धीरे हम आगे बढ़ने लगे। जब उस सँकरी सुरंग में हम पहुँचे , तो वहाँ हैरतअंगेज़ नज़ारा था, लोग उस सुरंग में ठसा-ठस भरे हुए थे। कुछ महापुरुष उस स्थिति में भी सिगरेट या बीड़ी के कश लगा रहे थे। सुरंग में सिगरेट के धुएँ की गंध भरी हुई थे और धुएँ के बादल तैर रहे थे। इसके साथ ही बुरी तरह से चीख पुकार मची हुई थी। गंदी गालियों से सजे धजे छोटे छोटे शब्द समूह एक दूसरे से टकरा रहे थे और बगर रहे थे – "तू कहाँ घुस रहा है बे" "ठीक से खड़ा क्यों नहीं होता बे ". . ., "देखना कोई . . .सामने से ना घुसे". . ., "सिगरेट दूर रख" . . . - "जला दिया साले" . . . , मुझे कुछ देर बाद लगने लगा कि जब तक हम लोग टिकट खिड़की तक पहुँचेंगे। सारी टिकटें बिक चुकी होंगी और टिकट विंडो बंद हो जाएगी। मैंने ये आशंका प्रकट की, शायद अनिल भी यही सोच रहा था। ये बात मेरे दिमाग़ में इसलिए आई थी क्योंकि कुछ दुस्साहसी युवक एक के बाद एक लाइन में लगे लोगों के कन्धों और सरों के ऊपर से होकर गिरते पड़ते, उछलते कूदते, रेंगते हुए मगरमच्छ

की तरह आगे बढ़ना शुरू कर चुके थे। अब तो चीख पुकार और गालियों के फ़व्वारे छूटने लगे। उस सुरंग में हवा आने - जाने के लिए सुरंग की पूरी लंबाई में छत से सँटी लगभग एक फुट की झिरी बनी थी जिसमें बीच बीच में छत को सपोर्ट देने के किए छोटे छोटे पिलर बने थे। अचानक अनिल ने कूद कर उस झिरी का सहारा लिया और वो भी ऊपर चढ़ गया। उसके बाद मगरमच्छ बनकर आगे सरकने लगा। उसे टिकट खिड़की तक पहुँचते हुए तो मैं देख पा रहा था पर आख़िर में उसे टिकट कैसे मिली वो भी 'दो', ये मैं नहीं देख पाया। लाइन में लगे लगे धीरे धीरे जब मैं टिकट विंडो तक पहुँचा था तब वह बंद हो चुकी थी। जिन्हें टिकट नहीं मिली थी, वे अपनी भड़ास गालियाँ खोंस खोंस कर निकालते हुए धक्का मुक्की करते वापस लौट रहे थे। मैं सुरंग से बाहर आया, सामने अनिल खड़ा था हाथों में दो टिकट लिए। हम आपस में कुछ नहीं बोले। टिकट कैसे मिली मैंने पूछा नहीं क्योंकि मैं अनुमान लगा पा रहा था, उसने भी बताया नह , वो बुरी तरह हांफ रहा था। जब हम हॉल में अन्दर पहुँचे , तब टाइटल शुरू हो चुके थे। मुझे अच्छी तरह से याद है उस समय जब पहली बार मेरी नज़र स्क्रीन पर पड़ी तब फ़िल्म के डायलॉग राइटर्स का नाम पर्दे पर था – कमाल अमरोही और वजाहत मिर्ज़ा। जिस जद्दोजहद से हमें उस दिन वो फ़िल्म देखना नसीब हुआ था, उसने उस फ़िल्म को देखने का मज़ा दुगना कर दिया था। इस समय हम लोग कक्षा नवमी में थे। इस फ़िल्म के बारे में आगे इसी चैप्टर में लिखूँगा।

□□

इसी साल शायद दीपावली की छुट्टियों के दौरान अखिलेश से मेरी दोस्ती हुई ।

अखिलेश ने कक्षा नवमी में मॉडल हाई स्कूल में एडमीशन लिया था। इसके पहले की पढ़ाई उसने आर्य समाज कन्या विद्यालय से की थी। जो रसल चौक से नागरथ चौक की ओर जाती हुई सड़क पर दाहिनी ओर स्थित है। मॉडल हाई स्कूल में उस समय आठवीं तक तो तीन सेक्शन हुआ करते थे, परन्तु नवमी से दो सेक्शन और बढ़ जाते थे। अब गणित पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए दो , बायोलॉजी और आर्ट्स वालों का एक एक तथा कामर्स और एग्रीकल्चर के विद्यार्थियों के लिए एक सेक्शन इस तरह कुल पाँच सेक्शंस हुआ करते थे। गणित के 'ए' और 'बी' सेक्शन थे। मैं 'बी'

सेक्शन में था, इसी सेक्शन में अखिलेश का भी दाख़िला हुआ था। नवमी कक्षा से पाँच सेक्शन हो जाने के कारण लगभग एक सौ पचास विद्यार्थियों के स्थान पर दो सेक्शन के कम से कम सौ अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए जगह बन जाती थी, तथा नवमी से कुल अढ़ाई सौ सीटें उपलब्ध हो जाती थीं। ये अतिरिक्त लगभग सौ विद्यार्थी जबलपुर और जबलपुर से बाहर के विभिन्न स्कूलों से आते थे, जिनका दाखिला मेरिट के आधार पर होता था। अखिलेश भी इस तरह नवमी कक्षा में मॉडल हाई स्कूल में आया था। वह मुझसे दूर वाली डेस्क पर बैठता था। हम डेस्कों की अलग अलग 'रो' में बैठते थे। मेरा उससे पहला परिचय कैसे हुआ ये अब मुझे याद नहीं है। परन्तु मित्रता के बीज शायद दीपावली की छुट्टियाँ शुरू होने के ठीक पहले कभी पड़े थे। क्योंकि उसके साथ का जो पहला चित्र मेरी स्मृतियों में बनता है वह उस समय का है जब दीपावली की छुट्टियों में मैं अपने ननिहाल में था। मैंने उसे पहले कभी तो अपने ननिहाल का पता बताया ही होगा तभी वह एक दिन उस दौरान वहाँ आया था। हम लोग तब तेरह-चौदह साल के थे। शायद उसी बरस उसे छैमाही परीक्षा के पहले 'टायफ़ाइड' हुआ था। जैसा मुझे याद है,इस बीमारी के बाद उसकी 'हाइट' अचानक बढ़ना शुरू हो गई थी। दसवीं कक्षा तक आते आते हम बहुत अच्छे दोस्त बन गए थे। नवमी कक्षा में ही मैं और वह एक डेस्क में बैठने लगे थे। दसवीं में 'कानडे सर' ने विद्यार्थियों के बैठने की व्यवस्था नवमी कक्षा में प्राप्त रैंक के आधार पर करवाई थी। मैं नवमी कक्षा में क्लास में तीसरे स्थान पर रहा था। क्लास में 'कानडे सर' की व्यवस्था के अनुसार प्रथम स्थान और अंतिम स्थान वाले को साथ साथ बैठना था इसी क्रमानुसार मेरे साथ सुकुमार दास बैठा। अखिलेश और शायद अशोक दुबे साथ साथ बैठे। इस व्यवस्था में तीन चार माह के बाद थोड़ी बहुत स्वेच्छिक अदल बदल भी हुई। मेरे और सुकुमार के बीच में दिलावर सिंह आकर बैठने लगा जो सुकुमार का 'नवीन विद्या भवन स्कूल' के समय से अच्छा दोस्त था। यह व्यवस्था ग्यारहवीं में फिर से बदल गई। अब हम लोग अपनी पसंद की डेस्क पर अपने मित्र सहपाठी के साथ बैठने लगे। मैं और अखिलेश अब साथ साथ बैठने लगे थे।

अखिलेश के बारे में इतना सब कुछ इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि मैंने उसके साथ सबसे ज़्यादा फ़िल्में देखी हैं , और इस चैप्टर में फ़िल्मों की ही बातें हो रही हैं। मुझे लगता

है मैंने उसके साथ कम से कम तीन-चार सौ से ज़्यादा फ़िल्में देखी होंगी। इतनी सारी फ़िल्में हम लोगों ने सन् 1967–68 से सन् 1976–77 के दरमियान देखी थीं। इसके बाद मुझे याद नहीं हमने साथ साथ कोई फ़िल्म देखी हो। हाँ , मेरी नौकरी मध्य प्रदेश विद्युत मण्डल में लगने के बाद जब अखिलेश 'चचाई', "अमर कंटक पॉवर स्टेशन" उस समय जिला – शहडोल, आया था तब वहाँ के 'ऑफिसर्स क्लब' के ओपन एयर थियेटर में देखी हो सकती है। पर उसकी मुझे कोई याद नहीं है।

उस समय हमारे साथ होने वाली हर बात के छोर पर फ़िल्म हुआ करती थी।

- कुछ अच्छा हो जाए तो फ़िल्म।
- कुछ बुरा हो जाए तो फ़िल्म।
- कभी अचानक मूड बन जाए तो फ़िल्म।
- कभी मूड अच्छा हो तो फ़िल्म।
- कभी मूड ख़राब हो तो फ़िल्म।
- कभी आपस में बहस हो जाए तो फ़िल्म।
- कभी कुछ करने को न हो तो फ़िल्म।
- लगातार कुछ दिनों तक पढ़ाई करने के बीच रिलेक्स होना हो ब्रेक लेना हो तो फ़िल्म।
- अब सीरियस होकर पढ़ाई शुरू करनी हो तो एक दिन पहले फ़िल्म।
- पेपर (कॉलेज के दिनों में) देकर आए हैं तो फ़िल्म।
- पेपर बहुत अच्छा हुआ तो फ़िल्म।
- पेपर जितना अच्छा होना था वैसा नहीं हुआ तो फ़िल्म।

"यानी हम फ़िल्म देखने के बहाने नहीं तलाशते थे, बहाने हमें तलाश लेते थे। अब उसमें हम क्या ही कर सकते थे। "

- कोई नई फ़िल्म लगी है,तो देखना है।

- कोई पुरानी फ़िल्म मैटिनी शो में लगी है और हमने पहले नहीं देखी है,तो देखना है।

- कोई पुरानी बहुत अच्छी फ़िल्म मैटिनी शो में लगी है और हमने पहले देखी भी है,तो यदि फिर से देखना है ; तो देखना है।

- कोई पुरुस्कृत फ़िल्म लग जाए तो, भले किसी भाषा की हो वो तो ज़रूर देखना है।

- सत्यजित रे , मृणाल सेन की कोई फ़िल्म लगे, वो भी ज़रूर देखना है ।

- कई बार जो फ़िल्म नहीं भी देखना थी, फिर भी देखी । कैसे और क्यों ? बाद में बताऊँगा।

अभी उन फ़िल्मों में से कुछ की चर्चा जो देखना थीं और देखीं भी ।

चलो बात शुरू करें . . . .।

ऊपर जिस कालखण्ड की बात मैंने की है (सन् उन्नीस सौ सड़सठ – अड़सठ से लेकर सन् उनीस सौ छिहत्तर – सतहत्तर तक) तब तक जबलपुर में बीस सिनेमाघर बन चुके थे।

चलौ गिनई लेत हैं – ज्योति , विनीत , श्री कृष्णा , श्याम , प्लाज़ा , प्रभु , वंदना , आनंद , सुभाष , महावीर, श्री , सेन्ट्रल , कल्पना , पायल , नवनीत , शारदा , शीला , लक्ष्मी , डिलाईट और एम्पायर टॉकीज़। हो सकता है एक आध नाम छूट रहा हो फिर भी ये बीस सिनेमाघर तो थे ही । धीरे धीरे समय के साथ ये सिनेमाघर एक एक करके बंद होते गए।

शुरुआत शायद 'श्री' टॉकीज़ से हुई थी। ये 'श्री' टॉकीज़ वही थी जहाँ से मैंने रज्जन मामा को कमानिया गेट तक दौड़ लगवाई थी। 1980 के दशक में सामान्य जन तक टेलीविज़न की पहुँच बन जाने के कारण और फिर उसके बाद वीडिओ कैसेट प्लेयर , वीडिओ कैसेट रिकॉर्डर और वीडिओ कैसेट्स के आने से सिनेमा घरों की हालत बदतर कर दी। वो लोग जो वास्तव में फिल्म इंडस्ट्री के प्रोडक्ट के असल कंज्यूमर थे अब सिनेमा हॉल में न जाकर घर पर ही फिल्में देखने लगे। अड़ोस-पड़ोस के लोग ग्रुप बनाकर एक ही रात में कम पैसों में कई फिल्में घर पर ही वीसीपी या वीसीआर पर देख लेते थे। दर्शकों के इस तरह एकदम से कम हो जाने का फ़िल्म इंडस्ट्री के ऊपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । उन्नीस सौ अस्सी- नब्वे के दशक में फ़िल्में तो बनती रहीं , पर सिनेमाघरों से ज़्यादा टेलीविजन, वीसीपी या वीसीआर पर देखी जा रही थीं। रही सही कसर मोबाईल फ़ोन के आ जाने ने पूरी कर दी। इस सब ने न केवल सिनेमाघर

के मालिकों की कमर तोड़ दी बल्कि सिनेमा बनाने वालों की आमदनी पर बुरा असर डाला।

लेकिन फ़िल्म इंडस्ट्री ने भी हालात से मुक़ाबला करने कमर कस ली। दर्शकों को फिर से सिनेमाघरों तक खींच के लाने के ढेरों प्रयास किए गए। कई तकनीकों का सहारा लिया गया, फ़िल्मों की तकनीकी गुणवत्ता पर बहुत ध्यान दिया गया। दर्शकों को प्रभावित और आकर्षित करने कई प्रयोग किए गए। इनमें साउण्ड सिस्टम , लोकेशन शूटिंग और फ़ोटोग्राफी पर बहुत ध्यान दिया गया। मल्टी-प्लेक्सेस बनने के बाद और संचार संसाधन के अभूतपूर्व विकास ने फ़िल्म इंडस्ट्री को धीरे धीरे फिर संभाला। समाज के रहन सहन में भी जो बदलाव आया था उसके प्रभाव को ग्रहण कर कहानियों में बदलाव किया गया। विशुद्ध पारिवारिक , घरेलू , डाकू समस्या पर आधारित , उपदेशात्मक और तिलिस्मी कहानियों में सस्पेंस , थ्रिलर , मिस्ट्री , स्टंट्स , मार-धाड़ जैसे मसाले डाले गए। ऐसा नहीं कि पहले ऐसी फ़िल्में नहीं बनती थीं। बेशक बनती थी। कई बहुत आला दर्जे की फ़िल्में इन विषयों पर बनी हैं। पर अब फ़िल्मों के बनाने की रेसिपी में कुछ नया बदलाव चाहिए था। इसलिए कहानियों को चुनने में सावधानी बरती जाने लगी। संगीत ने भी स्वरुप बदला। पश्चिमी धुनों , पश्चिमी वाद्य यंत्रों का मिश्रण हिंदुस्तानी संगीत के साथ किया गया। कुल मिलाकर रोमांचक बदलाव किए गए जो नए समाज की पसंद बने। अब फिर से फ़िल्म इंडस्ट्री उठ खड़ी हुई है। फ़िल्मों के प्रीमिअर मल्टी-प्लेक्सेस के साथ साथ टेलीविज़न ओटीटी पर भी हो रहे हैं। नायक- नायिकाओं का क्रेज़ फिर बढ़ गया है। संगीत ने ज़बरदस्त उछाल लिया है और मक़बूलियत हासिल की है। ऐसा फिलहाल सन् दो हज़ार चौबीस के दिसंबर महीने तक हुआ है। हाँ , अब इतना अवश्य बताता चलूँ कि 'श्री-टाकीज़' के बंद होने का सिलसिला जो शुरू हुआ था वह सन् 1917 में 'ज्योति टाकीज़। ' के बंद होने तक चला है। 'ज्योति टाकीज़' सन् 1963 में शुरू हुई थी। अपने 54 साल लम्बे सफ़र में हमारी पीढ़ी के और हमारी पीढ़ी के आस-पास की पीढ़ियों के लोगों ने ज्योति सिनेमाघर में ढेरों बेहतरीन फ़िल्में देखने का भरपूर लुत्फ़ उठाया। बेहद मज़बूत , शानदार बनावट और आरामदायक सुविधाओं से युक्त इस सिनेमाघर में फ़िल्म देखने का अपना अलग ही आनंद था। अब इस जगह पर बहुत

बड़ा मॉल बन रहा है। मुझे जो जानकारी प्राप्त है उसके अनुसार इस मॉल का नाम 'कृष्ण अवतार – मॉल' है, इसमें पीवीआर मल्टीप्लेक्स भी शामिल है। इसका निर्माण कार्य लगभग समाप्ति पर है। इसके जल्द ही प्रारंभ होने की संभावना है। ये भी साथ में बताता चलूँ कि 'शारदा टाकीज़' जिसका पूरा नाम 'श्री शारदा टाकीज़' है, रिनोवेशन के बाद अभी भी चालू है।

(अभी जब आज 09.06.2026 दिन में 10.54 बजे जब मैं इस चैप्टर की फाइनल एडिटिंग कर रहा हूँ - 'कृष्ण अवतार – मॉल' को बने लगभग एक वर्ष या उससे कुछ कम या ज़्यादा वक़्त हो चुका है।)

चूँकि मेरा उद्देश्य यहाँ भारतीय सिनेमा या जबलपुर के सिनेमाघरों का इतिहास दर्ज़ करने का नहीं है बल्कि सिनेमा से मेरी वाबस्तगी और तअल्लुक़ एक सामान्य जन की तरह कितना और कैसा है यह बताना है, लिहाज़ा मैं ये इतिहास वाचन बंद कर अब अपनी बात करूँगा।

वापस अखिलेश के साथ जो फ़िल्में मैंने देखीं उनकी बातें या किस्से सुनाऊँ।

मैंने ऊपर कहीं बताया है अखिलेश और मैंने साथ-साथ लगभग नौ साल के कालखंड में लगभग पाँच सौ से ज़्यादा फ़िल्में देखी थीं। गणित के अनुसार हर माह औसतन चार से पाँच फ़िल्में। कभी चार से कम कभी पाँच से भी ज़्यादह भी। इस तरह से देखने पर यह संख्या बहुत ज़्यादा नहीं लगती। ख़ासकर उम्र के उस हिस्से में जब हमने ये फ़िल्में देखीं। इन पाँच सौ में से कम से कम डेढ़ से दो सौ अंग्रेज़ी फ़िल्में थीं। इतनी ज़्यादा अंग्रेज़ी फ़िल्में देखने का ये कतई मतलब नहीं था की हमें अपनी 'अंग्रेज़ी भाषा' सुधारना थी। अंग्रेज़ी फ़िल्मों की अंग्रेज़ी मुझे तो बिलकुल समझ में नहीं आती थी। अखिलेश का भी कमोबेश यही हाल था। हम लोग वैसे भी हिंदी मीडियम में पढ़े विद्यार्थी थे, और क्योंकि वे फ़िल्में थीं जिनमें पात्र आपको अंग्रेज़ी पढ़ाते नहीं थे, अपने चरित्र के अनुसार आवाज़ के उतार चढ़ाव और सीन की आवश्यकता के अनुसार अंग्रेज़ी बोलते थे। मैं जब अभिनय या सेट या लोकेशन पर ध्यान देता था तो संवाद पता नहीं कब कहाँ से निकल जाता। यदि संवाद पर ध्यान देता तो स्क्रीन पर क्या हुआ क्या चल रहा है दिखाई नहीं पड़ता। कुछ दिनों के बाद मैंने संवादों पर ध्यान

देना छोड़ दिया था बस अभिनय और सीन के मुताबिक कहानी के उस हिस्से का अंदाज़ लगता रहता था। कभी कभी तो स्थिति इतनी दुरूह हो जाती कि बैठना दूभर हो जाता। ऐसे में हम आपस में फुसफुसा कर तुरत फुरत निर्णय लेते और हॉल के बाहर आ जाते थे। अब सवाल उठता है इसके बाद भी अंग्रेज़ी फ़िल्म का इतना क्रेज़ हमारे भीतर कैसे और क्यों पैदा हुआ । दरअसल क्रेज़ जैसी कोई बात नहीं थी। अखिलेश के मामा जिन्हें हम 'बड़े मामा' कहते थे, वे आबकारी विभाग में सब इन्सपेक्टर या इन्सपेक्टर दर्जे के अधिकारी थे। उनकी वजह से हमें एम्पायर या डिलाईट टॉकीज़ में आसानी से आधी कीमत पर अथवा कई बार फ्री में भी फ़िल्म देखने मिल जाती थी। वैसे भी उन दिनों जबलपुर में अंग्रेज़ी फ़िल्मों के बहुत कम दर्शक हुआ करते थे। दूसरे या तीसरे दिन हॉल खाली पड़ा रहता। तीसरे या चौथे दिन फ़िल्म उतर भी जाती थी। ये भी एक कारण था हमारे इतनी अधिक अंग्रेज़ी फ़िल्म देखने का। महीने में दोनों सिनेमाघरों में पंद्रह से बीस फ़िल्में तो लगती और बदल जाती थीं। ज़ाहिर है उनमें से दो तीन फ़िल्में तो हम देख ही लेते थे। हिन्दी फिल्में अधिक चलती थीं और बड़े मामा वाली मेथड से प्रायः तीसरे या चौथे सप्ताह देखने मिलती थीं। अगर हम इंतज़ार नहीं कर पाते तो फिर खुद टिकट लेकर देख लेते थे।

डिलाईट टॉकीज़की टिकट विंडो पर प्रायः हमारे मित्र 'दिनेश नायक' के चाचा जी बैठा करते थे। इस सम्बन्ध में मैं पहले ही बता चुका हूँ। एक दिन जब हम डिलाईट टॉकीज़ में रात नौ से बारह का शो देखने पहुंचे। उस दिन का वाक़िया सुनाता हूँ।

हस्बे मा'मूल उस दिन भी टिकट विंडो पर दिनेश के चाचा जी ही बैठे थे। भीड़ बिल्कुल भी नहीं थी। हमें खिड़की पर आया देखकर वे उस छोटे से टिकट घर के बाहर आ गए और हमसे मुख़ातिब हुए – " तुम लोग पढ़ते-वढ़ते नहीं हो क्या ?" उनके इस सवाल की ओट में बहुत कुछ छिपा था। हमारी शर्म , उनकी शायद खिन्नता या शायद चिढ़। जो कुछ भी हो हमें शर्म तो बहुत आई साथ ही उम्र के लिहाज़ से थोड़ा इरीटेशन भी मन में कुलबुलाया। उन्होंने हमें टिकट थमा दीं। पता नहीं क्यों मेरे मुँह से निकला – " दिनेश हमारा दोस्त है।" अब ये वाक्य मैंने वहाँ क्यों बोला मेरी समझ में तब भी नहीं आया था, न ही आज समझ में आ रहा है। हमें जो कुछ घट रहा था, उससे उबरना

था ; शायद इसीलिए मैं ये बोल गया। वे हमें टिकट थमा कर मुड़ चुके थे। मेरी इस बेतुकी सी बात ने उन्हें फिर हमलावर बना दिया – " इसीलिए कह रहा हूँ !" उन्होंने कहा और वापस टिकट घर में चले गए। ये मेरी कमज़ोरी रही है जब भी कोई आक्षेप मुझ पर लगता है,भले ही वह सच क्यों न हो ; कुछ पलों के लिए मैं उसे सहन नहीं कर पाता , बहुत असहज हो जाता हूँ। जैसे चोरी पकड़ ली गई हो। ये एक दो पल यदि चुपचाप गुज़र गए तब तो मैं अपने को सम्हाल लेता हूँ और अपनी ग़लती ख़ामोशी से स्वीकार लेता हूँ। यदि नहीं संभल पाया तो झुंझलाहट में कुछ अनर्गल , बेतुका , जो नहीं बोला जाना चाहिए वह भी बोल देता हूँ। भले बाद में बहुत पछतावा हो। बहरहाल हम दोनों भी मुड़ गए और जब तक ये तय कर पाते कि अब क्या करना चाहिए , हम डिलाईट टॉकीज़ के उस गलियारे में खड़े थे जहाँ सिनेमा हॉल में प्रवेश करने के दरवाज़े बने थे। हम दोनों ही निःशब्द हॉल में प्रविष्ट हो गए। उसके बाद बहुत दिनों तक हमने डिलाईट टॉकीज़ का रुख ही न किया।

□□

अब अंग्रेजी फ़िल्मों से जुड़ा एक और क़िस्सा सुनाता हूँ। दरअसल ये क़िस्सा तो नहीं है,मेरा एक मज़ेदार ऑब्ज़रवेशन है। मैं यहाँ एक बार फिर से दोहरा दूँ कि फ़िल्में देखना मैंने सन् 1962-63 से देखना आरंभ किया जो की सन् 1976 -77 तक निर्बाध चलता रहा। शुरूआती तीन चार साल बाबू जी और घर वालों के साथ मैंने फ़िल्में देखीं या कहें कि मुझे दिखाई गईं। फिर इसके बाद रज्जन मामा , अनिल और अखिलेश के साथ अधिकतर फ़िल्में देखीं। बीच में मन्नू चाचा , भगत जी दादा के साथ भी फ़िल्में देखीं थीं। इस कालखंड में , विशेष रूप से सन् 1970 से 1977 तक बहुत सारी 'काऊ बॉय' फ़िल्में मैंने देखीं थीं। उस दौर में ऐसी फ़िल्में बहुत बनती थीं। 'काऊ बॉय' मतलब, 'हरकारा' जो खेतों , खलिहानों एवं उन पशुओं की रक्षा करते हैं जो हमारे दैनंदिन जीवन के लिए उपयोगी हैं तथा जिन्हें बाड़ों में रखा जाता है। 'काऊ बॉय' शब्द पश्चिमी अमेरिका में हरकारों के लिए प्रयुक्त होता है। ये घोड़ों पर सवारी करते हैं , साथ में सुरक्षा के लिए हथियार भी रखते हैं। पशुओं को नियंत्रण में रखने के लिए आवश्यक वस्तुएँ भी इनके पास होती हैं। जिस तरह का काम ये करते

हैं उसमें इनकी ज़िन्दगी काफ़ी कठिनाइयों से भरी हुआ करती है। आज के दौर में ज़रूर मोबाइल फ़ोन और अन्य सुविधाजनक उपकरणों ने आसानी पैदा कर दी है। परन्तु उस ज़माने में इनके लिए सब कुछ बहुत कठिन होता था। इन्हीं चरित्रों को लेकर पश्चिम में या कहें हॉलीवुड में अनेकों सफल फ़िल्में बनी थीं। इन फ़िल्मों के काऊबॉय नायक शानदार घोड़ों पर सवारी करते थे। फटी और मुसी तुसी हुई जीन्स के पेंट-शर्ट, चमड़े की स्टाइलिश फ्रिंज जेकेट, सर पर काऊबॉय हैट्स, पैरों में चमड़े के घुड़सवारी वाले जूते, कमर में चमड़े का दोनों साइड होल्स्टलर जुड़ा चौड़ा बेल्ट जिनमें लम्बी नाल वाली पिस्तौलें राखी होती थीं, कारतूसों का पट्टा कमर में या कंधे पर, होठों में मोटा सिगार या चुरुट, कमर के बेल्ट में खुँसा हुआ चमड़े का लम्बा हंटर आदि ये सब इन काऊबॉय नायकों के परिधान में शामिल होता था। जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ उस समय की कुछ प्रसिद्ध काऊबॉय फ़िल्में थीं – 'दि गुड-दि बेड एंड दि अग्ली', ' टू ग्रिट ', 'दि आउटलॉ जोसी वेल्स', 'वन्स अपॉन ए टाइम इन वेल्स', 'दे काल मी ट्रिनिटी' आदि ये कुछ नाम है जो मैं याद कर पा रहा हूँ। भूल जाने का बड़ा कारण तो ये है कि हम अंदाज़ से स्टोरी का अनुमान लगाते थे,हालाँकि काफ़ी कुछ समझ में आ जाता था परन्तु बहुत सा ऐसा भी होता था जो अनुमान ही होता था। अच्छी बात ये होती थी कि अमूमन ये फ़िल्में या हॉलीवुड की अधिकांश फ़िल्में हिंदी फ़िल्मों के मुक़ाबले छोटी हुआ करती थीं, इस कारण इंटरवल के बाद शुरू होती थीं। इंटरवल के पहले लगभग आधा घंटा या बीस मिनट फिल्म्स डिवीज़न की न्यूज़ रील या कोई छोटी डाक्यूमेंट्री दिखाई जाती , जिसके साथ आने वाली दो तीन फ़िल्मों के ट्रेलर और विज्ञापन फ़िल्में दिखाई जाती थीं। मुख्य फ़िल्म एक साथ इंटरवल के बाद दिखाई जाती जो प्रायः एक, सवा या डेढ़ घंटे की होती थी। एक अच्छी बात ये भी होती थी कि इन फ़िल्मों में लम्बे लम्बे संवादों या बहस-मुबाहसे वाले सीन नहीं होते थे। हर दो तीन मिनट में गोलियाँ चलती थीं और फिर घोड़े दौड़ने लगते थे। फिर वो बहुत देर तक दौड़ते ही रहते थे। जहाँ कोई संवाद नहीं होता था बस घोड़ा हिनहिनाता था और उस पर सवार काऊबॉय नायक गुस्से में लम्बी लम्बी साँसें लेता , हाँफता , क्रोध में भरकर थूकता या फिर आसमान की तरफ़ बेमतलब दो चार कारतूस दाग देता था। लम्बे चौड़े मैदानी या रेगिस्तानी सूखे चटियल इलाक़े को पार करके

किसी नए कबीले या बस्ती में पहुँचता। अब उसका घोड़ा दुलकी चाल से चल रहा होता। कच्ची सड़क के किनारे खड़े हुए या अपने काम में लगे बस्ती के लोग अपना काम छोड़ कर उसे घूर-घूर के देखने लगते, इनमें कई बार नायिका भी होती जो उसे अपनी ख़ूबसूरत गर्दन घुमाते हुए देखती, नज़रें मिलाती फिर हिकारत से मुँह बिचका देती। अब हमारा काऊबॉय नायक एक ढाबानुमा शराब घर पहुँच जाता। वहाँ पहले से बहुत सारे लोग मौज़ूद होते , शराब के बड़े बड़े मग्घों में लोग शराब पी रहे होते , मांस के भुने हुए टुकड़े चिचोड़ रहे होते। अट्टहास , चीख पुकार , चिल्ल-पौं के बीच वहाँ मौज़ूद उजड्ड लोगों में से कोई एक नायक से उलझ पड़ता। नतीजे में हमें जल्दी ही एक 'क्लॉ फ़ाइट' देखने मिलती या फिर शर्त लगाकर 'गन चलाई' जाती। ज़ाहिरहै हमारे नायक की जीत होती। ये सीन थोड़े बहुत बदलाव के साथ लगभग हर काऊबॉय फ़िल्म में होता था जो हमने उस दौर में देखी थीं। इसके बाद कहानी आगे बढ़ती जो हर फ़िल्म में कुछ अलग सी होती पर घोड़ों की हिनहिनाहट, धमाचौकड़ी, गिरना–फिसलना, घिसटना, कूदना-फाँदना, गन शॉट्स, गोलियों का धुआँ उग़लती पिस्तौल की लम्बी नाल को अपने ओठों के पास ले जाकर प्यार से फूंक मारता रूखड़ चेहरे वाला नायक और सलोने , मैले चेहरे , सूखे ओठों मगर चमकते सुडौल दाँतों वाली नायिका को ढूँढती उसकी कीचड़ भरी आँखें – ये सब सामान्यतया सभी फ़िल्मों में होता था। जो मुझे याद हैं , उन अभिनेताओं के नाम यहाँ दर्ज़ ज़रूर करना चाहूँगा – क्लिंट ईस्टवुड, जॉन वेन, गैरी कूपर, एली ब्ले , बर्ट लेन्कॉस्टर, यूल ब्रेनर आदि ऐसे नाम हैं जो आज भी मुझे याद रह गए हैं। इनकी ख़ूबसूरत नायिकाओं में मुझे जो बहुत अच्छी लगी थीं वो थीं 'क्लॉडिया कार्डिनेल' उनके चेहरा और अदाएँ उस चेहरे से बहुत मेल खाता था "*जो उस वक़्त और आज भी मेरे ज़ेहन में हर समय मँडराता रहता है।*"

उनके अलावा हेरोइंस में किसी का नाम मुझे अब याद नहीं है। जो लोग इन फ़िल्मों के दीवाने थे खासकर युवा, उन्हें इन नायकों के ये रूखे, अख्खड़ और बेपरवाह तेवर बहुत पसंद आते थे। उनके भीतर बैठकर ये नायक हर समय गोलियां दागते रहते थे और पिस्तौल की लंबी नली से निकलते बारूदी धुएँ को फूँक मारते होते।

पर मैं ज़िक्र अपने एक ऑब्ज़रवेशन की कर रहा था, उसे बयान करने के पहले ऊपर लिखा ब्योरा आवश्यक था। इसलिए असल बात शुरू करने में देरी हुई।

तो जब हम फ़िल्म देखने एम्पायर या डिलाईट टॉकीज़ जाते थे तब हमें अक्सर एक लोकल काऊबॉय मिलता था। ख़ासकर रात वाले शो में। वह पूरे समय काऊबॉय हैट लगाये रहता था। उसने अपना सर 'यूल ब्रेनर' की तरह मुंडवा रखा था। सिगार या चुरुट की जगह उसके होठों में सिगरेट फँसी होती थी। जो निश्चित रूप से पनामा , चार-मीनार या फिर सीज़र्स, जिसे जबलपुर की भाषा में कैंची सिगरेट कहते थे - ही होती होगी। वह हॉल में भी हैट लगाए रहता था और सिगरेट फूँकता रहता था। हॉल में वह ऐसी सीट चुनता जिसके पीछे वाली सीट पर कोई न बैठा हो। जिससे उसे हैट न उतारना पड़े। कभी-कभी जब किसी फ़िल्म में हॉल भरा होता तब ये समस्या आती थी। उस समय जबलपुर के सिनेमाघरों में हर शो में कुछ विशेष 'प्रजाति' के दर्शक अवश्य पाए जाते थे। इनका काम - हॉरर , सीरियस , आंसू बहाऊ सीन, उबासियाँ लेने को मज़बूर कर देने वाले दृश्य आदि के बीच में या समाप्त होने के फ़ौरन बाद शेष दर्शकों को रिलेक्स करना होता था। इनकी फ़ब्तियाँ या विशेष तरह से निकाली आवाजें बाक़ी दर्शकों को बेसाख़्ता ठहाका लगाने के लिए मज़बूर कर देती थीं। एम्पायर और डिलाईट टॉकीज़ में फ़िल्म देखते हुए जब हीरोइन कोई ख़ास अदा से परदे पर पेश करती, भयानक रोंगटे खड़ा कराऊ हॉरर सीन चल रहा होता, या घोड़ा परदे पर दिखाई देता तब इस प्रजाति के जो लोग हॉल में बैठे होते वो अचानक घोड़े के हिनहिनाने की ऐसी शानदार आवाज़ निकालते कि पूरे हॉल में पसरा सन्नाटा : हँसी के फव्वारों में बदल जाता और लोगों की रुकती-रपटती साँसें व्यवस्थित हो जातीं। वे सारे दर्शक जो अंग्रेज़ी डायलॉग्स न समझ में आने के कारण एक कठिन और भारी समय से गुज़र रहे होते सहसा 'रिलेक्स' हो जाते। हँसते हुए अंग्रेज़ी फ़िल्म देखने के दुरूह कार्य में नई ऊर्जा से जुट जाते थे। फ़िल्म छूटने के बाद सारे दर्शक जैसे चैन की साँसें लेते और इस तरह से एक दूसरे को निहारते हुए हॉल के बाहर निकलते जैसे अभी तक बंधक बनाकर रखे गए थे और अब जद्दो-जहद के बाद किसी तरह मुक्त हुए हों। हमारा लोकल 'काऊबॉय' भी सीधी गर्दन किए तनकर चलता हुआ सिगरेट के धुएँ के छल्ले उड़ाता हॉल से बाहर आता।

"धुएँ के छल्ले उड़ाता" से मेरा मतलब वास्तव में धुएँ के छल्ले उड़ाने से है। उसने ये प्रैक्टिस भी कर राखी होगी। बिना किसी को देखे सधे हुए क़दमों से साइकिल स्टैंड की ओर बढ़ता। जिस दिन वो हमें दिखाई पड़ जाता हम लोगों का ध्यान उसी की तरफ़ होता था। वह स्टैंड से अपनी साइकिल इस तरह उठाता जैसे अस्तबल से घोड़ा खोल रहा हो। साइकिल का हैंडल एक हाथ से पकड़ कर साइकिल बाहर निकालता और झटके से लगभग कूदता हुआ साइकिल की सीट पर बैठ जाता , हमें लगता जैसे वो घोड़े पर सवार हुआ है। मुझे लगता है उसे भी ऐसा ही महसूस होता होगा। फिर उसका घोड़ा टब्बक-टब्बक वहाँ से निकल जाता। फिर हम लोग भी अपने अपने 'घोड़े' उठाते। यदि उस दिन हम एक ही 'घोड़े' पर आए होते तो ये काम अखिलेश करता।

□□

उन दिनों देखी गई बहुतेरी फ़िल्मों के अब नाम भी याद नहीं रहे। फिर भी कुछ नाम जो याद हैं यहाँ लिख देता हूँ – जैसे 'ब्रिज ऑन दि रिवर क्वाई' , 'मेकेनाज़ गोल्ड', 'गन्स ऑफ़ नेवरॉन' , 'वेनिशिंग पॉइंट',

'मेग्निफ़िसिएंट सेवेन', 'बोर्न फ्री', 'अफ्रीकन सफ़ारी', 'मेन फ्रॉम दि इस्ताम्बुल', 'फियर इज़ दि की', 'ड्रम्स ऑफ़ डेस्टिनी', 'मेड मेड मेड वर्ल्ड', 'रोमांस ऑफ़ ए हॉर्स थीफ़', 'दि अल्टीमेट वारियर' ये कुछ नाम याद रह गए हैं। हमने जब ये फ़िल्में देखीं थीं तब से अब तक यानी दिसम्बर 2024 तक पचास बरस से ज़्यादा का समय गुज़र चुका है और मैं उनहत्तरवें साल की वय में ये सब लिख रहा हूँ। इसलिए स्मृति पर ज़्यादा ज़ोर न डालते हुए आगे बढ़ते है।

हम जब अंग्रेज़ी फ़िल्म देख कर सिनेमा हॉल से बाहर निकलते थे,उसी समय से फ़िल्म का दूसरा शो शुरू हो जाता था। ये 'शो' जब हम अपने अपने घरों के लिए रास्ते बदलते थे, या कि यदि एक साईकिल पर होते तो एक को उसके घर छोड़ने तक चलता था। कई बार किश्तों में तीन चार दिनों तक भी चलता था। मैं पहले ही बता चुका हूँ, इन फ़िल्मों में अंग्रेज़ी संवाद प्रायः समझ में नहीं आते थे। हम हिंदी माध्यम से पढ़े छात्र थे,और हमने अंग्रेज़ी एक विषय के रूप में पढ़ी थी। इन फिल्मों में शब्दों के

उच्चारण हमारे पढ़े और बोल कर कक्षाओं में सुने गए उच्चारणों से बहुत भिन्न होते थे। हमारे घरों में या अड़ोस पड़ोस में अंग्रेज़ी बोलने की कोई परंपरा नहीं थी। साथ ही जब अभिनेता सीन के अनुसार पात्र के मूड के मुताबिक़ अंग्रेज़ी संवाद बोलते तब हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता था। हम बस अंदाज़ लगाते रहते थे। उस समय सब-टाइटल भी बहुत कम फ़िल्मों में होते थे। वो न ही हों , हम यही मनाते थे क्योंकि जब तक हम 'सब-टाइटल' आधा-अधूरा पढ़ पाते तब तक सीन बदल जाता , सब-टाइटल बदल जाते हम ना पढ़ पाते न देख पाते। इससे बेहतर स्थिति तब होती जब हम बिना सब-टाइटल वाली फ़िल्म शांति से देखते और अपने अंदाज़ में सीन समझते आगे बढ़ते जाते थे। कई बार कई सीन आगे जाकर हमारे अनुमान उलटे हो जाते थे। तब कोफ़्त भी होती और मज़ा भी आता। एक ही समय में हमें दो विपरीत 'रसों' और 'भावों' का आनंद प्रदान करने की क्षमता उन अंग्रेज़ी फ़िल्मों में ही थी। फ़िल्म देखते हुए भी बीच बीच में हम एक दूसरे को समझाते और समझते रहते थे। फ़िल्म ख़त्म होने के बाद से ही हम शुरू हो जाते और अपनी अपनी समझी कहानी बताने लगते थे। कभी एक मत पर पहुँचते , कभी अपने समझे को सुधार लेते , कभी दूसरे के अनुमान को 'करेक्ट' कर देते थे। ऐसा सभी फ़िल्मों में हो , ऐसी बात भी नहीं थी – कई 'काऊबॉय' फ़िल्में , 'टार्ज़न की फ़िल्में', जिनमें बेचारे टार्ज़न को ही अंग्रेज़ी नहीं आती थी, 'सफ़ारी' फ़िल्में, कई एक्सन फ़िल्में ऐसी होती थीं जिनमें कहानी बड़ी आसानी से समझ में आ जाती थी। इन फ़िल्मों के विज्ञापन जो अख़बार में छपते थे,उनमें कई बार यह लिखा होता था – *"इस फ़िल्म को देखने के लिए अंग्रेज़ी के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है"।* हाँ 'चार्ली चैपलिन' और 'लॉरेल-हार्डी' की फ़िल्में तो छूट ही गईं ये फ़िल्में तो हम कभी नहीं छोड़ते थे। इन फ़िल्मों में तो वाकई अंग्रेज़ी समझ में आने की कोई ज़रुरत नहीं होती थी। सब कुछ सिनेमा हॉल में ही समझ में आ जाता था। इन महान कलाकारों के सम्मान में जो कुछ भी कहा जाए, जितना कुछ भी कहा जाए कम ही होगा। हाँ पर उनके बहाने से उन जैसे कई अन्य कलाकारों को चाहे वे किसी भी भाषा किसी भी देश के हों, दिल से शुक्रिया ज़रूर कहना चाहूँगा-

"जिनके काम ने, जिनकी लिखी कहानी ने, जिनके लिखे 'सीन' ने, जिनके संवादों ने, जिनके अभिनय ने, जिनके लिखे गानों ने, जिनके संगीत ने, जिनके निर्देशन ने, जिनकी

बनाई फ़िल्मों ने इस तमाम तरह के दुखों और पीड़ा से भरे संसार में कुछ पल के लिए ही सही, हमें सुकून दिया है, हमें हँसाया है"।

किसी को दुखी करना , दुःख पहुँचाना तो जाने अनजाने हम सब करते ही रहते हैं , लेकिन हँसाने का काम तो विधाता अपने कुछ ख़ास बन्दों को ही सौंपता है – महान राज कपूर , किशोर कुमार जी , महमूद मियाँ , जॉनी वाकर साहब , जॉनी लीवर भाई और जाने कितने ; नामों की सूची बनाने बैठूँ तो ये क़िताब भर जाएगी। एक किसी को याद करो तो चार और याद आते हैं – अभिनय सम्राट दिलीप कुमार की शानदार अदाकारी 'कोहेनूर', 'आज़ाद', 'राम और श्याम', 'गोपी' जैसी फ़िल्मों में क्या भुलाई जा सकती है।

□□

उस ज़माने में बड़े बैनरों और नामचीन अभिनेताओं की फ़िल्में हफ़्तों नहीं, बल्कि महीनों चला करती थीं। कोई फ़िल्म पच्चीस हफ़्ते तक चल जाती तो उसे 'सिल्वर जुबली' फ़िल्म कहा जाता था और पचास हफ़्ते पूरे कर लेने पर वह 'गोल्डन जुबली' फ़िल्म कहलाती थी। इन उपलब्धियों का जश्न उसी सिनेमाघर में मनाया जाता था जहाँ फ़िल्म प्रदर्शित हो रही होती।

बड़े शहरों में इन समारोहों में फ़िल्म के निर्माता, निर्देशक, हीरो, हीरोइन तथा अन्य कलाकार और तकनीकी पक्ष से जुड़े लोग भी शामिल होते थे। बम्बई (अब मुंबई) में तो ऐसे आयोजन काफ़ी भव्य हुआ करते थे। वहाँ केवल उसी फ़िल्म से जुड़े लोग ही नहीं पहुँचते थे, बल्कि फ़िल्म-जगत और अन्य क्षेत्रों की अनेक नामी-गिरामी हस्तियाँ भी आमंत्रित की जाती थीं।

जबलपुर आज भले ही टियर-2 शहर कहलाता हो, पर सत्तर और अस्सी के दशक में उसकी क्या श्रेणी थी, यह मुझे नहीं मालूम। हाँ, इतना अवश्य याद है कि यहाँ भी कई फ़िल्मों ने सिल्वर और गोल्डन जुबली मनाई थीं। इसके बावजूद मुझे याद नहीं पड़ता कि कोई बहुत बड़ा अभिनेता या अभिनेत्री इन आयोजनों में शामिल होने जबलपुर आया हो। आमतौर पर फ़िल्म वितरकों या निर्माण कंपनियों के प्रतिनिधि आते थे और

सिनेमाघर के संचालकों तथा अन्य संबंधित लोगों को फ़िल्म के नाम वाली स्मृति-ट्रॉफ़ियाँ भेंट करके चले जाते थे। हो सकता है कभी कोई सह-अभिनेता, सह-अभिनेत्री या सहायक निर्देशक भी आया हो, पर उसकी जानकारी मुझे नहीं है।

मैं स्वयं ऐसे किसी समारोह में कभी नहीं गया। दूसरे दिन अख़बार में उसकी ख़बर पढ़ लेना ही मेरे लिए काफ़ी होता था।

जबलपुर में जिन फ़िल्मों ने सिल्वर जुबली, गोल्डन जुबली या उससे भी अधिक समय तक प्रदर्शन किया, उनमें से जो फ़िल्में मुझे इस समय याद आ रही हैं, वे हैं-'बॉबी', 'पाकीज़ा', 'मिलन', 'आराधना', 'मेरा गाँव मेरा देश' और 'फूल और पत्थर'।

अब इस सूची को यहीं रोक देना ही बेहतर होगा, क्योंकि उस दौर में दिलीप कुमार, राज कपूर, राजेन्द्र कुमार, सुनील दत्त, राजेश खन्ना, जितेन्द्र, धर्मेन्द्र और मनोज कुमार जैसे अनेक दिग्गज अभिनेताओं की न जाने कितनी फ़िल्मों ने यह कारनामा किया था। एक-एक नाम याद आता जाएगा और मैं लिखता चला जाऊँगा।

इसलिए बेहतर है कि बात को यहीं विराम दूँ और केवल इतना कहूँ कि भारत के दूसरे शहरों, कस्बों और गाँवों की तरह जबलपुर के लोग भी उस समय फ़िल्में देखने के बेहद शौकीन थे। एक ही फ़िल्म को कई-कई बार देख डालना कोई असामान्य बात नहीं थी।

मैंने भी कुछ फ़िल्में कई बार देखी हैं-जैसे 'बॉबी', 'पाकीज़ा', 'जूली', 'राम और श्याम', 'शोले', 'मुग़ल-ए-आज़म', 'छोटी सी बात' और 'आशीर्वाद'। इनमें से अधिकांश फ़िल्में मैंने तीन या चार बार देखी होंगी। दो बार देखी हुई फ़िल्मों की तो संख्या कहीं अधिक है।

अक्सर ऐसा होता था कि मैं अखिलेश के अलावा किसी और मित्र या परिचित के साथ कोई फ़िल्म देख लेता था। लेकिन फिर भी जब अखिलेश उसे देखने का कार्यक्रम बनाता, तो उसके साथ वह फ़िल्म दोबारा देखना लगभग तय ही होता था।

हाँ, एक बात यहाँ विशेष रूप से दर्ज़ कर दूँ। अनिल ने 'बॉबी' फ़िल्म बहत्तर (72) बार देखी थी। उसके मुक़ाबले मैंने तो उसे केवल आठ बार ही देखा था। इसलिए फ़िल्म-प्रेम की इस प्रतियोगिता में मैं उसके आसपास भी नहीं ठहरता।

इस बात से जुड़ी एक मज़ेदार घटना याद आ रही है।

बात सन् 1973 की है। फ़िल्म थी-'कश्मकश'। इसमें फ़िरोज़ ख़ान, रेखा, शत्रुघ्न सिन्हा, आशा सचदेव, आई. एस. जौहर आदि बड़े-बड़े कलाकारों ने अभिनय किया था। यह एक मर्डर मिस्ट्री फ़िल्म थी, जो जेम्स हेडली चेज़ के उपन्यास "*टाइगर बाय दि टेल*" पर आधारित थी।

मैंने यह फ़िल्म अकेले देख ली थी। क्यों और कैसे देखी, यह अब याद नहीं। बहरहाल, ऐसा हुआ था, जबकि सामान्यतः ऐसा होता नहीं था। फ़िल्म देखने के बाद मैं दो-तीन दिन तक बहुत सतर्क रहा कि कहीं बातों-बातों में अखिलेश को असली क़ातिल का नाम न बता बैठूँ। यदि यह रहस्य पहले से मालूम हो जाए तो ऐसी फ़िल्मों का आधा मज़ा तो वैसे ही समाप्त हो जाता है।

दो-तीन दिन बाद हमने साथ जाकर 'कश्मकश' देखने का कार्यक्रम बना लिया। शाम छह से नौ बजे वाले शो के लिए हम समय पर ज्योति टॉकीज़ पहुँच गए, जहाँ यह फ़िल्म लगी हुई थी।

ज्योति सिनेमा के टिकट-घर प्रवेश-द्वार के दोनों ओर बने हुए थे। हमने रिज़र्व क्लास की टिकटें खरीदीं। फ़िल्म शुरू होने में अभी कुछ समय था, इसलिए हम पोर्च के नीचे खड़े होकर बातें करने लगे।

वह पोर्च वास्तव में एक बड़ी कैंटिलीवर छत थी, जो प्रवेश-द्वार के सामने उसकी पूरी चौड़ाई तक फैली हुई थी। नीचे सीमेंट का फ़र्श था। सामने एक विशाल खुला मैदान था, जो बाउंड्री वाल से घिरा हुआ था। सड़क की ओर बाईं और दाईं तरफ़ लोहे की मोटी सींखचों वाले दो बड़े फाटक बने हुए थे। उसी मैदान में कारें पार्क की जाती थीं। बाईं ओर साइकिल स्टैंड था और उसकी काँटेदार तारों वाली बाड़ से लगी हुई तीन-चार पान की दुकानें थीं।

अचानक मेरी नज़र उन दुकानों की ओर गई। वहाँ एक दुकान पर मुझे हमारा सहपाठी महेन्द्र चौबे दिखाई पड़ा। वह सिगरेट सुलगा रहा था। हम लोग उसे 'मंची' भी कहा करते थे।

उसने हमें नहीं देखा था और बड़े इत्मीनान से सिगरेट के कश लगा रहा था। उस समय हम इंजीनियरिंग कॉलेज के सेकंड ईयर में थे। कॉलेज में लड़कों का सिगरेट पीना कोई असामान्य बात नहीं थी। हाँ, तब तक मैंने और अखिलेश ने सिगरेट पीना शुरू नहीं किया था। मैंने पहली बार कब सिगरेट पी, उसका वाक़िआ इस किताब के तीसरे खंड में सुनाऊँगा।

फ़िलहाल बात हमारे महेन्द्र चौबे की हो रही है।

ज़ाहिर है, वह भी 'कश्मकश' देखने आया हुआ था। मेरा ध्यान उसी पर टिका हुआ था। उसे देखकर मेरे मन में एक चुहल-भरी कल्पना कौंधी और मैंने बेख़याली में अखिलेश से कहा-

"यदि इस समय कोई जाकर मंची को बता दे कि असली क़ातिल आई. एस. जौहर है, तो वो कैसा खोंखियाएगा! मज़ा आ जाएगा गुरु!"

मैं हँस रहा था और अपनी कल्पना का आनंद ले रहा था। तभी मुझे महसूस हुआ कि अखिलेश मुझे घूर रहा है।

अगले ही क्षण मुझे समझ में आ गया-मैंने क्या कर दिया है!

लेकिन अब हो भी क्या सकता था? तीर तो कमान से निकल चुका था।

मैंने पूरी शांति से अपने आपको सँभाला और उल्टे उसी से पूछ बैठा-

"क्या हो गया यार?"

अखिलेश चुप रहा।

मैंने कहा-

"चलें भीतर?"

मैं बाहर से पूरी तरह सहज बना हुआ था।

अखिलेश बोला-

"हाँ, चलो। कहीं मंची इधर आ गया तो तेरे चक्कर में न फँस जाए।"

हम दोनों हॉल के भीतर आ गए।

मैं बाहर से जितना शांत दिखाई दे रहा था, भीतर से उतना ही अपराध-बोध से भरा हुआ था। अपने ऊपर झुँझला भी रहा था। न्यूज़रील और विज्ञापन फ़िल्मों के बाद मुख्य फ़िल्म शुरू हुई।

हम दोनों कभी चुपचाप बैठकर फ़िल्म नहीं देखते थे। बीच-बीच में टिप्पणियाँ और बातचीत चलती रहती थी। लेकिन उस दिन मैं तनाव में था। अखिलेश की बातों का उत्तर बस 'हाँ-हूँ' में दिए जा रहा था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि अखिलेश बिल्कुल सामान्य ढंग से फ़िल्म देख रहा है और बीच-बीच में बातें भी कर रहा है। जैसे-जैसे फ़िल्म अंत की ओर बढ़ रही थी और रहस्य खुलने का समय नज़दीक आ रहा था, मेरा तनाव भी बढ़ता जा रहा था। क्लाइमेक्स केवल पर्दे पर ही नहीं, हमारे बीच भी आने वाला था।

आख़िर वह क्षण आ गया।

जैसे ही यह रहस्य खुला कि आई. एस. जौहर जिस चरित्र को निभा रहे थे, वही असली क़ातिल है, अखिलेश अचानक बोल पड़ा-

"अरे! ये तो वाक़ई खूनी है यार!"

इतना कहकर उसने झटके से मेरी तरफ़ गर्दन घुमाई और आँखें फैलाकर मुझे देखा।

पहले तो मैं एकदम सन्न रह गया। समझ नहीं पाया कि उसके मन में इस समय क्या चल रहा होगा। मगर अगले ही क्षण मैंने अपने को सँभाला और मुस्कुराने लगा।

अब अखिलेश भी फुसफुसाकर हँसा और मैं भी उसके साथ हँस पड़ा।

जब हम सिनेमा हॉल से बाहर निकले तो रास्ते भर इसी घटना पर चर्चा होती रही। तब जाकर मुझे पता चला कि पूरी फ़िल्म के दौरान उसने लगभग हर संदिग्ध पात्र पर क़ातिल होने का शक किया था-सिवाय आई. एस. जौहर वाले चरित्र के।

उसने यह मान लिया था कि जब मैंने मंची को रहस्य बता देने वाली चुहल की थी, तब असली हत्यारे का नाम न लेकर यूँ ही आई. एस. जौहर का नाम ले दिया होगा, ताकि मज़ाक-मज़ाक में उससे असली रहस्य उजागर न हो जाए।

और सच पूछिए तो यही बात मुझे सबसे ज़्यादा अच्छी लगी।

जिस फ़िल्म का असली मज़ा मैं समझ रहा था कि मैंने उससे छीन लिया है, उसका पूरा आनंद तो उसने लिया ही; उलटे मैं स्वयं पूरी फ़िल्म के दौरान एक अनावश्यक अपराध-बोध का बोझ ढोता रहा।

आज जब इस घटना को लिख रहा हूँ तो एक और बात मन में आती है।

कभी-कभी लगता है कि कहीं कोई बैठा हुआ सब देखता-सुनता रहता है। वह हर बात में हस्तक्षेप नहीं करता, न हर भूल पर तत्काल प्रतिक्रिया देता है। पर यदि आपकी मंशा में खोट न हो, तो शायद वह चुपचाप आपकी ग़लतियों को अपने ढंग से सुधार भी देता है।

कम-से-कम उस शाम 'कश्मकश' के दौरान तो मुझे ऐसा ही लगा था।

□□

एक बड़ी मासूम-सी घटना याद आ रही है। यह घटना एम्पायर टॉकीज़ में घटी थी।

वासु भट्टाचार्य द्वारा निर्मित और निर्देशित एक बेहद ख़ूबसूरत फ़िल्म है-'आविष्कार', जो 1974 में रिलीज़ हुई थी। इसमें राजेश खन्ना और शर्मिला टैगोर ने मुख्य भूमिकाएँ निभाई थीं। यह फ़िल्म शहरी मध्यवर्गीय वैवाहिक जीवन की जटिलताओं पर आधारित वासु भट्टाचार्य की प्रसिद्ध 'आत्मनिरीक्षण त्रयी' की दूसरी कड़ी थी। इस त्रयी की पहली फ़िल्म 'अनुभव' (1971) और तीसरी 'गृह प्रवेश' (1979) थी।

वासु भट्टाचार्य की श्रेष्ठ फ़िल्मों का ज़िक्र हो और 'तीसरी कसम' का नाम न आए, ऐसा हो नहीं सकता। वह मेरी देखी हुई दस सर्वश्रेष्ठ फ़िल्मों में आज भी शामिल है। पर उसकी चर्चा फिर कभी करेंगे। इस समय बात 'आविष्कार' की हो रही है, जो उन दिनों एम्पायर टॉकीज़ में लगी हुई थी।

अखिलेश और मैं उसका मैटिनी शो देखने पहुँचे थे। जब फ़िल्म समाप्त हुई तो हम सिनेमा हॉल से निकलकर साइकिल स्टैंड की ओर गए, जहाँ हमारी साइकिल खड़ी थी। साइकिल हमारी दोनों की थी, कम-से-कम उपयोग के स्तर पर तो अवश्य ही।

ऐसी गंभीर और आत्ममंथन करने वाली फ़िल्मों में भीड़ वैसे भी कम होती थी। फिर यह मैटिनी शो था-दोपहर बारह से तीन बजे तक का। दर्शक कम थे और उनमें से भी गिने-चुने लोग ही साइकिल स्टैंड तक पहुँचे थे। वातावरण असामान्य रूप से शांत था। शायद फ़िल्म का असर भी उसमें शामिल था। 'आविष्कार' जैसी फ़िल्म देखने के बाद आदमी कुछ देर तक अपने भीतर ही उलझा रहता है।

हम साइकिल लेकर पैदल-पैदल बाहर निकल रहे थे। साइकिल अखिलेश पकड़े हुए था। हमारे साथ-साथ एक युवा सरदार जी भी अपने छोटे बेटे के साथ चल रहे थे।

हम दोनों तो चुप थे, पर वे पिता-पुत्र लगातार बातें कर रहे थे। और चूँकि उनकी बातचीत फ़िल्म से संबंधित थी, इसलिए अनायास ही हमारा ध्यान उधर चला गया।

छोटा सरदार, जिसकी उम्र आठ-नौ वर्ष से अधिक नहीं रही होगी, अपने पिता से हिंदी-मिश्रित पंजाबी में कह रहा था-

"पापा, तुसीं मैनूं इक होर फिलम दिखाणी पवेगी।"

बड़े सरदार जी ने समझाने के अंदाज़ में कहा-

"पुत्तर, मैंने पहले ही कहा सी कि जन्मदिन ते तैनूं इक फिलम दिखावांगा। ओ ते मैंने दिखा दित्ती।"

लेकिन बच्चा मानने वाला कहाँ था। वह फिर तुनककर बोला-

"नहीं जी, मैनूं ते इक होर फिलम वी देखणी है। पक्का!"

इस बार बड़े सरदार जी थोड़ा ज़ोर से बोले-

“ओये, ज़िद न कर पुत्तर। चल, साइकल ते बैठ।”

छोटे सरदार जी भुनभुनाते हुए आगे बढ़े और साइकिल के डंडे पर छलाँग लगाकर बैठ गए। फिर पिता-पुत्र दोनों साइकिल पर सवार होकर आगे निकल गए।

उसके बाद उनके बीच क्या बातचीत हुई, मामला कहाँ तक पहुँचा और किस निष्कर्ष पर समाप्त हुआ-यह मैं कैसे जान सकता हूँ?

लेकिन उस दिन भी मुझे उस बच्चे की ज़िद पूरी तरह जायज़ लगी थी, और आज भी लगती है।

आख़िर आठ-नौ साल के बच्चे को जन्मदिन के उपहार के रूप में ‘आविष्कार’ जैसी फ़िल्म दिखाना!

इसे क्या कहा जाए?

मुझे यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि वह फ़िल्म अठारह वर्ष की मेरी उम्र पर भी कुछ भारी पड़ रही थी। उसके कई भाव, कई मौन और कई रिश्तों की परतें तब पूरी तरह समझ में नहीं आती थीं।

फिर हमारा वह नन्हा सरदार तो महज़ आठ-नौ साल का था, यार!

उसकी जगह मैं भी होता तो फ़िल्म ख़त्म होते ही एक और फ़िल्म दिखाने की माँग कर बैठता।

□□

बीच में थोड़ा-सा विराम लेते हैं और फ़िल्मों की उन बातों पर चर्चा करते हैं जिन्हें कमोबेश सभी जानते हैं। मुझे बहुत बचपन से फ़िल्में देखने का शौक़ था। केवल फ़िल्में ही नहीं, बल्कि उनसे जुड़ी लगभग हर चीज़ मुझे आकर्षित करती थी। प्रोजेक्टेड छवियों की गति, पर्दे पर उनका जीवंत हो उठना, प्रोजेक्टर की रहस्यमयी दुनिया, फ़िल्म की रीलें-सब कुछ मुझे किसी जादू जैसा लगता था।

असल में फ़िल्म छोटी-छोटी स्थिर छवियों का संग्रह होती थी। वे छवियाँ सैल्युलॉइड के छोटे आयताकार टुकड़ों पर अंकित रहती थीं। हर टुकड़े के ऊपर और नीचे बने छोटे-छोटे छिद्र या खाँचे प्रोजेक्टर के विभिन्न स्प्रोकेट्स में फँसते थे और फ़िल्म को सही गति से आगे बढ़ाने में सहायता करते थे।

जब ऐसे असंख्य चित्र एक लंबी पट्टी के रूप में जुड़े होते, तो उसे फ़िल्म कहा जाता था। यह फ़िल्म जिस गोल धुरी या चक्र पर लिपटी रहती थी, उसे रील कहते थे।

प्रोजेक्टर मशीन के ऊपरी हिस्से में फ़ीड स्पूल लगा होता था, जिसमें फ़िल्म की रील फिट की जाती थी। नीचे टेक-अप स्पूल होता था, जिस पर खाली रील लगी रहती थी। जैसे-जैसे फ़िल्म चलती, ऊपर से खुलती हुई फ़िल्म नीचे वाली रील पर लिपटती जाती।

इस बीच फ़िल्म विभिन्न स्प्रोकेट्स और रोलर्स के ऊपर से गुज़रती हुई प्रोजेक्टर के लेंस के सामने पहुँचती। वहाँ पीछे से आने वाली तीव्र रोशनी फ़िल्म के प्रत्येक फ़्रेम से होकर गुज़रती और उस पर अंकित छवि के अनुसार प्रकाश, छाया और रंगों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ जाती।

अंततः यह प्रकाश सिनेमा के सफ़ेद पर्दे पर पड़ता। वहाँ से परावर्तित होकर दर्शकों की आँखों तक पहुँचता और फिर उनके मस्तिष्क तक। यह पूरा घटनाक्रम एक सेकंड से भी कम समय में घट जाता।

एक सेकंड में अनेक स्थिर छवियाँ आँखों के सामने से गुज़रती थीं। इतनी तेज़ी से कि दर्शक की भोली-भाली आँखों और मासूम दिमाग़ को यह भ्रम होता कि पर्दे पर एक ही आकृति है जो चल-फिर रही है, बोल रही है, हँस रही है, रो रही है।

दो, ढाई या तीन घंटे तक बैठा हुआ दर्शक लाखों चित्रों को एक के बाद एक देखता जाता और अंत में एक चलती-फिरती, बोलती हुई फ़िल्म देख लेने का अनुभव लेकर बाहर निकलता।

शायद इसी कारण कहा गया है-

“आँखों से देखा हुआ भी हमेशा सच हो, यह ज़रूरी नहीं।”

मैंने ऊपर जो कुछ लिखा, वह हमारे ज़माने के फ़िल्म प्रोजेक्टरों की सामान्य कार्यप्रणाली थी।

कुछ सिनेमाघरों में बालकनी के निकास-द्वार प्रोजेक्टर रूम के पास ही बने होते थे। आते-जाते समय मेरी नज़र उधर अवश्य जाती थी। कई बार दरवाज़ा खुला होता और भीतर दो विशाल प्रोजेक्टर दिखाई पड़ते। मुझे तब लगता था कि दो प्रोजेक्टर शायद इसलिए रखे जाते होंगे ताकि एक रील समाप्त होने पर दूसरी रील तुरंत शुरू की जा सके और फ़िल्म का प्रवाह बाधित न हो।

आमतौर पर एक पूरी फ़िल्म दिखाने के लिए पंद्रह-सोलह या कभी-कभी उससे भी अधिक रीलों की आवश्यकता पड़ती थी। उन दिनों 16 एम.एम. और 35 एम.एम. फ़िल्में सामान्य थीं। सिनेमाघरों में मुख्यतः 35 एम.एम. फ़िल्में प्रदर्शित की जाती थीं। बाद में 70 एम.एम. फ़िल्मों का दौर भी शुरू हुआ।

‘मुग़ल-ए-आज़म’, ‘शोले’, ‘आँधी’, ‘संगम’, ‘धर्मवीर’ जैसी फ़िल्मों के नाम उस संदर्भ में याद आते हैं। अब यदि मैं 16 एम.एम., 35 एम.एम. और 70 एम.एम. फ़िल्मों के तकनीकी अंतर समझाने बैठूँ तो मेरी कहानी संस्मरण कम और भौतिकी की पुस्तक अधिक लगने लगेगी। इसलिए उस विषय को यहीं छोड़ते हैं और फिर से किस्सों की दुनिया में लौट चलते हैं।

आज तो डिजिटल प्रोजेक्टरों का युग है। हमारे समय के वे विशालकाय प्रोजेक्टर अब इतिहास और स्मृतियों का हिस्सा बन चुके हैं। उन्हें आजकल संग्रहालयों या पुरानी तस्वीरों में ही देखा जा सकता है।

वैसे ऊपर मैंने सैल्युलॉइड फ़िल्म के छोटे-छोटे टुकड़ों का उल्लेख किया था। उन दिनों ऐसे पाँच-छह टुकड़े एक छोटी-सी पारदर्शी प्लास्टिक की थैली में भरकर पाँच पैसे या एक आने में बिकते थे। हम बच्चे बड़ी उत्सुकता से वे थैलियाँ खरीदते और फिर यह जानने की कोशिश करते कि उनमें किस फ़िल्म के दृश्य निकले हैं।

यह पूरी तरह लॉटरी जैसा मामला होता था। टुकड़े इतने छोटे होते थे कि थैली के भीतर से यह पहचान पाना लगभग असंभव था कि उनमें कौन-सा अभिनेता या अभिनेत्री दिखाई दे रहा है।

यदि किसी भाग्यशाली मित्र की थैली में किसी बड़े सितारे की स्पष्ट छवि निकल आती तो वह ख़ुशी से फूला नहीं समाता। बाक़ी दोस्त उसे इस तरह देखते जैसे उसने कोई अनमोल ख़ज़ाना खोज निकाला हो।

इन्हीं भोली-भाली बातों से जुड़ी एक और स्मृति याद आ रही है।

कक्का-यानी कंधीलाल जी विश्वकर्मा-के बेटे केदारनाथ मेरे हमउम्र थे। उम्र में मुझसे लगभग एक वर्ष बड़े या छोटे रहे होंगे। वे उनके तीसरे बच्चे और बेटों में दूसरे नंबर पर थे।

उनके ताऊजी कलकत्ता में रहते थे। एक बार वे वहाँ से उसके लिए एक बड़ा रोचक खिलौना लेकर आए।

उस खिलौने में देखने के लिए एक लेंस लगा हुआ था। लेंस से कुछ दूरी पर भीतर एक छोटा-सा सफ़ेद प्लास्टिक का आयताकार पर्दा बना था। खिलौने के बाहरी हिस्से में ऐसा यांत्रिक प्रबंध था जिसमें गत्ते की एक गोल चकरी फिट की जा सकती थी।

उस चकरी में आठ-दस फ़िल्मी फ्रेम चिपकाए गए रहते थे। एक विशेष लीवर दबाने पर चकरी थोड़ा घूमती और अगला फ्रेम उस छोटे से पर्देनुमा हिस्से के सामने आ जाता। पीछे से आने वाली रोशनी उस फ्रेम को प्रकाशित करती और लेंस से देखने पर वह छवि बड़ी, साफ़ और चमकदार दिखाई देती।

फिर लीवर दबाओ, अगला दृश्य सामने।

फिर दबाओ, अगला।

इस तरह पूरी चकरी एक छोटी-सी फ़िल्मी दुनिया बन जाती थी।

जिन फ़िल्मी टुकड़ों को हम अपनी उँगलियों में दबाकर सूरज की रोशनी के सामने बड़ी मुश्किल से देख पाते थे, केदार उन्हें उसी उपकरण में बड़े आराम से और साफ़-साफ़ देख लेता था।

उसके पास ऐसी तीन-चार चकरियाँ थीं।

वह जब-तब उन्हें देखता रहता था। कभी-कभी मुझे भी दिखा देता था, लेकिन हमेशा अपने हाथों से। देखने के बाद खिलौना वापस घर के भीतर रख आता था।

कुछ दिनों तक मैं उससे ईर्ष्या करता रहा।

आख़िर वह एक ऐसा ख़ज़ाना था जो मेरे पास नहीं था।

लेकिन बचपन की ईर्ष्याएँ भी कितनी अल्पायु होती हैं। कुछ समय बाद शायद मैंने मन-ही-मन उस बात को स्वीकार कर लिया। फिर धीरे-धीरे उस खिलौने को भी भूल गया।

हाँ, आज इतने वर्षों बाद जब स्मृतियों की गठरी खोलकर बैठा हूँ, तो वह खिलौना फिर याद आ गया है-और उसके साथ वह छोटा-सा लड़का भी, जो किसी और के खिलौने से थोड़ा-सा जलता था, थोड़ा-सा मोहित था और बहुत अधिक उत्सुक था।

□□

यह भी उन दिनों की एक छोटी-सी घटना है, जो अब स्मृति में किसी पूरी कहानी की तरह नहीं, बल्कि पुराने फ़िल्म-रोल के बिखरे हुए फ़्रेमों की तरह बची हुई है। हर फ़्रेम अलग, अधूरा, धुँधला-पर उनमें छिपी हुई रोशनी आज भी वैसी ही चमकती है।

हमारे मोहल्ले में, हमारी गली से बाहर निकलकर बाईं ओर मुड़ते ही, कोई पंद्रह-बीस गज़ आगे मेन रोड के किनारे विक्रम बाबू का बंगला था। इस बंगले का ज़िक्र मैं 'आरंभ' में विस्तार से कर चुका हूँ। वह उन पुराने अंग्रेज़ी बंगलों में से था, जिनकी बनावट में एक अलग ही गरिमा होती थी। सामने लंबा बरामदा, उसके दोनों सिरों पर बड़े-बड़े बेडरूम, भीतर ड्रॉइंग रूम, रसोई, और पीछे का बरामदा। चूने से पुती सफ़ेद

दीवारें और ऊपर लाल अंग्रेज़ी खपरों की छत। दूर से देखने पर वह किसी पुराने ज़माने की तस्वीर-सा लगता था।

बंगले के सामने विशाल नीम और इमली के पेड़ खड़े रहते थे। उनकी छाया दिन भर ज़मीन पर घूमती रहती। एक पेड़ के चारों ओर मिट्टी का चौंतरा बना था, जहाँ शाम को शतरंज की बिसात बिछ जाती और कभी-कभी चौपड़ भी खेली जाती। उन पेड़ों के नीचे बैठकर शतरंज या चौपड़ खेलने वाले लोग प्रायः आस पास के अड़ोस पड़ोस वाले बुज़ुर्ग ही हुआ करते थे। पर उनमें मैंने कभी विक्रम बाबू को नहीं देखा। हाँ उनका छोटा बेटा राजेश, जो मुझसे सात आठ साल बड़ा था; ज़रूर कभी कभी शतरंज खेलता दिखाई पड़ता था। तब तक मुझे शतरंज के खेल के बारे में अधिक जानकारी नहीं थी। पर इतना ज़रूर सुन था कि राजेश बहुत अच्छा शतरंज का खिलाड़ी था। उसने इस खेल में कई इनाम भी जीते थे। वह पढ़ाई में भी बहुत तेज़ था।

बंगले के सामने वाले बाएँ कमरे में छोटे भैया ने एक मेज़ पर प्रोजेक्टर जमा रखा था। उसी प्रोजेक्टर से सामने की दीवार पर लगभग चार फ़ुट गुणा ढाई फ़ुट की एक चमकती हुई छवि उभरती थी। फ़िल्म के छोटे-छोटे टुकड़े उस मशीन में लगाए जाते और वे जीवित हो उठते। छोटे भैया रोज़ शाम अँधेरा होने के बाद दो शो चलाते थे। टिकट की क़ीमत चार या पाँच आने थी।

छोटे भैया, विक्रम बाबू के साढ़ू भाई के छोटे पुत्र थे-अर्थात् बिट्टी बुआ की बहन कमला बुआ के बेटे। लेकिन रिश्तों की इतनी लंबी व्याख्या शायद किसी ने कभी नहीं की। पूरे मोहल्ले में वे बस 'छोटे भैया' थे। उनका असली नाम क्या था, यह मैंने कभी जानने की कोशिश नहीं की। और यदि कभी जाना भी होगा, तो अब स्मृति की धूल में कहीं दब गया है।

उनका यह मूक सिनेमाघर बहुत दिनों तक नहीं चला। मुश्किल से एक-दो महीने। लेकिन जितने दिन चला, मोहल्ले के बच्चों के लिए किसी जादू से कम नहीं था।

बाद में उन्होंने उसी परिसर के एक कोने में लकड़ी के फ़रदों से बने दो छोटे-छोटे कमरे तैयार करवाए। खपरैल की छत वाली उस 'हट' के सामने वाले कमरे में उन्होंने एक

लाइब्रेरी खोली, जिसका नाम रखा-'राजेश लाइब्रेरी'। दिलचस्प बात यह थी कि राजेश उनका अपना नाम नहीं था, बल्कि उनके कज़िन-विक्रम बाबू के बेटे-का नाम था। वही राजेश जिसका ज़िक्र मैंने ऊपर किया है। वह लाइब्रेरी 'छोटे भईया' के जीवन के अंतिम दिनों तक बनी रही। अंततः वे उसी छोटे से पुस्तकालय में रहने भी लगे थे। उसकी कहानी फिर कभी, 'किताबों' वाले अध्याय में।

फ़िलहाल लौटते हैं उस सिनेमाघर की ओर।

मैं भी एक बार वहाँ फ़िल्म देखने गया था। तब मेरी उम्र आठ-नौ वर्ष से अधिक नहीं रही होगी। अँधेरा हो चुका था, इसलिए बाबू जी मुझे स्वयं वहाँ छोड़ने गए। टिकट के पैसे भी उन्होंने ही दिए।

जब आठ-दस दर्शक इकट्ठा हो गए-जिनमें अधिकांश बच्चे थे-तो छोटे भैया ने कमरे की बत्ती बुझा दी। कुछ देर तक वे प्रोजेक्टर की रोशनी को दीवार पर ठीक करते रहे। फिर एक-एक करके फ़िल्म के टुकड़े मशीन में लगाने लगे।

और इस तरह फ़िल्म शुरू हो गई।

आज सोचता हूँ तो वह कोई फ़िल्म नहीं थी, बल्कि अनेक फ़िल्मों के टूटे-बिखरे अंशों का संग्रह थी। जैसे किसी ने दुनिया के अलग-अलग कोनों से कुछ दृश्य चुन लिए हों और उन्हें एक धागे में पिरो दिया हो।

मुझे याद है, दीवार पर कभी समुद्र दिखाई देता था। लहरों के किनारे खड़े जहाज़। फिर कोई और दृश्य आ जाता। कहीं घना जंगल। कहीं जंगली जानवर। कोई कथा नहीं थी, कोई नायक नहीं था, कोई गीत नहीं था। केवल बदलती हुई छवियाँ थीं-और उन छवियों के भीतर छिपी हुई एक रहस्यमय दुनिया।

मैं मुश्किल से पंद्रह-बीस टुकड़े ही देख पाया था कि बाहर से बाबू जी की आवाज़ सुनाई दी।

उन्होंने मेरा नाम पुकारा।

बचपन में पिता की आवाज़ किसी आदेश की तरह होती थी। मन चाहे जितना विरोध करे, पैरों को उठना ही पड़ता था। मैं भी अनमने मन से उठ खड़ा हुआ। दीवार पर अभी समुद्र था या जंगल-यह अब याद नहीं। बस इतना याद है कि उस समय वहाँ से निकलते हुए मुझे लगा था कि फ़िल्म अभी अधूरी रह गई है।

शायद इसलिए वह आज तक पूरी नहीं हुई।

साठ-पैंसठ वर्ष बाद भी स्मृति के किसी अँधेरे कमरे में वह छोटी-सी दीवार अब भी चमक रही है। उस पर समुद्र के दृश्य आते हैं, जहाज़ गुज़रते हैं, जंगल उभरते हैं, और तभी बाहर से बाबू जी की आवाज़ सुनाई देती है-"चलो, अब घर चलना है।"

और मैं फिर से उस अधूरी फ़िल्म को छोड़कर बाहर आ जाता हूँ।

□□

उस समय सिनेमा दिखाने के नाम पर 'बाइस्कोप' दिखाने वाले भी अपने सिर पर बाइस्कोप का बक्सा और एक हाथ में उसका लकड़ी का स्टैंड उठाए मोहल्लों की गलियों में आवाज़ लगाते घूमते थे।

'बाइस्कोप' लकड़ी का एक बक्सा होता था। इसमें फ़िल्म की जगह काग़ज़ पर छपे हुए चित्र दिखाए जाते थे। बक्से की पिछली दीवार के दोनों ओर दो स्पूल लगे होते थे, जिन पर चित्रों की रील लिपटी रहती थी। दोनों स्पूलों को घुमाने के लिए बक्से के ऊपर लीवर लगे होते थे। बक्से के भीतर एक बल्ब जलता था और कई बाइस्कोपों के ऊपर एक छोटा-सा ग्रामोफ़ोन भी लगा होता था।

बक्से की सामने वाली दीवार हॉकी मैदान की 'डी' जैसी आकृति लिए होती थी, हालाँकि वह अर्धवृत्ताकार न होकर छोटी-छोटी सीधी रेखाओं से बनी हुई 'डी' का आकार बनाती थी। इसी दीवार में चार या पाँच गोल खिड़कियाँ बनी होती थीं, जिन पर ढक्कन लगे रहते थे। इन्हीं खिड़कियों से बच्चे 'बाइस्कोप वाला सिनेमा' देखते थे।

बाइस्कोप वाले की आवाज़ सुनते ही बच्चे घरों से निकल पड़ते। वे ज़िद करते और तब उनके माता-पिता बाइस्कोप वाले को बुला लेते। पड़ोस के एक-दो बच्चे भी आ जुटते। बाइस्कोप वाला पहले लकड़ी का स्टैंड जमाता, फिर उस पर बक्सा रखता, भीतर का बल्ब जलाता और गोल खिड़कियों के ढक्कन खोल देता। इसके बाद चार-पाँच बच्चे अपनी हथेलियाँ चेहरे के दोनों ओर लगाकर उन गोल खिड़कियों से भीतर झाँकने लगते।

अब या तो ग्रामोफ़ोन का रिकॉर्ड बजना शुरू होता, या फिर स्वयं बाइस्कोप वाला गाना गाने लगता। साथ ही वह हाथ से स्पूल का लीवर घुमाता जाता और चित्र एक-एक करके आगे बढ़ते जाते। बच्चों के लिए यह किसी जादू से कम नहीं था। स्थिर चित्रों में भी उन्हें चलती-फिरती दुनिया दिखाई देती थी और वे ख़ुशी से भर उठते थे।

कई बार बाइस्कोप में ग्रामोफ़ोन नहीं होता था। तब बाइस्कोप वाला स्वयं गाता था। उसके गीतों में चित्रों का परिचय भी शामिल होता था। वह घुँघरू लगी एक छोटी लकड़ी से बक्से पर ताल देता जाता और साथ-साथ गाता भी जाता। उसके गीतों में एक तरह की तुकबंदी होती थी, जो बच्चों को और भी आकर्षित करती थी।

बाइस्कोप में दिखाई जाने वाली तस्वीरों में धार्मिक प्रसंगों के चित्र, ऐतिहासिक इमारतों के चित्र, महापुरुषों के चित्र और फ़िल्मी अभिनेताओं-अभिनेत्रियों के चित्र हुआ करते थे। मधुबाला, निम्मी, श्यामा, कुमकुम, मीनाकुमारी जैसी अभिनेत्रियाँ बच्चों और बड़ों दोनों के आकर्षण का केन्द्र होती थीं। बाइस्कोप वाला चित्र बदलते हुए उनका परिचय देता जाता और तुकबंदी में उनका बखान करता चलता। उस समय बच्चों को लगता था मानो एक छोटा-सा संसार उस लकड़ी के बक्से के भीतर बस गया हो।

□□

सरकारी मोटर गाड़ी पर 16 एम.एम. प्रोजेक्टर से जो फ़िल्में दिखाई जाती थीं, उनके बारे में तो मैं पहले ही बता चुका हूँ। अब उन फ़िल्मों का भी ज़िक्र कर दूँ जिन्हें मैंने खुले आकाश के नीचे बने ओपन एयर थिएटरों, यानी 'टट्टा टाकीज़ों' में देखा था। यह

अवसर मुझे अपने ददिहाल 'बनखेड़ी', 'गाँधी सागर हाइडल पावर हाउस' की कॉलोनी और 'नीमच' शहर में मिला था। ऐसी ही एक टाकीज़ 'अमर कंटक थर्मल पावर स्टेशन' चचाई के पास स्थित 'बुढ़ार' नामक कस्बे में भी थी, पर उसमें मैंने कभी फ़िल्म नहीं देखी।

आगे कुछ और कहने से पहले 'टट्टा टाकीज़' के बारे में थोड़ा बता दूँ।

इस तरह की टॉकीज़ें प्रायः ग्रामीण क्षेत्रों या अपेक्षाकृत कम विकसित कस्बों में बनाई जाती थीं। इनका निर्माण अस्थायी होता था। बाँस की खपचियों से बनी बड़ी-बड़ी चटाइयों को, जिन्हें 'टट्टा' कहा जाता था, बल्लियों या बाँसों के सहारे ज़मीन में गाड़कर दीवारों का रूप दे दिया जाता था। प्रायः इनके ऊपर कोई छत नहीं होती थी। दर्शकों के सिर पर केवल खुला आकाश होता था और सामने फ़िल्मी दुनिया का जादू।

स्क्रीन भी स्थायी नहीं होती थी। कहीं ईंटों की दीवार पर प्लास्टर कर उस पर चूना पोतकर पर्दा बना दिया जाता था, तो कहीं दो सीधी बल्लियाँ गाड़कर उनके बीच सफ़ेद कपड़ा तान दिया जाता था। इन्हीं पर फ़िल्में दिखाई जाती थीं। प्रोजेक्शन के लिए 16 एम.एम. अथवा 35 एम.एम. प्रोजेक्टर का उपयोग किया जाता था।

दर्शकों के बैठने की व्यवस्था भी बड़ी दिलचस्प होती थी। सबसे आगे ज़मीन पर दरी बिछी होती, या फिर लोग अपने घरों से बोरा, फट्टा या चटाई लेकर आ जाते। इसके पीछे बल्लियाँ गाड़कर और उन पर लकड़ी के पटरे ठोंककर डेढ़-दो फ़ुट ऊँची अस्थायी बेंचें बना दी जाती थीं। इन्हीं बेंचों के बीच कहीं एक मज़बूत मेज़ रखकर प्रोजेक्टर स्थापित किया जाता था। बिजली की सुविधा न होने पर डीज़ल जनरेटर चलाया जाता था और जहाँ बिजली उपलब्ध होती, वहाँ उसी से काम चल जाता था।

इन टाकीज़ों में प्रायः एक-दो वर्ष पहले रिलीज़ हो चुकी चुनिंदा फ़िल्में दिखाई जाती थीं। इसके अलावा पुरानी धार्मिक फ़िल्में या वे फ़िल्में जिनको दर्शकों ने बहुत पसंद किया हो, बार-बार लगाई जाती थीं।

'बनखेड़ी' में मैंने अपने मुँहबोले कज़िन्स के साथ जो एकमात्र फ़िल्म देखी थी, वह कोई श्वेत-श्याम धार्मिक फ़िल्म थी। उसके गीत बहुत मधुर थे और नायक शायद

महिपाल थे। इसके आगे मुझे कुछ भी याद नहीं है। यहाँ तक कि यह भी निश्चित रूप से याद नहीं कि वह फ़िल्म बनखेड़ी में देखी थी या वहाँ से लगभग छब्बीस किलोमीटर दूर पिपरिया जाकर।

'गाँधी सागर हाइडल पावर हाउस' की कॉलोनी में भी मैंने दो-तीन फ़िल्में देखी थीं, पर आज उनके नाम स्मृति से ओझल हो चुके हैं। मैं 15 सितम्बर 1977 से जनवरी 1978 तक वहाँ मध्यप्रदेश विद्युत मंडल में असिस्टेंट इंजीनियर पद की ट्रेनिंग के लिए रहा था। उस प्रवास से जुड़ी अनेक रोचक स्मृतियाँ हैं, जिनका विस्तार से वर्णन मैं इस पुस्तक के तीसरे खंड में करूँगा।

'नीमच' में जो फ़िल्म मैंने देखी थी, वह शायद कबीर बेदी, विनोद खन्ना और मौसमी चटर्जी अभिनीत 'कच्चे धागे' थी। यह फ़िल्म मैंने अपने एक बहुत अच्छे दोस्त और बेहद प्यारे इंसान इदरीस के साथ देखी थी। इदरीस के बारे में, और यह फ़िल्म हमने किन परिस्थितियों में देखी थी, यह सब भी पुस्तक के तीसरे खंड में ही बताऊँगा। यहाँ उसका संक्षेप में उल्लेख करके बात पूरी नहीं हो सकेगी। कुछ यादों को पूरा स्थान चाहिए होता है; उन्हें दो-चार वाक्यों में समेटना उनके साथ न्याय नहीं होगा।

□□

फ़िल्में देखने का यह सिलसिला मेरे बहुत बचपन में ही शुरू हो गया था। तब मैं फ़िल्म की पारदर्शी पट्टी के छोटे-छोटे टुकड़ों को उँगलियों में पकड़कर नंगी आँखों से देखा करता था। उन नन्हे-नन्हे फ़्रेमों में जमी स्थिर छवियाँ मुझे किसी रहस्य लोक की खिड़कियाँ लगती थीं। शायद तभी चलती हुई तस्वीरों के प्रति मेरे आकर्षण की शुरुआत हो गई थी।

इसी दौरान मुझे एक खिलौना भी मिला था। उसका सही नाम अब याद नहीं आ रहा। वह काले रंग का, त्रिकोणीय आकार का, छोटा-सा चपटा डिब्बा होता था। उसकी अंदरूनी दीवारें भी काली और कुछ खुरदुरी-सी होती थीं। फ़िल्म के किसी दृश्य की दो अलग-अलग पारदर्शियाँ एक कार्ड में अगल-बगल जड़ी रहती थीं। उस कार्ड को खिलौने में फँसाकर उसके लेंस से एक आँख बंद करके देखा जाता था। तब वे दोनों

चित्र मिलकर एक त्रि-आयामी दृश्य जैसा आभास देते थे। उस उम्र में यह किसी जादू से कम नहीं लगता था।

चलती-फिरती छवियों के साथ मेरा यह रिश्ता यहीं से शुरू हुआ था। फिर यह सफ़र डिब्बे वाले बाइस्कोप तक पहुँचा, जहाँ चित्रों के साथ गीत और कथाएँ भी चलती थीं। उसके बाद प्रोजेक्टर के स्लाइड शो देखे, सरकारी मोबाइल वैन द्वारा दिखाई जाने वाली फ़िल्में देखीं, खुले आसमान के नीचे बनी टट्टा टाकीज़ों का आनंद लिया, सिनेमा घरों में बैठकर फ़िल्में देखीं, ऑफिसर्स क्लब के 16 एम.एम. प्रोजेक्टर पर फ़िल्में देखीं और फिर टेलीविज़न के युग में प्रवेश किया।

आज वही यात्रा मल्टीप्लेक्स, लैपटॉप और स्मार्टफ़ोन तक आ पहुँची है। माध्यम बदलते गए, तकनीक बदलती गई, पर्दों का आकार कभी बड़ा होता गया तो कभी सिकुड़कर हथेली में समा गया; पर एक चीज़ नहीं बदली- चलती हुई छवियों के प्रति मेरा आकर्षण। फ़िल्म की उस छोटी-सी पारदर्शी पट्टी को उँगलियों में पकड़कर देखने वाले बच्चे और स्मार्टफ़ोन की स्क्रीन पर फ़िल्म देखने वाले आज के व्यक्ति के बीच कई दशक और अनेक तकनीकी क्रांतियाँ खड़ी हैं, लेकिन दोनों को जोड़ने वाला धागा आज भी वही है - चित्रों के संसार के प्रति विस्मय और मोह।

□□

मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि एक ही ज़िन्दगी को हम एक साथ कई आयामों, कई हिस्सों और कई रास्तों से जीते हैं। हम समझते हैं कि हम एक ही जीवन जी रहे हैं, जबकि सच तो यह है कि हमारे भीतर अनेक जीवन समानांतर चलते रहते हैं। उनमें से हर एक की अपनी स्मृतियाँ होती हैं, अपने लोग होते हैं, अपने मौसम और अपनी यात्राएँ होती हैं।

यदि केवल फ़िल्मों की ही बात करूँ, तो यह भी एक अलग रास्ता है, जिस पर चलते-चलते मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ। इस रास्ते की अपनी यादें हैं, अपने किस्से हैं, अपनी खुशियाँ और अपनी उदासियाँ हैं। इसकी अपनी एक कविता है, अपनी एक रूमानियत। यह एक अलग दुनिया है, जिसके रंग भी अलग हैं और अनुभव भी।

इस पूरे रास्ते पर नज़र दौड़ाता हूँ तो लगता है जैसे कितने ही लोग अब भी वहीं खड़े मुस्करा रहे हैं। कितनी फ़िल्में बिखरी पड़ी हैं, कितने दृश्य हैं जो समय की धूल के नीचे दबे होने पर भी चमक रहे हैं। कितने ही किस्से रंग-बिरंगी तितलियों की तरह स्मृतियों के एक फूल से दूसरे फूल तक उड़ते फिर रहे हैं। मैं उन्हें पकड़ना चाहता हूँ, पर वे हर बार थोड़ी दूर जाकर फिर हवा में डोलने लगते हैं।

कहीं रात का गहरा अँधेरा है, कहीं दिन का खुला उजाला। कहीं सुरमई साँझ धीरे-धीरे उतर रही है, तो कहीं अभी-अभी सूरज की पहली किरण धरती को छू रही है। कहीं जुगनुओं की टिमटिमाहट है, कहीं सितारों की निस्पंद चमक। कहीं तपते हुए रेगिस्तान की जलती रेत है, तो कहीं पहाड़ों पर जमी बर्फ़ की ठिठुरन। कहीं कोई नदी कल-कल, छल-छल बहती चली जा रही है, तो कहीं समुद्र की बेचैन लहरें बार-बार किनारों पर सिर पटक रही हैं।

कहीं फूल चुपचाप मुस्करा रहे हैं, कहीं पंछी अपने गीतों में सुबह को बाँध रहे हैं। कहीं बादल हैं, कहीं बारिश की बूँदें हैं। कहीं एकदम खुला आकाश है और उसकी अथाह ऊँचाइयों में उड़ते हुए परिंदे। कहीं दूर-दूर तक फैले हरे, पीले और मटियाले रंगों के मैदान हैं, तो कहीं हरियल वृक्षों से भरे हुए घने जंगल, जिनकी छाया में समय भी जैसे कुछ देर ठहर जाता है।

और यह सब केवल फ़िल्मों में नहीं है। यह सब उन फ़िल्मों को देखने की मेरी यात्रा में भी है। उन रास्तों में है जिनसे होकर मैं गुज़रा हूँ। उन लोगों में है जिनके साथ बैठकर मैंने पर्दे पर चलती हुई छवियों का जादू देखा था। उन सिनेमाघरों, टट्टा टाकीज़ों, बाइस्कोपों, प्रोजेक्टरों और स्क्रीन के पीछे छिपे हुए समय में है।

हाँ, यह सब कुछ है इस रास्ते पर . . . .

और शायद इससे भी बहुत कुछ ज़्यादा, जो अभी स्मृति की धुँध में कहीं खड़ा है, मेरे पुकारने की प्रतीक्षा करता हुआ।

□□

अब फ़िल्मों की बातें कहीं न कहीं तो रोकनी ही पड़ेंगी।

लेकिन उससे पहले उन फ़िल्मों का उल्लेख करना आवश्यक है जिन्होंने किसी न किसी रूप में मुझे छुआ है, प्रभावित किया है। यह प्रभाव हमेशा प्रत्यक्ष नहीं होता। कभी वह किसी दृश्य की तरह मन में ठहर जाता है, कभी किसी गीत की धुन बनकर भीतर बजता रहता है, कभी किसी संवाद की प्रतिध्वनि वर्षों बाद भी सुनाई देती है, और कभी किसी पात्र का अकेलापन या साहस चुपचाप हमारी अपनी स्मृतियों का हिस्सा बन जाता है।

फ़िल्म अपने आप में एक विचित्र और व्यापक कला है। उसमें लगभग वही सब समाया रहता है जो हमारी जीवित दुनिया में मौजूद है-प्रेम, घृणा, करुणा, हिंसा, सौन्दर्य, संघर्ष, स्वप्न, पराजय, आशा, स्मृति और समय। शायद इसीलिए कोई भी फ़िल्म अपने किसी न किसी रंग से हमें छू ही लेती है। पर वह कौन-सा रंग होगा, यह हर व्यक्ति के लिए अलग बात है।

किसी को किसी फ़िल्म का तकनीकी कौशल चमत्कृत कर देता है। किसी को उसके सेट्स की वास्तविकता और सौन्दर्य बाँध लेते हैं। कोई उसकी कहानी के साथ बहुत दूर तक चला जाता है, तो कोई उसके संगीत में खो जाता है। कभी गीत मन में घर कर लेते हैं, कभी किसी अभिनेता का चेहरा और उसका अभिनय स्मृति में स्थायी निवास बना लेता है। फ़िल्म की दुनिया में आकर्षण के इतने दरवाज़े हैं कि हर दर्शक किसी न किसी अलग दरवाज़े से उसके भीतर प्रवेश करता है।

इसलिए किसी फ़िल्म का जो पक्ष मुझे प्रभावित करता है, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि वही किसी दूसरे को भी प्रभावित करे। यदि हम इस भिन्नता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने बैठें तो बात बहुत दूर तक चली जाएगी। मनुष्य केवल आँखों से नहीं देखता; वह अपनी स्मृतियों, अपने अनुभवों, अपने अकेलेपन, अपनी आकांक्षाओं और अपने घावों से भी देखता है। शायद इसीलिए एक ही फ़िल्म अलग-अलग लोगों के भीतर अलग-अलग अर्थों में जन्म लेती है।

मुझे लगता है, मैं जो कहना चाहता हूँ, वह आप समझ गए होंगे। मैं यहाँ केवल पसंद की बात नहीं कर रहा हूँ। पसंद और प्रभाव में एक सूक्ष्म अन्तर होता है। बहुत-सी फ़िल्में हमें अच्छी लगती हैं, लेकिन कुछ फ़िल्में ऐसी होती हैं जो हमारे भीतर कहीं

जाकर ठहर जाती हैं। वे केवल मनोरंजन नहीं करतीं; वे हमारे अन्तर्मन को स्पर्श करती हैं। कभी हमें थोड़ा-सा बदल देती हैं, कभी किसी विचार की दिशा में धकेल देती हैं, कभी किसी भूले हुए भाव को जगाकर चली जाती हैं।

मैंने अपने जीवन में इतनी फ़िल्में देखी हैं कि उनमें से अधिकांश अब स्मृति के धुँधलके में खो चुकी हैं। उनके नाम तक याद नहीं रहे। पर जो फ़िल्में अब भी याद हैं, उनमें अवश्य कुछ ऐसा रहा होगा जिसने उन्हें विस्मृति के अंधकूप में गिरने से बचा लिया। समय की अनगिनत परतों के बावजूद वे आज भी कहीं न कहीं सुरक्षित हैं।

कभी-कभी लगता है, वे सब फ़िल्में अब भी मेरे सामने बैठी हैं। उतनी ही जीवित, उतनी ही जाग्रत। जैसे घर का पला हुआ सुआ आकर तर्जनी पर निश्चिन्त बैठ जाता है और बिना डरे आपकी आँखों में देखता रहता है, वैसे ही वे फ़िल्में भी मेरी स्मृतियों की उँगली पर आ बैठी हैं। वे मुझे देखती हैं, और मैं उन्हें। हमारे बीच समय की एक लम्बी दूरी है, पर पहचान अब भी बनी हुई है।

□□

कुछ फ़िल्में होती हैं जो देखी नहीं जातीं - बस भीतर उतर जाती हैं। धीरे-धीरे। जैसे शाम का धुँधलका किसी पुराने कमरे में उतरता है - बिना दरवाज़ा खटखटाए।

ऐसी ही कुछ फ़िल्में हैं जो अभी भी मेरे भीतर साँस लेती हैं। मेरी साँसों के साथ-साथ - जैसे कोई पुरानी धुन हो जो होंठों पर नहीं, पसलियों के बीच कहीं बजती रहती है।

तो शुरुआत वहाँ से करते हैं।

एक ऐसे आदमी की कहानी से - जो प्यार देना जानता है। बस यही जानता है। हँसाना चाहता है लोगों को, हर कीमत पर। उनके चेहरों पर एक मुस्कान देखने के लिए वह कुछ भी कर सकता है - अपना दुख छुपा सकता है, अपनी पीड़ा को तमाशे में बदल सकता है।

बदले में माँगता क्या है?

बहुत कम। शायद इतना ही - कि कोई उसे समझे। उसकी बात को, उसके मौन को। और यदि यह भी सम्भव न हो - तो बस इतनी इजाज़त मिल जाए कि वह अपनी स्मृतियों को सँजो कर रख सके। उन चेहरों को, उन लम्हों को - जो उसके अकेलेपन की एकमात्र संगत हैं।

मैं बात कर रहा हूँ फिल्म "*मेरा नाम जोकर* "की।

राज कपूर की यह फ़िल्म शायद किसी और की कहानी नहीं है। यह उनकी अपनी कहानी है - अपने ही विशिष्ट अंदाज़ में कही गई। परदे पर जोकर है, पर उसकी आँखों में राज कपूर का वह एकांत है जिसे शायद वे किसी और तरह कह नहीं सकते थे।

इस फ़िल्म के बारे में कुछ और कहने से पहले - उसका एक गीत।

क्योंकि कभी-कभी कोई गीत ही किसी पूरी फ़िल्म का सार होता है। शब्दों में नहीं - उस ख़ालीपन में, जो दो पंक्तियों के बीच साँस लेता है।

"ए भाई, ज़रा देखके चलो, आगे ही नहीं पीछे भी
दायें ही नहीं बायें भी, ऊपर ही नहीं नीचे भी -
ए भाई

तू जहाँ आया है वो तेरा - घर नहीं, गाँव नहीं
गली नहीं, कूचा नहीं, रस्ता नहीं, बस्ती नहीं

दुनिया है . . . . !
और प्यारे, दुनिया यह एक सरकस है
और इस सरकस में –
बड़े को भी, छोटे को भी
खरे को भी, खोटे को भी, मोटे को भी, पतले को भी
नीचे से ऊपर को, ऊपर से नीचे को
बार बार आना-जाना पड़ता है

और रिंग मास्टर के कोड़े पर - कोड़ा जो भूख है

कोड़ा जो पैसा है, कोड़ा जो क़िस्मत है
तरह-तरह नाच कर दिखाना यहाँ पड़ता है
बार-बार रोना और गाना यहाँ पड़ता है
हीरो से जोकर बन जाना पड़ता है . . . !

गिरने से डरता है क्यों, मरने से डरता है क्यों ?
ठोकर तू जब तक न खाएगा,
पास किसी ग़म को न जब तक बुलाएगा
ज़िंदगी है चीज़ क्या नहीं जान पायेगा !
रोता हुआ आया है रोता चला जाएगा,
कैसा है करिश्मा, कैसा खिलवाड़ है !
जानवर आदमी से ज़्यादा वफ़ादार है
खाता है कोड़ा भी रहता है भूखा भी
फिर भी वो मालिक पर करता नहीं वार है !!
और इन्सान ये –
माल जिस का खाता है
प्यार जिस से पाता है, गीत जिस के गाता है
उसी के ही सीने में भोंकता कटार है . . . !

हाँ बाबू ,
यह सरकस है शो तीन घंटे का -
पहला घंटा बचपन है, दूसरा जवानी है
तीसरा बुढ़ापा है। । ।
और उसके बाद - माँ नहीं, बाप नहीं
बेटा नहीं, बेटी नहीं, तू नहीं,
मैं नहीं, कुछ भी नहीं . . . रहता है

रहता है जो कुछ वो –
ख़ाली-ख़ाली कुर्सियाँ हैं
ख़ाली-ख़ाली तम्बू है,
ख़ाली-ख़ाली घेरा है
बिना चिड़िया का बसेरा है,
न तेरा है, न मेरा है
न तेरा है, न मेरा है. . . . .!!"

उनके जीवन जीने के फ़लसफ़े को बयाँ करती ये फ़िल्म बार बार एक बहुत ख़ूबसूरत गीत की याद दिलाती है, जो ऋषिकेश मुख़र्जी द्वारा निर्देशित फ़िल्म 'अनाड़ी' का है जिसमें उन्होंने नायक की भूमिका निभाई थी –

"किसी की मुस्कुराहटों पे हो निसार
किसी का दर्द मिल सके तो ले उधार
किसी के वास्ते हो तेरे दिल में प्यार
जीना इसी का नाम है

माना अपनी जेब से फ़कीर हैं
फिर भी यारों दिल के हम अमीर हैं
मिटे जो प्यार के लिए वो ज़िन्दगी
जले बहार के लिये वो ज़िन्दगी
किसी को हो न हो हमें तो ऐतबार
जीना इसी का नाम है

रिश्ता दिल से दिल के ऐतबार का
ज़िन्दा है हमीं से नाम प्यार का
कि मर के भी किसी को याद आएंगे
किसी के आंसुओं में मुस्कुराएंगे
कहेगा फूल हर कली से बार बार
जीना इसी का नाम है . . . ."

'मेरा नाम जोकर' फ़िल्म जब पहली बार रिलीज़ हुई तब एक तरह से बॉक्स-ऑफिस पर असफल रही थी। फ़िल्म ज़्यादा लम्बी थी या दर्शक फ़िल्म की मूल भावना से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाए थे। कारण कुछ दूसरे भी हो सकते हैं। पर जब ये फ़िल्म दूसरी बार रिलीज़ हुई तब पसंद की गई , दर्शक शायद तब समझ पाए कि 'राज कपूर' इस फ़िल्म के माध्यम से क्या कहना चाहते हैं। मैं ये फ़िल्म पहली बार में नहीं देख पाया था। पर जब मैंने ये फ़िल्म देखी तो एक सीधे-सादे , भोले-भाले इंसान के सपनों की कहानी मुझे ऐसी लगी मानो ईश्वर इसी तरह का 'इंसान' बनाना चाहता था। पर ईश्वर कहीं कुछ चूक कर गया। इंसान उससे ज़्यादा चालाक निकला और वह ईश्वर की चूक का पूरा फायदा उठाने लगा। या फिर हो सकता है दुनिया को गतिमान बनाने के लिए यह ईश्वर की ही चाल हो। बहुत सारे चालाक मनुष्यों के बीच कुछ सीधे-सादे लोग मिल ही जाते हैं। इस तरह अच्छों और बुरे लोगों में सतत् संघर्ष चलता रहता है, और दुनिया का मेला सजा रहता है। मेरी देखी हुई फ़िल्मों में इस फ़िल्म ने मुझे बहुत मुतअस्सिर किया है। बहुत भीतर तक छुआ है। एक बात और बताता चलूँ , मैंने कहीं पढ़ा था कि सत्यजित रे जैसे दिग्गज फ़िल्मकार ने, ऋषिकपूर और सिमी ग्रेवाल के अभिनय वाले; इस फ़िल्म के पहले भाग को - उनकी दृष्टि में दुनिया की दस बेहतरीन फ़िल्मों में से एक माना है। सत्यजित रे का उस पहले भाग को सराहना - यह बताता है कि असली कद्रदान हमेशा अपने समय से थोड़ा आगे होते हैं। यूँ ही नहीं कहा जाता कि हीरे की पहचान जौहरी ही कर पाता है।

□□

इसके साथ ही कुछ दूसरी फ़िल्मों का ज़िक्र करूँगा।

जिन्होंने मेरी रूह को 'टच' किया है।

इस तरह या उस तरह , किस तरह ये बहुत संक्षेप में ही बताऊँगा।

कभी यदि इच्छा हुई और मामला जम गया तो शायद एक किताब भी लिख डालूँ।

□□

किताब तो जब लिखूँगा तब लिखूँगा, फ़िलहाल *'पाकीज़ा'* फ़िल्म की बात , जिसमें 'साहिब जान' और 'सलीम' के इश्क़ की मासूम और पाक दास्ताँ इस ख़ूबसूरती से स्क्रीन पर दिखाई गई है मानो कोई कविता लिखी गई हो। जिसका एक एक शब्द मानों सच्चे मोतियों को पीसकर बनाई गई स्याही से लिखा गया हो जिसमें फ़ूलों की ख़ुशबू और अश्कों की नमी मिलाई गई हो। इस फ़िल्म का एक एक फ़्रेम, एक एक डायलॉग क़रीने और ज़ेहनी बलंदी के करिश्माई नमूने हैं। इस फ़िल्म का ताना-बाना जिस सामाजिक समस्या को सामने लाने के लिए बुना गया है। वो अपने आप में एक अलहदा चीज़ है। मुझे तो इस फ़िल्म को बनाने और कहानी कहने की जादूगरी ने दीवाना बना दिया है। गुलाम मोहम्मद साहब के तैयार किये गाने और जिस तरह से उन्हें फिल्माया गया है। वाह ! बस वाह !! ही कहा जा सकता है।

"आपके पांव देखे, बहुत हसीन हैं... इन्हें ज़मीन पर मत उतारिएगा, मैले हो जाएंगे।"

वाह भई वाह !!

किसी खूबसूरती की तारीफ़ भी इतनी ही ख़ूबसूरत होनी चाहिए।

और इश्क़ की इससे ज़्यादा हसीन-तरीन इब्तिदा हो सकती है क्या।

और मीनाकुमारी के अभिनय का जादू उनकी आवाज़ की कशिश. . . . किस चीज़ की तारीफ़ करूँ किसे छोड़ दूँ।

□□

'मुग़ल ए आज़म' भी एक ऐसी ही फ़िल्म है जो 'दिल' से बनाई गई है। फ़िल्म का परिवेश सियासती दाँव-पेचों, बग़ावत, जंग, तलवार की झंकारों और खून के छींटों से अटा -पटा है, पर ये सब कुछ जिस बिंदु के इर्द-गिर्द घूमता है वह 'अनारकली' की आँखों से टपके आंसू की बूँद है। पृथ्वीराज कपूर , दिलीप कुमार और मधुबाला के बेमिसाल अभिनय से सजी ये अधूरी प्रेम-कहानी भी अपनी मिसाल आप है। इतने सीमित तकनीकी संसाधनों के बलबूते बनाई गई ये फ़िल्म आज कम्प्यूटर की

सहायता से बनाई जाने वाली फ़िल्मों को टक्कर देती है। उन्नीस नहीं बल्कि आज भी इक्कीस ही बैठती है।



'आशीर्वाद' सन् 1968 में रिलीज़ हुई एक और शानदार फ़िल्म थी जिसे ऋषिकेश मुखर्जी ने निर्देशित किया था।

"जीवन से लंबे हैं बंधु ये जीवन के रास्ते. . . ."

इस फ़िल्म का ये गीत मेरे लिए इस फ़िल्म की कहानी का सारांश है। 'जोगी ठाकुर' के चरित्र ने मेरा मन मोह लिया था। ये पात्र 'दादा मुनि' यानी अशोक कुमार ने स्क्रीन पर जिया था। 'जिया' माने जीवंत कर दिया था। उनके साथ 'हरीन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय' जिन्होंने उस फ़िल्म में ढोलक बजाने वाले 'बैजू' की भूमिका निभाई थी, उन्होंने उस फ़िल्म में जो रंग भरे थे अभी भी मेरे दिल-ओ-दिमाग़ से ओझल नहीं होते। जोगी ठाकुर के भीतर की 'जिजीविषा' बहुत प्रेरणा देती है।

यहाँ मैं इस बात का ज़िक्र क्यों न करूँ कि अपनी कहानी के प्रथम भाग का टाइटल मैं पहले "आरंभ" के स्थान पर "एक था बचपन" रखने वाला था। जो इस गीत से प्रेरित था-

ये भी इसी फिल्म का एक बहुत प्यारा गाना था। बहुत बचपन में देखी थी ये फिल्म, अपने पूरे परिवार के साथ। जबलपुर की सुभाष टॉकीज़ में लगी थी। फिल्म छूटने के बाद मैंने टॉकीज़ की मुख्य बिल्डिंग के ऊपर लगे पोस्टर पर ऋषिकेश मुखर्जी नाम पढ़ था। नाम मुझे कुछ अलग और अच्छा लगा था। पर तब मैं ठीक से नहीं जानता था कि 'निर्देशक' क्या चीज़ होती है।



'दो आँखें बारह हाथ' , साल 1957 में रिलीज़ हुई शानदार फ़िल्म थी। ज़ाहिर है मेरी उम्र उस समय महज एक बरस की थी, मैंने पहली बार रिलीज़ होने पर यह फ़िल्म नहीं देखी थी, और यदि देखी भी होगी तो बाई और बाबू जी के साथ ले जाया गया होऊँगा।

अब भला तब की याद. . . माने अब मुझे कुछ याद नहीं है। फ़िल्म को कई राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार मिले थे। यह फ़िल्म मैटिनी शो में भी अक्सर लगती रहती थी। मैंने इसे फ़िल्म दिखाने वाली सरकारी गाड़ी पर लदे हुए प्रोजेक्टर पर भी देखा था और सिनेमाघर में भी। कहानी एक युवा प्रगतिशील और सुधारवादी विचारों वाले जेलर आदिनाथ की है, जो क़त्ल की सज़ा भुगत रहे 6 खूंखार क़ैदियों को एक पुराने जर्जर फार्म-हाउस में ले जाकर सुधारने की अनुमति ले लेता है और तब शुरू होता है उन्हें सुधारने की कोशिशों का आशा-निराशा भरा दौर। फ़िल्म 'दो आँखें बारह हाथ' उस उम्मीद की कहानी है जो बुराई में अच्छाई ढूँढती है,साथ ही इस बात को स्थापित करने का प्रयास करती है कि मनुष्य बुरा नहीं होता, उसका कर्म बुरा होता है। इसलिए अपराधी से नहीं, अपराध से घृणा करनी चाहिए। मानवतावादी मनोविज्ञान और खुली जेल के परीक्षण पर आधारित निर्माता, निर्देशक और अभिनेता वी. शांताराम की इस फ़िल्म को किसी क्रांति से कम नहीं आँका जा सकता। यही बात कई रूपों में कई अवसरों पर मेरे सामने आई है, मैं खुद इस विचार का समर्थक हूँ। या हो सकता है ऐसी घटनाओं, ऐसे ही विचार रखने वाले महापुरुषों के प्रभाव में आकर मेरी सोच इस तरह की हो गई। मेरे कहने का कुल मायने ये है इस फ़िल्म ने मेरी इस सोच को और मज़बूत किया और उस तरह के विचारों पर अडिग खड़े रहने के लिए सहारा बनी।

इस फ़िल्म का एक गाना – 'ऐ मालिक तेरे बन्दे हम . . . . ', मुझ जैसे ढेरों लोगों को आज भी प्रेरणा देता है, हिम्मत देता है, अनजाने और दुर्गम जीवन पथ पर उजाला बनकर फ़ैल जाता है।



इसके बाद मैं नाम लूँगा ऋषिकेश मुख़र्जी के द्वारा निर्देशित एक और नायाब फ़िल्म का – *'आनंद'*। मेरे हिसाब से इस फ़िल्म को सिर्फ़ फ़िल्म मानना इसके साथ ज़्यादिती होगी। ये फ़िल्म अपने आप में एक पूरी की पूरी मार्गदर्शिका है कि किस तरह जीवन जिया जाए – *आनंद के लिए आनंद की तरह*।

इस फ़िल्म की कहानी ऋषिकेश मुखर्जी ने लिखी थी और संवाद गुलजार ने। मैंने कहीं पढ़ा था, ये कहानी ऋषिकेश मुखर्जी ने अपने मित्र राज कपूर को ध्यान में रख कर लिखी थी सन् 1954 में , किन्तु आनंद रिलीज़ हुई सन् 1971 में तब राजेश खन्ना इस फ़िल्म के नायक बने। बिला शुबहा ये फ़िल्म राजेश खन्ना की अदाकारी का बेमिसाल नमूना है। राज कपूर, ऋषिकेश मुखर्जी को 'बाबू मोशाय' कहते थे। यही 'बाबू मोशाय' आनंद फ़िल्म में राजेश खन्ना यानी 'आनंद सहगल' का तकिया कलाम बना। इस फ़िल्म के संवाद आज भी उद्धृत किए जाते हैं -

"बाबूमोशाय, हमारी मुश्किल मालूम है, क्या है? हम आने वाले ग़म को खींच कर आज की ख़ुशी पे ले आते हैं और उस ख़ुशी में जहर घोल देते हैं . . . . "

"ज़िंदगी और मौत ऊपरवाले के हाथ में है जहाँपनाह जिसे न आप बदल सकते हैं ना मैं हम सब तो रंग मंच की कठपुतलियाँ हैं, जिनकी डोर ऊपरवाले की उँगलियों में बंधी है कौन, कब, कैसे, उठेगा कोई नहीं बता सकता . . . ."

"ज़िन्दगी बड़ी होनी चाहिए बाबू मोशाय , लम्बी नहीं . . . ."

इस फ़िल्म में गुलजार साहिब की एक छोटी सी मगर बहुत प्यारी कविता भी थी -

"मौत तू एक कविता है
मुझसे एक कविता का वादा है मिलेगी मुझको
डूबती नब्ज़ों में जब दर्द को नींद आने लगे
ज़र्द सा चेहरा लिये जब चांद उफक तक पहुँचे
दिन अभी पानी में हो, रात किनारे के करीब
ना अंधेरा ना उजाला हो, ना अभी रात ना दिन
जिस्म जब ख़त्म हो और रूह को जब साँस आऐ
मुझसे एक कविता का वादा है मिलेगी मुझको . . . . "

मैं समझता हूँ इस फ़िल्म को मेरी पीढ़ी और मुझसे कुछ ऊपर नीचे की पीढ़ी वालों ने अवश्य ही देखा होगा। फिर भी इतना तो बता ही दूँ फ़िल्म का नायक 'आनंद' युवावस्था में ही कैंसर जैसी बीमारी से लड़ रहा है। उसकी ज़िंदगी में डॉ भास्कर के

पात्र के रूप में अमिताभ बच्चन का प्रवेश होता। इलाज के दौरान दोनों में दोस्ती हो जाती है. . . . कहानी आगे बढ़ती है। आनंद की लड़ाई भीतर ही भीतर चलती रहती है, किन्तु बाहर वह अपनी पीड़ा ज़ाहिर करने के स्थान पर सभी को हँसता हँसाता रहता है और इस तरह ज़िन्दगी कैसे जीना चाहिए सिखाता चलता है. . . .।

मुझे ही क्यों , जिसने भी ये फ़िल्म देखी होगी उसे भी बहुत अच्छी लगी होगी। मुझे पूरा भरोसा है।

'जुनून' फ़िल्म सन् 1979 में बनी थी, जिसका निर्माण शशि कपूर ने किया और निर्देशन श्याम बेनेगल ने किया था । यह फ़िल्म रस्किन बॉन्ड के एक काल्पनिक उपन्यास, 'ए फ़्लाइट ऑफ़ पिजन्स' पर आधारित है जो कि अंग्रेजों के विरुद्ध सन् 1857 के भारतीय विद्रोह के काल और पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इस फ़िल्म में शशि कपूर, उनकी पत्नी जेनिफर केंडल, नफीसा अली, टॉम ऑल्टर, शबाना आजमी, कुलभूषण खरबंदा, नसीरुद्दीन शाह, दीप्ति नवल, पर्ल पदमसी और सुषमा सेठ शामिल थे।

यह फ़िल्म वास्तव में एक 'प्रेम-कथा' ही है। ये प्रेम कथा भले ही काल्पनिक हो पर जिस ज़मीन और काल को ध्यान में रखकर इसे गढ़ा गया है उससे ये फ़िल्म उस समय खंड से हमें बेहद ख़ूबसूरत तरीक़े से रू-ब-रू कराती है । वे सारे लोग जिन्हें इतिहास में दिलचस्पी हो उनके लिए ये फ़िल्म किसी तोहफ़े से कम नहीं। नसीरुद्दीन शाह की अदाकारी लाजवाब है। फ़िल्मका संगीत, पार्श्व संगीत, छायांकन जो गोविन्द निहलानी जैसे दिग्गज ने किया है वो हमें खींचकर उसी कालखंड में ले जाता है. . . . श्याम बेनेगल जैसे उच्च कोटि के निर्देशक की सभी फ़िल्में एक से बढ़कर एक हैं। ये भी उन्हीं बेमिसाल कृतियों में से एक है ।

मैंने जब उन फ़िल्मों के नाम यहाँ दर्ज़ करना शुरू किए , जिन्होंने मुझे किसी न किसी तौर पर प्रभावित किया और इस हद तक अपने जादू में बाँध के रखा कि आज भी भुलाए नहीं भूलतीं ; तब बार बार इस फ़िल्मके कुछ दृश्य नज़रों के सामने आ जा रहे थे। एक तो सरफ़राज़, नसीरुदीन शाह का वह सीन जब उसे पता चलता है कि भारतीय सेना दिल्ली की लड़ाई हार गई है तो वह जिस तरह गुस्से में जावेद, शशि कपूर के

कबूतरों के बाड़ों को नष्ट कर देता है और उसके पालतू जानवरों को आज़ाद कर देता है, इस सीन में बोला गया संवाद मुझे याद नहीं है, लेकिन उस डायलॉग को सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे; ये मुझे आज भी याद है। दूसरा इस फ़िल्म का अमीर खुसरो का गीत "आज रंग है री माँ , रंग है री . . . "। इस गाने का फ़िल्मांकन गज़ब का है साथ ही राजेश विवेक के अभिनय का रोमांच आज भी महसूस होता है। वैसा ही जब फ़िल्म देखते समय सिनेमा हॉल में हुआ था। मैंने ये फ़िल्म 'कल्पना टाकीज़' में देखी थी। फ़िल्म वॉयस-ओवर के साथ समाप्त होती है कि "*जावेद अंग्रेज़ों से लड़ते हुए शहीद हो गया जबकि रूथ और उसकी माँ इंग्लैंड लौट जाती हैं। इसके पचपन साल बाद अविवाहित रूथ की मृत्यु हो जाती है।*"

इस वॉयस-ओवर ने भी एक जबर्दस्त पञ्च के रूप में असर किया था कम से कम मुझपर तो !!



स्पर्श , सन् 1980 में रिलीज़ हुई एक बेहद सशक्त फ़िल्म थी, जिसका निर्देशन सई परांजपे ने किया है। इसमें नसीरुद्दीन शाह और शबाना आज़मी ने मुख्य भूमिकाएँ निभाई हैं। अनिरुद्ध, नसीरुद्दीन शाह एक स्कूल का प्राचार्य है और दृष्टिबाधित है। कविता शबाना आज़मी के पति की कुछ बरस पहले मृत्यु हुई है जिससे वह बहुत प्यार करती थी, इस कारण अब वह काफ़ी अकेलापन महसूस करती है। अपनी पीड़ा से लड़ने वह संगीत सिखाने का कार्य शुरू करती है। अपनी बचपन की मित्र के माध्यम से वह अनिरुद्ध के स्कूल से और अनिरुद्ध से भी जुडती है। उनमें धीरे धीरे प्यार हो जाता है,और सगाई भी हो जाती है। किन्तु अनिरुद्ध को अचानक लगने लगता है कि यदि उसकी और कविता की शादी होगी तो वह दरअसल कविता का त्याग या बलिदान होगा। वह कविता के समझाने के बाद भी शादी से इनकार कर देता है। एक बार फिर कविता की बचपन की मित्र बीच में पड़ती है और अनिरुद्ध को वास्तविकता से अवगत कराती है। साथ ही कुछ ऐसी घटनाएँ भी घटती हैं, जिससे अनिरुद्ध अपने निर्णय को बदलने पर मज़बूर हो जाता है। फ़िल्म के अंतिम दृश्य में दर्शक अनिरुद्ध को कविता के घर जाते हुए और फिर उसके घर में प्रवेश करते हुए देखते हैं। इस फ़िल्म

में नसीरुद्दीन शाह और शबाना आज़मी ने शानदार अभिनय किया है। नायक नायिका की कहानी के साथ-साथ दृष्टिबाधितों की समस्याओं को बेहद सशक्त ढंग से सामने रखने और उनके निराकरण हेतु सुझाव देती यह फ़िल्मआज भी प्रासंगिक है । यह फ़िल्म हमें उन लोगों के संसार , परेशानियों , कष्टों , अनुभवों से बहुत सूक्ष्मता से परिचित कराती है जो देख नहीं सकते। सिर्फ़ स्पर्श की अनुभूति के सहारे जीवन जीते लोगों के संसार में हमें ले जाने वाली ये फ़िल्म निश्चित रूप से यहाँ चर्चा करने का माद्दा रखती है।



'ज़िन्दगी न मिलेगी दोबारा' यह फ़िल्म भी मुझे अच्छी लगी जो बताती है या स्मरण कराती है कि हमें जो ज़िन्दगी हम जी रहे हैं वह बस एक बार ही मिली है। दोबारा फिर से ज़िन्दगी मिलेगी या नहीं इस बारे में कोई नहीं जानता। मैंने इस फ़िल्म को देखकर जो कुछ भी समझा वह ऐसा नहीं की मैं पहली बार जान रहा था पर फिर भी उसमें कुछ ताज़गी, कुछ नयापन था। मुझे लगता है ये फ़िल्म बताती है –

"क्यों न इस ज़िन्दगी को बिलकुल उस ढंग से जीना चाहिए जैसा हम चाहते हैं। ऐसा करने से जो चीज़ें भी हमें रोकती हैं, उन तमाम बातों और उनके कारण हमारे भीतर बार बार उपजने वाले हर तरह के डर को , परे हटा कर ज़िन्दगी को उसकी सच्चाई और पूर्णता के साथ दिल से , मुहब्बत से जिया जाए सारे अगर-मगर , किन्तु-परन्तु , क्योंकि-लेकिन , किसलिए -इसलिए हटाकर"।

यह फ़िल्म सन् 2011 में रिलीज़ हुई थी। ज़ोया अख़्तर ने इस फ़िल्म को निर्देशित किया था।

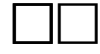
मैंने अभी पीछे जाकर इन फ़िल्मों को गिना तो ये फिलहाल कुल नौ फ़िल्में निकलीं , जिनके बारे में मैंने कहा कि इन फ़िल्मों ने मुझे किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। अब कुछ फ़िल्में और याद आ रही हैं जैसे वासु भट्टाचार्य की फ़िल्म *'तीसरी कसम'* जिसका 'हीरामन' और उसकी सरलता को कैसे भुलाया जा सकता है, *'हरिश्चंद्र-तारामती'* के पृथ्वीराज कपूर , शबाना आज़मी , नसीरुद्दीन शाह और फ़ारुख शेख़

की *'एक पल'* जिसे कल्पना लाज़मी ने निर्देशित किया था, उस फ़िल्मका एक गीत याद आ रहा है। जो आज भी सुनता हूँ तो पता नहीं क्यों भीतर तक भीग जाता हूँ –

"ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली
काँची तलैया से गुज़रे जो डोली
गोरी , दो बूंद आंसू के दे जइयो हो
ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली. . . .

नहा के चदरी कैसे सुखायेगी
गोरी अँगना की छैया ले जइयो हो
ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली
पीपल की पौड़ी से गुजरे जो डोली
गोरी , सिन्दूरी बिन्दिया दे जइयो हो
ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली. . . .

लोहित की पुलिया से गुजरे जो डोली
गोरी सोने का बिछुवा दे जइयो हो
ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली
ज़रा धीरे ज़रा धीमे लेके जइयो डोली
बड़ी नाज़ुक मेरी जाई मेरी बहना भोली . . . ."



सोचना भी एक तरह का 'मोड' होता है, एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें मन किसी एक दिशा में बहने लगता है। यदि इस समय मैं अपने मस्तिष्क को फ़िल्मों के बारे में सोचने के मोड में डाल दूँ, तो न जाने कितनी फ़िल्में - कोई किसी वजह से, कोई किसी दूसरी

वजह से - एक के बाद एक स्मृतियों के परदे पर उभरने लगेंगी। उनका कोई अंत नहीं होगा। लेकिन इस अध्याय का अंत भी तो करना है।

अभी तो अभिनेताओं की बातें भी नहीं हुईं। गीतकारों, संगीतकारों और गीतों की भी चर्चा शेष है। जब और जहाँ उनके लिए उपयुक्त जगह बनेगी, वहाँ उनकी भी बातें करेंगे।

मेरी समझ में, कम से कम हमारे टीन-एज के ज़माने में, 'रियल लाइफ़' के अलावा यदि कोई दूसरी दुनिया थी जो हमें गढ़ती थी, तो वह फ़िल्मों की दुनिया थी। वही हमारे जीने के तरीक़ों को काटती-छाँटती, सजाती-सँवारती, बनाती-बिगाड़ती थी। कभी कोई कहानी, कभी कोई किरदार और कभी कोई गीत हमारा रहनुमा बन जाता था। वह हमारे रोज़मर्रा के क्रिया-कलापों में हमारे ही एक दूसरे रूप की तरह हमारे साथ चलने लगता था।

ऐसा आज भी होता है।

दूसरों के बारे में तो मैं नहीं कह सकता, पर मेरे साथ ऐसा हुआ है और आज भी होता रहता है। अच्छी फ़िल्में मुझ पर अपना प्रभाव छोड़ जाती हैं - कभी थोड़े समय के लिए, कभी बहुत लंबे समय के लिए। कुछ फ़िल्मों ने, और उनके कुछ पात्रों ने, अपना ऐसा रंग मुझ पर चढ़ाया है जो आज भी उतना ही चटकीला है, जितना उस समय था जब मैंने उन्हें पहली बार देखा था।

कभी-कभी जीवन के किसी चक्रव्यूह में फँसकर लगता है कि अब यहाँ से निकल पाना कठिन है। आसपास कोई सहारा नहीं होता। अंत निकट दिखाई देने लगता है। ऐसे समय, जाने कहाँ से किसी फ़िल्म का कोई चरित्र अचानक स्मृति के किसी कोने से निकलकर मेरे साथ आ खड़ा होता है। उसका यह मौन साथ, संघर्ष जारी रखने का हौसला देता है।

जब-जब ऐसा लगता है कि अब टूटकर बिखर जाएँगे, और सँभालने वाला तो दूर, हमारे बिखरने का तमाशा देखने वाला भी कोई नहीं है, तभी किसी फ़िल्म का कोई

पात्र, कोई गीत या कोई दृश्य सामने आ जाता है और हमें टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरने से बचा लेता है।

ये सारे ऐसे दोस्त हैं जो हर समय हमारे साथ नहीं रहते, लेकिन जब-जब उनकी ज़रूरत होती है, पता नहीं कैसे उन्हें ख़बर हो जाती है। वे चुपचाप आकर हमारे कंधे पर हाथ रख देते हैं।

बहुत-से लोगों को शायद मेरी ये बातें अजीब लगें। पर विश्वास कीजिए, मेरे साथ ऐसा होता है। मैं अपने इन दोस्तों से मुहब्बत करता हूँ, और वे मुझसे।

कभी-कभी मुझे लगता है कि यदि फ़िल्में और किताबें मेरे जीवन में नहीं होतीं, तो शायद बहुत कुछ नहीं होता। मेरे भीतर जो एक अधूरापन हमेशा कहीं न कहीं मौजूद रहा है, वह अधूरापन क्यों है, क्या है -शायद मैं कभी जान नहीं पाता। लेकिन इतना अवश्य जानता हूँ कि वह अधूरापन तब भी होता।

उस अधूरेपन के रिक्त स्थानों को भरने वालों में कुछ फ़िल्में भी हैं, कुछ किताबें भी, और कुछ ऐसे पात्र भी जो वास्तव में कभी थे ही नहीं, फिर भी जीवन के सबसे कठिन मोड़ों पर सबसे सच्चे साथी बनकर मेरे साथ खड़े रहे।

अब आपको उनमें से कुछ से मिलाता हूँ।

इनमें शामिल हैं - *मेरा नाम जोकर* का 'राजू' (राज कपूर), *अनाड़ी* का 'राज कुमार' (राज कपूर), *हरिश्चंद्र-तारामती* के 'राजा हरिश्चंद्र'(पृथ्वी राज कपूर), *देवदास* के 'देवदास' (दिलीप कुमार) और 'चुन्नी बाबू' (मोतीलाल), *तीसरी कसम* का 'हीरामन' (राज कपूर), *आशीर्वाद* के 'जोगी ठाकुर' (अशोक कुमार) और 'बैजू' (हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय), *आनंद* का 'आनंद' (राजेश खन्ना), *बॉबी* का 'जैक ब्रिगेंज़ा' (प्रेम नाथ), *जूली* की 'मार्गरेट' या 'मैगी', *परिचय* के 'राय साहिब' (प्राण), 'निलेश' (संजीव कुमार) और 'रमा' (जया भादुड़ी), *मंडी* के 'डुंगरुस' (नसीरुद्दीन शाह) और 'रुक्मिणी बाई' (शबाना आज़मी), *सदमा* का 'सोमू' (कमल हासन), *पाकीज़ा* की 'साहिब जान' (मीना कुमारी), *मस्ताना* फ़िल्म में "सोई जा तारा..." गाता हुआ 'सत्या' (महमूद मियां), *पड़ोसन* के 'गुरु' (किशोर कुमार) , *मेरे अपने* की

‘आनंदी देवी’ (मीना कुमारी), *ख़ामोशी* की नर्स ‘राधा’ (वहीदा रहमान) और *मौसम* के डॉ. अमरनाथ (संजीव कुमार)।

"और भी न जाने कितने। स्मृतियों की पोटली खोलकर बैठूँ तो एक-एक कर सब चले आएँगे। फिर यह सूची इतनी लंबी हो जाएगी कि उसका कोई अंत ही नहीं रहेगा।"

इन सबने, जब-जब किसी अपने के सहारे की ज़रूरत पड़ी, किसी न किसी रूप में, किसी न किसी मोड़ पर मेरा हाथ थामा है। और सच कहूँ तो आज भी थामे हुए हैं।

इसलिए इस अध्याय के अंत में मैं एक बार फिर उन सभी का आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिन्होंने मिल-जुलकर इन पात्रों का सृजन किया। लेखक, निर्देशक, अभिनेता, संगीतकार और वे तमाम अनाम लोग, जिनकी कल्पना, संवेदना और श्रम ने इन्हें जन्म दिया।

बेशक, ये हाड़-मांस के बने जीवित मनुष्य नहीं हैं। इनके नाम किसी मतदाता सूची में दर्ज़ नहीं, इनके पते किसी शहर में नहीं मिलेंगे। फिर भी मेरे लिए ये किसी वास्तविक मनुष्य से कम नहीं हैं। जीवन के लंबे सफ़र में इन्होंने कई बार ऐसी जगह साथ दिया है, जहाँ वास्तविक लोग भी साथ नहीं दे पाए।

कभी ये बड़े भाई बनकर कंधे पर हाथ रख देते हैं। कभी दोस्त बनकर अपना कंधा आगे कर देते हैं, जिस पर सिर टिकाकर मैं अपने भीतर जमा पीड़ा, अपनी सारी कोफ़्त और थकान उतार सकता हूँ। कभी ये चुपचाप मेरे साथ चलने लगते हैं, बिना कोई सलाह दिए, बिना कोई प्रश्न पूछे। और कभी, जब रास्ता धुँधला पड़ने लगता है, ये आगे बढ़कर एक छोटी-सी मशाल जला देते हैं।

अजीब बात है-हम जानते हैं कि वे काल्पनिक हैं, और शायद वे भी जानते होंगे कि हम उन्हें वास्तविक मान बैठे हैं। लेकिन मनुष्य का रिश्ता हमेशा यथार्थ से ही तो नहीं बनता। कुछ रिश्ते स्मृतियों से बनते हैं, कुछ सपनों से, और कुछ उन कहानियों से जो हमारी अपनी कहानी का हिस्सा बन जाती हैं।

पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि मेरी ज़िन्दगी की राह पर मेरे साथ केवल मेरे अपने लोग ही नहीं चले; इन पात्रों के पदचिह्न भी वहाँ दर्ज़ हैं। कहीं धुँधले, कहीं स्पष्ट,

कहीं गहरे। उन्होंने मेरे अकेलेपन को शब्द दिए, मेरे हारने को धैर्य दिया और मेरे बिखराव को कई बार आकार दिया।

और शायद इसी कारण, आज इस अध्याय का अंतिम सफ़्हा लिखते हुए, उनसे विदा लेने का मन भी नहीं करता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह विदाई सचमुच की विदाई नहीं है। किताब बंद हो जाएगी, यह अध्याय समाप्त हो जाएगा, लेकिन वे सब कहीं न कहीं मेरे भीतर बने रहेंगे-जैसे किसी पुराने घर के कमरे में रखी हुई परिचित वस्तुएँ, जिन पर रोज़ नज़र नहीं पड़ती, पर जिनका होना हमें भीतर से आश्वस्त करता रहता है। जब अगली बार जीवन किसी कठिन मोड़ पर खड़ा मिलेगा, जब फिर कभी लगेगा कि रास्ता कुछ ज़्यादा ही लंबा हो गया है, तब संभव है कि इनमें से कोई एक पात्र फिर मुस्कराता हुआ सामने आ खड़ा हो। कंधे पर हाथ रखे और धीरे से कहे-

“घबराओ मत... मैं हूँ ना।”

और तब, हमेशा की तरह, मैं फिर थोड़ा-सा संभल जाऊँगा।

□□□

9

मदन महल की पहाड़ियाँ

(काली चट्टानों के मौन से संवाद)

कक्षा नौवीं से ग्यारहवीं के बीच का वह समय- टीनएज़ की हल्की-हल्की गुनगुनी धूप और लंबी-लंबी परछाइयों का समय था। दिन अपने आप में पूरे नहीं होते थे, और रातें अक्सर किसी अनकही कहानी के दरवाज़े पर ठहर जाती थीं।

हम थे - सात या आठ दोस्तों का एक छोटा-सा संसार।
जिसमें हर किसी की आवाज़ अलग थी, पर हँसी एक ही लय में गूँजती थी।

अखिलेश,अशोक दुबे, सुरेश सालुंके,अंजन सरकार, शालिग राम,और अनिल दुबे –

(*कुछ नाम शायद छूट रहे हों पर इतने तो थे ही कभी दो एक या और ज़्यादा भी जुड़ जाते , कभी कम भी हो जाते । यहाँ मैं वक़्त के सिर्फ़ उन टुकड़ों की बात कर पाऊँगा जहाँ मैं उपस्थित रहा होऊँगा*)

हम सभी केवल नाम भर नहीं थे -
हर नाम के पीछे एक मौसम ठहरा हुआ था।
आँखों में अपनी-अपनी अलग चमक थी , सब का अपना-अपना सपना और सब का अपना-अपना आकाश भी।

हम सभी अक्सर साथ चलते थे, साथ घूमते थे।
पर शायद हर कोई अपने भीतर कहीं और भी जा रहा होता था -
हम सब ऐसी जगह आ चुके थे –

जहाँ बचपन धीरे-धीरे पीछे छूटता जा रहा था बल्कि छूट गया था, एकदम पूरी तरह से नहीं क्योंकि अभी भी बचपन की कहानियाँ और किस्से – हमें कविताओं की तरह याद थे। सबके अपने किस्से सब की अपनी कविताएँ। कभी हम इन किस्सों को अपने भीतर से बाहर निकाल लेते थे। जैसे कोई जादूगर अपनी रहस्यमय गठरी से एक-एक कर विचित्र चीज़ें निकालता जाता है और सामने सजाता जाता है फिर डमरू बजाकर जादू के खेल दिखाना शुरू करता है।

हम अपने-अपने जादू के खेल बाक़ियों को दिखाते थे। कोई-कोई दिन सिर्फ़ इन्हीं जादू के खेलों को देखने दिखाने में बीत जाता था। इस समय सब कुछ जादू के खेल सरीखा लगता था। जब हम इकट्ठा होते थे बस वही समय हमें हमारा अपना सा लगता था। भले ही वो चौबीस घंटों के रात और दिन में से सिर्फ़ कुछ घंटे ही क्यों न हों।

और जीवन,

जीवन तो शायद अभी पूरी तरह सामने नहीं आया था। हमारे इन जादू सरीखे खेल-तमाशे को बस जैसे छिपकर देख रहा था।

हम उम्र के जिस मुक़ाम पर थे वह साधारण नहीं – बल्कि यह वही जगह है जहाँ 'मैं' और 'होना' एक-दूसरे से लिपटते भी हैं और छूटते भी , दोनों अपनी अलग-अलग सत्ता बनाना शुरू करते हैं कभी दोस्त बनकर और कभी एक दूसरे से दूरी बनाकर।

हम सभी हफ्ते पंद्रह दिनों में एक चक्कर 'मदन महल' की पहाड़ियों का ज़रूर लगा लेते थे। जब भी मौका मिलता हम वहाँ पहुँच ही जाते थे। इसके पीछे एक बड़ा कारण ये भी था कि अशोक दुबे और अंजन सरकार के घर 'गढ़ा' में थे , और मदन महल की पहाड़ियाँ 'गढ़ा' बस्ती से बिल्कुल लगकर फ़ैली हुई थीं अब भी हैं पर तब और बात थी - आज से पचास पचपन बरस पहले, अब तो पहाड़ी का बहुत सा हिस्सा कट चुका है। पहले उस समय जहाँ बस्ती के बीच जगह-जगह ग्रेनाइट की धूसर काली चट्टानें जहाँ तहाँ छोटे बड़े ढेरों के रूप में नज़र आ जाती थीं। अब तो मुख्य पहाड़ी ही कई जगहों पर ग्रेनाइट पत्थरों के लिए कट चुकी है। उसके बहुत बड़े हिस्से में ऊपर तक अतिक्रमण हो चुका है , लोगों ने मकान बना लिए हैं। प्रकृति का अनछुआ और

मन मोह लेने वाला सौन्दर्य लगभग नष्ट हो चुका है। ऊपर बने मकानों तक पहुँचने के लिए पत्थरों को काट-काट कर आड़ी तिरछी , ऊँची नीची सीढ़ियाँ और बे-ढब , बेतरतीब रास्ते बना लिए गए हैं। बहुत सा अतिक्रमण हटाया भी गया है। प्लांटेशन भी किया गया है। फिर भी बहुत कुछ कार्य बाक़ी है। जहाँ कार्य किया गया है , वह भी अब अनदेखा सा पड़ा है। पहाड़ी के किनारे-किनारे 'सूपाताल' के सामने के हिस्से में जो फुटपाथ बनाया गया है , उसपर जबलपुर के अन्य हिस्सों – इलाकों की तरह ठेले और छोटी-छोटी गुमटीनुमा दुकानें लगने लगी हैं। फुटपाथ पर दुकानें और उनके ग्राहक तथा उन ग्राहकों की गाड़ियाँ आधी सड़क पर क़ब्ज़ा जमाए रहती हैं। अचरज इस बात पर होता है – किसी को इस बात से या इस सबसे होने वाली परेशानियों से कभी कोई परेशानी नहीं होती।

बहरहाल इस बात को यहीं छोड़ देते हैं। अपनी बात का सिरा वहीं से पकड़ते हैं जहाँ हमने छोड़ा था। यानी, हम उन दिनों जब भी समय मिलता अक्सर मदन महल की काली धूसर लगभग गोलाकार चट्टानों के बीच पहुँच जाते थे। यह सिलसिला आरम्भ हुआ था हमारे नौवीं कक्षा में पहुँचने के बाद। तब हम वास्तव में चौदह पंद्रह बरस की वय में पहुँच चुके थे। हमने स्वयं अपने सामने अपनी पहचान बनानी शुरू कर दी थी। अपनी पोशाक पहनावे का ध्यान रखने लगे थे। ये भी महसूस करने लगे थे कि अपने परिवार और दोस्तों से अलग हमारी एक स्वतंत्र पहचान भी है। अपनी इस पहचान को बनाने में सभी अपनी-अपनी तरह से लगे हुए थे। हालाँकि बीच-बीच में कोई बड़ा डपट भी देता था और मोहल्ले पड़ोस के बड़े (भैया टाइप के) लोग अपनी-अपनी तरह से फब्तियाँ कसते या नागवार किस्म की सलाहें भी राह चलते थमा देते थे। कुछ तो नाराज़ भी हो जाते अपनी नाराज़गी व्यक्त करने से वे कभी नहीं चूकते थे। ख़ासकर जिस वक़्त आप अपने हिसाब से जान पहचान वालों और वालियों के बीच अच्छी बैटिंग कर रहे होते तो ये स्टंपिंग करके या आपको रन आउट करके बड़ा सुकून पाते थे। इसके बाद इनका काम ख़त्म हो जाता ये अपने मैदान की ओर चल देते हमें जलता , भुँजता , सुलगता छोड़कर।

जब भी हम दिन में जाते , वह अक्सर दोपहर का समय होता था । काली-काली विशालकाय चट्टानों के बीच ऊपर चढ़ती पगडंडियों, बेहद संकरे कँकड़ीले और छोटे पत्थरों से भरे फिसलन भरे रास्तों पर ऊपर चढ़ते जाते । राह में कोई साफ़ सुथरी खोहनुमा संरचना मिल जाती तो कुछ देर आराम कर लेते और फिर ऊपर चढ़ने लगते या फिर उसी जगह अपना पड़ाव डाल देते।



मदन महल की पहाड़ियाँ मेरे लिए केवल ऊँची-ऊँची चट्टानों का ढेर कभी नहीं थीं - न तब, न अब.
वे मेरे भीतर के किसी ख़ामोश हिस्से की तरह थीं, जहाँ मैं खुद से मिला करता था।

आज चालीस – पैंतालीस साल बाद बहुत कुछ बदल चुका है ।
वक़्त ने शहर की शक्ल बदली, रास्तों के नाम बदले, लोगों के चेहरे भी।
पर एक चीज़ है जो आज भी वैसी ही ठहरी हुई है -
मेरे दिल में उन पहाड़ियों के लिए बसी हुई मोहब्बत।

वो मोहब्बत न समय से थकी है, न दूरी से फीकी पड़ी है।
वो आज भी उसी मक़ाम पर क़ायम है -
जैसे किसी पुराने पेड़ की जड़ें,
जो ज़मीन के भीतर चुपचाप और गहरी होती जाती हैं।

उनके बीच चलते हुए अक्सर लगता था, जैसे मैं किसी और ही समय में चला आया हूँ , जहाँ शब्द कम पड़ जाते हैं और ख़ामोशी अपने आप कुछ कहने लगती है ।

अब, इतने सालों बाद, जब सब कुछ बदल चुका है,
उन पहाड़ियों की याद एक हल्की-सी धूप की तरह भीतर ठहर जाती है ।
न पूरी तरह उजली, न पूरी तरह धुँधली ।

मैं सोचता हूँ, क्या सचमुच वे पहाड़ियाँ वैसी ही हैं,
या यह सिर्फ़ मेरी स्मृति है, जो उन्हें वैसा बनाए रखना चाहती है ?

शहर में बहुत कुछ बदल गया, रास्तों ने नया रूप ले लिया; मकान बिल्डिंग बन गए बाज़ारों में पुरानी दुकानों की जगह बड़े स्टोर्स बन गए, कुछ मॉल भी बन गए और भी बहुत कुछ। पर वह एक कोना, जो उन पहाड़ियों से जुड़ा है,आज भी मेरे भीतर वैसा ही है।
जैसे कोई अधूरा वाक्य,
जिसे समय की इतनी लम्बी यात्रा भी पूरा नहीं कर पाई।

मदन महल की पहाड़ियाँ मेरे लिए एक तरह से मेरा आईना थीं - जहाँ मैं अपने आप को बिना किसी बनावट के देख सकता था उन पहाड़ियों का आकर्षण आज भी मुझे अपनी तरफ़ खींचता है।

यह अजीब है, क्योंकि अब वहाँ लौटना भी वैसा नहीं रहा , अब मैं सत्तर साल का एक बूढ़ा घिसा-पिटा , टूटा-फूटा व्यक्ति हूँ। वे पहाड़ियाँ वही हैं और वहीं हैं, जबकि मैं पचपन साल आगे बढ़ आया हूँ। अब मैं वैसा नहीं रहा, जो उन पर पहले की तरह दौड़-दौड़ कर चढ़ सके मेरी ताक़त को समय ने धीरे-धीरे पी लिया है, लेकिन इन काली चट्टानों की मज़बूती बदस्तूर अब भी वैसी की वैसी है।

मैं उन्हें आज भी उतने ही प्यार से , उतनी ही चाहत से और शिद्दत से देखता हूँ – ये चीज़ अलबत्ता बिलकुल नहीं बदली मुझे लगता है। शायद मेरे भीतर इस एक चीज़ की मिक़दार पहले से भी ज़्यादा बढ़ गई है

फिर भी, यह स्वीकार करना पड़ता है -
कि कुछ रिश्ते जगहों से नहीं,
हमारे अपने भीतर के किसी हिस्से से बनते हैं।
और वे हिस्से इतनी आसानी से नहीं बदलते, बल्कि हर पल और मज़बूत होते जाते हैं।

ये पहाड़ियाँ, जैसे मेरे भीतर के किसी ऐसे हिस्से का विस्तार थी , जहाँ मैं बिना किसी भूमिका के, बस अपने साथ होता था।

उनके बीच से गुज़रते हुए कई बार लगा था कि मैं कहीं पहुँच नहीं रहा,
बल्कि लौट रहा हूँ - अपने ही भीतर के किसी भूले बिसरे कोने में।

आज, इतने बरस बाद,
जब उस समय को छूने की कोशिश करता हूँ -
तो समझ में आता है !
कि कुछ जगहें बाहर नहीं, भीतर बसती हैं।
और जब वे भीतर बस जाती हैं,
तो वक़्त भी उन्हें सिर्फ़ छू सकता है,
बदल नहीं सकता

वो जैसे स्मृति की जड़ें हैं -
और जब जड़ें गहरी होती हैं, तो शाखाएँ अपने समय पर, बिना ज़ोर डाले, उगती हैं।

स्मृतियाँ शायद , बस याद कर-कर के अपने भीतर ही जिए जाने के लिए होती हैं।
किसी दोपहर की तीखी चिलचिलाती रोशनी,
किसी चट्टान पर अचानक हथेली छू जाने पर ताप की छुअन,

या फिर साफ़ सुथरे तारों भरे आसमान के नीचे इन काली चट्टानों का ठंडा स्पर्श।
दूर से आती ढोलक की संगत के साथ किसी लोक गीत की आवाज़।

□□

जबलपुर की मदन महल की पहाड़ियाँ भूवैज्ञानिक रूप से बेहद प्राचीन हैं, पहाड़ियाँ केवल पत्थरों का जमाव नहीं हैं, वे समय की सबसे पुरानी स्मृतियों में से एक हैं। इनका जन्म उस काल में हुआ था, जब पृथ्वी स्वयं अपनी आकृति गढ़ रही थी - आर्कियन युग में, लगभग 250 करोड़ वर्ष पहले।

आर्कियन युग की ये पहाड़ियाँ मुख्य रूप से ग्रेनाइट से बनी हैं। ये चट्टानें पृथ्वी की गहराई में मैग्मा के धीरे-धीरे ठंडा होने से बनी थीं, जो बाद में प्राकृतिक क्षरण और कटाव के कारण सतह पर आ गईं। इनकी चट्टानें मुख्य रूप से ग्रेनाइट और अन्य

इन्ट्रूसिव इग्नियस रॉक्स या (अंतःक्षेपी आग्नेय शिलाएँ) धरती की गहराइयों में धीरे-धीरे ठंडे होते मैग्मा की कहानी कहती हैं।

'मैग्मा' जो कि पृथ्वी के नीचे एकत्र पिघला हुआ पत्थर होता है, यदि यही पिघला पत्थर ज्वालामुखी के रूप में फूटकर धरती की सतह पर आ जाता है तो 'लावा' कहलाता है।

फिर सदियों नहीं, अनगिनत युगों तक हवा, पानी और धूप ने इन्हें छुआ, तराशा, और आज जो गोल गोल कहीं-कहीं दबे पिचके , लम्बे ऊँचे, चपटे पर फिर भी अंततः गोलाकार एक दूसरे पर संतुलित, एक दूसरे के सहारे, एक दूसरे से लिपटे चिपटे पत्थर हम देखते हैं - वो दरअसल प्रकृति की लंबी साधना का परिणाम हैं।

यहाँ की ये सुडौल- बेडौल , अनगढ़ सी दिखतीं पर विशाल मोतियों जैसे तराशी हुई, गोलाकार चट्टानें और "बैलेंसिंग रॉक" प्राकृतिक अपक्षय या मौसम के कारण होने वाले क्षरण और कटाव का परिणाम हैं, जो सदियों की प्राकृतिक प्रक्रियाओं से इस अनोखे आकार में ढल गए हैं।

बैलेंसिंग रॉक्स तो जैसे चमत्कार और समय के धैर्य की मूर्तियाँ हैं - जैसे कोई अदृश्य हाथ उन्हें अब भी थामे हुए हो। सबसे प्रसिद्ध 'बैलेंसिंग रॉक' देखने पर तो लगता है; हम बस उसे छू भर दें और वह लुढ़क जाएगी , लेकिन कितना भी ज़ोर लगाओ टस से मस नहीं होती।

प्रकृति कितनी शक्तिशाली और आश्चर्य जनक है।



इन पहाड़ियों का केवल भूगर्भीय महत्व ही नहीं है बल्कि वे ऐतिहासिक रूप से भी महत्वपूर्ण हैं।

करोड़ों साल पुरानी इन पहाड़ियों पर ही बना है 'मदन महल किला'।

हालाँकि ये किला इन पहाड़ियों के बनने के काफ़ी बाद में बना -

सिर्फ 900 साल पहले , 11वीं शताब्दी (लगभग 1100-1116 ईस्वी) में गोंड राजा 'मदन सिंह' द्वारा इस किले का निर्माण कराया गया था।

यह किला मुख्य रूप से एक सैन्य चौकी और निगरानी केंद्र के रूप में उपयोग किया जाता था एक प्रहरी की तरह, जो दूर-दूर तक निगाह रख सके।

बाद में, यह महान गोंड रानी दुर्गावती के शासनकाल का भी प्रमुख केंद्र रहा और यही किला रानी दुर्गावती के साहस और स्वाभिमान का साक्षी बना।

इस तरह, जहाँ पहाड़ियाँ करोड़ों वर्षों की ख़ामोश विरासत हैं, वहीं किला मानव इतिहास के कुछ शताब्दियों का उजला हस्ताक्षर है। जब मैं मदन महल की पहाड़ियों की ओर देखता हूँ , तो मुझे केवल पत्थर नहीं दिखते -
मुझे समय दिखाई देता है।
इतना पुराना , कि शब्द भी उसके सामने नए लगते हैं।

मैं पहले ही बता चुका हूँ , ये पहाड़ियाँ करोड़ों साल पुरानी हैं -
धरती के उस आरंभिक समय की, जब सब कुछ बन रहा था , धीरे-धीरे, भीतर ही भीतर।

पर मेरे लिए . . .
ये पहाड़ियाँ बस उतनी ही पुरानी हैं,
जितनी मेरी पहली स्मृति।

मुझे याद है -
उन ऊँचे-ऊँचे पत्थरों पर चढ़ते हुए,
कैसे एक अजीब-सी आज़ादी महसूस होती थी।
जैसे मैं ज़मीन से थोड़ा ऊपर उठ गया हूँ।
और दुनिया थोड़ी छोटी हो गई है।

ये एक दूसरे से लिपटी , एक दूसरे को सहारा दिए हुए अच्छे और सच्चे दोस्त की तरह एक दूसरे से बातें करतीं और उनकी बातें कभी पूरी ही नहीं होतीं। दोस्तों की बातें कभी भी पूरी नहीं होतीं। लेकिन हम इंसान ही हैं जो इस बात पर सबसे कम तवज्जोह

देते हैं मदन महल पहाड़ी पर कटी टूटी , आधी अधूरी ढेरों चट्टानें यहाँ वहाँ बड़ी संख्या में अब नज़र आती हैं। जैसे किसी युद्ध के मैदान में लड़ाई ख़त्म होने के बाद कटे फटे अंगों के साथ मर चुके सिपाही। मदन महल की पहाड़ियों का कितने प्रतिशत हिस्सा इस तरह से हमारी लालच , हबस का शिकार हो चुका है – मेरे पास इसका कोई आँकड़ा उपलब्ध नहीं है। पर जो दिखलाई पड़ता है वह उदास होने , शर्मसार होने के लिए काफ़ी है। पर काश इस तरह सभी सोचते।

एक और बात , जो ढेरों मकान पहाड़ी पर जहाँ तहाँ , नीचे ऊपर बन गए हैं उन्होंने प्रकृति के अछूते और अबोध सौन्दर्य को बुरी तरह निर्ममता से मसल दिया है। और ऐसा होने का , होने देने का और हुआ रहने दिए जाने के कारणों को सब जानते हैं। उन कारणों पर बातें करने लगूँगा तो बात भटक जाएगी। इसलिए वापस उन्हीं काली चट्टानों के पास चलते हैं।

पहाड़ी जितनी भी जैसी भी बची है , अभी भी बहुत बड़ी है। ये बचे हुए हिस्से अब भी वैसे ही ख़ूबसूरत हैं। उतने ही जितने तब थे, जिस समय का मैंने ऊपर ज़िक्र किया है।
आज भी बहुत कुछ वैसा ही है।

समय से अछूती कई बहुत सारी चट्टानें अभी भी बची हुई हैं। उतनी ही पुर-कशिश और हसीन, हैरत-अंगेज़ और ताज्जुब-खेज़ तरीक़े से एक के ऊपर एक संतुलन बनाए। आज भी अपनी-अपनी जगह स्थिर हैं। उनके बीच की दरारों में उगे हुए छोटे बड़े पेड़ , झाड़ियाँ , लताएँ , पेड़ों की नई पुरानी और बहुत पुरानी जड़ें जो कसमसा कर बाहर निकल आई हैं। काई और पानी के कत्थई , काले निशान सब जैसे उनका श्रृंगार और आभूषण हैं।

कभी-कभी लगता है ये अडिग , संतुलित और मज़बूत चट्टानें, सिर्फ़ पत्थर नहीं हैं – प्रकृति के उसकी अपनी भाषा में लिखे हुए वेद , पुराण हैं , जिन्हें हम चाहें तो पढ़ सकते हैं ! पर यदि चाहें तो !! यही तो सब से कठिन काम है।



और इन्हीं काली चट्टानों के बीच कहीं -
मदन महल का किला खड़ा है,
इतिहास की तरह नहीं, एक खामोश गवाह की तरह !!

जब मैं आज, इतने वर्षों बाद,
उन पहाड़ियों को याद करता हूँ , तो लगता है वहाँ कुछ भी नहीं बदला सिवाय मेरे !!

वो चट्टानें अब भी वहीं हैं,
वही हवा, वही चढ़ती-ढ़लती धूप !

वही चढ़ाईयाँ , वही ढ़लानें !!

वही आड़ी तिरछी कँकड़ीली रेट पत्थरों से भरी पटी ऊपर चढ़ती नीचे उतरती पगडंडियाँ।

लेकिन अब हम सभी दोस्त उस सरीखे समूह में नहीं रहे – जो समूह हँसता गाता ठहाके लगाता वहाँ महीने में कई-कई बार पहुँच जाता था हर किसी के पास उसकी अपनी कोई बात होती , कोई क़िस्सा होता , कोई गप होती , कोई गुदगुदाता सा स्वप्न होता था सब साथ-साथ सुनते सुनाते हँसते हँसाते पर अब अकेले उन काली चट्टानों को देखने जाना दुष्कर हो चुका है -शारीरिक और मानसिक दोनों तरह से।

अब समझ आता है कि तब जाने का कोई सीधा-सीधा मकसद नहीं होता था और अब , अब जाना ही एक मकसद बन जाता है ऐसा नहीं कि मैं अब वहाँ बिलकुल ही नहीं जाता , जाता हूँ पर दुर्गम चढ़ाइयाँ चढ़ना मेरे लिए दुरूह सा हो गया है कुछ उम्र की वज़ह से और कुछ एक्सीडेंट्स होने से मेरे पैरों में लगी चोटों के कारण भी जहाँ तक जा पाता हूँ , चला भी जाता हूँ साथ में मेरे 'साहिल' होता है , पच्चीस छब्बीस बरस का युवक ; जो मेरी गाड़ी चलाता है।

अब ये पहाड़ियाँ हम सभी की यादों में पल बढ़ रही हैं। जब कभी इन दोस्तों से गाहे-बगाहे फ़ोन पर बात होती है तब बातों के बीच सहसा कहीं से किसी कोने से निकलकर सामने आ जाती हैं।

एक समय के बाद हमसे जुड़ी जगहें, जहाँ होती हैं वहाँ तो रहती ही हैं हमारे भीतर भी बन जाती हैं
वो हमारे भीतर बस जाती हैं हमेशा के लिए।



चलते-चलते सहसा याद आ गया - और चूँकि भूल न जाऊँ , और कि कहीं बहुत आगे निकल गया तो फिर बात बेतुकी न लगे , इसलिए अभी ही बताए देता हूँ।

एक बहुत अद्भुत व्यक्ति - 'ओशो' की कहानी में भी ये काली चट्टानें , पहाड़ियाँ और मदन महल बहुत ख़ास तरह से मौज़ूद हैं।

मैं यहाँ ओशो की बात क्यों कर रहा हूँ ?

बताए देता हूँ - जिस समय काल की बातें मैं कर रहा हूँ उसी काल खंड में मेरा परिचय ओशो से हुआ था। व्यक्तिगत रूप से नहीं, उनकी कुछ पुस्तकें मुझे पढ़ने मिली थीं। मेरे मोहल्ले में रहने वाले मेरे एक मित्र दिनेश जैन-'अन्नू' के बड़े भाई 'निर्मल जैन' ओशो अमृत धाम- जबलपुर से जुड़ गए थे, उन्होंने संन्यास भी ले लिया था। वे जबलपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में गणित विभाग में व्याख्याता थे। उनके पास ओशो की किताबें थीं, जो मैंने अन्नू से पढ़ने के लिए माँगी थीं। मैं वे किताबें पूरी तो नहीं पढ़ पाया था पर जितना जो कुछ भी पढ़ा। वह अद्भुत था और मुझे ओशो के आकर्षण में बाँधने के लिए पर्याप्त था। मैं उनके किसी आश्रम में कभी नहीं गया। न ही किसी तरह का संन्यास लेने जैसा कुछ कभी किया परन्तु ओशो के प्रति आकर्षण और मानवता के लिए किये गए उनके महत्वपूर्ण कार्य को मैंने पूरी ईमानदारी के साथ नमन किया, प्रभावित हुआ, उनका लिखा और कहा - बहुत पढ़ा और सुना भी मेरा मानना है मेरे अपने जीवन दर्शन और दुनिया देखने समझने की मेरी काबिलियत को उनके लेखन और प्रवचनों ने बहुत अच्छी तरह से तराशा और सँवारा है।

'ओशो' ने जो कार्य किया है मैं अब तक उससे बहुत बहुत मुतअस्सिर हूँ। उन्होंने हमारे सारे के सारे आध्यात्मिक ज्ञान को आज के सन्दर्भ और भाषा में व्याख्यायित किया है। एक तरह से हर उस मार्ग का नक्शा हमारे लिए तैयार कर दिया जो भी मार्ग

हमारे ही भीतर बैठे, ‘उस’ तक पहुँचता है। यह अद्भुत और इस क्षेत्र में किसी भी बड़े से बड़े काम से बड़ा काम है। उनका कहा अब उनकी आवाज़ में और छपी हुई पुस्तकों में सभी के लिए उपलब्ध है , जो भी उसे पाना चाहे।

इसीलिए मदन महल की पहाड़ियों का मैं ज़िक्र करूँ और ‘ओशो’ का नहीं तो बात पूरी नहीं होगी उनके बारे में आगे जब ज़रुरत महसूस होगी – निश्चित ही उनकी बात होगी पर अभी इतना बताना तो बनता है-

-जबलपुर में गुज़ारे उन क़रीब दो दशकों के दौरान, आचार्य रजनीश जिन्हें दुनिया अब 'ओशो' के नाम से जानती है, का मदन महल की पहाड़ियों से एक बेहद ख़ामोश और रूहानी रिश्ता रहा है।

1950 के दशक के उस धुंधलके में, रजनीश, मदन महल रोड के किनारे एक छोटे से किराये के कमरे में रहा करते थे। वह अक्सर उन पहाड़ियों के बीच बने एक ऐसे मकान में चले जाते, जिसे लोग 'हवेली' कहते थे - सुनसान, उदास और रहस्यमयी वहाँ पहाड़ों के साये में वे उस चुप्पी को सुनते जो अक्सर प्रकृति के बेहद करीब रहने वालों को ही सुनाई देती है।

वह एक ऐसा वक्त था जब मदन महल की इन पथरीली ढलानों और एकांत के बीच रजनीश ने अपने भीतर के सन्नाटे को पहचाना था।

मदन महल की पहाड़ियों और देव ताल का वह इलाका उनके लिए महज़ भूगोल नहीं था वहाँ की ग्रेनाइट की चट्टानों पर बैठकर वे घंटों ध्यान में डूबे रहते उन पहाड़ियों की प्राचीनता जैसे उनके भीतर की किसी पुरानी याद को जगा देती थी।

ओशो ने अक्सर उन गोंड राजाओं के किले और मदन महल की उस बुर्ज का ज़िक्र किया है , जो एक विशाल चट्टान पर संतुलन बनाए हुए खड़ी है उनके लिए वह पत्थर महज़ पत्थर नहीं, बल्कि समय की एक ठहरी हुई गवाही थी।

आज भी मदन महल की पहाड़ियों की ओट में बना 'ओशो अमृत धाम' उसी पुराने दौर की याद दिलाता है, जहाँ एक महान दार्शनिक ने एकांत और भीड़ के बीच का फासला मिटाया था।

इसकी स्थापना ओशो के बचपन के मित्र स्वामी आनंद विजय ने की थी। ओशो ने स्वयं स्वामी आनंद विजय से जबलपुर की इन 'काली चट्टानों' (मदन महल की पहाड़ियों) के बीच एक आश्रम बनाने का आग्रह किया था। हालांकि आश्रम का औपचारिक और आधुनिक स्वरूप बाद के वर्षों में विकसित हुआ, लेकिन देव ताल के इस क्षेत्र में ओशो की सक्रियता और उनके अनुयायियों का जमावड़ा 1970 के दशक से ही शुरू हो गया था, जब ओशो ने जबलपुर छोड़कर मुंबई और फिर पुणे का रुख किया था।

इसे ओशो की उस दृष्टि को साकार करने के लिए बनाया गया था, जहाँ लोग प्रकृति के करीब रहकर ध्यान और मौन का अनुभव कर सकें।

यह आश्रम महज़ पत्थरों की कोई इमारत नहीं, बल्कि उस पुरानी दोस्ती और रूहानी वादे का एक जीवंत अवशेष है जो रजनीश ने कभी इन पहाड़ियों की ओट में अपने साथी से किया था।

आज यह स्थान 'ओशो अमृत धाम' के नाम से जाना जाता है, जहाँ दुनिया भर से लोग ओशो की ऊर्जा का अनुभव करने आते हैं।



मदन महल की पहाड़ियों में त्रिपुरी चौक के समीप स्थित आज के 'महिंद्रा एंड महिंद्रा शोरूम' के ठीक सामने सड़क पार स्थित दरगाह का नाम 'हज़रत पीराने पीर दस्त गीर' की दरगाह है। जिसे 'हज़रत गौस पाक दरगाह' भी कहा जाता है।

माना जाता है, लगभग 300 साल पहले बग़दाद शरीफ से लाए गए पवित्र स्मृति चिह्न यहाँ रखे गए थे।

इस याद में एक बहुत गहरी, धीमी रोशनी है - जैसे किसी पुराने आँगन में कोई छोटा सा मिट्टी का दीया अब भी टिमटिमा रहा हो, बिना शोर के, मगर पूरे यक़ीन के साथ।

इस याद को थोड़ा तराशकर, उसी आत्मीयता को बनाए रखते हुए यूँ लिखा जा सकता है -

हमारे मोहल्ले पश्चिमी घमापुर में, जहाँ मेरा बचपन और किशोरावस्था धीरे-धीरे आकार लेते रहे हमारी गली के दोनों सिरों पर मुहर्रम के दिनों में सवारियाँ रखी जाती थीं।
पहली , गली के सामने से गुज़रने वाली मुख्य सड़क के उस पार 'जीवन' की सवारी होती थी, और दूसरी, गली के अंतिम छोर के पास, 'गंगादीन' की।

दोनों सवारियाँ हिन्दू परिवारों द्वारा रखी जाती थीं। बचपन में यह अजीब नहीं लगता था…
बस एक दृश्य था, जो हर साल उसी तरह घटता था -बिना किसी सवाल के बाद में समझ में आया कि शायद वही सबसे असामान्य बात थी।
कि वहाँ कुछ भी असामान्य नहीं लगता था।

उन दिनों की तासीर आज से बहुत अलहदा थी।
जीवन और गंगादीन - दोनों के परिवार हिन्दू थे, पर उनके यहाँ मुहर्रम की सवारी पूरे नियम, श्रद्धा और अनुशासन के साथ सजती थी - जैसे यह किसी एक धर्म का नहीं, पूरे मोहल्ले के विश्वास का उत्सव हो जीवन और गंगादीन - दोनों के घरों में तैयारियाँ होतीं।
धागे, रंग, कपड़े, धूप की हल्की गंध-
और उन सबके बीच कुछ ऐसा, जिसे कोई नाम नहीं देता था,
पर जिसकी वजह से सब लोग वहाँ खिंचे चले आते थे।

मोहल्ले के लोग -
कोई काम से, कोई बिना काम के;
पर धीरे-धीरे सब उस तैयारी का हिस्सा बन जाते।

इस तैयारी में मोहल्ले का हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से शामिल होता था।
कोई हाथ बँटाता, कोई समय देता, कोई बस अपनी उपस्थिति से उस माहौल को पूरा करता।

और जब मुहर्रम की नौवीं और दसवीं तारीख़ की रात को ये सवारियाँ निकलतीं।
तो ऐसा लगता मानो पूरी गली एक साथ चल पड़ी हो।
न कोई भेद, न कोई दूरी -
बस एक साझा आस्था, जो कदमों की आहट में, ढोल की आवाज़ में, और आँखों की नमी में एक साथ बहती जाती थी।

ये सिर्फ़ घटना नहीं होती थी जो बाहर-बाहर से गुज़र जाए हम सभी इन घटनाओं के भीतर से गुज़रते थे। और इस पूरे घटते हुए समय का टुकड़ा हमारे भीतर से। हम भीतर की चुप्पी और बेजुबां हलचल से गुप-चुप बातें करते , उसे टटोलते।

उस वक़्त, जब सवारियों का जुलूस आगे बढ़ रहा होता , सब किसी पाकीज़ा डोर से बंधे हुए साथ-साथ बढ़ते। इस रास्ते पर, कोई फ़र्क मायने नहीं रखता था - न धर्म का ,न जाति का, न उम्र का बस सब साथ में होते थे।

और मैं…

मैं कई बार उन सवारियों के साथ गया हूँ - नंगे पाँव !
कभी 'जीवन' की सवारी के साथ,
कभी 'गंगादीन' की।

उस वक़्त नंगे पाँव चलना कोई निर्णय नहीं था।
सवारी के जुलूस में बिना चप्पल या जूतों के चलना पड़ता है ये मुझे बताया गया था।
बस जैसे सब चल रहे थे, मैं भी चल पड़ता था।
ज़मीन की ठंडक, कहीं-कहीं छोटे कंकड़,
और बीच-बीच में उठती हुई धूल -
ये सब रास्ते का हिस्सा थे,
जैसे बिना कहे - कुछ सिखा रहे हों।

मैं उन सबके बीच होता हुआ भी,
कभी-कभी खुद को थोड़ा सा अलग पाता था -
बस चुपचाप यह सब देखते हुए।

और उसी में मैं कहीं भीतर ही भीतर धीरे-धीरे बन भी रहा था। गढ़ा जा रहा था।
लेकिन उस तराशे जाने की प्रक्रिया से अनजान।

"हाँ ! ये बात बार-बार दिमाग में आती थी कि दुनिया कितनी सुन्दर है।"

सवारियाँ एक रात मदन महल दरगाह जातीं।
और दूसरी रात मदार टेकरी दरगाह। पहले कहाँ ? अब ये याद नहीं – थोड़ी खोज बीन करूँगा तो पता लग जाएगा, लेकिन यहाँ जो बात मैं कर रहा हूँ , उसके रंग रूप और अहसास पर उस जानकारी के होने न होने से फ़र्क नहीं पड़ेगा ।

उन रातों में वह जाना पहचाना रास्ता कुछ और ही हो जाता था।
चुपचाप चलती भीड़,
बीच-बीच में धीमी आवाज़ें,
और एक अजीब-सी थकान,
जो बोझ नहीं लगती थी।

दरगाहों पर ठहराव आता था -
जैसे यात्रा अपने ही भीतर थोड़ा रुककर खुद को देख रही हो।

फिर लौटना…
जब हम वापस मुड़ते,
तो रात अपने आख़िरी सिरे पर होती।

घर पहुँचते-पहुँचते
सुबह हो चुकी होती थी।
हल्की, धुँधली, जैसे अभी पूरी तरह जागी न हो।

और उस वक़्त,
थके हुए पैरों और उनींदी आँखों के बीच,
एक अजीब-सी शांति होती थी।
उस शांति का क्या अर्थ था , वह तब कभी समझ में नहीं आया ,

पर अब लगता है…

"वही शायद उस पूरी यात्रा का असली अर्थ था।"

जुलूस निकलने से पहले - लगभग आधा घंटा, कभी और ज़्यादा एक सवा घंटे तक, ढोल बजता रहता था। उसकी लय में नृत्य की मधुरता नहीं होती थी। बल्कि जैसे कड़कड़ाती हुई बिजली की गर्जना हुआ करती थी। जो धीरे-धीरे तीव्र होती जाती थी।

शुरू में वह बस एक आवाज़ होती।।।
फिर धीरे-धीरे, जैसे किसी अदृश्य जगह पर चोट करने लगती -
अंदर कहीं।

सवारी के सामने 'जीवन' खड़े होते -
वे उस वक़्त मेरे पिता की उम्र के रहे होंगे।
सवारी के ऊपर लगे नेज़े को देखते रहते एकटक, बिना पलक झपकाए
जैसे देख नहीं रहे हों। उसमें उतर रहे हों।

(मोहर्रम और कर्बला के संदर्भ में "नेज़ा" केवल एक हथियार नहीं, बल्कि गहरी प्रतीकात्मक स्मृति का हिस्सा है।

कर्बला की घटना इस्लामी इतिहास की वह त्रासद घड़ी है, जब हज़रत इमाम हुसैन और उनके साथियों ने अन्याय के विरुद्ध लड़ते हुए शहादत दी। उस युद्ध में तलवारों, भालों और नेज़ों का प्रयोग हुआ था। बाद में मोहर्रम की शोक-परंपराओं में नेज़ा उसी संघर्ष, साहस और शहादत का प्रतीक बन गया।

भारतीय उपमहाद्वीप में, विशेषकर छोटे शहरों और कस्बों में, मोहर्रम के जुलूसों में जो "सवारी" निकलती है, उसके आगे या साथ जो लंबा लोहे का दंड या भाला-जैसी आकृति रहती है, उसे प्रायः "नेज़ा" कहा जाता है। कई जगहों पर उसके ऊपरी हिस्से पर चाँद, अलम, या धार्मिक निशान भी लगे होते हैं।

यह नेज़ा कई अर्थों को अपने भीतर समेटे रहता है-

इमाम हुसैन की शहादत की याद,

अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का साहस,

आध्यात्मिक जागरूकता और निष्ठा,

शोक और सम्मान।

मध्य भारत के अनेक मोहल्लों में, नेज़ा केवल धार्मिक वस्तु नहीं रह जाता था। वह सामूहिक आस्था का केंद्र बन जाता था। ढोल की थाप, धूप-अगरबत्ती की गंध, और नेज़े पर टिके हुए लोगों की एकटक आँखें - पूरा दृश्य किसी लोक-ध्यान जैसा प्रतीत होता था।

विशेष बात यह भी है कि लोक परंपरा में "नेज़े पर नज़र जमाना" या उसके सामने ध्यानमग्न खड़े रहना केवल अनुष्ठान नहीं माना जाता; लोग उसे भीतर की तल्लीनता, श्रद्धा और आत्मिक जुड़ाव से जोड़कर देखते हैं। इसलिए कई बार सवारी के आगे खड़े व्यक्ति की मुद्रा साधक जैसी लगती है - जैसे वह बाहरी दुनिया से कुछ देर के लिए कट गया हो।)

□□

उनके आसपास दो-तीन युवक खड़े रहते -
चुप, सतर्क किसी अनकहे संकेत की प्रतीक्षा में -

चारों ओर लोबान का घना धुआँ फैल जाता।
उसकी गहरी गंध आस पास तैरने लगती , साँस लेते हुए लगता , कुछ भीतर समा रहा है।

बीच-बीच में कुछ स्वर उठते -
अस्पष्ट – अस्फुट
जैसे कोई प्रार्थना , कोई पुरानी स्मृति।
जो शब्द बनने से पहले ही टूट जाती हो और बिखर कर उस जगह पहुँच रही हो जहां उसे पहुँचना हो।

ढोल की आवाज़ और तेज़ होती जाती।
और फिर अचानक -

जीवन की आँखें जैसे पलट जातीं !
शरीर एक क्षण के लिए अकड़ता !!
और उसी क्षण, आसपास खड़े युवक उन्हें थाम लेते।

उनके हाथों में मोरछल दे दी जाती।

अब वे पहले जैसे नहीं रहते –

ऐसा लगता वे अब 'जीवन' नहीं रहे होते -
वे कोई और ही हो जाते या फिर जैसे कोई और उनके भीतर आ गया हो ;
या वे खुद कहीं और चले गए हों।

उनकी आँखों की सफेदी – अब और ज़्यादा शिद्दत के साथ
नेज़े पर टिकी होती -
एक अजीब-से सम्मोहन में जकड़ी हुई।

वे झूमने लगते -
आगे, पीछे, दाएँ, बाएँ -
जैसे शरीर किसी और ही दुनिया की अनजानी लय में बंध गया हो।

लोग कहते-उन्हें 'हाल' आ गया है।

(लोकभाषा में जब लोग कहते हैं कि किसी पर "हाल आ गया", तो उसका अर्थ होता है - व्यक्ति का गहरे भावावेश, तल्लीनता या रूहानी अवस्था में प्रवेश कर जाना। यह कोई औपचारिक धार्मिक सिद्धांत नहीं, बल्कि लोक-आस्था और सूफ़ियाना संवेदना से जुड़ी अनुभूति है। व सामान्य चेतना से कुछ अलग अवस्था में दिखाई देते हैं। उनकी आँखें बदल जाती हैं, शरीर काँपने लगता है, वे तेज़ी से झूमने लगते हैं, कभी रो पड़ते हैं, कभी नेज़े या अलम के सामने एकटक खड़े हो जाते हैं। इसे ही आम बोलचाल में "हाल आना" कहा जाता है।

ढोल की लगातार पड़ती थाप, "या हुसैन" की सदाएँ, धूप और लोबान की गंध, भीड़ की सामूहिक भाव-तरंग - सब मिलकर ऐसा वातावरण बना देते थे जहाँ व्यक्ति अपने भीतर की किसी गहरी परत से जुड़ता हुआ लगता था।

सूफ़ी परंपरा में "हाल" शब्द का अर्थ ही है - एक ऐसी रूहानी दशा जो अचानक दिल पर उतरती है।

वह स्थायी नहीं होती, लेकिन उस क्षण व्यक्ति खुद को किसी बड़ी अनुभूति से भरा हुआ महसूस करता है। मोहर्रम की लोक-संस्कृति में यही भाव धीरे-धीरे "हाल आने" के रूप में प्रचलित हुआ।

कई जगहों पर सवारी उठाने वाले या नेज़े के सामने खड़े लोग जब "हाल" में आते थे, तो आसपास के लोग उन्हें संभालते भी थे। इसे अभिनय नहीं, बल्कि श्रद्धा और भावनात्मक आवेग की सच्ची अवस्था माना जाता था।)

अब मोहल्ले की कुछ स्त्रियाँ और पुरुष एक-एक करके उनके सामने आते जिन्हें 'उस' ग़ैबी ताक़त से कुछ माँगना होता , दुनिया को चलाने वाली उस आसमानी ताक़त से कुछ उम्मीद होती।
कोई सिर झुकाता,
कोई कुछ बुदबुदाता - मन्नतें, इच्छाएँ, डर. . .

सब उस एक क्षण में समा जाते।

'जीवन' - या जो भी उस वक़्त उनके भीतर होता -
मोरछल उनके सिरों पर फेरते !
कभी हल्के से,
कभी अचानक ज़ोर से।

और अजीब बात -
जिसे जितनी ज़ोर से मोरछल मारी जाती वो उतना ही ख़ुश हो जाता , जैसे उसकी बात सुन ली गई हो।

जैसे यह भी उसी आस्था का एक हिस्सा हो। जिस भरोसे और विश्वास से वे वहाँ आए थे।

जब यह सब ख़त्म होता , तो सवारी उठाई जाती।

एक मज़बूत युवक -
गले में मोटे कपड़े की कई परतों वाली माला सरीखी पहने होता वह उस पर सवारी के निचले हिस्से को टिका लेता सवारी के ऊपरी हिस्से से एक मज़बूत और मोटी डोर बंधी होती , जिसका दूसरा सिरा पीछे किसी और के हाथ में होता और इस तरह सवारी का संतुलन बना रहता था।

और मैं . . .

मैं यह सब देखता रहता -
जैसे बाहर खड़ा हूँ, पर भीतर कुछ लगातार हिल रहा हो।

एक हल्का-सा डर (?)
एक खिंचाव !
और कई सवाल भी !!
जिन्हें उस वक़्त शब्द नहीं मिल रहे होते।

फिर जुलूस चल पड़ता -

“या हुसैन, या हुसैन”
“या अली, या अली”

आवाज़ें हवा में उठतीं, नारे गूँजते।
और ढोल वाले - अब सबसे आगे , उसी कड़कड़ाती लय में ढोल बजाते हुए चलते जाते।
सवारी, जीवन, उन्हें थामे हुए लोग . .
और उनके पीछे मोहल्ले के कई लोग

सब साथ-साथ चलते जाते . . .
पर हर कोई शायद अपने-अपने भीतर कुछ और ही ढो रहा होता

उस भीड़ में चलते हुए – मैं सिर्फ़ देख नहीं रहा होता
बहुत कुछ मेरे भीतर भी घट रहा होता था



ढोल पर लगातार पड़ने वाली डग्गा और तीली की चोटों से जो कड़कड़ाती ध्वनि
बाहर गूँज रही थी अब
धीरे-धीरे भीतर भी सुनाई देने लगती।
जैसे दिल की धड़कन ने उसका हाथ पकड़ लिया हो।

मुझे डर जैसा कुछ लगने लगता था।
पर वह सीधा, साफ़ साफ़ डर नहीं था।
न ही किसी ख़तरे का आभास ,
बल्कि जैसे किसी ऐसी चीज़ के करीब आ जाने की आहट होती थी।
जिसे मैं समझ नहीं पाता था , बहुत धुँधला सा आकार – बनता बिगड़ता। काग़ज़ पर जैसे पनीली स्याही से बनी अमूर्त आकृतियाँ , जो कुछ संकेत देते-देते खुद रास्ता भटक जाती थीं।

आज भी वह अनुभूति उतनी ही अबूझ बनी हुई है, जितनी तब थी। तब भी लगता था। हाँ ! कुछ-कुछ समझ में आ रहा है - पर फिर सब कुछ बिखर जाता समझ की डोर हाथ से छूट जाती। आज भी वैसा ही कुछ होता है कभी-कभी ; जब सब कुछ जान लेने की ज़िद में पीछे मुड़कर देखता हूँ; कुछ दूर तक रास्ता मिलता भी है , लेकिन अचानक लगने लगता है शायद किसी ग़लत मोड़ पर मुड़ गया हूँ। कभी - कभी यूँ भी होता है जैसे बस अब अगला कदम – और सब कुछ साफ़-साफ़ दिखलाई पड़ जाएगा। पर अगले ही पल सब कुछ ओझल हो जाता है। मैं वहीं का वहीं अपने आप को अवाक खड़ा पाता हूँ।

किसी पाषाण मूर्ति की तरह , जिसकी आकृति भले कितने ही भाव प्रकट कर पा रही हो , परन्तु क्या स्वयं कुछ महसूस करती है ?

'जीवन' की आँखें !!
उनकी पलटी हुई आँखों की सफ़ेदी
क्या उन प्रश्नों का उत्तर पा लेती हैं ?

मैं सोचता !
क्या सच में कोई और उनके भीतर आ जाता है ?

अगर ऐसा है तो उत्तर भी उसी बाहर से भीतर आने वाले को मिलते होंगे !
या वे खुद अपने भीतर किसी और जगह पहुँच जाते हैं ? अगर ऐसा है – तब क्या उस जगह की स्मृति उनके साथ बनी रहती है, बाद में भी। क्या उस जगह उन्हें कोई मिलता है, जो सारे प्रश्नों के उत्तर उन्हें देता है।
"यह सब क्या है ?"

इस सवाल का भी कोई जवाब नहीं मिल पाता था।
और फिर कब ये सवाल पीछे छूट गए, उम्र आगे बढ़ गई – न पता चला, न ही समझ में आया।

अब इस उम्र में बस इतना जान पाया हूँ कि हमसे जुड़ी बहुत सारी चीज़ें जानने की नहीं होतीं। ना ही वे सवाल हुआ करती हैं और इसीलिए उनके उत्तर भी नहीं होते। वे बस जिए जाने के लिए होती हैं; ज़्यादा से ज़्यादा सिर्फ़ महसूस करने के लिए , बस ? उस समय मैं जुलूस के साथ–साथ भी चल रहा होता था और उस पूरे के पूरे घट रहे पलों के बाहर भी होता था।

मेरा एक हिस्सा था - जो उस लय में बह जाना चाहता था।
और एक हिस्सा और था जो थोड़ी दूरी बनाकर देखना चाहता था , उसे जो घट रहा होता था।

मेरा वह हिस्सा जो उस होते हुए में बह जाना चाहता था – कब मुझसे अलग होकर बह गया पता ही नहीं चला। अभी भी कहीं बहाव में बह रहा है या किसी किनारे किसी

घाट लग गया, नहीं जानता। लेकिन दूसरा थोड़ी दूरी बनाकर चलने वाला हिस्सा अब भी मेरे साथ है, बल्कि बस वो ही मेरे साथ है।

अब शायद वही दूरी शब्द बन रही है।
इतने वर्षों बाद भी,
जब उन रातों को याद करता हूँ,
तो कोई एक साफ़ तस्वीर नहीं उभरती।

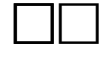
बस कुछ बिखरे हुए दृश्य –

लोबान का धुआँ, ढोल की कड़कड़ाती ध्वनि , जीवन का झूमता हुआ शरीर ,
और उनके बीच खड़ा मैं !!
जो पहली बार
अपने भीतर की अनदेखी अनजानी जगहों को टटोल रहा था।

और अंत में - जब सब थम जाता था, ढोल की तीखी आवाज़ें कहीं पीछे छूट जाती थीं , और "या हुसैन, या अली" की गूँज हवा में धीरे-धीरे घुल जाती थी -
मैं अपने पैरों की थकान से ज़्यादा, अपने भीतर की हलचल को महसूस करने लगता था।
मुझे तब भी ठीक-ठीक समझ नहीं आता था कि मैं क्या देखकर लौट रहा हूँ - एक जुलूस, एक आस्था, या अपने ही भीतर की कोई अनजानी परत !!
पर इतना साफ़ समझ पाता था -
कि उन रातों में मैं जितना बाहर चलता था,
उससे कहीं ज़्यादा अपने भीतर चल चुका होता था।

कभी-कभी . . . ये स्मृतियाँ कहीं जाती नहीं हैं,

बस शांत बैठी रहती हैं, हमारे लौटने का इंतज़ार करती हुईं।



इसी समय मैंने लगभग सौ पृष्ठों का एक लघु उपन्यास लिखा था - *"बिखरे–बिखरे"* ।

उपन्यास का शीर्षक जैसे अचानक नहीं आया था, बल्कि भीतर बहुत दिनों से जमा उन टुकड़ों से निकला था, जो उस समय तक जीवन ने अपने अलग-अलग खंडों में मेरे भीतर छोड़ दिए थे।

कुछ रिश्ते, कुछ अधूरी इच्छाएँ, कुछ अनकहे वाक्य, कुछ चेहरे - जो समय के साथ धुँधले तो पड़ गए थे, पर पूरी तरह कभी मिटे नहीं।

परंतु 'बिखरे-बिखरे' उस समय के लगभग वर्तमान और थोड़े से पिछले हिस्से का वृतांत था।

नहीं ! उस वृतांत का उस भाषा में तर्जुमा जो समझ में भी आए और उसका मतलब कुछ-कुछ अस्पष्ट भी हो। कुछ हिस्सा साफ़ साफ़ दिखाई दे और बहुत सारा हिस्सा धुंध में डूब हुआ।

उस उम्र में शायद हम सब भीतर से थोड़ा-बहुत बिखरे हुए ही होते हैं, बस हर कोई उसे स्वीकार नहीं कर पाता। मैंने पहली बार उस बिखराव को शब्द देने की कोशिश की थी।

कहानी के पात्र भले काल्पनिक रहे हों, पर उनकी उदासियाँ, उनकी बेचैनियाँ और उनके छोटे-छोटे सपने जीवन के बहुत वास्तविक कोनों से आए थे। या ज़्यादा सही ये कहना होगा कि ये सब कुछ जैसा मुझे दिखलाई पड़ रहा था।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है - वह केवल एक लघु उपन्यास नहीं था, बल्कि अपने ही भीतर फैले धुँधलके को समझने की एक शुरुआती कोशिश थी।

दरअसल वह किशोरावस्था का बेहद नाज़ुक समय था। जब अनुभूतियाँ अपना रंग रूप धीरे-धीरे बदलने लगती हैं। मेरे साथ भी बहुत कुछ वैसा ही हो रहा था। अपने आस पास होने वाली घटनाओं को मैं एक एकदम ही नई नज़र से देख रहा था। आस पास के लोगों के होने को भी अब मेरे भीतर नए आकार नए सरोकार मिल रहे थे। कुछ से जहाँ कुछ संकोच भरी दूरियाँ बन रही थीं , तो कुछ समीप आ रहे थे। कुछ

और भी ज़्यादा समीप बल्कि मेरे भीतर जीने लगे थे। लेकिन ये सब मैं किसी को उसी रूप में नहीं बता सकता था, जिस रूप में वो सब कुछ मेरे भीतर भटक रहा था। परन्तु मैं बिना बताए बेचैन भी हो रहा था। शायद इसीलिए बिना मेरी जानकारी में लाए। अस्तित्व ने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे रास्ता सुझाया। मैंने एक फुलस्केप पेपर के साइज़ के पन्नों वाला नोट्स रजिस्टर लिया और अपने आस पास के लोगों को अपने भीतर के संसार में लाकर उनसे बतियाने लगा। उन सबसे उस तरह से अपनी लेखनी में बोलने कहता , वैसा उनके मुंह से कहलवाता , उनके दिमागों को उस तरह से सोचने और फिर वैसा ही करने को कहता - जैसा मैं चाहता था। अब मेरे फुलस्केप पेपर के साइज़ के पन्नों वाले नोट्स रजिस्टर में ये सब लोग मेरे हाथों की कठपुतलियों की तरह वही करते जो मैं उनसे करवाता। पर पूरी तरह से मैंने उन्हें नहीं बदला था। बस नाम बदले थे। मैं जो कुछ भी उनमें देखता था - उसे अपनी तरह से थोड़ा घटा बढ़ा के , उसका रंग रूप अपनी चाहत के अनुसार ढाल के अपने उपन्यास के पात्रों में उँड़ेल देता था।

किसी की चुप्पी को थोड़ा और गहरा कर देता, किसी की मुस्कान में एक रहस्य जोड़ देता , किसी की आँखों में वैसी बेचैनी भर देता जैसी शायद मेरे भीतर थी। वे सब लोग बाहर की दुनिया में जैसे थे, उससे थोड़े अलग होकर मेरे काग़ज़ों पर रहने लगे थे - अधिक सच्चे, अधिक आत्मीय, और कई बार अधिक दुखी भी।

धीरे-धीरे वह रजिस्टर मेरे लिए केवल काग़ज़ों का पुलिंदा भर नहीं रह गया था।

वह एक ऐसी जगह बन गया था जहाँ मैं बिना डरे अपने भीतर की उलझनों को रख सकता था। और उन उलझनों को अपनी तरह से सुलझा सकता था , पहेलियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ हल कर सकता था। जहाँ प्रेम बिना नाम के मौजूद रह सकता था। जहाँ आकर्षण अपराध नहीं लगता था। जहाँ चाहत आराम से सबके बीच टहल सकती थी। जो अनचाहा हो रहा हो उसे विवश होकर सहन नहीं करना पड़ता था। अगर कुछ अच्छा नहीं लग रहा हो तो कुंठित होने कि आवश्यकता नहीं होती थी। अपनी उदासी को छिपाना नहीं पड़ता था। झूठी हँसी न चाहते हुए भी चेहरे पर चिपकानी नहीं पड़ती थी।

अब सोचता हूँ तो लगता है - किशोरावस्था दरअसल उम्र का नहीं, संवेदनाओं के पहली बार जागने का समय होता है।
दुनिया वही रहती है, पर उसकी रोशनी बदल जाती है।
पेड़, रास्ते, चेहरे, आवाज़ें - सबमें अचानक नए अर्थ उभरने लगते हैं।
और शायद लिखना उसी क्षण जन्म लेता है, जब मन के भीतर उमड़ती हुई बातों के लिए बाहर कहीं जगह नहीं बचती।

"बिखरे–बिखरे" शायद उसी पहली बेचैनी की संतान था।
एक ऐसा आईना, जिसमें मैं दूसरों को लिखते-लिखते अनजाने में स्वयं को पढ़ रहा था। दिलचस्प बात ये भी थी कि मैं स्वयं भी एक पात्र के रूप में वहाँ उपस्थित था। उन सब के बीच। साथ ही साथ मैं उन सबसे और स्वयं अपने बाहर भी मौजूद था।

लिखते हुए मुझे 'ईश्वर' होने का ख़याल भी आता था।

आस-पास घटने वाली छोटी-छोटी घटनाएँ भी अब भीतर कहीं देर तक बनी रहतीं। लोगों का साथ, उनका बोलना, चुप रहना, हँसना - सबका कोई दूसरा अर्थ खुलने लगा था। बाहर की दुनिया में कुछ लोग अनायास दूर चले गए थे। उनके और मेरे बीच एक हल्का-सा संकोच आकर खड़ा हो गया था और कुछ लोग इतने पास आ गए थे कि उनसे छुटकारा पाना मुश्किल था। वे बाहर कम, मेरे भीतर ज़्यादा रहने लगे थे। उनसे मैं छुटकारा पाना भी नहीं चाहता था। बल्कि चाहता तो ये था कि जिस तरह से वे मेरे भीतर रह रहे थे- उसमें और जिस तरह वे बाहर की दुनिया में रह रहे थे, उस के बीच कोई भेद न रहे। मैं उन्हें हर समय अपने साथ लिए घूमता था - सड़कों पर, स्कूल और कॉलेज के बरामदों में, रात की नींदों में भी।

अपने भीतर, उनकी चुप्पियों में मैं अपने वाक्य रख देता और उनके निर्णयों के पीछे अपनी इच्छाएँ। और उसे फिर शब्दों में बदल कर काग़ज़ पर उतार देता।

उन दिनों मैं एक साथ दो दुनियाओं में जी रहा था .

एक बाहर और एक भीतर जिसका ब्योरा साथ-साथ रजिस्टर में भी दर्ज़ हो रहा था।

जैसे उस भीतर जिए हुए को मैं हमेशा के लिए सुरक्षित कर देना चाहता था।



ये बात तो मैं पहले ही बात चुका हूँ , 'बिखरे-बिखरे' के पात्र किसी दूसरी काल्पनिक दुनिया से नहीं आये थे। वे उन्हीं दिनों की धूल, धूप और आवाज़ों से बने थे, जिनके बीच मैं तब जी रहा था।

अखिलेश, अनिल दुबे, अशोक दुबे, अनिल खरे, बिट्टी, कल्पना और उनके बीच कहीं मैं स्वयं।

कहानी वास्तव में कोई कहानी नहीं थी - बस इन कुछ चेहरों के आसपास धीरे-धीरे बहती हुई एक अस्पष्ट-सी अनुभूति थी। जैसे पहाड़ियों के बीच से गुजरती कोई पतली सी उथली नदी, जो कई जगह दिखाई देती है, कई जगह चट्टानों के पीछे ओझल हो जाती है, पर भीतर कहीं लगातार बहती रहती है।

उन दिनों शायद हममें से कोई भी यह नहीं जानता था कि हम एक-दूसरे के जीवन में कितनी दूर तक चले आए हैं। हम बस साथ थे -बिना किसी घोषणा के, बिना किसी निश्चित अर्थ के। बाद में जब मैंने उन्हें शब्दों में पकड़ना चाहा, तो लगा जैसे किसी पुराने कमरे में ठहरी हुई धूप को मुट्ठी में भरने की कोशिश कर रहा हूँ।

मैंने उन सबके नाम बदल दिए थे। शायद इसलिए नहीं कि उन्हें छिपाना था, बल्कि इसलिए कि समय के साथ लोग अपने नामों से अधिक अपनी स्मृतियों में बचते हैं। उन सभी में से एक 'नाम' को छोड़कर बाक़ी सबका ज़िक्र मैं *'आरंभ'* में कर चुका हूँ। जिन्होंने उसे पढ़ा है, वे इन चेहरों को पहचान लेंगे - जैसे बरसों बाद किसी सुनसान रास्ते पर अचानक कोई परिचित आहट सुनाई दे जाए।

बिखरे-बिखरे तो पूरी तरह बिखर के अस्तित्व के जाने किन अंतरों-कोनों में कहो गया है। परंतु जो लोग भी उसका हिस्सा थे, वे अब भी दूर-पास कहीं हैं। सिवाय एक उस 'नाम' के, जिसके कारण बिखरे-बिखरे अस्तित्व में आया था। वह 'नाम' अब बस एक शब्द है - एक हल्की-सी उदासी, एक धुँधली रोशनी या किसी बीत चुकी शाम की गंध की तरह भीतर तैरता हुआ।



अब एक और जगह की तरफ़ चलते हैं -
उन्हीं काली चट्टानों के बीच छुपी हुई एक ऐसी जगह, जो दिन के मुकाबले रात में ज़्यादा अपनी लगती थी।

अँधेरा उतर आने के बाद जब भी हम उधर जाते, तो अकसर 'देव ताल' के बाजू से निकलने वाला वही पुराना रास्ता चुनते। रास्ता आज भी है - हालाँकि अब वह भी थोड़ा बहुत बदल गया है। समय ने उसकी देह पर भी अपने हल्के-हल्के निशान छोड़ दिए हैं। कहीं मिट्टी खिसक गई है, कहीं झाड़ियाँ बढ़ आई हैं, और कहीं वह पहले से ज़्यादा चुप हो गया है। पहले जाते समय दाहिने हाथ की तरफ़ काली चट्टानें थीं, उनकी दरारों में उगी हुई झाड़ियाँ , छोटे बड़े पेड़ ऊपर को चढ़ते पगडंडी जैसे रास्ते हुआ करते थे। अब पहाड़ी के किनारे-किनारे दीवार उठा दी गई है। पहले जैसे ही हम उस रास्ते पर कदम रखते थे तो लगता था जैसे बस्ती अचानक कहीं बहुत पीछे छूट गई हो । और हम एक नई दुनिया में प्रविष्ट हो जाते थे। अब वैसी अनुभूति नहीं होती। पर मैं बातें तो उन दिनों की कर रहा हूँ, इसलिए उन्हीं दिनों में लौटते हैं-

उस रास्ते पर चलते , चढ़ते – उतरते हुए हम एक खुली जगह पर पहुँचते थे। वह न पूरा मैदान था, न केवल एक खाली टुकड़ा - बल्कि चट्टानों के बीच साँस लेती हुई कोई ठहरी हुई जगह थी। वहाँ काली-भूरी रेत दूर तक फैली रहती। रेत में छोटे-छोटे पत्थर भी बिखरे होते - कुछ एकदम काले, जैसे अभी-अभी अँधेरे से निकले हों; कुछ हल्के कत्थई; कुछ भूरे, कुछ पीलापन लिए हुए। ऐसा लगता मानो धरती ने अपने पुराने समय के बचे खुचे कुछ रंग वहाँ संभालकर रख छोड़े हों।

हम जाकर उसी रेत पर लेट जाते। पीठ के नीचे दिन भर की गरमी धीरे-धीरे ठंडी पड़ती हुई धरती, और ऊपर एक साफ़,धुला हुआ आसमान।

इतना साफ़ कि कभी-कभी लगता, जैसे आकाश कोई दृश्य नहीं, बल्कि एक गहरी ख़ामोशी है - जिसमें असंख्य तारे धीमे-धीमे जल रहे हैं। तारों का ये टिमटिमाता जलना बुझना वहाँ पसरे सन्नाटे को जीवंतता प्रदान करता था। कुछ देर तक तो हम में से कोई कुछ नहीं बोलता। सभी उस जगह की तिलिस्म में ख़ामोशी से अपने आप को छोड़ देते। मुझे लगता है कोई बिना किसी प्रतिरोध के उस फिज़ा में बहता, कोई निस्पंद

अकंपित जैसा पड़ा होता बस वैसा ही ठहर जाता समय के प्रवाह में। हवा चट्टानों से टकराकर आती और फिर बिना आवाज़ किए निकल जाती। कहीं दूर किसी कुत्ते के भौंकने की आवाज़, या देव ताल की तरफ़ से आती हुई नमी की हल्की गंध - बस इतना ही संसार रह जाता था।

कभी-कभी उन रातों में हम बहुत कम बोलते थे। यह शायद हमारी आपसी टेलीपेथिक समझ थी, हम बहुत देर तक इसी तरह पड़े रहते। अपने अपने भीतर की गुफ़ाओं में खुद को ढूँढते हुए। कभी किसी के हाथ कुछ ऐसा लग जाता जो वह सबसे साझा करना चाहता या फिर उसे उस चीज़ के बारे में कुछ पूछना होता। तब सन्नाटा भंग होता। कभी वैसे ही लेते हुए कभी पलटकर कोहनियों पर भार डालते हुए किसी रेप्टाइल की तरह सर उठाकर सवाल करता। और फिर बातों का सिलसिला आरंभ हो जाता।

यहाँ ये भी स्पष्ट करता चलूँ कि हर बार हम सीधे जाकर लेट जाते हों ऐसा भी नहीं था। कई बार कोई गुत्थी अगर अनसुलझी सी रह जाती तो यह स्थान उसे सुलझाने का बड़ी मुफ़ीद जगह हुआ करती थी। तब हम वहाँ जाकर गोलाकार में बैठ जाते, बातें होतीं , बहसें होतीं , सुझाव लिए दिए जाते। प्रायः गुत्थियाँ सुलझ ही जाती थीं। या फिर सभी की सहमति से उसके उस रूप को जैसे का तैसा अथवा सबसे ज़्यादा स्वीकार्य रूप में स्वीकार कर लिया जाता। उसके बाद कभी गुत्थी सुलझ जाने का जश्न किसी रेस्टोरेंट या ढाबे नुमा होटल में चाय पीकर मनाया जाता था। कभी हमारी जेबों में ज़्यादा पैसे होते तो आलूबंडा अथवा समोसा भी चाय में ऐड हो जाता।

इसी जगह पर एक बार देर शाम 'बिखरे-बिखरे' पर भी गोष्ठी हुई। बिखरे-बिखरे और उस गोष्ठी के बारे में इस पुस्तक के 'लिखने-पढ़ने' से तअल्लुक रखने वाले चैप्टर में बताऊँगा।

उस उम्र में शायद हम जीवन को समझते नहीं थे, केवल उसे महसूस करते थे। और अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है - उन काली चट्टानों, उस रेत और उन तारों के नीचे लेटे हुए हम किशोर लड़के नहीं थे; हम अपने भीतर पहली बार बनती

हुई उस ख़ामोशी के सहयात्री थे, जिसे बाद में लोग स्मृति, अकेलापन, या शायद आत्मा कहते हैं।



इन पहाड़ियों से जुड़ी एक और स्मृति है -

बहुत प्यारी , बहुत पाकीज़ा , जैसे किसी पुराने बंद कमरे का दरवाज़ा वर्षों बाद अचानक खोला जाए और उसका अंधेरा धीरे धीरे बहुत आहिस्ता आहिस्ता उजाले की चुनरी ओढ़े। फिर बहुत धीमे धीमे उस झिलमिलाती पुरानी चुनरी के पीछे कोई ख़ूबसूरत चेहरा उभरने लगे। उस स्मृति के पास पहुँचने से पहले मन अनायास ही ठहर जाता है, मानो उसे छूने में भी कोई हड़बड़ी नहीं होनी चाहिए।

-एक रोज़ देर शाम और रात के दरमियाँ वाले किसी समय, हम सब उसी रेत वाले टुकड़े की ओर जा रहे थे।

देवताल के बगल से निकलने वाला वह रास्ता तब लगभग सुनसान हुआ करता था। हम सब साइकिलों पर थे। मैं हमेशा की तरह अखिलेश या अनिल दुबे की साइकिल की पिछली सीट पर बैठा था। शायद इसी कारण उस रात मैं बाक़ी सबसे थोड़ा अलग, थोड़ा मुक्त था। मुझे न पैडल मारने थे, न हैंडल सँभालना था, न रास्ते की ऊबड़-खाबड़ सतह पर नज़र रखनी थी। मैं चुपचाप अपने भीतर उतरता जा रहा था।

रास्ता अभी बाक़ी था कि कहीं बहुत दूर से ढोलक की धीमी थाप सुनाई दी। उसके साथ एक सामूहिक गान की स्वर-लहरियाँ थीं - इतनी मद्धिम कि पहले लगा जैसे हवा अपने भीतर कोई भूली हुई धुन बहाकर ला रही हो। फिर धीरे-धीरे वे स्वर स्पष्ट होने लगे। उनमें एक अजीब-सी मिठास थी, एक ऐसी आत्मीयता, जो बिना स्पर्श किए भीतर उतरती जाती है। भीतर के हर कोने अंतरे को टटोलने लगती है।

उस घुमावदार रास्ते का सूनापन . . .
देवताल का ठहरा हुआ जल . . . .

घाटों पर बने छोटे-छोटे गुम्बदों वाले मंदिर, जिनमें जलते दीयों की काँपती रोशनी मंदिर गर्भ गृह के दरवाजों और बाह्य स्तंभों पर थरथरा रही थी . . .
काली और गाढ़ी धूसर चट्टानों के ऊँचे, लगभग मौन खड़े ढेर . . .

और उनके ऊपर बहुत दूर, बहुत ऊपर, अँधेरे में चुपचाप टिमटिमाते सितारे . . .

सब कुछ जैसे उस धुन के भीतर धीरे-धीरे घुलता जा रहा था। ऐसा लगता था, रात ने उन स्वरों को अपनी बाँहों में भर रखा है और पूरी दुनिया उसी लय पर बहुत धीमे-धीमे झूल रही है।

उन क्षणों में जो आनंद मेरे भीतर उतर रहा था, उसे अब इतने वर्षों बाद शब्दों में बाँधना कठिन लगता है। वह किसी उल्लास की तीखी चमक नहीं था, बल्कि जैसे किसी शीतल झरने की बहुत महीन फुहार हो, जो बिना आहट के आपको भिगोती चली जाती है।
और आप उस भीगने को रोकना भी नहीं चाहते।

बस भीगते रहना चाहते हैं।

गीत के जो बोल उस समय मेरे कानों में रस घोल रहे थे और समझ में आ रहे थे ,

वो कुछ इस तरह से थे –

“जगाए लो मनाए लो बुलाए लो सखी
बन्ना सोबै रे अटरिया
जगाए लो सखी . . . .

बेला फूल की कली,कचनार की कली
हाँ गुलाब की कली
बन्ना सोबै रे अटरिया
जगाए लो सखी . . . . “

(ये एक बुन्देली लोक गीत है जिसे 'बन्ना' कहा जाता है। बुन्देली भाषा में वर को 'बन्ना' और वधू को 'बन्नी' कहते हैं। विवाह के अवसर पर ऐसे ढेरों बन्ना-बन्नी लोक गीत हैं जिन्हें अलग-अलग धुनों में महिलाएँ गाया करती हैं – ये गीत मुख्य रूप से वर-वधू की प्रशंसा में गए जाते हैं , उनके नख-शिख की सुंदरता का बखान करते हुए इन गीतों से विवाह का प्रसंग 'उत्सव' में बदल जाता है।)

"जगाए लो, जगाए लो, मनाए लो सखी..."

जैसा मैंने ऊपर लिखा है यह एक खुशियों भरा विवाह संस्कार में गया जाने वाला 'बन्ना' है। किन्तु उन पलों में मुझे इन शब्दों और गायन की धुन में वेदना की टीस महसूस हुई। उस वक़्त मेरे भीतर जो कुछ चल रहा था शायद इस अनुभूति के पार्श्व में उसी की छाया पड़ रही थी।

मुझे बड़ी शिद्दत से उस वक़्त लगा जैसे इन शब्दों में, इस छोटी सी एक पंक्ति में विरह भी है, पुकार भी है, और भीतर के किसी कोने में टिमटिमाते हुए किसी छोटे से दीये की थरथराती हुई रोशनी को धीरे-धीरे छू लेने की चाह भी। वेदना , दर्द और पीड़ा के इन्हीं सुरों ने उस रात मुझे बहुत भीतर तक भिगो दिया था , इतना कि आज इतने लंबे समय के बीत जाने के बाद भी मैं इस गीत को सुनते हुए वहीं पहुँच जाता हूँ – देवताल के बगल वाले रास्ते पर।

बुन्देली एक बहुत मीठी भाषा है। इस भाषा के स्वर लोकगीतों में , विशेषकर संवेदना से जुड़े हुए महसूस होते हैं - जहाँ प्रेम केवल प्रेम नहीं होता, वह प्रतीक्षा, संकोच, अपनापन और आत्मा की धीमी थरथराहट भी होता है।

एक तरह से बुन्देली जबलपुर की आंचलिक भाषा है। जबलपुर में जन सामान्य इस भाषा को अपने विशेष जबलपुरिया अंदाज़ में आज भी बोलता है। बल्कि ये कहना ज़्यादा मुनासिब होगा कि सामान्यतया जबलपुर में यही भाषा बोली जाती है।



अपने गंतव्य पर पहुँच कर सहज जिज्ञासा वश मैंने अशोक दुबे से पूछा – "यार ये गाने की आवाज़ कहाँ से आ रही है ?" उसने बताया- "देवताल के बाजू वाली पहाड़ी पर

एक मंदिर है "भूतेश्वर महादेव मंदिर", वहीं कभी-कभी महिलाएँ एकत्र हो जाती हैं, किसी पर्व , किसी त्योहार या कभी यूँ ही। वे लोग ही ढोलक मंजीरे के साथ गाती हैं।"

निश्चित ही वे सब वहाँ भजन गाती होंगी, विशेष रूप से भोले बाबा महादेव के पर जब मन भावुक होकर रमता है तब वह सिर्फ़ गाता है। उस गायन में शब्द पीछे छूट जाते हैं बस मन की भाषा मुँह से निकलती है। और भक्ति भी तो प्रेम की पवित्र पराकाष्ठा है। जब मन विभोर हो जाता है तब भोले बाबा के सामने शब्द नहीं भाव अर्पित होते हैं। और बाबा के लिए भाषा नहीं भाव मायने रखते हैं।

उस रात जब हम उस जगह से लौटे तब तक गायन की आवाज़ धीमे-धीमे आती रही।

इस गीत की धुन और लय इतनी मधुर और इतनी अपनी-सी लगती है कि आज भी, सत्तर बरस की पकी हुई उम्र में पहुँच जाने के बाद भी, इसकी स्वर-लहरियाँ मेरे भीतर एक अनोखे आनंद की हिलोरें पैदा कर देती हैं। जैसे कोई बहुत पुराना दरवाज़ा अचानक खुल जाए और उसके पार से बीते हुए समय की कोई परिचित, आत्मीय हवा भीतर चली आए। गीत सुनते ही जाने कितनी पुरानी स्मृतियाँ, कितने चेहरे, कितने दृश्य और जाने कितनी अनकही भावनाएँ भीतर कहीं हल्के-हल्के जागने लगती हैं।

इस आनंद को बस महसूस किया जा सकता है। उसे ठीक-ठीक शब्दों में बाँध पाना शायद संभव ही नहीं।

शब्द किसी अनुभूति को छू तो सकते हैं, उसका संकेत दे सकते हैं, लेकिन उसकी पूरी गहराई तक नहीं पहुँच सकते। मन की भाषा मुख की भाषा से बहुत अलग होती है। वहाँ शब्द नहीं होते, अनुभूतियाँ होती हैं; वाक्य नहीं होते, स्पंदन होते हैं। वहाँ तरंगें उठती हैं-ध्वनि की नहीं, आनंद की। और कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे भीतर कोई अदृश्य संगीत बज रहा हो, जिसे सुनने के लिए कानों की नहीं, केवल मन की आवश्यकता है।

शायद इसी कारण उम्र बढ़ने के साथ कुछ गीत और भी अधिक अपने लगने लगते हैं। वे केवल गीत नहीं रह जाते; वे समय की किसी खोई हुई तह की चाबी बन जाते हैं।

उनके कुछ स्वर वर्तमान से उठाकर हमें अचानक उस समय में पहुँचा देते हैं, जहाँ हम कभी थे-और शायद आज भी अपने भीतर कहीं हैं।

इसे यदि आधुनिक औषधि-विज्ञान की भाषा में कहूँ, तो कह सकता हूँ कि ऐसे क्षणों में मेरे भीतर 'डोपामाइन' के झरने फूट पड़ते हैं। लेकिन विज्ञान चाहे इसे जिस नाम से पुकारे, मेरे लिए यह उससे कहीं अधिक सरल और सुंदर अनुभव है-एक ऐसा आनंद, जिसे न समझाने की ज़रूरत है, न प्रमाणित करने की। बस आँखें बंद करके सुनिए... और उसे भीतर उतरते हुए महसूस कीजिए।



बाद में कभी मैंने बुआ से इस जगाए लो जगाए लो गीत के बारे में पूछा तो उन्होंने मेरे कहने पर इसे सुनाया भी और इसके बोल भी लिखवाये। इस गीत के बोलों और धुन में लिपटी हुई मासूमियत, सादगी,रवानी और सादा-दिली एक बहुत ऊँचे स्तर की पाकीज़गी से रू-ब-रू कराते हैं, कम से कम मुझे। गीत बोल देखो और उनकी रवानगी

जगाए लो जगाए लो
मनाए लो सखी बन्ना सोवे री अटरिया
सो बन्ना के सिर पे मोरैं सोहें,
सो मोरन बीच अनार की कली
कचनार की कली बेला फूल की कली
बन्ना सोवे री अटरिया
जगाए लो जगाए लो
मनाए लो सखी बन्ना सोवे री अटरिया

सो बन्ना के माथे खोरैं सोहें,
सो खोरन बीच अनार की कली
कचनार की कली बेला फूल की कली
बन्ना सोवे री अटरिया
जगाए लो जगाए लो
मनाए लो सखी बन्ना सोवे री अटरिया

सो बन्ना के हाथों में कंकन सोहे
सो कंकन बीच अनार की कली
कचनार की कली बेला फूल की कली
बन्ना सोवे री अटरिया
जगाए लो जगाए लो
मनाए लो सखी बन्ना सोवे री अटरिया

सो बन्ना के अंग में पागो भी सोहे
सो बनरस बीच अनार की कली
कचनार की कली बेला फूल की कली
बन्ना सोवे री अटरिया
जगाए लो जगाए लो
मनाए लो सखी बन्ना सोवे री अटरिया

इस सुंदर बुंदेली लोकगीत की सुंदरता केवल इसके शाब्दिक अर्थ में नहीं, बल्कि इसके स्नेहपूर्ण, चुलबुले और आत्मीय बिंबों में निहित है। इसकी लय, पुनरावृत्ति और फूलों से रची गई कोमल कल्पनाशीलता इस बिम्ब को एक जीवंत लोककथा की तरह ही अपनी मिठास और सहजता बनाए रखते हुए हमारे सामने प्रस्तुत ही नहीं करती बल्कि जैसे हमारा हाथ पकड़ कर हमें अपने आप में खींच लेती है।

□□

अब इस किताब के इतने पन्नों का सफर तय करने के बाद शायद तुम समझ गए होगे कि मेरी दुनिया में गीतों और उनकी धुनों, लय और संगीत की कितनी अहमियत है। ये मेरे लिए केवल मनोरंजन का साधन कभी नहीं रहे। गीत मेरे जीवन में कहीं बहुत भीतर जाकर बसे हुए हैं। वे मेरे साथ चलते रहे हैं-कभी धूप की तरह, कभी छाँव की तरह और कभी किसी अनदेखे, अनकहे साथी की तरह। मेरी स्मृतियों में भी अगर कोई आवाज़ सबसे अधिक गहराई तक जाती है, तो वह अक्सर किसी गीत की होती है।

कभी-कभी सोचता हूँ कि शायद यह उस विधाता का मुझे दिया हुआ कोई वरदान ही है कि मेरी अनुभूतियाँ मेरे भीतर से होकर सीधे काँटों, तीरों या भालों की तरह बाहर नहीं निकलतीं। वे किसी न किसी तरह अपना एक संगीतमय तर्जुमा तलाश लेती हैं। जैसे भीतर उठी कोई तीखी अनुभूति पहले संगीत के स्पर्श से गुजरती है और फिर अपनी कठोरता खोकर एक लय में बदल जाती है। दर्द भी आता है, अपनी पूरी तीव्रता के साथ आता है; ख़ुशी भी आती है तो अपनी पूरी चमक और उछाह के साथ। लेकिन मेरे भीतर से गुजरते हुए दोनों का रूप कुछ बदल जाता है।

ऐसा बिल्कुल नहीं है कि मुझे दुख की अनुभूति कम होती है या ख़ुशी के उल्लास में कोई कमी रह जाती है। दुख, दुख ही रहता है और ख़ुशी , ख़ुशी ही। आँसू अगर आते हैं तो सचमुच के आँसू होते हैं और हँसी अगर आती है तो वह भी उतनी ही स्वाभाविक होती है। फ़र्क शायद सिर्फ इतना है कि इन अनुभूतियों के भीतर से गुजरने की एक अपनी प्रक्रिया है। वे मेरे भीतर किसी अनगढ़, बेकाबू आवेग की तरह नहीं रहतीं। उनके घटने में एक सलीका है, एक लय है, एक अदृश्य-सा व्याकरण है।

शायद संगीत ने मुझे यही दिया है-अपनी अनुभूतियों के साथ जीने का एक ढंग। वह उन्हें मिटाता नहीं, उनसे बचाता नहीं, उनकी तीव्रता को कम नहीं करता; बल्कि उन्हें एक ऐसा आकार दे देता है जिसमें उन्हें देखा, सुना और जिया जा सके। जैसे कोई नदी अपने भीतर बहते पत्थरों को निकालकर फेंक नहीं देती, बल्कि उन्हें साथ लेकर ही अपना रास्ता बनाती हुई आगे बढ़ती रहती है।

ख़ुशी आती है तो संगीत मुझे उसके शोर में बहा नहीं ले जाता। वह जैसे मुझे धीरे-धीरे उठाता है-ख़ुशी के उन हल्के बादलों की ओर, जहाँ मन कुछ देर धरती से ऊपर तैरने लगता है। और जब दुख आता है, तो शायद संगीत उससे भी अधिक अपना हो जाता है। वह मेरे दुख को मुझसे छीनता नहीं, उसके ऊपर कोई सांत्वना का पर्दा भी नहीं डालता। वह बस मेरा हाथ पकड़ लेता है और मुझे उस ग़म के अँधेरे तालाब में धीरे-धीरे उतराता चला जाता है। एक-एक सीढ़ी नीचे। वहाँ तक, जहाँ दुख की सबसे गहरी परतें हैं और जहाँ शायद शब्द भी पहुँचने से पहले चुप हो जाते हैं।

वहाँ संगीत मेरे साथ रहता है।

वह मेरे दुख को कोई नाम नहीं देता, कोई फैसला नहीं सुनाता। बस उसके पास बैठ जाता है। और शायद यही उसकी सबसे बड़ी करुणा है।

इसीलिए मेरे लिए गीत केवल सुने हुए गीत नहीं हैं। वे मेरे भीतर घटित हुई चीज़ों के साक्षी हैं। मेरी खुशियों ने उनमें अपना घर बनाया है और मेरे दुखों ने भी। मेरे जीवन की कितनी ही स्मृतियाँ किसी घटना, किसी चेहरे या किसी जगह से कम और किसी धुन से अधिक जुड़ी हुई हैं। कोई धुन सुनते ही समय पीछे लौट जाता है। कोई लय किसी पुराने कमरे का दरवाज़ा खोल देती है। कोई स्वर अचानक उस उम्र में पहुँचा देता है, जब मैं आज का मैं नहीं था-बल्कि वह लड़का था जो बहुत कुछ पहली बार महसूस कर रहा था।

शायद इसीलिए मुझे लगता है कि मेरे जीवन में संगीत बाहर से आया हुआ कोई तत्व नहीं है। वह मेरे भीतर की भाषा का ही एक रूप है। मैं जो कुछ कह नहीं पाता, वह कभी-कभी कोई गीत कह देता है। जो कुछ शब्दों में समझा नहीं पाता, कोई धुन उसे बिना किसी व्याख्या के समझा देती है। और जो कुछ केवल महसूस किया जा सकता है, उसके लिए संगीत शायद मनुष्य ने अब तक जो सबसे सुंदर भाषा खोजी है।

मेरे लिए संगीत इसलिए सिर्फ सुनाई नहीं देता-वह भीतर घटता है।

□□

रंगों और रेखाओं से मेरा बहुत बचपन से नाता है।

कैसे ? इस बाबत मैं दूसरे चैप्टर में बताऊँगा। अभी तो बस ये बताना है कि हम जब दिन दुपहरी में इन पहाड़ियों पर जाते थे। वे ठंड के दिन ही हुआ करते थे। तब कई बार मैं अपना कंधे से लटकाने वाला एक झोला भी साथ में ले जाता था। उस झोले में वाटर कलर पेंटिंग के लिए पूरा सामान रहता था।

'मदन महल' कई बार मैंने वहीं बैठ कर जल रंगों से हाथ से बने हुए काग़ज़ पर उकेरा है। उस छोटे मगर ख़ूबसूरत किले के सामने उस वक़्त लगभग चालीस पचास मीटर की दूरी पर एक अश्वशाला का खंडहर था। अब है या नहीं। मैं यक़ीनी तौर पर नहीं कह सकता। मैं कई सालों से किले तक नहीं गया हूँ। मैं अपने चित्र में मशग़ूल हो जाता

और बाक़ी सब लोग जो भी उस दिन साथ होते, वे दूसरी ऐक्टिविटीज़ में लग जाते। किले में घूम आते। कहीं बैठ कर गप्पें करते। बीच-बीच में मेरे पास भी आते चित्र देखते , कुछ सलाह देते , तारीफ़ करते या कुछ और ही बातें करते। धीरे-धीरे चित्र कम्प्लीट हो जाता। कभी ज़्यादा समय हो जाता या मेरा और काम करने का मन नहीं होता तो फिर मैं चित्रकारी को विराम दे देता। बाक़ी चित्र घर पर पूरा होता। हम घूमते टहलते नीचे उतर आते। नीचे जहाँ हमारी साइकिलें रखी होतीं वहाँ पहुँच कर उन्हें उठाते फिर कहीं कम से कम चाय का एक प्याला पिया जाता और हमारी उस दिन की पिकनिक समाप्त होती। हम अपने घरों को लौट जाते। मैं अक्सर अखिलेश के घर पर रुक जाता। दोपहर का खाना प्रायः हम दोनों उसके घर पर ही खाया करते थे। इसके बाद शाम होने में अधिक समय होता तो मैं अपने घर घमापुर आ जाता। अन्यथा वहीं रुक जाता। शाम का हम लोगों का एक अलग ही रूटीन हुआ करता था।

इसी से जुड़ी एक बात बताता चलूँ – एक बार हम चार पाँच दोस्त पहाड़ियों पर घूम रहे थे। एक स्थान पर हम लोगों को कुछ बड़े बड़े लंबे पत्तों वाली झाड़ियाँ दिखाई पड़ीं। उनमें से एक बड़ी सी झाड़ी का मुख्य तना पर्ण विहीन था। लगभग ठूँठ। लेकिन उसका ऊपरी सिरा बिल कुल चिकना था। सूखा हल्के गेहुआँ रंग का। तना ढाई तीन फुट ऊँचा था। पता नहीं किसे ये बात सूझी कि मैं उसपर कुछ चित्रकारी कर दूँ। मेरा खादीभंडार वाला झोला साथ ही था। उस ठूँठ के ऊपरी हिस्से में मैंने एक रंग बिरंगा बड़ी-बड़ी आँखों वाला भयानक दिखाई देने वाला चेहरा बना दिया। साथ के दोस्त बीच बीच में कई चीजें जुड़वाते भी रहे थे। कुल मिलाकर वह एक भयानक मुखौटे सरीखा दिखने लगा। वे सब यह सोच-सोच कर आनंदित हो रहे थे कि इसे देखकर लोग भयभीत हो जाएँगे। या कम से कम आश्चर्यचकित तो हो ही जाएँगे। परंतु मुझे उस में किसी तरह की कोई भयानकता नहीं दिखाई पड़ रही थी। मेरे लिए वह भी एक कृति थी। उस दिन हम लोगों ने फिर ढूंढ-ढूंढ कर कई झाड़ियों और पेड़ों के तनों पर चित्रकारी की थी। वे कृतियाँ कितने दिन वहाँ रह पाई। कौन जानता है। उन्होंने किसी को डराया या चकित किया ये भी मैं कभी जान नहीं पाया। हाँ ! पर वे अधिक दिन तक नहीं रह पाई होंगी , ये तो समझता था – क्योंकि वे पोस्टर कलर से बनी थीं। पहली तेज़ बारिश ने उन्हें धो पोंछ दिया होगा। या कम से कम भदरंगा तो कर ही दिया होगा।

यह बात अपने भीतर एक गहरा सुकून समेटे हुए है कि मैं कुछ माह, कुछ दिन, कुछ पल उन पहाड़ियों के साथ-साथ उनका एक छोटा-सा हिस्सा बनकर भी जिया था।

उनको छूकर बहने वाली हवाओं में मेरी साँसें घुली थीं,
उनकी चुप्पियों में मेरी खामोश आहटें भी कहीं दर्ज़ हुई थीं।

आज जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो यह एहसास केवल सुकून ही नहीं देता - भीतर एक हल्का-सा रोमांच भी जगा देता है।
जैसे समय की विशाल नदी में मेरा भी एक कण उन प्राचीन चट्टानों के साथ बहता रहा हो।

भले ही कुछ समय के लिए, कुछ पलों के लिए।

□□

मदन महल की पहाड़ियाँ केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे एक गहरी आध्यात्मिक और लोक-सांस्कृतिक परंपरा को भी अपने भीतर समेटे हुए हैं। इन पहाड़ियों और उनके आसपास अनेक छोटे-बड़े मंदिर, देवालय, समाधियाँ और लोक-आस्था के स्थल स्थित हैं। उनमें से कुछ अत्यंत प्रसिद्ध हैं, जबकि कुछ ऐसे भी हैं जो केवल स्थानीय लोगों की स्मृतियों और विश्वास में जीवित हैं।

जिस एक मंदिर का उल्लेख मैं पहले भी कर चुका हूँ वह मंदिर है "भूतेश्वर महादेव मंदिर" यह मंदिर मदन महल की पहाड़ियों के पास स्थित एक अत्यंत प्राचीन और लोक-आस्था से जुड़ा शिव मंदिर माना जाता है। पहाड़ियों की निस्तब्धता, हवा की सनसनाहट और आस पास बिखरे काली चट्टानों के ऊँचे नीचे छोटे बड़े ढेर इस स्थान को एक रहस्यमय सौंदर्य देते हैं। प्रतीत होता है वे सिर्फ़ काली धूसर चट्टानें नहीं हैं। बल्कि मंदिर के आस पास समाधिस्थ जोगी जती हैं। जो भोले शंकर में समा जाने के लिए युगों युगों से तपस्या में लीन हैं। आसपास का वातावरण आज भी एक लोक-स्मृति जैसा लगता है-जैसे समय यहाँ थोड़ी धीमी चाल से चलता हो। अपने ही महादेव स्वरूप की मौज में।

एक और महत्वपूर्ण मंदिर मदन महल की पहाड़ियों में बहुत ऊँचाई पर स्थित है वह है पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर के सबसे प्रसिद्ध जैन तीर्थों में से एक। इसके साथ एक अत्यंत मार्मिक लोककथा जुड़ी है-कहा जाता है कि एक निर्धन वृद्धा, जो अनाज पीसकर जीवन चलाती थी, उसने अपनी जीवन भर की कमाई धर्मार्थ समर्पित कर इस मंदिर का निर्माण कराया। इसलिए इसे "पिसनहारी की मढ़िया" कहा गया। ऊँचाई पर स्थित यह तीर्थ केवल धार्मिक स्थल नहीं, बल्कि ध्यान और शांति का भी स्थान है। वहाँ से दिखने वाला जबलपुर शहर विशेषकर संध्या समय अत्यंत सुंदर दिखाई देता है।

इन्हीं पहाड़ियों पर माँ शारदा देवी का भी अत्यंत प्राचीन मंदिर स्थित है। कहा जाता है रानी दुर्गावती इस मंदिर में पूजा करने आती थीं। इस मंदिर तक पहुँचने के लिए पक्की सीढ़ियाँ बनी हैं। हर बरस यहाँ हर श्रावण सोमवार को मेला भरता है।

मदन महल और आसपास के क्षेत्र में भैरव उपासना की परंपरा भी लंबे समय से रही है। काल भैरव को यहाँ रक्षक देवता के रूप में देखा जाता है। यहाँ इस क्षेत्र में स्थित काल भैरव मंदिर को 'बाजना मठ' के नाम से जाना जाता है। यह वास्तव में बहुत प्राचीन तांत्रिक मंदिर है। मंदिर के भीतर घुसने का एक ही छोटा सा द्वार है। सामने ही भैरव बाबा विराजमान हैं। बहुत ऊँचा गुंबद और चारों ओर बिना किसी खिड़की या रोशनदान के अंदर का माहौल बेहद रहस्यमय लगता है। विशेषकर जब भीतर धूप बत्तियों का धुआँ गुंबद के नीचे इकट्ठा हो जाता है तब यह रहस्य जैसे किसी तिलिस्म में बदल जाता है। धुएं के सफ़ेद बादल एक सीमित हिस्से में विभिन्न आकारों में अदलते बदलते रहते हैं। जैसे सृष्टि का सारा रहस्य वहाँ खुल रहा हो। अगर तुम जान सको तो !

मैंने इसी चैप्टर में देवताल का भी जिक्र किया है। मदन महल पहाड़ी की तलहटी में स्थित यह प्राचीन तालाब स्वयं केवल एक जलाशय नहीं है ; उसके आसपास का क्षेत्र लंबे समय से लोक-आस्था और रहस्य से जुड़ा रहा है। पुराने समय में लोग यहाँ संध्या के बाद एक विशेष तरह की आध्यात्मिक अनुभूति की बातें करते थे। इसके

आस पास बने छोटे बड़े मंदिर और इसके घाट इस स्थान को मेरे लिए स्मृति और संवेदना का एक जीवित स्थल बना देता है।

मदन महल की पहाड़ियाँ दरअसल केवल पत्थरों का भूगोल नहीं हैं।

वे इतिहास, लोक विश्वास, आध्यात्म, किशोर स्मृतियों, हवाओं, गीतों और एक पुराने जबलपुर की सम्मिलित धड़कन हैं।

वहाँ के मंदिर केवल पूजा के स्थान नहीं-वे समय के भीतर जलते हुए छोटे-छोटे दीपक हैं, जो पीढ़ियों की आस्थाओं को अब भी रोशन किए हुए हैं।

इन पहाड़ियों में मेरा मन यूँ रमा हुआ है कि इनके बारे में जितना भी कहूँ मुझे कम ही लगेगा। यहाँ की हर चट्टान मुझे अपने आप में एक कलाकृति लगती है। एक कविता लगती है। कितनी बार भी देखो कितनी बार भी पढ़ो, मन नहीं भरता। हर चट्टान हर दफ़ा कुछ नया कहती मालूम पड़ती है।

□□

यहाँ एक बात और दर्ज़ कर दूँ -
शायद इसलिए भी कि स्मृतियाँ जब बहुत भीतर तक उतर जाती हैं तो वे केवल यादें नहीं रह जातीं, वे धीरे-धीरे हमारे व्यक्तित्व का एक मौन हिस्सा बन जाती हैं।

सन् 1995 और 1996 के आसपास, राजेन्द्र यादव जी की पत्रिका 'हंस' के पाँच-छह अंकों में मेरे बनाए हुए कुछ काले-सफ़ेद चित्र और स्केचेज़ प्रकाशित हुए थे। उनमें एक अंक ऐसा भी था जिसमें कहानियों और लेखों के साथ इन काली चट्टानों के लगभग दस चित्र छपे थे। वे चित्र मैंने किसी प्रत्यक्ष दृश्य को सामने रखकर नहीं, बल्कि स्मृति की धुँधली, भीतर चमकती सतहों से बनाए थे। काली स्याही, पोस्टर कलर, ब्रश और पेन - बस यही कुछ साधन थे। बाक़ी काम शायद उन चट्टानों ने स्वयं किया था।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है, वे केवल चित्र नहीं थे; उन दिनों की एक आंतरिक भूगोल-यात्रा थे। उन चट्टानों की आकृतियाँ, उनके बीच पसरा हुआ सन्नाटा,

धूप के बदलते रंग, और शाम उतरने के पहले का वह अजीब उदास उजाला - सब कुछ जैसे मेरे भीतर पहले से ही कहीं जमा था, मैं केवल उन्हें काग़ज़ पर लौटने का रास्ता दे रहा था।

मेरी बहुत-सी पेंटिंग्स का मुख्य विषय बाद में भी यही काली धूसर चट्टानें बनी रहीं। शायद इसलिए कि मन कुछ जगहों को कभी पूरी तरह छोड़ नहीं पाता। वे हमारे भीतर उसी तरह बनी रहती हैं जैसे किसी पुराने घर में बंद एक कमरा - जहाँ बरसों बाद भी प्रवेश करो तो हवा में परिचित गंध मिल जाती है।

चित्र बनाते समय अक्सर मुझे लगता है, मैं इन चट्टानों को पेंट नहीं कर रहा, उनसे बातें कर रहा हूँ।
बहुत धीमे।
बहुत निजी ढंग से।

दूसरी पेंटिंग्स पूरी होने के बाद जो संतोष मिलता है, वह अलग तरह का होता है; लेकिन इन चट्टानों को उकेरने के बाद भीतर एक अजीब शांति उतरती है. . . जैसे बहुत दिनों बाद किसी पुराने दोस्त के साथ देर तक बैठा रहा हूँ। बिना किसी प्रयोजन के। बिना किसी स्पष्टीकरण के।

कभी-कभी लगता है, इन चट्टानों ने मुझे नहीं छोड़ा और मैंने भी उन्हें नहीं छोड़ा। वे अब भी मेरे भीतर वैसे ही खड़ी हैं -धूप से तपती हुई, बारिश में भीगती हुई, शाम की धुंध में धीरे-धीरे विलीन होती हुई। शायद हमारा ये रिश्ता कभी समाप्त भी नहीं होगा।

और शायद इसीलिए आज भी पता नहीं कितने खाली कैनवास,

कितने सफ़ेद काग़ज़, उनकी कहानियों से भरना बाक़ी हैं।

मैं नहीं जानता यह सिलसिला कब तक चलेगा।
लेकिन इतना अवश्य जानता हूँ -
हमारी बातचीत अभी समाप्त नहीं हुई है।
उनके पास अभी बहुत कुछ है कहने के लिए।

और मेरे भीतर अभी उतनी ही ख़ामोशी बची है उन्हें सुनने के लिए।
और मेरे अंदर बहुत सारी जगह भी बची है उन्हें सहेजने के लिए।



10

अभियांत्रिकी

(ड्रॉइंग बोर्ड से ज़िंदगी के नक्शे तक)

विधाता ने जो कहानी मेरे लिए लिख रखी थी, उसकी पटकथा के अनुसार जीवन-संग्राम में उतरने से पहले मेरी ज़िंदगी की नींव के आख़िरी पत्थर जिस स्थान पर रखे जाने थे, उसका नाम था-शासकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, जबलपुर, जिसे उस समय अंग्रेज़ी में *"गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज, जबलपुर (जी.ई.सी.)* कहा जाता था। आज अब उसका नाम बदलकर *जबलपुर इंजीनियरिंग कॉलेज (जे.ई.सी.)* हो चुका है।

यही वह भूमि थी जहाँ मेरी अब तक की समस्त शिक्षा, संस्कार, संघर्ष, सफलताएँ और असफलताएँ एक-दूसरे से आकर मिलनी थीं। बचपन से लेकर किशोरावस्था तक जो कुछ मैंने देखा, जिया और सीखा था, वह सब मानो यहाँ आकर किसी आकार में ढलने वाला था। इसके बाद जो कुछ भी बनना था-व्यक्ति, अभियंता, कलाकार, लेखक या केवल एक साधारण मनुष्य-उसकी बुनियाद यहीं रखी जानी थी।

शायद हर मनुष्य के जीवन में एक ऐसा मोड़ अवश्य आता है, जहाँ पहुँचकर उसे लगता है कि अब तक का समूचा जीवन किसी लंबी प्रस्तावना की तरह था। जैसे लेखक ने अनेक पात्रों, परिस्थितियों और संकेतों के माध्यम से पाठक को केवल उस कथा के लिए तैयार किया हो, जिसकी वास्तविक शुरुआत अभी होने वाली है। पीछे मुड़कर देखने पर बचपन की अनेक घटनाएँ, उस समय चाहे जितनी साधारण या बिखरी हुई लगी हों, अचानक एक अदृश्य सूत्र में पिरोई हुई दिखाई देने लगती हैं। तब

समझ में आता है कि जीवन संयोगों का नहीं, बल्कि अनुभवों की क्रमिक रचना का नाम है।

मेरे लिए वह क्षण, वह स्थान और वह समय यही था। आगे आने वाले वर्षों में जो सुख मिलने वाले थे, जिन आघातों से गुज़रना था, जिन संबंधों का निर्माण और विघटन होना था, जिन सपनों को जन्म लेना था और जिनका टूटना भी नियति में लिखा था-उन सबका प्रथम अध्याय यहीं से आरम्भ होना था। मुझे तब इसका आभास नहीं था। उस समय तो मैं केवल एक सामान्य विद्यार्थी था, जिसके हाथ में किताबें थीं, आँखों में कुछ सपने थे और मन में भविष्य को लेकर उतनी ही उत्सुकता थी जितनी आशंका। किंतु आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जीवन की वास्तविक यात्रा उसी दिन शुरू हुई थी, जिस दिन मैंने इस महाविद्यालय की चौखट पर पहला कदम रखा।

□□

मैं सोलह बरस की आयु 21 अप्रैल 1972 को पूर्ण कर चुका था। मेरिट के आधार पर मेरा चयन जबलपुर के एकमात्र इंजीनियरिंग कॉलेज में हो गया। उस समय मध्य प्रदेश में भोपाल के "मौलाना आजाद कॉलेज ऑफ टेक्नोलॉजी" को मिलाकर कुल आठ इंजीनियरिंग कॉलेज थे।

उस वक़्त मॉडेल हाई स्कूल के गणित विषय के अधिकांश विद्यार्थी जबलपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला पा जाते थे। कुछ विरले ही किसी विशेष कारण से किसी अन्य इंजीनियरिंग कॉलेज चुनते थे। कुछ मित्र अलग दिशाओं में भी गए। रवि गुप्ता रायपुर चला गया था - केमिकल इंजीनियरिंग पढ़ने। उस समय यह निर्णय हमें कुछ अलग और साहसिक लगा था।

चूँकि मॉडेल हाई स्कूल के मेरे करीबी मित्रों में से अधिकांश मेरे साथ ही जबलपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में आ गए थे, इसलिए मैं वहाँ अपने आप को अजनबी और अकेला तो नहीं था। पुरानी मित्रताओं की गरमाहट भी साथ चली आई थी। फिर भी भीतर कहीं लगता रहता था, जैसे किसी पुराने घर से निकलकर हम किसी नए घर में

आ तो गए हों, पर अभी उसकी दीवारों की गंध में हम अपनापन न ढूँढ़ पाए हों। किन्तु अभियांत्रिकी महाविद्यालय, का माहौल और विशाल फ़लक हमारे मॉडेल हाई स्कूल से एकदम अलग था। इस हवाले से ज़रूर उस वक़्त मुझे ये अनुभूति होती रहती थी; जैसे एक बार फिर मैं घर से बाहर किसी अनजान और ज़्यादा दूर जगह में आ गया हूँ।

शासकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, जबलपुर का अति विशाल परिसर। दूर दूर बने हुए विभिन्न संकाय भवन, विशेष रूप से विद्युत यांत्रिकी की ऊँची प्रयोगशाला और सिविल इंजीनियरिंग संकाय की ब्रिटिश आर्किटेक्चर पर आधारित किसी राजभवन जैसी इमारत जो कभी राबर्टसन कॉलेज हुआ करता थी , उसके लंबे बरामदे और ऊँची खिड़कियाँ जैसे किसी दूसरी ही शताब्दी की स्मृतियों को अपने भीतर सँजोए हुए थीं। बड़ी सी ऐड्मिनिस्ट्रेटिव ब्लॉक की मुख्य बिल्डिंग, परिसर के पीछे फैली झील उस दृश्य को और भी पूर्णता प्रदान करती थी। कभी-कभी हवा के साथ उसके जल की गंध दूर तक चली आती। शाम के समय उस ओर देखते हुए लगता था जैसे कॉलेज की सारी हलचल के पीछे कोई शांत, स्थिर और गहरा संसार भी मौजूद है। कॉलेज का परिसर पहली बार देखते हुए जो अनुभूति हुई थी, वह आज भी स्मृति में वैसी ही सुरक्षित है। विशाल मैदान, दूर-दूर बिखरी इमारतें, ऊँची प्रयोगशालाएँ, चौड़े रास्ते और उन सबके बीच फैला हुआ एक असाधारण सन्नाटा।

मॉडल हाई स्कूल का परिसर भी कम सुंदर नहीं था। बचपन और किशोरावस्था के इतने वर्ष वहीं बीते थे। वह भी बहुत बड़ा और सुव्यवस्थित था किन्तु यह परिसर इतना बड़ा था जिसमें कम से कम चार या पाँच मॉडल हाई स्कूल समा जाएँ। यह संसार कुछ और ही था - अपने आकार में, अपनी निस्तब्धता में और अपनी संभावनाओं में। ऐसा लगता था जैसे मैं किसी परिचित नक्शे से बाहर निकलकर एक ऐसे भूभाग में प्रवेश कर गया हूँ जिसकी सीमाएँ अभी मेरी दृष्टि की पहुँच से भी आगे तक फैली हुई हैं।

इसके अलावा हॉस्टल के आठ ब्लॉक्स और वह सम्पूर्ण परिसर तो मैंने यहाँ जोड़ा ही नहीं है। हॉस्टल ब्लॉक्स और प्रोफेसर्स कालोनी कॉलेज के सामने स्थित थी, वहीं उनके मध्य सिटी एस.पी. का बंगला था। कॉलेज प्रिंसिपल का बंगला कॉलेज परिसर के बाजू में था।

धीरे-धीरे वह अपरिचितता कम होने लगी। रास्ते पहचान में आने लगे, इमारतें अपनी लगने लगीं, और उन विशाल प्रांगणों के बीच चलते हुए अब वैसी झिझक नहीं होती थी। मुझे याद नहीं कि यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ, पर एक दिन अचानक लगा कि मैं अब यहाँ अतिथि नहीं हूँ।

मैं उस विराट परिसर का एक अत्यन्त छोटा-सा अंश बन चुका था।

जैसे किसी पुराने, विशाल वृक्ष की किसी ऊँची शाखा पर एक नई कोंपल चुपचाप फूट आई हो - अभी नाजुक, अभी अनिश्चित, पर वृक्ष से पूरी तरह जुड़ी हुई।

शायद जीवन के बड़े परिवर्तन इसी तरह घटित होते हैं। वे किसी उद्घोषणा के साथ नहीं आते। धीरे-धीरे हमारे भीतर उतरते हैं, और जब हम उन्हें पहचानते हैं, तब तक वे हमारी पहचान का हिस्सा बन चुके होते हैं।

इस महाविद्यालय की स्थापना ब्रिटिश शासन के दौरान 7 जुलाई 1947 को हुई थी।

मध्य भारत का यह सबसे पुराना और भारत का 15वाँ सबसे पुराना तकनीकी संस्थान है। भारत में सबसे पहले *"इलेक्ट्रॉनिक्स एंड टेलीकम्युनिकेशन"* इंजीनियरिंग की पढ़ाई शुरू करने का गौरव इसी कॉलेज को प्राप्त है।

□□

इंजीनियरिंग कॉलेज मेरे घर से करीब करीब छह किलोमीटर की दूरी पर घमापुर राँझी मेन रोड पर गोकलपुर बस्ती या मोहल्ले में स्थित था। कॉलेज परिसर के बाद का हिस्सा राँझी कहलाता था। आज भी वह राँझी ही कहा जाता है। पर तब की बस्ती अब तहसील बन चुकी है। घमापुर और कॉलेज के दरमियान रास्ते में मुख्य रूप से कांच घर, लाल माटी, जी.सी.एफ. स्टेट, सतपुला, वैद्यनाथन नगर आदि मोहल्ले पड़ते थे।

अब तक मेरी दोस्ती अखिलेश तिवारी से बहुत प्रगाढ़ हो चुकी थी। कॉलेज भी हम साथ साथ ही जाया करते थे। मैं घर पर तैयार रहता था। अखिलेश लगभग दस बजे तक साइकिल से मेरे घर आ जाता। फिर हम दोनों अपनी अपनी साइकिलों पर कॉलेज

रवाना हो जाते। कॉलेज का पहला पीरियड साढ़े दस बजे से प्रारंभ होता। कई बार हम दोनों एक ही साइकिल पर कॉलेज जाते थे।

वैसे हमारा एक ग्रुप भी था, वही ग्रुप - जो मदन महल की पहाड़ियों पर साथ साथ घूमता था।

सुरेश सालुंके, शालिग राम, अशोक दुबे ये लोग भी इंजीनियरिंग कॉलेज में मेरे साथ ही थे। कई बार ये सब भी साथ होते थे पर गली में घुसने के बजाय ये सब सड़क पर रुक जाते, केवल अखिलेश मेरे घर तक आता था। हम दोनों साथ निकलते फिर सड़क से सब साथ हो लेते अपनी अपनी साइकिलों पर। कॉलेज तक का रास्ता बोलते बतियाते कब कट जाता पता ही नहीं चलता और हम प्रशासनिक भवन के साइकिल स्टैन्ड पर होते। अब तक क्लासें शुरू होने का समय हो चुका होता। हम अपने अपने लेक्चर रूम्स में पहुँच जाते। उस समय फर्स्ट ईयर और सेकंड ईयर के चार चार सेक्शन हुआ करते थे, ए, बी, सी और 'डी' हर सेक्शन में पचास विद्यार्थी। केवल 'डी' सेक्शन में कम छात्र होते थे। कुल 180 सीटें थीं। कुछ रिपीटर्स भी 'डी' सेक्शन में होते थे। फर्स्ट ईयर 'ए' से अंतिम 'डी' सेक्शन तक छात्रों के नामों के अल्फाबेटिकल आधार पर पचास- पचास विद्यार्थियों के सेक्शन बनते थे। सेकंड ईयर में यह विधि बदल जाती थी, अब फर्स्ट ईयर में प्राप्त अंकों को आधार बनाया जाता था। मेरिट के आधार पर सेकंड ईयर में सेक्शन्स का गठन होता था। इस समय बी.एस.सी. करके प्रवेश लेने वाले छात्रों को भी कॉलेज में प्रवेश मिलता था परंतु उन्हें सेकंड ईयर में रखा जाता और 'डी' सेक्शन में जगह मिलती थी।

□□

मेरे इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश की ख़ुशी , मनचाहा हो जाने की चमक बनकर - जैसे बाबू जी के चेहरे पर उतर आई थी। उस समय मैं शायद पूरी तरह समझ भी नहीं पाता था कि यह केवल मेरा दाखिला नहीं था, उनकी बरसों की उम्मीदों और चुपचाप सँजोए गए स्वप्नों का भी एक पड़ाव था। मोहल्ले, रिश्तेदारी और अपनी फैक्ट्री के सहकर्मियों के बीच उनका चलना-फिरना जैसे थोड़ा बदल गया था। उनकी आवाज़ में एक ऐसी निश्चिंतता आ गई थी, जिसे शब्दों में पकड़ना कठिन है। वे इंजीनियरिंग

कॉलेज की भव्य इमारत और परिसर के सामने से होकर रोज़ अपनी फैक्ट्री जाते थे और वापस लौटते थे। उनकी फैक्ट्री का रास्ता राँझी मेन रोड से ही कटता था। ऑर्डिनेंस फैक्ट्री खमरिया की ओर आगे बढ़ती राँझी रोड से एक रास्ता सी.ओ.डी. की तरफ़ जाता था और इस तरह राँझी बस्ती का व्यस्ततम तिराहा निर्मित हो जाता था। उस समय इसी तिराहे के आसपास वहाँ का मुख्य बाजार था।

मैं आज सोच पा रहा हूँ: अपनी साइकिल पर इंजीनियरिंग कॉलेज की मुख्य इमारत और परिसर के सामने से होकर रोज़ गुज़रते हुए ना जाने कितनी बार उनके मन में ये बात आई होगी – *"एक दिन शायद मेरा बेटा भी इसी कॉलेज में पढ़ेगा"*। इतने बरसों का बुना हुआ स्वप्न जब फलीभूत हुआ तो सबसे अधिक ख़ुशी उन्हें ही होनी थी।

बाबूजी फैक्ट्री की को ऑपरेटिव सोसाइटी के सदस्य भी थे। मेरे इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिले की ख़बर पाकर कुछ सदस्य और उसके सदर जैन साहब विशेष रूप से घर आए थे। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया, शुभकामनाएँ दीं। उस दिन घर का वातावरण कुछ अलग था - जैसे साधारण दिनों की परिचित हवा में कोई उत्सव घुल गया हो।

बाई, नाना और नानी की प्रसन्नता तो स्वाभाविक थी, पर कक्का कंधीलाल जी विश्वकर्मा की ख़ुशी मुझे सबसे अधिक छूती थी। वे मुझे बचपन से चाहते थे। अब जब वे मेरी ओर देखते, तो उनके स्नेह में एक नया भाव जुड़ गया था - गर्व का। वह गर्व कभी किसी घोषणा की तरह व्यक्त नहीं होता था; बस उनकी आँखों में क्षण-भर के लिए चमक उठता था। कोई उनसे मिलने आता और संयोग से मैं वहाँ उपस्थित होता, तो वे मेरा परिचय कुछ इस तरह कराते जैसे मेरी उपलब्धि में उनका अपना भी कोई हिस्सा शामिल हो। मेरी प्रशंसा करते हुए उनके चेहरे पर जो संतोष दिखाई देता, उसे देखकर मैं स्वयं कुछ संकोच से भर जाता था।

उन दिनों मैं भी बहुत ख़ुश था। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो लगता है वे सचमुच खुशियों के दिन थे - ऐसी खुशियाँ जिनका शोर नहीं होता, जो धीरे-धीरे भीतर फैलती रहती हैं। आसपास के लोग, परिचित और रिश्तेदार, समय-समय पर मेरे भविष्य की ऐसी तस्वीरें खींचते थे जिनमें सब कुछ उजला और आश्वस्त दिखाई देता था। भविष्य, जो अब तक धुंध में लिपटा कोई अनजाना प्रदेश था, धीरे-धीरे अपनी आकृतियाँ

प्रकट करने लगा था। अनिश्चितताओं की धुंध पूरी तरह नहीं छँटी थी, लेकिन उसके पीछे से कुछ रास्ते साफ़ दिखाई देने लगे थे।

मोहल्ले के वे लोग भी, जिनसे पहले कभी कोई विशेष बातचीत नहीं हुई थी, अब मुझे कुछ अलग नज़र से देखने लगे थे। उनकी दृष्टि में एक हल्का-सा कौतूहल रहता, जैसे वे उसी लड़के को फिर से पहचानने की कोशिश कर रहे हों जिसे वे बरसों से जानते थे। कभी-कभी कोई राह चलते रोक लेता, दो-चार प्रश्न पूछ लेता। पढ़े-लिखे और अच्छी नौकरियों में लगे लोग मुस्कराकर मेरी ओर देखते। मैं झुककर नमस्कार करता और वे सिर हिलाकर उत्तर देते। उन क्षणों में मुझे लगता था कि मैं वही हूँ, फिर भी कहीं न कहीं कुछ बदल गया है - शायद मेरे भीतर नहीं, लोगों की आँखों में।

एक बात मैं फिर से दोहरा देता हूँ – *"वे दिन - अच्छे लोगों के, अच्छी सोच समझ वाले लोगों के दिन थे"*।

□□

कॉलेज खुलने के कुछ दिन पहले बाबू जी मुझे राँझी की उस कपड़े की दुकान पर ले गए, जहाँ से वे वर्षों से खरीदारी करते आए थे। मेरे लिए यह पहली बार था। शायद इसलिए भी कि अब मैं स्कूल का लड़का नहीं रहा था; जीवन के एक नए पड़ाव पर कदम रखने वाला था।

एक छोटी-सी बात थी, लेकिन उन दिनों वह हमें किसी बड़ी उपलब्धि से कम नहीं लगती थी - खाकी पैंट और सफ़ेद कमीज़ वाली स्कूल यूनिफ़ॉर्म अब पीछे छूट रही थी। पहली बार हमें अपनी पसंद के कपड़े पहनकर कक्षाओं में जाने की छूट मिली थी।

आज सोचता हूँ तो लगता है, कपड़ों का बदलना शायद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितना उस बदलाव से जुड़ी हुई वह भावना। जैसे किसी अदृश्य घेरे का एक हिस्सा अचानक खुल गया हो और उसके बाहर की हवा पहली बार चेहरे को छू रही हो।

मॉडल हाई स्कूल से हमारा रिश्ता टूटा नहीं था। उसकी इमारतें, मैदान, प्रार्थनाएँ, शिक्षक और मित्रताओं से भरे वे वर्ष अब भी हमारे भीतर वैसे ही बसे हुए थे। उनसे

अलग होने का कोई प्रश्न नहीं था। फिर भी, न जाने कहाँ से स्वतंत्रता का एक हल्का-सा एहसास मन के आसपास मंडराने लगा था। वह किसी घोषणा की तरह नहीं आया था; उसकी उपस्थिति किसी सुगंध की तरह थी, जिसे देखा नहीं जा सकता, केवल महसूस किया जा सकता है।

हम सब मित्र शायद एक ही समय में दो अलग दिशाओं में खड़े थे। एक ओर पीछे छूटती हुई परिचित दुनिया थी, जिसके साथ हमारा अपनापन अभी भी बना हुआ था; दूसरी ओर एक नया संसार था, जिसके बारे में हम बहुत कम जानते थे, लेकिन जिसकी ओर बढ़ने का आकर्षण लगातार हमें अपनी तरफ़ खींच रहा था।

इन छोटे-छोटे परिवर्तनों के साथ हम धीरे-धीरे अपने को ढाल रहे थे। कभी उन्हें समझने की कोशिश करते, कभी बिना समझे ही उनका आनंद लेते। शायद जीवन के कुछ सबसे सुंदर क्षण वही होते हैं, जब परिवर्तन अभी पूरी तरह घटित नहीं हुआ होता, केवल उसकी आहट हमारे भीतर सुनाई देने लगती है।

कपड़े मैंने स्वयं चुने। एक शर्ट का कपड़ा चाय के रंग का था। उसी रंग की लय में उसकी लंबी, पतली धारियाँ थीं, जैसे किसी शांत दोपहर की धूप दीवार पर उतर आई हो। उसके साथ गहरे कत्थई रंग की पैंट का कपड़ा था, जिस पर हल्के रंग की दूर-दूर बिखरी धारियाँ थीं। उस समय वह मेल मुझे अच्छा लगा था। अब सोचता हूँ तो लगता है कि शायद पैंट एकदम सादी होती तो बेहतर रहती। दूसरा जोड़ा नीले रंगों का था। शर्ट पर नीले रंग के अनेक शेड्स चेक्स में फैले हुए थे और उसके साथ फिर वही गाढ़ा कत्थई रंग। आज उन कपड़ों को याद करता हूँ तो पैंट अब भी पसंद आती है, पर शर्ट कुछ अधिक मुखर और उतावली-सी लगती है।

कॉलेज के पहले दिन मैंने वही नीला जोड़ा पहना था। हम सब अपने-अपने साइकिलों पर थे। वही पुराना समूह, जो वर्षों से साथ चला आ रहा था। रास्ता परिचित था लेकिन उस दिन नया नया सा लग रहा था, हम लोगों की मंज़िल भी अब बदल गई थी। बातचीत करते, हँसते-बतियाते हम कॉलेज पहुँच गए। बाहर से सब कुछ सहज दिखाई देता था, पर भीतर कहीं एक अनकही उत्तेजना थी-कुछ शुरू होने वाला था, जिसका आकार अभी स्पष्ट नहीं था।

साथ ही 'रैगिंग' का भय भी था। इस संबंध में मोहल्ले के कुछ वरिष्ठ विद्यार्थियों ने बहुत डरा दिया था। खासकर 'बाई के बगीचे' में हम लोगों के जो मित्र रहते थे, उनके बड़े भाइयों ने। कुछ भी होता हमें कॉलेज तो जाना ही था। और हम एक दूसरे की हिम्मत बढ़ाते वहाँ पहुँच भी गए थे।



इसी प्रसंग में एक और बात याद आती है, उसे यहीं बता देता हूँ।

कॉलेज खुलने के दो-एक दिन पहले ही मैंने पहली बार अपने बालों में 'टू-टोन' हेयर डाई लगाई थी। बाल दसवीं कक्षा से ही कहीं-कहीं सफ़ेद होने लगे थे, हालाँकि उस उम्र में यह बात मुझे उतनी दिखाई नहीं देती थी, जितनी दूसरों को। सुकुमार दास ने कहा था कि मुझे डाई लगा लेनी चाहिए। उसके बड़े भाई इसका इस्तेमाल करते थे और शायद उसी प्रेरणा से उसे यह सलाह देने का खयाल आया होगा। वैसे सुकुमार दास इंजीनियरिंग कॉलेज के बजाय जबलपुर के शासकीय विज्ञान महाविद्यालय में गया था।

उस समय यह नहीं जानता था कि कुछ छोटे-से निर्णय जीवन के साथ कितनी लंबी दूरी तक चलते हैं। डाई लगाना भी उन्हीं में से एक निकला। एक बार जो सिलसिला शुरू हुआ, वह फिर नियमित अंतरालों पर स्वयं को दोहराता रहा। वर्षों तक। दशकों तक।

अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उस दिन मैंने केवल बालों का रंग नहीं बदला था; अनजाने में समय के साथ एक समझौता भी कर लिया था। सफ़ेदी को थोड़ी देर के लिए टाल देने का समझौता।

फिर एक दिन वह भी समाप्त हो गया।

उर्मिला जी के बीमार पड़ने के दिनों में, 2025 में, मैंने डाई लगाना छोड़ दिया। उसके बाद इसकी ज़रूरत भी जैसे समाप्त हो गई। जब वे चली गईं और जीवन का एक पूरा अध्याय अपने आप बंद हो गया, तब मैंने पहली बार अपने बालों को उनके वास्तविक रंग में लौटते देखा।

अब वे पूरी तरह सफ़ेद हैं। चमकीले और शांत।

कभी-कभी आईने में देखता हूँ तो बाबू जी दिखाई पड़ते हैं। वही पीछे की ओर कंघी किए हुए बाल, वही माथे की खुलती हुई रेखाएँ। जाने कब उनकी आकृति मेरे भीतर आकर बस गई। उर्मिला जी के निधन के बाद जो संस्कार हुए, उनमें फरवरी में दो बार मेरे बाल भी उतारे गए थे। तब सिर खाली हो गया था। जून 2026 तक वे फिर लौट आए हैं- धीरे धीरे, अपनी पूरी सफ़ेदी के साथ।

एक समय था जब मेरे बाल कंधों तक बढ़े रहते थे। उन्हें सँवारना, रंगना, व्यवस्थित रखना मेरे लिए केवल एक आदत नहीं, बल्कि अपने व्यक्तित्व का हिस्सा था। उनसे जुड़ी कुछ घटनाएँ भी हैं, जिन्हें शायद आगे किसी उपयुक्त जगह पर याद करूँगा।

लेकिन आज जब आईने में अपने सफ़ेद बालों को देखता हूँ तो उन्हें बदल देने की कोई इच्छा नहीं होती। वे जैसे मेरे जीवन की बीती हुई यात्राओं का प्रमाण-पत्र हों।

यह उम्र का असर है या उर्मिला जी के न रहने से भीतर आया हुआ कोई परिवर्तन - मैं नहीं जानता।

या शायद दोनों।

और शायद यही न जान पाना इस प्रश्न का सबसे सच्चा उत्तर है।



कॉलेज गेट से अंदर घुसते समय हम सभी ऊपर ऊपर से तो अपने आप को बेफिक्र दिखा रहे थे पर सभी भीतर ही भीतर आशंकित और आतंकित थे। रैगिंग को लेकर बहुत नकारात्मक खयाल मन में तेज़ी से घूम रहे थे. . .

बता दूँ, रैगिंग एक ऐसी कुप्रथा है जिसमें कॉलेज के वरिष्ठ या सीनियर छात्र नए प्रवेश लेने वाले जूनियर छात्रों-फ्रेशर्स को मानसिक, शारीरिक या भावनात्मक रूप से प्रताड़ित करते हैं। शुरुआत में इसे 'परिचय' या 'स्वागत समारोह' का नाम दिया जाता है, लेकिन प्रायः यह गंभीर उत्पीड़न का रूप ले ही लेती है।

जाने वह किस किस्म की मानसिकता होती है जो एक शिक्षण संस्थान जैसी पवित्र जगह में भी सीनियर छात्रों के मन में लगभग राक्षसी व्याकुलता भर देती है। झुंड के झुंड सीनियर छात्र कॉलेज के गलियारों में जॉम्बीज़ की तरह अपने शिकार की तलाश में घूमते हैं। वे रैगिंग के लिए सुरक्षित जगह ढूँढ़ कर रखते हैं – जहाँ किसी लेक्चरर, प्रोफेसर या किसी अन्य के आने की कोई संभावना ना हो। वैसे तो ये जगहें सालों साल से चिह्नित और चयनित रहती हैं। पर सिम्पल मौखिक टाइप की रैगिंग तो खुले आम सभी की मौजूदगी में चलते फिरते चलती रहती है। दूर से वह बहुत शालीन किस्म का वार्तालाप दिखाई देता है। जिसमें नए छात्रों को अथवा फ्रेशर्स से उनका परिचय तो जाना ही जाता है साथ ही उनको सीनियर्स से बात करने, उनका अभिवादन करने, कॉलेज में किस तरह से रहना है आदि की सीख अपमानजनक भाषा का प्रयोग करते हुए, मजाक उड़ाते हुए और असभ्य सवाल पूछते हुए; दी जाती है। इसी समय आगे कहाँ और कब उपस्थित होना है इसे भी सूचित कर दिया जाता है।

यह रैगिंग मुख्य रूप से सेकंड ईयर के छात्र लिया करते थे। हमारे समय में ऐसा ही होता था। इसका एकमात्र कारण ये था कि फर्स्ट ईयर और सेकंड ईयर की क्लासें मुख्य ऐड्मिनिस्ट्रेटिव ब्लॉक में ही लगती थीं। बाक़ी संकाय भवन यहाँ से दूर होने के कारण थर्ड ईयर या उससे ऊपर के छात्र यहाँ कम ही आते थे। बिल्कुल ना आते हों ऐसा भी नहीं था। वहाँ के कुछ ज़्यादा ही भूखे जॉम्बीज़ दो या तीन की संख्या में आते और मिलने वाले शिकारों को या फिर कभी मौका पाकर पूरी क्लास को झील के किनारे आने के लिए डरा, धमका कर निमंत्रित कर जाते थे।

हॉस्टल में रैगिंग अपने वीभत्स रूप में उपस्थित होती थी। मारपीट, बेइज्जती भरे काम कराना, कठिन शारीरिक गतिविधियाँ करवाना ये सब तो वहाँ आम और सामान्य सी गतिविधियाँ थीं। जिन्हें सीनियर्स नए छात्रों को व्यावहारिक जानकारी देना मानते थे। हॉस्टल की ज़िंदगी एकदम अलग थी। यदि उसी को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ूँगा तो किसी और ही दिशा में निकल जाऊँगा। वह एक अलग ही दुनिया थी खासकर नए विद्यार्थियों के लिए। बस बात यहीं समाप्त कर देता हूँ। क्योंकि मेरा सीधा संबंध कभी

इस दुनिया से नहीं बन सका था। बस दो या तीन बार ऐसा हुआ था, जिसका ज़िक्र मैं इसी चैप्टर में आगे करूँगा। ।

मेरी अपनी समझ आज भी रैगिंग को उचित नहीं मानती। हम मॉडेल हाई स्कूल में या किसी भी स्कूल में जब कक्षा छटवीं में प्रविष्ट होते हैं, तब फ्रेशर्स ही होते हैं। उम्र भी कम होती है। किन्तु तब कुछ भी सिखाने के लिए किसी रैगिंग की आवश्यकता नहीं होती। फिर सोलह साल की उम्र में इस तरीक़े से मैनर्स सिखाए जाना, सीखने वालों का मानसिक विकार ही माना जाना चाहिए। मैंने स्वयं देखा है रैगिंग लेने में जो सीनियर्स सबसे ज़्यादा संलग्न रहते हैं उनके चेहरों से उनकी मानसिक विकृति साफ़ झलकती है। ये लोग पागलपन की हद भी पार कर जाते हैं। संख्या में भी बहुत थोड़े होते हैं। किन्तु इनका नियंत्रण इनके अपने साथियों पर भी होता है और वे ना चाहते हुए भी या तो इनके साथ बने रहने को मज़बूर होते हैं या फिर तटस्थ बने रहते हैं। मेरे अपने समय की बात करूँ तो इसी तरह के दो एक नाम मुझे आज भी याद हैं। किन्तु उनका उल्लेख यहाँ करना ना तो उचित है और ना ही मैं उन्हें याद करते हुए मन में जो कड़वाहट आ गई है उसको इस पन्ने पर उड़ेलना चाहता हूँ।

रैगिंग के ढेरों दुष्परिणामों में शामिल हैं आत्मविश्वास की कमी और डिप्रेशन, पढ़ाई में मन नहीं लगना आम बात है। कुछ मामलों में शारीरिक चोट या स्थायी मानसिक आघात भी होता है। कई छात्र कॉलेज छोड़ देते हैं। गंभीर मामलों में छात्र आत्महत्या जैसे कदम तक उठा लेते हैं।

अब तो डिजिटल युग में सोशल मीडिया पर अपमानित करना, फोटो/वीडियो वायरल करने की धमकी देना, बहुत आम बात हो चुकी है।

अच्छी बात ये है कि भारत में रैगिंग को अब गंभीर अपराध माना जाता है: सरकारी नियमों के तहत हर संस्थान को एंटी-रैगिंग कमेटी बनानी अनिवार्य है। रैगिंग साबित होने पर निष्कासन, जुर्माना और जेल तक की सज़ा हो सकती है। राष्ट्रीय एंटी-रैगिंग हेल्प लाइन पर शिकायत दर्ज़ कराई जा सकती है साथ ही एंटी-रैगिंग पोर्टल भी शिकायत के लिए उपलब्ध है।

अब हालात बहुत कुछ बदल गए हैं कॉलेज प्रशासन द्वारा सख्त निगरानी और CCTV कैमरों का इस्तेमाल किया जाने लगा है। नए छात्रों के लिए सहायता हेल्प लाइन और काउंसलिंग की व्यवस्था की जाती है। यह जानकारी प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है, ज़मीनी हक़ीकत क्या है, मैं नहीं जानता। बस इतना कह सकता हूँ कि रैगिंग को रोकने के लिए सिर्फ कानून ही नहीं, बल्कि सामाजिक सोच में बदलाव भी ज़रूरी है। सीनियर्स को यह समझना होगा कि असली "वेलकम" डराने में नहीं, बल्कि अपनापन देने में है।



पहले दिन जब हम प्रशासनिक भवन के सामने बने साइकिल स्टैंड तक पहुँचे, तो वहाँ कुछ और लड़के भी खड़े थे। उनके चेहरों पर भी लगभग वही संकोच था जो शायद हमारे चेहरों पर रहा होगा। सब अपनी-अपनी साइकिलें इस तरह खड़ी कर रहे थे मानो किसी अपरिचित प्रदेश में अपना पहला निशान छोड़ रहे हों। उन लड़कों में कौन हमारी तरह नया था और कौन वरिष्ठ, यह समझ पाना कठिन था। सबके चेहरे अनजान थे और उस अनजाने पन में एक हल्की-सी दहशत घुली हुई थी।

हम धीरे-धीरे प्रशासनिक भवन के लंबे गलियारे में आ गए। वहाँ लगे नोटिस बोर्ड के सामने कुछ देर भीड़ जमा रही। उसी पर हमें अपनी कक्षा और लेक्चर हॉल का पता चला। फिर हम अपने-अपने कमरों की ओर चल पड़े। उस दिन सब कुछ सामान्य रहा। इतना सामान्य कि बाद में याद करने पर भी उसमें कोई विशेष घटना नहीं मिलती, केवल एक हल्की-सी राहत याद आती है कि पहला दिन बिना किसी अप्रिय अनुभव के बीत गया था।

लेकिन वह राहत अधिक दिनों तक नहीं टिकनी थी।

शुरुआती तीन-चार दिन किसी अनिश्चित प्रतीक्षा में बीते। हम कॉलेज परिसर में चलते तो थे, पर जैसे सावधानी से कदम रखते थे। धीरे-धीरे रैगिंग का अदृश्य जाल हमारे चारों ओर फैलने लगा। कभी किसी गलियारे में, कभी सीढ़ियों के पास, कभी किसी मोड़ पर अचानक कुछ वरिष्ठ छात्र सामने आ खड़े होते। नाम, पता, बारहवीं के अंक-

इन सामान्य प्रश्नों से बातचीत आरम्भ होती और फिर अचानक उसका स्वरूप बदल जाता। कुछ ऐसी बातें सुनने को मिलतीं जिन्हें सुनकर भीतर एक असहजता भर जाती। कभी अजीब आदेश दिए जाते, कभी बेवजह की धमकियाँ।

प्रशासनिक भवन का लंबा गलियारा उन दिनों जैसे एक छोटे-से रंगमंच में बदल जाता था, जहाँ हम नए छात्रों को अनिच्छा से कुछ भूमिकाएँ निभानी पड़ती थीं। बाद में हम इस सबके अभ्यस्त हो गए, पर आरम्भिक दिनों में हर सुबह कॉलेज आते समय मन के किसी कोने में एक अनकहा भय साथ चलता था।

हॉस्टल में रहने वाले लड़कों की कहानियाँ तो और भी विचलित कर देने वाली थीं। शाम को जब वे अपने अनुभव सुनाते, तो लगता हम जिन असुविधाओं को बड़ी बात समझ रहे हैं, वे उसके सामने बहुत छोटी हैं। उनमें से कुछ लड़के तो घबराकर घर लौट गए थे। कई सप्ताह बाद वे फिर कॉलेज में दिखाई दिए।

कभी-कभी पूरी कक्षा को इकट्ठा करके भवन की छत पर ले जाया जाता। आज भी वह दृश्य स्मृति में किसी धुँधली तस्वीर की तरह मौजूद है। हम सब पंक्तिबद्ध खड़े रहते और सामने कई समूहों में वरिष्ठ छात्र घूमते रहते। वे तरह-तरह के बेहूदा नारे लगवाते, जिनका कोई अर्थ नहीं होता था। कभी-कभी उनमें अश्लीलता भी होती। उन क्षणों में शारीरिक कष्ट तो बहुत नहीं था, पर भीतर एक ऐसी असहायता महसूस होती थी जिसे शब्दों में बाँधना कठिन है। अपमान का अनुभव प्रायः शरीर पर नहीं, मन पर अधिक देर तक टिकता है।

इन सबके समानांतर पढ़ाई भी चल रही थी। धीरे-धीरे कॉलेज का परिसर परिचित होने लगा था। दूसरे नंबर के गेट के पास मुख्य सड़क किनारे बनी छोटी-सी चाय नाश्ते की दुकान, जिसे सब 'कैंटीन' कहते थे, अब हमारी दृष्टि में भी आने लगी थी।

मैं घर से टिफिन लाता था। सुबह नाश्ते में दो पराँठे खाने के बाद सीधे कॉलेज आ जाता और दोपहर तक भूख लगने लगती। सब्ज़ी और रोटियाँ एक एल्यूमिनियम के लंच बॉक्स में रखकर लाता था। अखिलेश प्रायः टिफिन नहीं लाता था। वह घर से

खाना खाकर निकलता था। फिर भी दोपहर के समय हम साथ बैठते। मैं अपना टिफिन खोलता, वह मेरे साथ बातें करता, और हम दोनों लंच करते।

खाने के बाद हम पास लगे नल से पानी पीते और फिर यूँ ही टहलने निकल जाते। कभी सिविल विभाग की इमारत के सामने, कभी प्रशासनिक भवन के आसपास। उन दिनों बातचीत का कोई विशेष विषय नहीं होता था। भविष्य, पढ़ाई, नए मित्र, रैगिंग, अध्यापक-सब कुछ हमारी बातों में थोड़ा-थोड़ा शामिल रहता।

कभी जेब में कुछ अतिरिक्त पैसे होते, समय भी होता और मन भी, तो हम उस तथाकथित कैंटीन की ओर चले जाते। वस्तुतः वह कॉलेज की आधिकारिक कैंटीन कम और सड़क किनारे की एक छोटी-सी चाय-नाश्ते की दुकान अधिक थी। लेकिन वर्षों से छात्र वहाँ आते रहे थे, इसलिए वह सभी की भाषा में कैंटीन ही बन गई थी।

फिर भी हम वहाँ बहुत कम जा पाते थे। उसके भीतर लगभग हर समय वरिष्ठ छात्रों की महफ़िल जमी रहती। दूर से गुजरते हुए उसकी ओर देख लेना आसान था, भीतर जाकर बैठना नहीं। इस तरह की दूसरी दुकानें या तो राँझी तिराहे के आस पास थीं या फिर गोकलपुर की तरफ़ पर कॉलेज से दूर। वहाँ तक पैडल जाना और फिर से क्लास शुरू होने तक लौट आना संभव नहीं था।

वे दिन इसी तरह बीतते रहे। डरे सहमे कुछ चुप चुप से। बीच बीच में रैगिंग का सिलसिला बदस्तूर जारी था। क्लास में नए, दूसरे स्कूलों या अन्य शहरों से आये छात्रों से अब धीरे धीरे परिचय हो रहा था - नई दोस्तियाँ बन रही थीं।



इसी बीच हमने पाया कि हमारा एक नया ग्रुप बन गया है।

इस नए ग्रुप में हम पाँच सदस्य थे – अखिलेश, राजेन्द्र कौशल, भानु प्रकाश श्रीवास्तव, दीपक श्रीवास्तव और मैं।

भानु और दीपक यादव कालोनी से आते थे और कौशल का घर हाथीताल कालोनी गोरखपुर में था।

अब हम सभी प्रायः साथ साथ ही कॉलेज आते थे। कॉलेज में खाली समय में साथ साथ ही घूमते थे। वे हमारे टीनएज के अंतिम दो तीन साल थे। हमारी बातों और सपनों का कोई ओर छोर नहीं था। वे बेलगाम शक्तिशाली अश्वों की तरह हमारी कल्पना के असीम आकाश में इधर उधर दौड़ते फिरते थे। कभी सफ़ेद बेदाग पंखों वाले हंसों की तरह लंबी लंबी दूरियों तक उड़ते कभी मन के मानसरोवर में निःशब्द शांति के साथ तैरते रहते जैसे समाधि में हों। हम आपस में अपनी इन कल्पनाओं, स्वप्नों और उड़ानों की चर्चा आपस में करते थे। वे दिन सचमुच सपने देखने के दिन थे। हम जागी आँखों से सपने देखते, एक दूसरे से शेयर करते और ख़ुश होते थे।

इस बीच भानु को दीवान-ए-ग़ालिब मिल गया। वह रोज़ कोई एक या फिर दो शे'र याद करके आ जाता था और हमारा बहुत सा समय उन अश'आरों की विवेचना में निकाल जाता था। ये बात अपने आप में पूर्ण सत्य है कि ग़ालिब की शायरी की विवेचना विद्वानों के लिए भी अगम्य है तब हम टीनेजर्स क्या ही कर पाते। किन्तु हर उम्र की अपनी समझ होती है, हमारी भी थी; उसी के अनुसार हम उन अश'आरों में अपनी अपनी समझ और छोटे छोटे अनुभवों के सहारे अपने अपने सच ढूँढ़ते थे। और ख़ुश होते थे। उनमें से एक शे'र याद आ रहा है –

"ग़म-ए-हस्ती का 'असद' किस से हो जुज़ मर्ग इलाज,
शम्अ हर रंग में जलती है सहर होते तक।"

मिर्ज़ा ग़ालिब का यह मशहूर शे'र उनकी प्रसिद्ध ग़ज़ल *"आह को चाहिए इक उम्र असर होते तक"* का मक्ता अथवा आख़िरी शे'र है। ग़ालिब ने इस शे'र में अपने शुरुआती तखल्लुस **'असद'** का इस्तेमाल किया है:

(ग़म-ए-हस्ती: जीवन का दुःख / ज़िंदगी के ग़म, जुज़ मर्ग: मौत के सिवा (जुज़-सिवा/अलावा, मर्ग-मौत)
इलाज: उपाय / समाधान / सहर: सुबह)

- "इस शे'र में ग़ालिब दर्शन/फिलासफी की बात करते हुए कहते हैं कि इस इंसानी ज़िंदगी के दुखों का अंत मौत के सिवा किसी और चीज़ से मुमकिन नहीं है। जब तक

ज़िंदगी है, दुःख-तकलीफ़ें बनी रहेंगी। ठीक उसी तरह, जैसे एक मोमबत्ती (शम्अ) का मुकद्दर ही जलना है और वह सुबह होने तक हर हाल में जलती ही रहती है; जलना ही उसका अस्तित्व है।"

मिर्ज़ा ग़ालिब का एक दूसरा शे'र जो इसी हवाले से याद रह गया है कुछ इस तरह है–

गो हाथ में जुम्बिश नहीं आँखों में तो दम है,
रहने दो अभी साग़र-ओ-मीना मेरे आगे।

मिर्ज़ा ग़ालिब का यह बेहद मशहूर और गहरा शे'र उनकी एक और ऐतिहासिक ग़ज़ल से है। कई जगह 'हाथ' की जगह 'हाथों' का भी इस्तेमाल सुनने को मिलता है, मूल रूप से यह 'हाथ में' है।*

*जानकारी एआई से।

गो: भले ही / हालाँकि। जुम्बिश: हरकत / हिलने-डुलने की ताक़त। दम है: जान है / रोशनी या देखने की ताक़त है। साग़र-ओ-मीना: जाम (प्याला) और सुराही (शराब रखने का बर्तन)। यहाँ यह ज़िंदगी की महफ़िल, उम्मीदों और जीने की चाह का प्रतीक है।

ग़ालिब इस शे'र में बुढ़ापे या कमज़ोरी के उस दौर का ज़िक्र कर रहे हैं जहाँ इंसान का शरीर उसका साथ छोड़ रहा है। वह कहते हैं कि-हालाँकि मेरे हाथों में अब इतनी ताक़त (जुम्बिश) नहीं बची है कि मैं ख़ुद जाम उठा सकूं, लेकिन मेरी आँखों में अभी भी देखने की पूरी ताक़त (दम) है। इसलिए इन साग़र और मीना (जाम और सुराही) को अभी मेरे सामने से मत हटाओ, मैं इन्हें देखकर ही जीने का लुत्फ ले लूँगा।

यह शे'र इंसान की कभी न मरने वाली इच्छाशक्ति और ज़िंदगी के प्रति उसके मोह को दिखाता है। शरीर भले ही बूढ़ा या लाचार हो जाए, लेकिन जब तक आँखों में देखने की और दिल में जीने की चाह (दम) बाक़ी है, इंसान हार नहीं मानता।

हम जो विवेचना करते थे वह भी इसी के बहुत आस पास की होती थी। बेशक शब्द इधर उधर होते होंगे परंतु हम अर्थ सही पकड़ पाते थे। हाँ, ये और बात है कि भानु

कठिन उर्दू शब्दों के मायने भी पर्ची में लिख कर ले आता था या समझ और रट कर के आता था। उन्हीं अर्थों को पकड़ कर हम अर्थ तो निकाल ही लेते थे। फिर इन अश'आरों के अर्थ को अपने अपने वर्तमान या बीते हुए के साथ जोड़ते थे। उस जोड़ घटाने का बहुत सा हिस्सा आपस में साझा भी करते थे, किन्तु कुछ थोड़ा सा हमारे भीतर ही रह जाता था। बाक़ी लोगों का तो नहीं पता परंतु मेरे साथ ऐसा होता था।

मैंने ऊपर कहीं बताया है – उन दिनों मेरे बाल बहुत लंबे थे, कंधे छूते थे। स्कूल के दिनों में भी लंबे थे पर इतने नहीं। अब मैं नियमित डाई लगाने लगा था। अपने बालों का रख रखाव मेरे लिए एक अतिरिक्त कार्य था पर मैं करता था। नियमित रूप से। उसी समय बी.आर.चोपड़ा जी की फिल्म 'धुंध' रिलीज हुई थी। इस फिल्म में मशहूर हिन्दी फिल्म अभिनेता 'डैनी डेंजोंगपा' की बहुत पॉवर फुल और महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिसे उन्होंने शानदार तरीक़े से अभिनीत किया था। मुझे कुछ लोगों ने मेरे बालों के कारण और शायद कुछ शक्ल-ओ-सूरत के थोड़ा बहुत मिलने के कारण कहा था – "आप रंजीत सिंह डैनी जैसे दिखते हो।"

उस फिल्म में 'डैनी डेंजोंगपा' ने 'ठाकुर रंजीत सिंह' की भूमिका निभाई थी। यह फिल्म फरवरी 1973 में रिलीज हुई थी। उसी समय से भानु ने मेरा नाम 'बॉस' रख दिया था। अब ग्रुप के बाक़ी चारों मुझे बॉस कहकर बुलाने लगे थे। सिवाय अखिलेश के वह जब सामूहिक रूप से कोई बात होती तब ज़रूर बॉस कहता था अन्यथा 'अनिल' कहकर ही संबोधित करता था। कई बार ग्रुप अंतिम निर्णय लेने का दायित्व मुझपर डाल देता – "बॉस जो कहेगा'. . .।"



इस सबके साथ साथ क्लासें तो बदस्तूर चल रही थीं। यहाँ सारी पढ़ाई अँग्रेज़ी माध्यम से होती थी, जो हम हिन्दी मीडियम वालों के लिए परेशानी का सबब था। मैं सभी की बात तो नहीं कर सकता पर मुझे तो दिक्कत हो रही थी। लेकिन राहत इस बात की थी कि कुछ लेक्चरर और प्रोफेसर इस बात को समझते थे। जिन्होंने हिन्दी और अँग्रेज़ी के मिले जुले माध्यम से पढ़ाई की शुरुआत की। धीरे धीरे वे केवल अँग्रेज़ी माध्यम पर आ गए। इस तरह के लेक्चरर में हमें केमिस्ट्री पढ़ाने वाले पिल्लई सर अग्रणी थे।

उन्होंने अपनी क्लासें शुरू करते ही इस बात को सबसे पहले एड्रेस किया था। उनका पढ़ाने का तरीक़ा भी बहुत अच्छा था और ब्लैक बोर्ड पर उनकी लिखावट भी बहुत सुंदर थी। दक्षिण भारतीय होते हुए भी वे बहुत साफ़ और सुंदर हिन्दी बोलते थे। जहाँ तक मुझे याद है उनकी पत्नी भी हमारे ही कॉलेज में लेक्चरर थीं।

फर्स्ट ईयर में हमारे विषय थे – फिजिक्स, केमिस्ट्री, मेथ्स, इंग्लिश, वर्कशॉप और इंजीनियरिंग ड्रॉइंग। दूसरे साल इन विषयों के साथ सिविल इंजीनियरिंग, मैकेनिकल इंजीनियरिंग, इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, मशीन ड्रॉइंग, सिविल इंजीनियरिंग ड्रॉइंग सब्जेक्ट भी जुड़ गए थे। तीसरे साल से मैकेनिकल इंजीनियरिंग की पढ़ाई विधिवत शुरू हुई और उसके विषय हमने पढ़ना शुरू किए।

□□

कॉलेज में पहला साल कब बीत गया पता ही नहीं चला। आरंभिक पाँच छह महीने तक तो रैगिंग की धमा -चौकड़ी में निकल गए। फिर धीरे धीरे जैसे कोई तूफ़ान कितना भी बड़ा क्यों न हो आख़िर में शांत हो ही जाता है, रैगिंग का सिलसिला भी ख़त्म हो हो गया। कभी अचानक किसी सीनियर के मन में कोई खुराफ़ात आ जाए वो अलग बात है। पर अब पढ़ाई पर कनसंट्रेशन शुरू हो चुका था। हमारा भी और सीनियर्स का भी। उनसे कुछ कुछ दोस्ती नुमा ताल्लुक़ात भी बन से गए थे।

यहाँ एक बात बताना चाहूँगा- मेरे चित्र बनाने के हुनर ने मुझे रैगिंग की कष्टप्रद पीड़ा से बहुत बचाया। ये बात धीरे धीरे सब तरफ़ फैल चुकी थी कि मैं चित्र बनाता हूँ। यहाँ के सीनियर्स में बहुत से सीनियर्स मॉडेल हाई स्कूल के भी थे। वे सब यह बात जानते थे। जब भी हम लोगों को झील के किनारे रैगिंग के लिए बुलाया जाता था, वह थोड़ा हाई लेबल की रैगिंग होती थी। क्योंकि वहाँ सीनियर्स और हमारे सिवाय कोई और नहीं होता था। रैगिंग बड़े इत्मीनान से ली जाती थी। हममें से भी कुछ छात्र इतने ढीठ किस्म के थे वे भी बड़े इत्मीनान से रैगिंग देते थे। इतने इत्मीनान से कि रैगिंग लेने वाले खिसिया जाते थे। हमारे इन साथी छात्रों को जो भी करने के लिए कहा जाता वे बिल्कुल देर किए बिना निर्विकार भाव से कर देते। या करने लगते और रैगिंग लेने

वाला उस आनंद से वंचित रह जाता जो उसे रैगिंग देने वाले छात्र की घबराहट, शर्म और विवशता को देखकर मिलता।

तो, मैं ये कह रहा था मुझे इन कठिन परिस्थितियों से शायद एक या दो बार गुज़रना पड़ा था। परंतु कुछ ऐसा संयोग हुआ कि हर बार सीनियर्स में मेरे मॉडेल हाई स्कूल के एक दो सीनियर्स निकल आते थे , जो मुझे इन विषम परिस्थितियों से बाहर निकाल लेते थे। वे मुझे वहाँ से ये दर्शाते हुए निकाल लाते कि इसकी रैगिंग हम लेंगे। फिर कुछ देर बाद यहाँ वहाँ के सरल से सवाल और हाल-चाल पूछ कर भाग देते थे। ऐसे सीनियर्स में अरविन्द श्रीवास्तव का नाम मैं प्रमुख रूप से लूँगा। जिससे मॉडेल हाई स्कूल में मेरा सीधा सीधा परिचय तो नहीं हुआ था। परंतु वह मुझे शायद अच्छे से जानता होगा, दूसरा मेरे चेहरे से टपकती मासूमियत और मेरी बड़ी बड़ी आँखों की गहराइयाँ उसे ही नहीं दूसरे रैगिंग लेने वालों को प्रभावित कर देती थी। बाहर हाल अरविन्द श्रीवास्तव और कुछ अन्य सीनियर्स ने मेरी बहुत सहायता की थी। हाँ ! अब असल बात, कई बार रैगिंग के दौरान मुझसे झील के किनारे की रेत पर चित्र बनवाए जाते थे। मैं भी मज़े से अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली से रेट पर रेखाएं खींच देता और कुछ आकृतियाँ उभर आतीं। वे संतुष्ट हो जाते, कुछ और चित्रों की फ़रमाइश होती; मैं बना देता। कई बार मुझसे कुछ अश्लील किस्म के चित्र बनाने भी कहा जाता। मैं उन्हें सामान्य भाव से बना देता। वे ख़ुश होकर अपने साथियों को बुलाकर दिखाते। आने वाले साथी कुछ और फ़रमाइश करते। मैं पूरा कर देता। कुछ सात्विक किस्म के रैगिंग लेने वाले हमारे राष्ट्रीय नायकों के चित्र बनाने की इच्छा ज़ाहिर करते मैं वह भी पूरी कर देता। रेत में वे पोर्ट्रेट कितने सही बनते कह नहीं सकता। पर वे सीनियर्स ख़ुश हो जाते।

उस बीच मेरे अन्य साथी अजीब अजीब तरह की कूद-फांद में लगे होते या बेवजह अशोभनीय बातें सुन रहे होते। जो मुझे बिल्कुल भी अच्छा तो नहीं लगता था, परंतु क्या कर सकता था।

इसी सिलसिले में एक क़िस्सा और जुड़ सकता है –

वह भी सुनाए देता हूँ। हमारे समय में भी कॉलेज के प्रेसिडेंट का चुनाव एक बहुत बड़ी घटना हुआ करती थी। आज कल तो कॉलेज का चुनाव पूरी तरह से देश और प्रदेश की राजनीति से जुड़ गया है। तब भी जुड़ा हुआ था, परंतु कुछ कुछ ढँका मुँदा सा। अब तो राजनैतिक पार्टियाँ छात्रों में से ही चुनकर अपने उम्मीदवार उतारती हैं। बहरहाल जब हम फर्स्ट ईयर में पहुँचे थे तब कॉलेज शुरू होने के कुछ माह बाद प्रेसिडेंट चुनाव हुए थे। जहाँ तक मुझे याद है उस बरस हॉस्टल पैनल और सिटी पैनल या डे स्कॉलर्स पैनल के बीच मुकाबला हुआ था। चुनाव डे स्कॉलर्स पैनल ने जीता था। चूँकि मेरा कभी भी कोई इंटरेस्ट किसी भी तरह की पॉलिटिक्स में नहीं रहा, मैं उस समय की इन बातों को लगभग भूल चुका हूँ। बस इतना याद है कि जब हम फर्स्ट ईयर में थे तब एक 'शेखों' सरनेम के सरदार स्टूडेंट ने प्रेसिडेंट का पद संभाला हुआ था। उनके खिलाफ़ जिसने चुनाव जीता था वह नाम मुझे याद नहीं है। जो दो तीन नाम याद आ रहे हैं उनके बारे में मैं बिल्कुल भी मुतमइन नहीं हूँ। इसलिए कोई ग़लत नाम लिखने से बच रहा हूँ। प्रेसिडेंट के साथ ही सेक्रेटरी और दो या तीन अन्य पदों के ;लिए भी चुनाव होते थे या उन्हें नामजद किया जाता था अब ये बिल्कुल याद नहीं है। बस इतना याद है कि कॉलेज के प्रोफेसर्स और लेक्चरर्स में से दो या तीन पर्यवेक्षक हुआ करते थे। उनके सामने बैलेट बॉक्स रखा होता था। चुनाव लड़ने वाले छात्रों के प्रतिनिधि भी वहाँ उपस्थित होते थे। कॉलेज के बाक़ी सभी छात्र एक एक करके दी हुई पर्ची में शायद उस छात्र उम्मीदवार का नाम लिखकर अपना वोट डालते थे जिसे वे चुनना चाहते थे। वह पर्ची सभी के सामने बैलेट बॉक्स में वोट देने वाले छात्र के द्वारा स्वयं डाल दी जाती थी। चुनाव करने का पारंपरिक और सरल तथा सुरक्षित तरीक़ा। बाद में वोटों की गिनती होती। विजयी छात्र नेता की घोषणा होती। विजय पाने वाले दल के समर्थक छात्रों द्वारा पूरे उत्साह से जीत का उत्सव मनाया जाता। जुलूस भी निकलता। सब कुछ ठीक-ठाक रहता तो बिना किसी झगड़े झंझट के दो एक दिनों में शपथ ग्रहण समारोह-पुरानी कमेटी और निवर्तमान प्रेसिडेंट द्वारा पारंपरिक विधि से कार्यभार नई समिति और नव निर्वाचित प्रेसिडेंट को सौंप दिया जाता था।

परंतु प्रायः ऐसा हो नहीं पाता था। शपथ ग्रहण समारोह तक पहुँचते पहुँचते काफ़ी कुछ घट जाता। हॉस्टल और कॉलेज कैंपस में कुछ छोटी बड़ी झड़पें हो जातीं, दोनों पक्षों

के कुछ कार्यकर्ता इधर उधर पिट-पिटा जाते। इन झड़पों, पीटने पिटवाने से उत्पन्न स्थितियों से निपटने के लिए कॉलेज मैनेजमेंट को नियमानुसार मशक्कत करनी पड़ती। तब कहीं जाकर शपथ ग्रहण समारोह सम्पन्न होता। कई बार उसमें भी व्यवधान पड़ता, धमा-चौकड़ी, छीना-झपटी, चीख पुकार, चिल्ला-चौंट मचती। पर किसी तरह वह आयोजन भी सम्पन्न हो जाता।

इंजीनियरिंग कॉलेज के कुछ लड़के तीस, चालीस, पचास या कभी और ज़्यादा भी, सिटी के मालवीय चौक पर नियमित रूप से इकट्ठा होते थे। वहाँ दो एक ढाबा या रेस्टॉरेन्ट नुमा दो एक दुकानें थीं, जहाँ कुछ दमदार सीनियर स्टूडेंट्स की नित्य बैठकी होती थी। उनके दरबार में मैं कभी नहीं गया ना ही मैंने या मारे ग्रुप के किसी सदस्य ने मालवीय चौक पर समय बिताया इसलिए वहाँ घटित किसी भी घटना या वहाँ किस तरह क्या क्या होता था, मैं नहीं बता पाऊँगा। हाँ, इतना अवश्य था कि उस समय शाम छह साढ़े छह बजे से देर रात तक वहाँ इंजीनियरिंग कॉलेज के लड़कों का दबदबा बना रहता था। मैं जान बूझकर यहाँ कई नाम जो मुझे याद भी हैं उनका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ। उनमें से कई नाम प्रदेश स्तर की राजनैतिक ऊँचाइयों तक पहुँचे। कुछ ने देश की राजनीति में भी प्रतिष्ठा पाई।

मेरे अपने साथ के कुछ छात्रों ने भी उनके लिए गाँव-गाँव जाकर काम किया। गली-गली मेहनत की। बाद में नौकरी लगने के बाद ऐसे कुछ साथी , कुलीग भी बने। तब उनके इस तरह के पुराने अनुभवों की कहानियाँ भी सुनीं। लेकिन वे चूँकि मेरी कहानी का सीधा-सीधा हिस्सा नहीं हैं इसलिए उनका उल्लेख किए बिना आगे बढ़ता हूँ।

ऊपर भी कॉलेज प्रेसिडेंट के चुनाव को लेकर जो बातें की हैं – वे सुनी सुनाई हैं। सिवाय इसके कि फर्स्ट ईयर और सेकंड ईयर में मैंने भी वोट डाला था तथा सेकंड ईयर या फर्स्ट ईयर में चुनाव नतीजे घोषित होते ही बुरी तरह से झगड़ा शुरू हो गया था। क्योंकि इस झगड़े के वक़्त मैं और मेरे ग्रुप के साथी भी वहाँ थे। झगड़ा शुरू होते ही बुरी तरह चीख पुकार, गालियों की बौछार, पथराव, झीना-झपटी और मार पीट शुरू हो गई। हम और हमारे जैसे सैकड़ों छात्र कॉलेज गेट से भागते हुए बाहर निकले वहाँ कैम्पस के बाहर पुलिस मौजूद थी। परंतु उनका ध्यान मार पीट करने वाले छात्रों

पर अधिक था। हममें से बहुत सारे तमाशबीन और तटस्थ छात्र मेन रोड के उस पार एस.पी. के बंगले की दीवार की तरफ़ दौड़ कर खड़े हो गए। अब लड़ाई कॉलेज गेट के आस पास हो रही थी। पुलिस भी अपना काम कर रही थी। पुलिस अधिकारी चिल्ला चिल्लाकर छात्रों को शांत करने का प्रयास कर रहे थे। पर उनकी कोई नहीं सुन रहा था। अचानक एक अधिकारी ने पिस्तौल निकाल कर हवाई फ़ायर किए। हम लोग बुरी तरह से डर गए थे। ऐसी परिस्थिति शायद हम सभी के जीवन में पहली बार निर्मित हुई थी। हमारी जान सूख रही थी। घटनास्थल पर, जो कि अब कॉलेज मेन गेट के सामने का हिस्सा था – बेतरतीब भगदड़ मच गई थी। अचानक कहीं से दो या तीन कारें वहाँ आ गईं। गिरते पड़ते कुछ छात्र उनमें सवार होकर वहाँ से भाग गए। वे शायद बाहर दूसरे कॉलेजों से आए छात्र थे या कोई और मुझे पता नहीं। बाक़ी बचे हुए छात्रों को पुलिस ने तितर-बितर किया और वह जगह खाली करवा ली। हम लोग भी साइकिल स्टैंड से अपनी अपनी साइकिलें लेकर गेट नंबर दो से घरों की ओर लौट गए।

जाते जाते हमने देखा पूरे कॉलेज परिसर और प्रशासनिक भवन में सन्नाटा पसरा हुआ है।

हमने घर जाना ही उचित समझा।

□□

इसी कड़ी में माने कॉलेज छात्र संघ चुनाव से जुड़ी एक घटना ज़रूर सुनाऊँगा –

यह बात भी सेकंड या फर्स्ट ईयर की है। क्योंकि जब हम थर्ड ईयर में पहुँचे थे उसके बाद से तो प्रेसिडेंट को नॉमिनेट किया जाने लगा था। बाद में यह प्रथा बंद हुई या यथावत रही। मुझे नहीं पता।

हाँ तो, बात चाहे फर्स्ट ईयर की रही हो या सेकंड ईयर की। जो घटा उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। घटना ज्यों की त्यों रहेगी।

(एक बात है जो कई दिनों से भीतर कहीं अटकी हुई है। उसका इस कथा से कोई सीधा संबंध नहीं, फिर भी उसे कहे बिना आगे बढ़ पाना कठिन लग रहा है। शायद इसलिए

कि कुछ अनकही बातें स्मृतियों के बीच ऐसे खड़ी रहती हैं जैसे किसी पुराने रास्ते पर पड़ा हुआ पत्थर – छोटा सा, पर इतना कि कदम बार-बार उसी पर पड़ जाए।

जिन लोगों ने मेरी पिछली पुस्तक 'आरंभ' पढ़ी है, उन्हें यह बात अवश्य ध्यान में आई होगी कि मुझे अपने बचपन की अनेक घटनाएँ आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ याद हैं। कुछ दृश्य तो आज भी वैसे ही सामने उभर आते हैं, जैसे वर्षों बाद किसी अन्धेरे बंद कमरे की खिड़की अचानक खुल गई हो और बाहर का बहुत सारा उजाला एक साथ भीतर आ गया हो। प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के दिनों तक स्मृति का यह आलोक कमोबेश बना रहता है।

किन्तु उसके बाद जैसे कोई महीन कुहासा उतरने लगता है।

ऐसा क्यों हुआ होगा?

मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। कभी-कभी लगता है, जीवन एकाएक बहुत विस्तृत हो गया था। घटनाएँ अब एक सीध में नहीं घटती थीं; वे अनेक दिशाओं से आती थीं और एक-दूसरे में उलझती चली जाती थीं। मित्रताएँ थीं, पढ़ाई थी, आकांक्षाएँ थीं, घर-परिवार की चिंताएँ थीं, भविष्य की धुंधली आहटें थीं। शायद उस समय मन के पास इतना अवकाश नहीं था कि वह हर अनुभव को उसके अलग नाम और अलग स्थान के साथ अलग अलग पुलिंदों में या फ़ाइलों में सुरक्षित रख सके।

फिर भी मुझे नहीं लगता कि वे स्मृतियाँ खो गई हैं।

वे कहीं न कहीं मौजूद हैं। मन की किसी अँधेरी अलमारी में, किसी पुराने संदूक में रखे हुए पत्रों की तरह। कठिनाई केवल इतनी है कि अब उनके पास पहुँचने का रास्ता उतना सहज नहीं रह गया है। कभी कोई गंध, कोई आवाज़, कोई भूला हुआ नाम अचानक उस बंद सन्दूक को थोड़ी देर के लिए खोल देता है, और फिर वह उतनी ही चुप्पी से बंद भी हो जाता है।

संभव है मनोवैज्ञानिकों के पास इस अनुभव का कोई नाम हो, कोई व्याख्या हो। शायद स्मृति के विज्ञान में इसके लिए कोई सुव्यवस्थित परिभाषा भी मौजूद हो। लेकिन इस समय मुझे उस परिभाषा से अधिक उस धुंध का आकर्षण महसूस होता है, जो इन

वर्षों को ढँके हुए है। किसी दिन फ़ुरसत में उसके भीतर उतरूँगा-या शायद उस शब्द की तलाश करूँगा, जो इस पूरे अनुभव को अपने भीतर समेट सके।)

हम फिर अपनी बात पर लौटते हैं –

फर्स्ट ईयर या सेकंड ईयर – इसे भूल जाते हैं। बात शुरू करते हैं कि कॉलेज में छात्र संघ के चुनाव होना थे। उन दिनों कोई मोबाइल फ़ोन जैसी चीज़ तो नहीं थी ना ही फ्लेक्स प्रिंटिंग जैसी कोई चीज़। इसलिए उम्मीदवार छात्र अपने समर्थकों के साथ खाली समय में कई बार कक्षाओं में जाते थे। संक्षिप्त भाषण देकर अपने या अपने उम्मीदवार को वोट देने हेतु छात्रों को कायल करने की कोशिश करते थे। ब्लैक बोर्ड पर चॉक से भी कुछ नारे या स्लोगन लिख देते थे। बस इससे ज़्यादा कुछ नहीं। हर क्लास में वे अपना समर्थक ढूँढ़ लेते थे या चुन लेते थे। उसका भी यही काम होता था। एक और तरीक़ा इस्तेमाल होता था। पोस्टरों का। कुछ पोस्टर तो ड्रॉइंग शीट पर हाथ से बना लिए जाते थे। कुछ बड़े पोस्टर सिनेमाघरों से जुगाड़ कर के ले आये जाते थे। वे लोग चार पाँच टॉकीज़ों से फिल्मों के पोस्टर ले आते थे। ये पोस्टर मोटे काग़ज़ पर छपे होते थे और फिल्म की रीलों के साथ वितरकों द्वारा सिनेमाघर को दिए जाते थे ताकि फिल्म का प्रचार हो सके। नई या पुरानी फिल्मों के कुछ बचे हुए बड़े बड़े पोस्टर हॉस्टल आ जाते थे। वहाँ उनपर जगह जगह काग़ज़ चिपकाकर, रंग और ब्रश से मज़ेदार किस्म के या जज़बाती किस्म के स्लोगन लिखे जाते। अपने उम्मीदवार के समर्थन में नारे लिखे जाते या फिर विरोधी पैनल की कमियाँ अंकित की जातीं। अपने उम्मीदवार को वोट देने की अपील तो होती ही थी। फिल्मी कलाकारों का एक तरह से एडवर्टाइजिंग मॉडल की तरह उपयोग किया जाता था।

इन्हीं दिनों में से एक दिन कॉलेज छूटने से कुछ समय पहले कुछ सीनियर्स ने मुझे 'अच्छी' तरह से समझा दिया कि *"भईये आज तुम्हें घर नहीं जाना है, रात को हॉस्टल में ही रुक कर रतजगा करना है और चुनाव के पोस्टर बनाना हैं"।*

ना करने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

अखिलेश के माध्यम से मैंने घर ख़बर भिजवा दी। फिर रात का खाना वहीं हुआ। अब यहीं मैं बता दूँ कि मैंने जीवन में पहली बार रस वाली भिंडी की सब्ज़ी देखी और खाई थी। वह हॉस्टल का कौन सा ब्लॉक था, अब याद नहीं पर छह नंबर नहीं था ये पक्का है। वे लोग जब मुझे उस ब्लॉक के मेस में ले गए तब खाना अभी अभी बना था। रोटियाँ सिंक रही थीं। सभी के साथ मुझे अपनी प्लेट और कटोरियाँ लेकर खाना देने वाले के पास जाना पड़ा। उसने एक बहुत बड़ी गंजी का ढक्कन खोला उसमें भिंडी की रस वाली सब्ज़ी रखी थी। भिंडी के कुछ टुकड़े पनीले रस से लगभग भरे हुए गंज में इधर उधर तैर रहे थे। दो करछुल सब्ज़ी मेरी एक कटोरी में डाल दी गई। उसमें एक या दो टुकड़े भिंडी के भी आ गए। दूसरी कटोरी में दाल दी गई जो एक तरह से दाल का पानी था। पीला, स्वर्ण-पीत जिसमें कुछ हरे धनिया के पत्ते तैर रहे थे। लाल मिर्च के दाने भी अलग से दिखाई दे रहे थे। चावल भी थे पर मैंने नहीं लिए। मेरे साथ जो तीन चार सीनियर्स थे उन्होंने मुझे ये कहकर टेबल पर भेज दिया कि- "तुम चलो हम रोटियाँ लेकर आते हैं"। वे कुछ देर बाद रोटियाँ ले आए। रोटियाँ छोटी थीं, पर बहुत ज़्यादा जली भुनी नहीं थीं। अपेक्षाकृत ठीक थीं। भूख भी लगी थी। खाना ठीक ही लगा। खाना खाते हुए मैं सोच रहा था, यदि मुझे ये खाना भी ना मिलता तो मैं क्या कर लेता। पर मैं शुरू शुरू में जितना डर रहा था। वैसा कुछ नहीं हुआ।

मैं सुबह सबेरे घर पहुँच गया। उसके बाद फिर कॉलेज गया या नहीं मुझे याद नहीं है। पर मुझे एक रात फिर से मुझे हॉस्टल के उसी ब्लॉक में जाना पड़ा। उस दिन की कहानी भी करीब करीब वैसी ही है जैसी एक दिन पहले की थी। हाँ, उस दिन सब्ज़ी शायद आलू के साथ किसी और चीज़ की थी। मेरी कटोरी में सिर्फ़ आलू आए थे। इतना कुछ कुछ याद है।



फर्स्ट ईयर इसी तरह सधे, सहमे और सतर्क कदम रखता हुआ सालाना परीक्षाओं तक आ पहुँचा।

इस बीच हम जनरल गोल जैसी टर्म से भी परिचित हुए। सीनियर्स के दबाव में दीवाली की छुट्टियाँ नवरात्रि से शुरू करना पड़ीं जो दीवाली के बाद तक चलती रहीं।

यूनिवरसिटी के आदेश दशहरे और दीवाली की छुट्टियाँ अलग अलग हिस्सों में हुआ करती थीं। किन्तु छात्रों के अलग नियम थे। जब भी सीनियर्स ते कर लेते छुट्टियाँ उनके हिसाब से की जाती थीं। इनमें सभी मुख्य त्योहारों पर बढ़ी हुई छुट्टियों के साथ कॉलेज आना बंद करना पड़ता। जिस दिन से ऐसी छुट्टी आरंभ होती तब सीनियर छात्रों के कुछ नुमायन्दे कॉलेज के सभी गेट्स पर मौजूद रहते और क्लासें अटेन्ड करने कॉलेज पहुँचे डे स्कॉलर्स को प्यार से, अदब से या फिर डरा धमका कर वापस घर का रास्ता दिखा देते। ऐसा इस तरह की छुट्टियों के प्रारम्भिक दो-एक दिन करना पड़ता फिर कॉलेज में क्लासें लगना बंद हो जाता। लेक्चरर, प्रोफेसर क्लास में आते खाली क्लास रूम पाकर वापस चले जाते। यही हाल वार्षिक परीक्षा के लिए मिलने वाली प्रिपरेशन लीव का भी था। प्रिपरेशन लीव वास्तविक तारीख़ से पहले ही शुरू करवा दी जाती। हम लोग या प्रायः सभी छात्र इससे ख़ुश ही होते थे। अच्छी बात ये है इस सबका बहुत अधिक प्रभाव कोर्स पूरा करने पर नहीं पड़ता था। हमारे व्याख्याता गण सालों से इस बात से अच्छी तरह परिचित थे इसलिए वे भी उसी हिसाब से हमारे पाठ्यक्रम और अपने लेक्चर का तालमेल बिठा लेते थे।

फर्स्ट ईयर की सालाना परीक्षाओं की प्रिपरेशन लीव हो गई, फिर परीक्षाएँ भी हो गईं।

रिजल्ट भी आ गए - मैं सभी विषयों में पास भी हो गया, प्रथम श्रेणी में। जबकि अधिकांश विद्यार्थियों के एक, दो या ज़्यादा पेपर रुक गए थे। अखिलेश को भी शायद अँग्रेज़ी पर्चे में सप्लीमेंट्री आई थी।

इस बात से अखिलेश से अधिक उसके पिता – बाबू जी बहुत दुखी हुए थे।

मुझे याद है- एक दिन शाम को उन्होंने मुझे अपने पास बिठा लिया। अखिलेश भी घर पर था। किन्तु उसे उस समय कुछ नहीं कहा, ना वहाँ आकर बैठने के लिए ही कहा। ज़ाहिरहै चूंकि बात उसी के संबंध में हो रही थी, वह आस पास ही था। शायद बाबू जी भी वही चाहते थे कि वह भी उन बातों को सुने।

मैं भी समझ पा रहा था, बाबू जी मुझे भी कुछ इशारा कर रहे थे और अखिलेश को तो सुना ही रहे थे।

उस पूरे वार्तालाप में मैं बहुत असहज महसूस कर रहा था। मुझे पता नहीं क्यों लग रहा था कि वे शायद ये कहना चाह रहे थे कि अखिलेश को एक विषय में सप्लीमेंट्री आने के पीछे मैं भी एक वजह हूँ। अब ये बात कितनी और किस हद तक सही है मुझे आज भी स्पष्ट नहीं हो सका है। अब तो बाबू जी को गए तीस बरस से ऊपर हो गए हैं।

जिस समय की ये बात है तब वह घर अपनी पुरानी अवस्था में ही था। घर के सामने छोटी सी बगिया जिसमें एक लंबी सी बेंच रखी थी। लकड़ी के लंबे पट्टे लोहे के फ्रेम में कसे हुए। पीठ टिकाने के लिए पीछे की तरफ़ आड़। फिर मुख्य दरवाज़ा, उसके बाद आँगन बाईं तरफ़ सबसे पहले शौचालय, स्नानगृह फिर स्टोर और उसके बगल में रसोई। इन सबके सामने एक चार या पाँच फुट चौड़ी परछी या सँकरा बरामदा। बरामदे और आँगन के बीच स्टोर और रसोई के सामने एक ईंट की दीवार। इसके बाद चार कमरे दो दो के जोड़े में। इसी संरचना में बाईं ओर वाले पहले कमरे से लगा हुआ आठ गुना दस फुट का एक बैठक नुमा कमरा जिसके आँगन की ओर सामने वाली दीवार लकड़ी के पट्टों की जाली से बनी थी, डायमंड आकार में खुला स्थान छोड़ती एक दूसरे को क्रॉस करती लकड़ी की पट्टियाँ। उस कमरे का दरवाज़ा भी वैसी ही जाली का बना हुआ था। उस पूरी जाली पर पैरॅट ग्रीन और एक्वा ग्रीन के बीच का हरा रंग पुता हुआ था। कमरे में दो कुर्सियाँ एक पुरानी बेंच या सोफ़ा और सेंटर टेबल रखी थीं।

सामने और बाईं दीवार पर काँच लगे फ़्रेम में मढ़े हुए कई बहुत पुराने और घिसे हुए श्वेत-श्याम फ़ोटोग्राफ़ लगे थे। उन्हीं में बाबू जी और अम्मा के अलग अलग बड़े पोर्टेट भी थे। जो उनकी शादी के समय के थे। बेल बूटे वाली माउंटिंग में जल रंगों से रंगीन बनाए हुए पोर्टेट।

वह बेहद बोझिल शाम थी।

उन्होंने कमरे की लाइट भी नहीं जलाई थी।

उस कमरे की जाली से छानकर बाहर का प्रकाश कमरे में आ रहा था।

कमरे में एक अजीब-सी निस्तब्धता थी। दीवारों पर लगे पुराने फ़ोटोग्राफ़ धूल और समय की पतली परत से ढँके हुए थे। लकड़ी की जालीदार जाफ़री से आती फीकी रोशनी उनके चेहरों को और भी धुँधला बना रही थी।

बाबू जी ने मुझे सामने वाली कुर्सी पर बैठा दिया। स्वयं दूसरी कुर्सी पर बैठ गए। कुछ देर तक वे चुपचाप फ़र्श की ओर देखते रहे। ऐसा लग रहा था जैसे शब्द उनके भीतर कहीं अटक गए हों।

भीतर वाले कमरे में अखिलेश टहल रहा था। उसके कदमों की आहट बीच-बीच में इस सन्नाटे को काट जाती थी।

आख़िर बाबू जी ने सिर उठाया।

"तुम्हें मालूम है न... अखिलेश फ़ेल हो गया है?"

मैंने धीरे से सिर हिला दिया।

वे कुछ क्षण तक मेरी ओर देखते रहे, फिर निगाहें हटा लीं।

"एक ही विषय था... बस एक।"

उनकी आवाज़ में शिकायत कम थी, थकान ज़्यादा।

"मैंने सोचा भी नहीं था कि ऐसा दिन देखना पड़ेगा।"

कमरे में फिर चुप्पी उतर आई।

उन्होंने धीरे-धीरे हाथ उठाकर दीवार की ओर इशारा किया।

"देख रहे हो इन्हें?"

मैंने फ़ोटोग्राफ़ों की ओर देखा।

लकड़ी के पुराने फ़्रेमों में काले-सफ़ेद रंगों में कई चेहरे थे कुछ गंभीर, कुछ बस जैसे शून्य में कुछ टटोलते, मेरे लिए सभी अपरिचित।

"ये मेरे पिता हैं. . .ये दादा. . .और ये उनके बड़े भाई।"

वे एक-एक तस्वीर की ओर उँगली उठाते हुए बोले।

"अब सोचता हूँ, इन्हें क्या जवाब दूँगा ?"

मैं चुप रहा।

उनकी आँखें अब तस्वीरों पर टिकी थीं, जैसे वे मुझसे नहीं, उन्हीं लोगों से बात कर रहे हों।

"अजीब बात है. . ." वे हल्का-सा मुस्कराए, पर वह मुस्कान तुरंत बुझ गई, "आदमी मर जाता है, लेकिन उम्मीदें नहीं मरतीं।"

भीतर टहलते अखिलेश के कदम अचानक रुक गए।

शायद वह भी सुन रहा था।

बाबू जी ने धीमे स्वर में कहा -

"मेरे तीन बेटे हैं। लेकिन मैंने सबसे ज़्यादा उम्मीदें उसी से बाँध ली थीं। पता नहीं क्यों। शायद उसकी आँखों में कुछ ऐसा दिखाई देता था कि लगता था यह बहुत आगे जाएगा।"

वे कुछ सोचने लगे।

"जब छोटा था तब भी लोग कहते थे - यह लड़का अलग है। मैं भी मान बैठा।"

उनकी उँगलियाँ कुर्सी के हत्थे पर बेचैनी से चल रही थीं।

"मैंने कितनी बार सोचा था. . . इंजीनियर बनेगा, फिर अमेरिका जाएगा। वहाँ बड़ी नौकरी करेगा।"

उन्होंने मेरी ओर देखा।

"तुम्हें हँसी आएगी शायद।"

मैंने सिर हिलाया।

"नहीं, बाबू जी।"

"हँसी आनी भी चाहिए।"

वे हल्के से हँसे, लेकिन उस हँसी में गहरा विषाद था।

"आदमी अपने बच्चों के लिए सपने नहीं देखता, अपने अधूरे सपनों को उनके भीतर रख देता है।"

यह कहते हुए उनकी आवाज़ धीमी पड़ गई।

कुछ देर बाद वे फिर बोले-

"अब सोचता हूँ, क्या ग़लती मेरी थी? मैंने उससे बहुत ज़्यादा उम्मीद कर ली थी? या उसे यह एहसास ही नहीं होने दिया कि वह मेरी उम्मीदों के बोझ तले दबता जा रहा है?"

कमरे में बैठे हुए मुझे पहली बार लगा कि बाबू जी अखिलेश से नहीं, स्वयं से नाराज़ हैं।

भीतर फिर कदमों की आहट सुनाई दी।

बाबू जी ने उस दिशा में देखा, लेकिन पुकारा नहीं।

"उसे शायद लगता होगा कि एक विषय में फ़ेल होना कोई बड़ी बात नहीं।"

वे रुके।

"शायद सचमुच बड़ी बात नहीं है।"

उनकी आँखें फिर तस्वीरों पर चली गईं।

"लेकिन कभी-कभी घटना बड़ी नहीं होती. . .उसके टूटने की आवाज़ बड़ी होती है।"

कमरे में एक भारी मौन भर गया।

दीवार पर टँगे चेहरे उसी तरह निर्विकार बने रहे।

और मुझे लगा, उस समय बाबू जी को सबसे अधिक दुख अखिलेश के फ़ेल होने का नहीं था; दुख इस बात का था कि वर्षों से उन्होंने अपने भीतर जो भविष्य सँजोकर

रखा था, वह अचानक उनकी आँखों के सामने बिखर गया था। वे अपने बेटे का शोक नहीं मना रहे थे - वे अपने एक स्वप्न का शोक मना रहे थे।

उनकी पीड़ा केवल "परीक्षा में असफलता" तक सीमित नहीं रही थी, बल्कि वह एक पिता की टूटी हुई आकांक्षाओं, वंशगत अपेक्षाओं और स्वयं के अधूरे स्वप्नों के मनोवैज्ञानिक बोझ में बदल गई थी।

उस समय मुझे लगता था कि बाबू जी बात को कुछ ज़्यादा ही गंभीरता से ले रहे हैं।

आख़िर एक विषय में सप्लीमेंट्री आ जाना कोई जीवन की अंतिम पराजय तो नहीं थी। कॉलेज का नियम भी ऐसा था कि आगे की कक्षा में जाने से कोई रोक नहीं थी। दो-चार महीने की असुविधा अवश्य थी, पर उससे अधिक कुछ नहीं।

कम-से-कम उस उम्र में मेरी समझ यही कहती थी।

लेकिन अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उस दिन कमरे में बैठे हुए मैं केवल घटना को देख रहा था, और बाबू जी उसके पीछे टूटते हुए एक स्वप्न को।

उन दिनों एक और बात भी मेरे भीतर कहीं चुपचाप चल रही थी। मैं और अखिलेश लगभग हर शाम साथ बिताते थे। घंटों इधर-उधर घूमते रहते। रात देर तक बातें करते। पढ़ाई से अधिक दुनिया के दूसरे विषय हमें आकर्षित करते थे। इसलिए मन के किसी कोने में यह आशंका भी थी कि कहीं बाबू जी मुझे इस सारी स्थिति के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी तो नहीं मान रहे हैं।

शायद इसी कारण मैं भीतर-ही-भीतर अपना बचाव भी कर रहा था।

और शायद इसी कारण मुझे थोड़ा अपराध-बोध भी था।

हालाँकि सच यह था कि जो होना था, वह हो चुका था। जीवन में कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें सुधारा नहीं जा सकता; केवल उनके परिणामों के साथ आगे चला जा सकता है।

समय ने भी यही किया।

दो या तीन महीने बाद अखिलेश ने वह पेपर उत्तीर्ण कर लिया। कॉलेज की पढ़ाई फिर अपनी पुरानी गति से चलने लगी। घर के वातावरण में लौट आई सहजता ने उस घटना के तीखे किनारों को धीरे-धीरे घिस दिया। बाबू जी ने भी फिर कभी उस प्रसंग को उसी तरह नहीं दोहराया।

सब कुछ सामान्य हो गया- कम-से-कम ऊपर से यही दिखाई दे रहा था।

लेकिन आज सोचता हूँ, उस घटना का वास्तविक महत्व अखिलेश की सप्लीमेंट्री में नहीं था। उसका महत्व इस बात में था कि पहली बार मैंने एक पिता की अपेक्षाओं का भार देखा था। उस उम्र में मैं उसे समझ नहीं पाया था। मुझे केवल उनका दुःख दिखाई दिया था, उसका स्रोत नहीं।

बाद के वर्षों में जीवन ने जब स्वयं मेरे भीतर भी कई बार आशाओं उम्मीदों और सपनों के बीज बोए और अनेक बार उन्हें अधूरा ही कुम्हला जाने दिया, तब जाकर उस दिन की बातचीत का अर्थ कुछ-कुछ समझ में आने लगा।

अब लगता है कि उस शाम बाबू जी अपने बेटे की असफलता पर उतने दुखी नहीं थे, जितने उस भविष्य के लिए, जिसे उन्होंने बहुत पहले अपने मन में रच लिया था।

और भविष्य के सपनों की यही कठिनाई है – वे जब टूटते हैं तो उनकी आवाज़ केवल वही सुन पाता है जिसने उसे अपने भीतर सजाया होता है।

बहरहाल, यहाँ ये भी बता दूँ कि अखिलेश ने बाद में बी.ई. करने के बाद दिल्ली आई.आई.टी. से मास्टर्स की और फिर बोकारो स्टील प्लांट में नौकरी भी की। वहाँ लगभग दो साल नौकरी करने के दौरान वह किसी ट्रेनिंग प्रोग्राम के अंतर्गत स्टील प्लांट की ओर से ही एक या उससे अधिक बार अमेरिका गया।

वहाँ उसने अपने कुछ संपर्क बनाए। फिर वह अमेरिका चला गया और वहाँ उसने नौकरी कर ली। इस बीच सन् 1981 में उसकी शादी कल्पना से हो गई। बोकारो में नौकरी के दौरान ही उसके बड़े बेटे रितिक का जन्म हुआ। रितिक जब तीन या चार साल का रहा होगा तब तक वह बोकारो में ही था। उस अवधि में मैं एक बार उसके पास बोकारो गया था। उसी के एक या डेढ़ बरस के भीतर वह अमेरिका चला गया

था। उसके अमेरिका जाने के डेढ़ दो साल बाद कल्पना और रितिक भी सन् 1990 तक अमेरिका चले गए। वहीं उनके दूसरे बेटे कार्तिक का जन्म हुआ। रितिक की शादी हो चुकी है, भारतीय मूल की एक डॉक्टर लड़की के साथ, रितिक भी डॉक्टर है। इन दोनों की एक बच्ची है 'आद्या' अब शायद चार पाँच बरस की होगी। ये सभी अमेरिका में ही हैं।

इस तरह बाबू जी, अखिलेश के पिता का ये सपना तो पूरा हो गया कि उनका बेटा 'अमेरिका' में जाकर नौकरी करे।

फ़िलहाल पिछले तीन या चार बरस से मेरा कोई संपर्क अखिलेश से नहीं है।

ये भी एक क़िस्सा है।

इस क़िस्से को सही समय और सही स्थान पर सुनाऊँगा।

□□

मैंने 'आरंभ' में बताया था कि हमारे घमापुर मोहल्ले के उस हिस्से में जहाँ हम लोग रहते थे , अनिल नाम के पाँच हमउम्र लड़के तो हमारी गली में या मेरे घर के सौ मीटर के दायरे में रहते थे। हम तीन अनिल तो बहुत नज़दीकी मित्र थे। अनिल दुबे, अनिल खरे और मैं। एक और अनिल दुबे था, जो नारायण दुबे का बड़ा लड़का था। वह हमारे घर के सामने वाली लाइन में दो तीन घर आगे रहता था। जबकि गली में लगभग आख़िर में एक क्रिश्चियन अनिल रहता था जिसे सब अनिल पापा कहते थे। उसके बाल बचपन से ही सफ़ेद होने लगे थे, शायद इस कारण। मेरी गली वाले दोनों अनिल तो अब नहीं रहे। अनिल खरे उज्जैन में हैं और अनिल दुबे मेरे एकदम बचपन के मित्र अब भोपाल में हैं।

अनिल खरे और मैं तो एक ही क्लास में मॉडेल हाई स्कूल में थे। जबकि अनिल दुबे मॉडेल हाई स्कूल की घमापुर ब्रांच में था।

ग्यारहवीं के बाद अनिल खरे गवर्नमेंट साइंस कॉलेज गया, अनिल दुबे पॉलिटेक्निक कॉलेज जबलपुर और मैं गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज जबलपुर।

यहाँ इतना सब लिखने का कारण ये है कि अगला क़िस्सा जो मैं सुनाने जा रहा हूँ वह पॉलिटेक्निक कॉलेज जबलपुर से शुरू होकर घमापुर चौक से होता हुआ बाई के बगीचे तक पहुँचा था।



मेरे बाल उन दिनों बहुत लंबे हुआ करते थे। करीब-करीब कंधों तक पहुंचते थे। घने भी थे। कानों और गार्डन के पृष्ठ भाग को ढँके हुए। मैं डाई और शैंपू लगाकर उनकी अच्छी केयर भी करता था। ये बात मुझे नहीं मालूम कि वे सुंदर लगते थे या नहीं परंतु मुझे अच्छे लगते थे। दूसरों को अच्छे लगते थे या नहीं ये भी मैं नहीं जानता था।

पर एक बंदा था, जो बाई के बगीचे में कहीं रहता था। उसे शायद अच्छे नहीं लगते थे। मैं उसे नहीं जानता था। इस घटना के पहले मैंने कभी उसे देखा भी नहीं था। देखा भी होगा तो बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया था। और देता भी क्यों। तो जब ये घटना घटी वह मेरे फर्स्ट ईयर के साल का कोई दिन था। और शायद अक्तूबर, नवंबर या फरवरी, मार्च का महीना रहा होगा क्योंकि हम ऊनी स्वेटर तो पहने थे परंतु ठंड बहुत ज़्यादा नहीं थी। देर शाम या रात का साढ़े सात अथवा आठ बजे का समय रहा होगा। उस समय अनिल दुबे पॉलिटेक्निक कॉलेज में था। पॉलिटेक्निक कॉलेज में उस समय कुछ विद्यार्थियों के लिए शाम की कक्षाएं भी लगती थीं। सामान्य से इतर वह कोई दूसरा ही कोर्स था। अनिल को मालूम था इस वक़्त भी ऑफिस में भी कोई ना कोई उपस्थित होता था। उसे ऑफिस में ही कुछ कार्य था। हम दोनों अपनी- अपनी साइकिलों पर उसके कॉलेज पहुँचे थे। गेट के अंदर जाकर कुछ दूरी पर उसने साइकिल रोकी और मुझसे कहा कि मैं यहीं रुकूँ वह अपना काम निपटा कर जल्दी वापस आ जाएगा। मैं थोड़ी देर वहीं खड़ा रहा। फिर वहीं एक चौड़े से पत्थर पर बैठ गया। जहाँ पॉलिटेक्निक कॉलेज स्थित है, उन दिनों वह रोड एक दम निर्जन हुआ करती थी। यह रोड कलेक्ट्रेट को घेरते हुए सीधे नौ-दरा पुल तक जाती थी। कॉलेज के सामने से एक रोड तिराहा बनाती हुई नागरथ चौक होते हुए रैनबोथ बंगले के सामने से सदर की तरफ़ निकल जाती थी। इसी तिराहे के सामने पॉलिटेक्निक कॉलेज का गेट था। ये सब कुछ अभी भी ऐसा ही है। पर अब निर्जन नहीं है। कई शो रूम्स, दुकानें, रिहायशी अपार्टमेंट

इत्यादि यहाँ बन गए हैं। हाँ, पॉलिटेक्निक के सामने से नौ-दरा पुल जाने वाली रोड तैयब आली चौक तक अभी भी रात को सुनसान रहती है। क्योंकि यहाँ सिर्फ़ स्कूल हैं। पर अब रोशनी की अच्छी व्यवस्था है।

तब, तिराहे पर लगे बिजली के खंबे के बल्ब की फ़ीकी रोशनी वहाँ तक पहुँच रही थी, जहाँ मैं बैठा था। कॉलेज के गेट पर लगा एक मर्करी बल्ब इस रोशनी में थोड़ा इज़ाफ़ा कर रहा था।

अचानक कॉलेज बिल्डिंग की तरफ़ से साइकिल पर सवार एक लड़का निकला। मैंने उसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। वह साइकिल चलाता हुआ कॉलेज गेट की ओर चला गया। मैंने अब तक इतना देख लिया था वह उम्र के लिहाज़ से हम लोगों से दो तीन बरस बड़ा होगा। निश्चित ही सेकंड ईयर या पॉलिटेक्निक कॉलेज के फाइनल ईयर में रहा होगा। गेट से बाहर जाने के बजाय वह पहले ही वापस मुड़ गया और मेरे पास आकर साइकिल पर बैठे बैठे उसने अपना एक पैर जमीन पर टिकाया। कुछ पल मुझे घूरता रहा फिर अपनी साइकिल वहीं खड़ी करके मेरे नज़दीक आ गया। वह अब भी मुझे घूर रहा था। मुझे बहुत अजीब लगा – मैं यही सोच रहा था कि भाई इसे क्या तकलीफ़ है, मुझे उसकी गंभीर और घरघराती आवाज़ सुनाई पड़ी –"कल अपने ये बाल कटवा लेना, कल के बाद बाई के बगीचे में ये ज़ुल्फ़ें नहीं दिखाई देनी चाहिए समझे!"

इसके बाद उसने अपनी साइकिल उठाई और गेट के बाहर साइकिल चलाते हुए निकल गया।

मेरे समझ में नहीं आ रहा था कि इसे मेरे बालों से क्या कष्ट हो रहा है। मैं सोच रहा था, इसे ये भी मालूम है कि मैं 'बाई के बगीचे' आता जाता हूँ। मतलब ये भी वहीं रहता होगा। बाई के बगीचे में सुकुमार दास रहता था। कई और भी हम लोगों के दोस्त थे जो उस मोहल्ले में रहते थे। हम प्रायः सुकुमार के घर इकट्ठे होते थे या फिर कहीं बाहर खुले में बैठते, गप्पें करते थे। परंतु मैंने कभी उसे नोटिस नहीं किया था। मैं इसी उधेड़-बुन में था और उसकी अवांछित चाह के साथ अपना संबंध जोड़ने का कैलकुलेशन कर रहा था, तभी अनिल वहाँ आ गया। मैंने उसे पूरी बात बताई।

उसने भी दिमाग लगाया – 'भला वो कौन हो सकता है ?"

हमें कुछ समझ में नहीं आया तब अनिल ने कहा – वो कल पता लगाने की कोशिश करेगा। उसके कुछ दोस्त पॉलिटेक्निक हॉस्टल में भी थे।

"वहाँ भी पता करेंगे और सुकुमार लोगों से भी पूछेंगे।"

हम अपनी अपनी साइकिल लेकर वापस लौट पड़े। रास्ते में वही मेरे दिमाग़ में घूम रहा था। इस ढंग से रैगिंग के दौरान भी इंजीनियरिंग कॉलेज में मुझसे किसी ने बात नहीं की थी।

अनिल भी शायद कुछ अनमना सा था। हो सकता है उसे ये भी लग रहा हो कि उसके कॉलेज में मेरे साथ ऐसा कुछ हुआ। हम लोग तहसीली चौराहा पार करते हुए धीरे-धीरे अपने उमड़ते घुमड़ते विचारों में खोए साइकिल के पैडल मारते घमापुर चौक तक आ गए। घमापुर चौक से जैसे ही घर के लिए दायें मुड़े। मुझे वही बंदा सड़क के दाहिनी ओर एक पान की दुकान पर खड़ा सिगरेट सुलगाता दिखलाई पड़ गया। मैं उसकी स्वेटर और कुछ शारीरिक बनावट तथा थोड़ा बहुत चेहरे से पहचान गया।

मैंने एकदम से कुछ कुछ उत्तेजित होकर अनिल से कहा – "ये है वो।"

अनिल ने एक पल उसे देखा, और अपनी साइकिल वहीं बीच सड़क में छोड़कर उसके पास चल गया। अनिल की साइकिल सड़क पर गिर गई। मैं भी रुक गया। तब तक अनिल ने उसे दो तीन मुक्के जमा दिए थे। वह सिगरेट सुलगाने में मशगूल था कि अनिल ने उसे पकड़ कर और मारना शुरू कर दिया। अनिल और वह दोनों ही एक दायरे में एक दूसरे से गुँथे हुए सड़क पर चक्कर लगा रहे थे।

अनिल चिल्ला रहा था – "बाल कटवाएगा तू ! बाल कटवाएगा।"

इतनी देर में भीड़ लग गई दोनों को अलग किया गया, वो लड़का तो झूम रहा था। लोगों ने हमें ये कहकर रवाना कर दिया – "अरे वो तो नशेड़ी है, क्यों उसके मुँह लग रहे हो।"

हम अपनी अपनी साइकिलें लेकर वहाँ से घर की ओर बढ़ गए। थोड़ा आगे जाकर अनिल के दिमाग़ में आया सीधे घर जाने के बजाय 'बाई के बगीचे' में रुकते हैं। जहाँ ये घटना घटी वहाँ से आधा फ़र्लांग दूर 'बाई के बगीचे' की पहली गली पड़ती थी। हमने अपनी साइकिलें उसी गली में मोड़ दीं।

वहाँ बद्री पाठक रहता था। जो कि अनिल का पॉलिटेक्निक कॉलेज में सहपाठी था।

बाई के बगीचे में चार गलियाँ हैं जो घमापुर चौक की तरफ़ से एक नंबर गली फिर दो, तीन और चार इस तरह गिनी जाती हैं। ये चारों गलियाँ एक आड़ी गली में जा मिलती हैं। गली नंबर एक के आख़िर में आड़ी गली के एक मकान में बद्री प्रसाद पाठक रहता था।

हम उसी के घर आए। बाई के बगीचे में उस समय बहुत सारे मकान चार चार के समूह में बने हुए थे। दो फ्लैट नीचे और दो उनके ऊपर। ऊपर वालों के लिए बीच से ऊपर जाती सीढ़ियाँ। बद्री का मकान ऊपर था। रात का समय था और मामला भी कुछ ऐसा था हम उसके घर में नहीं बैठ सकते थे। हम सीढ़ियों पर बैठ गए। अनिल ने सविस्तार घटना का ब्योरा बदरी को दिया। अब आगे की स्ट्रेट जी पर विचार किया गया। बद्री उस बंदे को पहचान गया था। उसके अनुसार वह कॉमर्स कॉलेज में पढ़ता था। बहुत संभावना थी कि कॉमर्स कॉलेज के कुछ लड़के हमें ढूँढ़ते यहाँ तक आ जाते। चूँकि वो लड़का मुझे और शायद अनिल को भी जानता था। अतः उसे हमारे घरों का भी कुछ अंदाज़ा तो होगा ही ये बात भी हम समझ रहे थे। कॉमर्स कॉलेज के लड़कों से बचने का एक ही उपाय था। हम भी अपने अपने कॉलेज के लड़कों को बुला लेते। मगर वो ज़माना मोबाइल का नहीं था। लेंड लाइन फ़ोन ज़रूर थे। मेरी पहचान चुनाव पोस्टर बनाने के कारण हॉस्टल के कुछ सीनियर्स से हो गई थी। बद्री ने अपने कॉलेज और इंजीनियरिंग कॉलेज के हॉस्टल तक कैसे ख़बर पहुँचाई ये अब मुझे याद नहीं है। जहाँ तक याद पड़ता है उसने अपने बाई के बगीचे के दोस्तों को भी बस से दोनों कॉलेजों के हॉस्टल भिजवाया था।

उस समय कॉलेजों में एक चीज़ प्रायः कॉमन थी। यदि कॉलेज के किसी भी छात्र का कोई झगड़ा या अन्य उलझन भरा मैटर हो जाता था तो ख़बर मिलते ही कॉलेज से

कुछ छात्रों का समूह वहाँ पहुँच जाता था। कितने छात्र आएँगे ये उस मैटर की गंभीरता पर निर्भर करता था। प्रायः हर कॉलेज के हॉस्टलों में इस तरह के कामों के लिए कुछ खास छात्र सदा तत्पर रहते थे।

हम बद्री के मकान की सीढ़ियों पर बैठे इंतज़ार करते रहे। एक डेढ़ घंटों से अधिक का समय हो गया था। गली में मुकम्मल सन्नाटा था। पर हम लोगों के भीतर उखाड़-पछाड़ मची हुई थी। तरह तरह के निगेटिव विचार रह-रह कर मन में उठ रहे थे। जो हुआ था हम बार बार उसे जस्टीफ़ाई करने की कोशिश कर रहे थे। बद्री इसमें पूरा साथ दे रहा था परंतु कभी कभी ये भी बोल जाता था कि थोड़ा सोच तो लेना था यार ! फिर अनिल उसे डपट देता। यही सब चल रहा था। अचानक टेम्पो में भरकर कुछ लड़के वहाँ आ गए। ये इंजीनियरिंग कॉलेज के लड़के थे। उन दिनों आटो टैक्सी की जगह आठ दस सीटों वाली तीन चकों की बड़ी गाड़ियाँ चलती थीं। उन्होंने मामला समझा इस बीच मोटर साइकिल और एक और टेम्पो पर कुछ लड़के और आ गए। गली में पच्चीस तीस लड़कों की भीड़ जमा हो गई। बद्री के घर वाले तो पहले ही हम लोगों को टोक रहे थे, अब चिंतित हो गए। खैर बद्री ने उन्हें समझ बुझा के ऊपर भेज दिया। आस पास के मकानों के दरवाज़े भी खुले, झाँका-झूँकी हुई, तो ली गई और फिर दरवाज़े बंद हो गए। इस बीच हमें सीढ़ियों पर ही बैठे रहने को कहा गया। वह बंदा जो मेरे बाल कटवाना चाहता था वह भी दूर खड़ा था और अंधेरे में बैठे हम लोगों को घूरने की कोशिश कर रहा था। सीनियर्स के झुंड में कुछ देर बहस और थोड़ी बहुत गरम गर्मी हुई। फिर हम लोगों को बुलाया गया। हमें और उस लड़के को भी। फिर दो तीन सीनियर्स ने, जो कि दोनों तरफ़ से थे – हम लोगों से जो कहा उसका सारांश ये था कि - *"जो कुछ हुआ वो दोनों पक्षों की ओर से ग़लत था। अब मामला और बढ़ाने के बजाय इसे यहीं ख़त्म कर देना उचित है। तुम लोग एक दूसरे से माफ़ी माँगो और गले मिलो। भविष्य में जब भी मिलो दोस्तों की तरह मिलना। कोई शिकायत नहीं मिलनी चाहिए।"*

इसके बाद सारे सीनियर्स वापस चले गए। अचानक पैदा हो गईं परिस्थितियाँ ठीक ठाक ढंग से निपट गईं। हमने राहत की सांस ली। फिर हम जबलपुर रेलवे प्लेटफॉर्म

नंबर एक की तरफ़ बनी होटलों तक गए जो रात भर खुली रहती थीं। वहाँ बढ़िया चाय पी। और वापस अपने अपने घर आ गए।



वे दिन बनने के दिन थे।

'कुछ' बनने के नहीं-स्वयं अपना आप बनने के दिन। उस उम्र में भविष्य का कोई स्पष्ट नक्शा आँखों के सामने नहीं होता। कोई यह नहीं जानता कि वह आगे चलकर क्या कहलाएगा, कहाँ पहुँचेगा, किस रूप में पहचाना जाएगा। पर एक अदृश्य प्रक्रिया भीतर लगातार चलती रहती है। जैसे किसी शांत कमरे में, जहाँ बाहर से देखने पर कुछ घटता हुआ दिखाई नहीं देता, कोई कारीगर चुपचाप लकड़ी को तराश रहा हो, उसकी अनगढ़ सतहों को चिकना कर रहा हो, उसके भीतर छिपे आकार को धीरे-धीरे प्रकट कर रहा हो।

उन दिनों मेरे साथ भी शायद ऐसा ही कुछ हो रहा था।

बाहर की दुनिया में जो कुछ घटता था, वह केवल बाहर नहीं रहता था। वह भीतर भी प्रवेश कर जाता था। किसी शिक्षक की एक साधारण-सी बात, किसी मित्र का व्यवहार, किसी पुस्तक की एक पंक्ति, किसी अपरिचित व्यक्ति का चेहरा, किसी दोपहर की उदासी, किसी संध्या का धुँधलका-सब कुछ मन के भीतर कहीं न कहीं अपनी जगह बना लेता था। उस समय यह पता नहीं चलता था कि वे छोटी-छोटी घटनाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं। वे तो बस जीवन के प्रवाह में बहते हुए क्षण प्रतीत होते थे। पर वर्षों बाद पीछे मुड़कर देखने पर समझ में आता है कि उन्हीं क्षणों ने चुपचाप भीतर की मिट्टी को आकार दिया था।

कभी-कभी मुझे लगता है, मनुष्य का निर्माण बड़ी घटनाओं से कम और ऐसी ही असंख्य छोटी-छोटी बातों से अधिक होता है, जिनकी ओर उस समय हमारा ध्यान भी नहीं जाता। वे स्मृति में किसी घोषणा की तरह दर्ज़ नहीं होतीं। वे धीरे से आती हैं और उतनी ही चुप्पी से भीतर कहीं ठहर जाती हैं। जैसे दीवार में ठोंकी गई कोई कील,

जो बाहर से बहुत छोटी दिखाई देती है, पर उसी पर बाद में न जाने कितना भार टिका रहता है।

उन दिनों जो कुछ सीख रहा था, वह केवल पाठ्य-पुस्तकों में लिखा हुआ ज्ञान नहीं था। उससे कहीं अधिक वह जीवन को पढ़ने की कला थी। लोगों को देखना, उनके स्वभाव के सूक्ष्म अंतर पहचानना, सफलता और असफलता के पीछे छिपे भावों को समझना, अपने भीतर उठने वाली आकांक्षाओं और आशंकाओं को महसूस करना- ये सब अनजाने में चलने वाली शिक्षाएँ थीं। शायद शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग वही था, जो किसी पाठ्यक्रम में शामिल नहीं था।

जीवन की संरचना तब भीतर ही भीतर बन रही थी। कोई अनुभव किसी बोल्ट की तरह आकर मन की किसी ढीली जगह को कस देता था। कोई ठोकर किसी भ्रम को तोड़कर उसकी जगह समझदारी का एक नया टुकड़ा फिट कर देती थी। कोई प्रशंसा आत्मविश्वास का एक पतला-सा तार जोड़ देती, तो कोई असफलता विनम्रता का एक नया जोड़ बना देती। उस समय यह सब दिखाई नहीं देता था, पर आज लगता है कि भीतर एक अदृश्य स्थापत्य-कार्य लगातार जारी था। ईंटें भी लग रही थीं, जोड़ भी भरे जा रहे थे, और भविष्य की पूरी इमारत का ढाँचा भी तैयार हो रहा था।

वे बहुत कुछ सीख लेने और सँजो लेने के दिन थे। हर दिन मानो एक छोटी-सी गठरी लेकर आता था, जिसमें कुछ अनुभव, कुछ प्रश्न, कुछ सपने और कुछ अनिश्चितताएँ बँधी होती थीं। शाम तक उनमें से कुछ चीज़ें खुल जातीं और कुछ बिना खोले ही स्मृति के किसी कोने में रख दी जातीं। बाद में जीवन के किसी मोड़ पर वही पुरानी गठरी खुलती और उसके भीतर से कोई भूली हुई सीख, कोई पुराना साहस या कोई विस्मृत चेतावनी निकलकर सामने आ जाती।

अब सोचता हूँ, भविष्य का रास्ता वास्तव में उन्हीं दिनों बन रहा था। हम समझते थे कि हम केवल दिन काट रहे हैं, कक्षाएँ अटेंड कर रहे हैं, मित्र बना रहे हैं, परीक्षाओं की तैयारी कर रहे हैं। पर वास्तविकता में भविष्य अपनी नींव डाल रहा था। हम जिस व्यक्ति में धीरे-धीरे बदलने वाले थे, उसका प्रारूप उन्हीं दिनों तैयार हो रहा था।

और यह सब इतनी चुप्पी से हो रहा था कि उसके बनने की आवाज़ तक सुनाई नहीं देती थी। जैसे पेड़ के भीतर हर मौसम में एक नया वलय जुड़ता रहता है, पर उसके बढ़ने की ध्वनि कभी सुनाई नहीं देती-वैसे ही जीवन भी उन दिनों भीतर बढ़ रहा था। वर्षों बाद जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तब लगता है कि वे दिन बीते नहीं हैं; वे आज भी मेरे भीतर कहीं मौजूद हैं-मेरे सोचने के ढंग में, मेरी हिचकिचाहटों में, मेरे विश्वासों में, मेरी स्मृतियों में। वही दिन, जिन्होंने मुझे 'कुछ' बनाया नहीं, बल्कि धीरे-धीरे मुझे मुझसे मिलवाया।

□□

हमारा कॉलेज जिस स्थान पर था वह जबलपुर के सैन्य और औद्योगिक क्षेत्र राँझी से एकदम लगा हुआ क्षेत्र था। सन् 1974 में राँझी के व्यापारिक क्षेत्र में 'नवनीत टॉकीज' के नाम से एक सिनेमा घर बना। वह दौर सिंगल स्क्रीन थिएटर्स का स्वर्ण काल माना जाता था। राँझी मुख्य शहर , जैसे मालवीय चौक या कैंट से काफी दूर था, इसलिए स्थानीय लोगों के लिए यह एक बहुत अच्छी शुरुआत थी। यह टॉकीज अपने समय में इस क्षेत्र के लोगों के मनोरंजन का एक बहुत ही लोकप्रिय केंद्र हुआ करती थी। आयुध निर्माणियों के कर्मचारियों और स्थानीय निवासियों के लिए यह सिनेमा हॉल किसी लाइफलाइन से कम नहीं था।

नवनीत टॉकीज का स्वामित्व जबलपुर के प्रतिष्ठित जायसवाल परिवार के पास था। इस टॉकीज के मुख्य संचालक और मालिक श्री नवनीत लाल जायसवाल थे, और उन्हीं के नाम पर इस टॉकीज का नाम 'नवनीत टॉकीज' रखा गया था। जायसवाल परिवार का जबलपुर और महाकौशल क्षेत्र के सिनेमा व्यवसाय, डिस्ट्रीब्यूशन और अन्य उद्योगों में काफी पुराना और बड़ा नाम रहा है।

'प्राण जाए पर वचन ना जाए' राँझी की नवनीत टॉकीज में प्रदर्शित हुई सबसे पहली फिल्म थी। इस फिल्म का जबलपुर से बहुत गहरा और खास नाता है। सुनील दत्त और रेखा अभिनीत इस फिल्म के कई महत्वपूर्ण दृश्यों और गानों की शूटिंग जबलपुर के विश्व प्रसिद्ध भेड़ाघाट-धुआँधार जलप्रपात और संगमरमर की वादियों में हुई थी।

चूँकि फिल्म का एक बड़ा हिस्सा स्थानीय स्तर पर जबलपुर में ही शूट हुआ था, इसलिए जब राँझी में इस नए सिनेमाघर की शुरुआत हुई, तो उद्घाटन के लिए इसी फिल्म को चुना गया। स्थानीय लोगों के लिए अपने ही शहर को परदे पर देखना और एक नए आधुनिक सिनेमा हॉल का अनुभव लेना उस दौर में एक बेहद बड़ा उत्सव जैसा था।

हमारे कॉलेज के छात्रों के लिए इस टॉकीज में एक दिन सुबह का शो बिल्कुल फ्री रखा गया था। सभी स्टूडेंट्स का सामूहिक रूप से फिल्म देखने का वह अनुभव आज के दौर के 'पर्सनल स्क्रीन' या 'मल्टीप्लेक्स' संस्कृति से कोसों दूर और बेहद अनूठा था।

इस तरह के सामूहिक अनुभव में कुछ ऐसी बातें होती हैं जो उसे हमेशा के लिए यादगार बना देती हैं।

इस फिल्म को देखते हुए मैं और मेरे करीबी दोस्त ही नहीं बल्कि पूरे इंजीनियरिंग कॉलेज के छात्र साथ थे। क्लास रूम के अनुशासन से दूर, अपने पूरे बैच के साथ बिना टिकट के उस थिएटर में बैठना किसी 'कॉलेज एडवेंचर' से कम नहीं था। ऐसी घटनाएँ केवल फिल्म देखने तक सीमित नहीं रहतीं, बल्कि जीवन भर के लिए दोस्तों के बीच गपशप और पुरानी यादों का एक ख़ूबसूरत हिस्सा बन जाती हैं।

आज के दौर में जब लोग अपने मोबाइल फोन या ईयरफोन लगाकर फिल्में देखते हैं, तो वे मनोरंजन तो पा लेते हैं, लेकिन वह 'सामूहिकता का उल्लास' कहीं खो गया है। राँझी की नवनीत टॉकीज में केवल जी.ई.सी. जबलपुर के छात्रों के लिए आयोजित वह शो वाकई बहुत खास था, जो आज के डिजिटल युग के बच्चों के लिए किसी जादुई कहानी जैसा लगेगा। 90 के दशक के आखिर और 2000 की शुरुआत में घर-घर में केबल टीवी और सीडी-डीवीडी का चलन बढ़ गया था। सिंगल स्क्रीन सिनेमाघरों की चमक धीरे-धीरे फीकी पड़ने लगी थी। दर्शकों की संख्या घटने के कारण थिएटर को चलाना घाटे का सौदा साबित होने लगा था। जबलपुर में एक समय जहाँ बीस बाईस सिनेमाघर थे, इस दौर के शुरू होते ही एक एक कर सभी सिनेमाघर

बंद होते चले गए। नवनीत टॉकीज भी बंद हो गई। अब वह बस हमारी स्मृतियों में सुरक्षित है।

वर्तमान में इस टॉकीज के पुराने ढांचे को हटा दिया गया है या वह जगह अन्य व्यावसायिक/आवासीय गतिविधियों या कॉम्प्लेक्स के रूप में तब्दील हो चुकी है, लेकिन आज भी उस चौराहे या इलाके को कई पुराने लोग 'नवनीत टॉकीज के पास' के नाम से ही पहचानते हैं।



इसी 'नवनीत टॉकीज' से एक बड़ी कड़वी स्मृति भी जुड़ी हुई है।

जिसे हम और उस समय जो भी छात्र इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ रहे थे, 'करौंदी काण्ड' के नाम से याद करते हैं। 'करौंदी' दरअसल हमारे कॉलेज के हॉस्टल कैम्पस के पीछे बसा हुआ एक छोटा सा गाँव था। कैम्पस की दीवार के बाहर कुछ खाली ज़मीन, ऊबड़ खाबड़ कहीं घास कहीं पथरीली सी। उसके बाद गाँव के कच्चे पक्के मकान। हॉस्टल के कुछ ब्लॉक्स के पीछे वाले कमरों की खिड़कियों से वह खाली ज़मीन दिखाई देती थी। गाँव वालों का कहना था कि उनके गाँव की महिलायें और लड़कियाँ जब शौच आदि के लिए उस खाली जगह पर आती हैं तब हॉस्टल के लड़के उन्हें छेड़ते हैं।

इस बात में कितनी सच्चाई थी, या ये बात सिरे से ही झूठ थी; मैं इस पर कोई टिप्पणी नहीं कर सकता। ना ही करूँगा। पर गाँव वालों ने इस बात को बहुत तूल दिया हुआ था। इसी कारण राँझी बाज़ार में घूमते या रेस्टॉरेन्ट आदि में बैठे छात्रों से उनकी अक्सर झड़प होने लगी। वे उनके मुताबिक अपराधी छात्र की पहचान किए बगैर किसी भी छात्र से उलझ जाते और मार पीट करने लगते थे।

जब ये मामले बहुत बढ़ गए तब छात्र संघ के नेताओं ने तय किया कि सारे छात्र मिलकर जल्द ही एक तयशुदा दिन और समय पर राँझी बाज़ार और करौंदी ग्राम में फ्लैग मार्च जैसा भ्रमण करेंगे। कुछ भाषण बाजी होगी, वहाँ चेतावनी दी जाएगी, थोड़ा बहुत डराने धमकाने के लिए हुड़दंग और उपद्रव की भी गुंजाइश रखी गई।

नियत दिन और तय समय पर हॉस्टल और डे स्कॉलर्स के विशाल छात्र समूह ने राँझी की ओर प्रस्थान किया। प्रायः सभी छात्र एक तरह के उत्सवी मूड में थे। एक दूसरे से बतियाते जुलूस की शक्ल में चले जा रहे थे। आगे आगे जो समूह चल रहे थे वे जोशीले नारे लगा रहे थे। कुछ हॉस्टलर्स के हाथों में मच्छरदानी के लकड़ी या लोहे के डंडे भी थे।

आगे क्या होने वाला है इस बात से एकदम बेख़बर छात्र गण मस्ती में आगे बढ़ते जा रहे थे।

राँझी कोई बहुत दूर तो थी नहीं, धीरे धीरे चलते हुए भी दस पंद्रह मिनिट में हम सभी वहाँ पहुँच गए। कार्यक्रम के अनुसार सबसे पहले नवनीत टॉकीज के प्रांगण में सभा होनी थी। नवनीत टॉकीज के प्रांगण का गेट खुला हुआ था सभी छात्र धीरे-धीरे उस गेट से टॉकीज के बड़े से मैदान सरीखे बड़े से हिस्से में इकट्ठा हो गए। शायद नवनीत टॉकीज के पीछे के हिस्से से एक रास्ता करौंदी गाँव तक भी जाता था।

छात्रों की सभा अभी ठीक से आरंभ भी नहीं हुई थी कि टॉकीज के पीछे वाले रास्ते से या फिर पहले से पीछे छिपे हुए गाँव वाले ऐसी वस्तुएं जो हथियार की तरह उपयोग में लाई जा सकती थीं, हाथों में लेकर अचानक प्रकट हो गए। उन्होंने बिना कोई चेतावनी दिए मार पीट शुरू कर दी। कॉलेज के छात्रों को इस बात की उम्मीद कतई नहीं थी। इस अप्रत्याशित हमले से वहाँ भगदड़ मैच गई। कॉलेज के छात्र तो सिर्फ़ अपना दबदबा स्थापित करने और शक्ति प्रदर्शन के उद्देश्य से वहाँ एकत्र हुए थे। वहाँ लड़ाई- भिड़ाई करने तो बिल्कुल भी नहीं। छात्रों के पास बचाव के लिए भी कुछ नहीं था। बचने के लिए वहाँ से भाग जाना और वह स्थान छोड़ देना की एकमात्र विकल्प था।

सभी छात्र नवनीत टॉकीज के गेट की ओर भागे। फिर भगदड़ मची और एक और अप्रत्याशित बात सामने आई टॉकीज के दोनों गेट बंद थे। पुलिस के वे सिपाही जो ऐसी स्थितियों का सामना करने के लिए जिन साधनों का उपयोग करते हैं उनके साथ गेट के भीतर थे। जब छात्रों का जुलूस नवनीत टॉकीज के प्रांगण में प्रवेश कर रहा था ये सिपाही राँझी थाने के सामने पंक्तिबद्ध खड़े थे। यह प्रशासनिक आवश्यकता और

सतर्कता होती है इसलिए किसी भी छात्र नेता या छात्र ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। अब बड़ी दुरूह स्थिति में छात्र फँस चुके थे। जो छात्र बाहर ही रह गए थे वे तो स्थिति की गंभीरता जान बाहर से ही भाग गए थे। परंतु जो तीन चार सौ छात्र अंदर कैद होकर रह गए थे। उनकी बुरी स्थिति हो चुकी थी।

वे बुरी तरह से फँस चुके थे। चीख पुकार, इधर उधर भागम-भाग, कोई गिर रहा था, कोई फिसल रहा था, कोई दर्द से कराह रहा था। छात्र बुरी तरह से पीटे जा रहे थे। कुछ छात्र एक दूसरे की सहायता से बॉउन्ड्री वाल से बाहर कूद रहे थे। मैं भी यहाँ वहाँ भाग रहा था। अचानक कुछ छात्रों ने बॉउन्ड्री वाल में एक बड़ा सा सुराख़ देख लिया छात्र उसी में से बाहर भागने लगे। मैं भी उसी तरफ़ भागा एक छात्र जो उस समय उस सुराख़ से बाहर लटक कर निकलने का प्रयास कर रहा था उसे पीछे से एक डंडा पड़ा और वह तेज़ी से बाहर निकल गया। वहाँ दो तीन छात्र बाहर कूदने की तैयारी कर रहे थे। उन्हीं के बीच मैं पहुँच गया और जल्दी से उस सुराख़ में घुसकर दूसरी तरफ़ फिसल गया। बॉउन्ड्री के उस पार एक नाला था जिसके कीचड़ में छात्र गिर रहे थे। वहाँ से हम चार पाँच छात्रों का झुंड नाले के दलदल से होता हुआ, बचत बचाता बहुत लंबा घेर लेकर रोड के उस पार थाने के बगल में स्थित जल शोधन संयंत्र के रिजरवायर के दलदली हिस्से में पहुँच गए। उसी हिस्से में आगे भी बहुत से छात्र किसी तरह से दलदली मिट्टी में फँसते फँसाते आगे बढ़ रहे थे। हम सभी जैसे खौफ़ के एक नए संसार में पहुँच चुके थे। बस एक ही बात दिमाग़ में थे किसी तरह से इस जगह से दूर निकाल जाना। जितना मुझे याद है उस रास्ते पर चलते हुए हम एक दूसरे को सहारा दे रहे थे, सहारा ले रहे थे। हमारे कपड़े और शरीर गीली मिट्टी में सन रहे थे। एक छात्र की कमीज़ का पिछला हिस्सा दूसरे छात्र द्वारा सहारे के लिए पकड़े जाने पर फट गया और दोनों ही गिर पड़े उन्हें बाक़ियों ने उठाया। गिरते पड़ते हम कॉलेज के पीछे लेक तक पहुँच गए। फिर किसी की नजर में न आयें ये सोचकर और लंबा चक्कर लगाकर सीधे साइकिल स्टेंड पहुँचे अखिलेश, दीपक गुप्ता और शायद दीपक श्रीवास्तव उस समय साथ में थे। शरीर पर लगी गीली मिट्टी प्रायः सूख चली थी। उसी हालत में हमने अपनी साइकिलें उठाईं और गेट नंबर दो से निकल कर घर चल दिए।



शाम तक कुछ सच्ची झूठी खबरें मिलती रहीं। पता चला कि बहुत से छात्रों को पुलिस ने गिरफ़्तार किया हुआ है। कई छात्रों को चोटें आई हैं। एक दो छात्रों को गंभीर चोटें भी आईं थी। सभी घायल छात्रों को विक्टोरिया जिला चिकित्सालय में एक वार्ड में रखा गया था। उतने बेड न होने के कारण फ़र्श पर ही गद्दे बिछा कर मरहम पट्टी की गई थी।

हम लोग अखिलेश के घर इकट्ठा हुए फिर वहाँ से विक्टोरिया अस्पताल पहुँचे। गंभीर चोटों वाले छात्र अलग वार्ड में थे। कुछ कम चोटों वाले छात्र फ़र्श पर बिछे गद्दों पर थे। कुछ बाहर बरामदे में भी थे। कुछ डे-स्कॉलर्स भी घायल थे उनके रिश्तेदार भी वहाँ थे। कुल मिलाकर बहुत अच्छा दृश्य तो नहीं था जिसका यहाँ वर्णन किया जाए। चीख पुकार, कॉलेज मैनेजमेंट पर दोषारोपण, और जैसा पीड़ित छात्रों से अपेक्षित था उनके कटु वाक्य और गालियों की परतें माहौल में तैर रही थीं। कुछ और शाम हो जाने के बाद कई एक सीनियर प्रोफेसरों, व्याख्याताओं के साथ प्राचार्य भी वहाँ घायल छात्रों को देखने आए। कुछ बहुत नाराज़ घायल छात्रों ने नारे भी लगाये कुछ कटु शब्द भी कहे।

हम लोग भी कुछ देर बाद वहाँ से लौट आए।

अगले कई दिनों तक अख़बारों में ये ख़बर मिर्च मसाला लगाकर छपती रही। मुझे जहां तक याद है कुछ समय तक कॉलेज भी बंद रहा था।

बाद में बहुत समय तक छात्र राँझी के मार्केट या उस तरफ़ नहीं गए।

इस पूरे घटना क्रम को प्रशासन ने किस तरह हैन्डल किया मैंने जानने की कोशिश भी नहीं की। न ही मैं उस समय इस स्थिति में था।

क्यों ? ये क़िस्सा आगे सुनाऊँगा, इसी चैप्टर में।



अक्सर ऐसा होता है- शायद 'अक्सर' भी बहुत छोटा और कमज़ोर शब्द है- कि हम अपनी इच्छाओं की एक बहुत महीन, पारदर्शी चादर बुनते हैं, इस उम्मीद में कि आने वाले दिनों की धूप उसमें से छनकर आएगी। लेकिन समय की अपनी एक क्रूर और अजनबी चाल होती है। अचानक सब कुछ बदल जाता है। इतना बदल जाता है कि जो सामने आकर खड़ा होता है, उसमें और हमारी सोच में किसी धुंधली-सी पहचान का कोई सिरा भी बाक़ी नहीं बचता। न कोई रंग, न कोई रूप, न कोई जानी-पहचानी गंध।

जैसे कोई अचानक किसी ऐसे स्टेशन पर उतर जाए, जिसका नाम उसने टाइम-टेबल में कभी पढ़ा ही न था। उस वक्त भीतर एक अजीब-सा सन्नाटा पसर जाता है। एक ऐसा सन्नाटा, जो चकित होने की सीमा को लांघकर आपको एक खाली, उजाड़ जगह पर ला खड़ा करता है। वहाँ आपके पास कोई दूसरा भाव नहीं बचता, सिवाय इसके कि आप अपनी हथेलियों को देखें और सोचें कि इनमें जो रेखाएं थीं, वे किस अनजाने मोड़ पर गुम हो गईं।

कहने को तो लोग कह देते हैं कि जो हुआ, उसे स्वीकार कर लो। लेकिन क्या 'स्वीकार' कर लेना इतना सहज होता है? यह कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसे बाज़ार से ख़रीदा और ओढ़ लिया। इसके पीछे एक बहुत लंबी, थका देने वाली जद्दोजहद होती है। एक ऐसी लड़ाई, जो आप बाहर किसी से नहीं, बल्कि अपने ही भीतर के उस हिस्से से लड़ रहे होते हैं जो अभी भी कल में जी रहा है। मन को मारना. . . यह शब्द कितना क्रूर है। जैसे अपने ही एक जीवित हिस्से को चुपचाप कहीं दफ़ना देना और फिर एक नए, अनजान और कटीले रास्ते पर इस तरह चलना जैसे आप हमेशा से इसी रास्ते के मुसाफिर रहे हों। तालमेल बिठाने की यह कोशिश रीढ़ को थका देती है।

और फिर शुरू होता है उस 'न हो सके' का सोग. . . एक ऐसा सोग जिसका कोई विसर्जन नहीं होता। वह एक अदृश्य, भारी पोटली की तरह आपकी पीठ पर लद जाता है। आप चलते हैं, चाय पीते हैं, दोस्तों से मिलते हैं, हँसते भी हैं, लेकिन वह सोग का बोझ लगातार आपके भीतर अपनी मौजूदगी का अहसास कराता रहता है।

इस पूरे अकेलेपन में एक तीसरी चीज़ भी है, जो मन के किसी कोने में एक जिद्दी कोहरे की तरह जमी रहती है- वह है अंतहीन सम्भावनाओं का एक काल्पनिक नक्शा। *"अगर वैसा हो जाता तो..."*, *"अगर वह मोड़ न आया होता तो आज मैं यहाँ न होता. . ."*। यह एक ऐसा मायावी नक्शा है जिसके सहारे हम उस रास्ते को ढूँढने की कोशिश करते हैं जो कभी अस्तित्व में आया ही नहीं। यह दिमाग़ी भूलभुलैया एक अलग ही तरह की, बहुत मद्धिम और लगातार चुभने वाली पीड़ा देती है। आप वर्तमान के सच को देख रहे होते हैं, लेकिन आँखें अतीत के उस 'अगर' पर टिकी रहती हैं।

और यदि वह घटना, जो आपके मन के मुताबिक़ नहीं हो सकी, महज़ कोई छोटी-मोटी बात न होकर आपके जीवन की दिशा तय करने वाला कोई बुनियादी मोड़ थी- जैसे कोई अधूरा प्रेम, कोई छूटा हुआ करियर या कोई बिछड़ गया आत्मीय- तो फिर उसकी टीस किसी पुरानी चोट की तरह हो जाती है। वह मौसम के बदलने पर, या कभी शाम ढलते वक्त, या किसी स्टेशन पर ट्रेन के रुकने के इंतज़ार में अचानक उभर आती है। वह टीस फिर सारी उम्र एक परछाईं की तरह आपके साथ चलती है- एक ऐसी परछाईं, जो उजाले में नहीं, बल्कि आपके भीतर के अंधेरे में ज़्यादा साफ़ दिखाई देती है।

□□

ऐसा ही कुछ अचानक मेरे साथ 8 अगस्त 1973 को घटित हुआ।

मैं प्रथम वर्ष की परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका था। कोई भी विषय शेष नहीं रहा था। परिणामस्वरूप मेरा प्रवेश द्वितीय वर्ष के 'ए' सेक्शन में हो गया, जहाँ वे सभी छात्र थे जिन्होंने सभी विषयों में सफलता प्राप्त की थी या अधिक से अधिक केवल एक विषय में अनुत्तीर्ण हुए थे।

कॉलेज का एक वर्ष कब बीत गया, पता ही नहीं चला।

जीवन अपनी सहज गति से आगे बढ़ रहा था।

सब कुछ सुचारु, संतुलित और निर्विघ्न प्रतीत हो रहा था।

तभी नियति ने एक ऐसे मोड़ पर सामने ला खड़ा किया, जिसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी।

उस दिन लंच की छुट्टी में अखिलेश, भानु, कौशल, दीपक और मैं कॉलेज के गेट नंबर 2 के समीप वाली तथाकथित कैंटीन से लौट रहे थे। रास्ते में हमारे ही किसी सहपाठी ने बताया –

“अनिल यार तू तो कॉलेज से रॅस्टीकेट हो गया है।“

मैं बुरी तरह से हैरत में पड़ गया।

क्या बोल रहा है ये बंदा ?

मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा था।

आश्चर्य से बस ये का सका –

“क्या?”

उसने कहा – “जा देख, नोटिस बोर्ड पर लिस्ट है।“

हम सभी वहाँ पहुँचे। बात सच थी नोटिस बोर्ड पर कुल छह या आठ छात्रों के नाम थे। जिनमें मेरा भी नाम था। हम सभी कॉलेज फ़ीस जमा ना करने के दंड स्वरूप कॉलेज से निष्कासित किए जा चुके थे।

लेकिन मैंने तो फ़ीस समय पर जमा की थी।

फिर ये कैसे हुआ ?

. . . . . ?
क्लास का समय हो रहा था। मैंने सभी को क्लास अटेन्ड करने के लिए कहा और मैं कार्यालय के भीतर चला गया। वहाँ जो संबंधित क्लर्क था, उसके पास जाकर मैंने उससे इस बाबत पूछ ताछ की। उसने दो टूक जवाब दिया कि तुमने फ़ीस नहीं जमा की थी।

मैंने उसे बताया- “भाई मैंने तो फ़ीस बहुत पहले जमा कर दी थी।“

उसने फिर दो टूक कहा-"तो रसीद दिखाओ।"

मैं इतना घबराया हुआ सा था कि 'फ़ौरन' निर्णय लेकर मैंने स्टैंड से अपनी साइकिल उठाई और घर रवाना हो गया। ताकि फ़ीस जमा करने की रसीद उसे दिखा सकूँ।

घर पहुँचा, घर वालों ने मतलब 'बाई' ने इस तरह हड़बड़ी में आने का सबब पूछा; मैंने दो चार शब्दों में उन्हें बताया और रसीद लेकर साइकिल से वापस कॉलेज लौटा। हमारे घर से कॉलेज लगभग छह किलोमीटर दूर था। ये आने जाने के बारह किलोमीटर मैंने आनन फानन में तय किए। मैं एक बार फिर उस क्लर्क के सामने खड़ा था। उसे मैंने फ़ीस जमा करने की रसीद सौंप दी। उसने रसीद को अलट- पलट के ध्यान से देखा। जैसे वो कोई अजूबा हो।

फिर बिना कुछ बोले मेरी तरफ़ देख कर उसने स्वीकारोक्ति में सर हिलाया।

इसके बाद उसने अपना बड़ा सा लेज़रनुमा रजिस्टर उठाया।

रजिस्टर खोल कर उसने फ़ीस जमा करने वाले छात्रों के नामों की लिस्ट देखी जो तीन चार पृष्ठों पर स्याही वाले पेन से अंकित थी।

उसने पूरी लिस्ट चेक करके मुझे बताया- "इस लिस्ट में तुम्हारा नाम नहीं है।"

मैंने रजिस्टर अपनी तरफ़ खींचा और देखना शुरू किया। एक बार पूरी लिस्ट हड़बड़ी में जल्दी जल्दी देख डाली। मेरा नाम कहीं नहीं था।

मैंने पूछा- "जब मैंने फ़ीस जमा की है तो इस रजिस्टर में मेरा नाम क्यों नहीं है ?"

उसने जो जवाब दिया मुझे नहीं सुनाई नहीं दिया। मैं ये सोच सोच कर परेशान था और घबराया हुआ था, अब क्या होगा ?

मैंने एक बार फिर से लिस्ट बहुत ध्यान से देखना शुरू की। दूसरे पृष्ठ पर ही मेरा नाम लिस्ट में मौजूद था। मैंने उसे दिखाया। उसने बहुत लापरवाह तरीक़े से अचरज प्रकट किया और बोला – "अरे हाँ ! फिर मुझे कैसे नहीं दिखा।"

अब मैं उसे क्या बताता कि उसे कैसे और क्यों नहीं दिखाई दिया।

उसने फिर से लिस्ट में मेरा नाम देखा और बेहूदा तथा वाहिआत किस्म से खुद अपनी सफ़ाई दी – "अरे दरअसल ये लखेरा का 'एल' जो है वो 'सी' जैसा बना है ना, इसलिए जल्दी में समझ में नहीं आया तभी छूट गया।"

लिस्ट में उसने सरनेम पहले लिखे थे - फिर फर्स्ट और मिडिल नाम। मेरा नाम "लखेरा अनिल कुमार" लिखा था, और लखेरा के 'एल' को करसिव राइटिंग या घसीटा लिखावट में 'सी' की तरह बना दिया था। उसने जब लिस्ट चेक की तब 'एल' अक्षर से शुरू होता हुआ कोई सरनेम या नाम नहीं मिला, जिसका सीधा अर्थ उसने ये निकाल लिया कि मैंने फ़ीस जमा नहीं की है। मैनेजमेंट के निर्देश के अनुसार उसने फ़ीस न जमा करने वालों की लिस्ट जिसमें ग़लती से मेरा नाम भी आ गया था प्रस्तुत कर दी। नतीजतन प्राचार्य महोदय के हस्ताक्षर से वह आदेश नोटिस बोर्ड पर चस्पाँ कर दिया गया जिसके तहत मैं कॉलेज से रॅस्टीकेट कर दिया गया।

□□

मैंने उससे कहा – "अब क्या करना है।"

उसने कहा – "अब मैं तो कुछ नहीं कर पाऊँगा, एन.एल.जैन साहब से मिल लो वो इस समय प्रिन्सपल के चार्ज में हैं; वे दूसरा आर्डर निकलवा देंगे तुम्हें 'डी' सेक्शन में एडमिशन मिल जाएगा।"

मैंने उससे पूछा – "'डी' सेक्शन में क्यों ? मैं तो 'ए' सेक्शन में हूँ !"

उसने मुस्कराते हुए मुझे समझाया – "भाई फिलहाल तुम आर्डर के मुताबिक कॉलेज से रॅस्टीकेट हो। अब चूँकि तुम्हारा फिर से एडमीशन होगा तो 'डी' सेक्शन में ही मिलेगा।"

अब मेरी आँखों के सामने सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया। लाल पीले नीले सितारे, काली भयावह परछाइयाँ, कानों में सीटियाँ सब एक साथ गूँजने और दिखाई देने लगीं।

"भाई कुछ करो ! मेरी तो कोई ग़लती नहीं है।"

“मैं अब कुछ नहीं कर सकता ! प्रिन्सपल के आदेश को मैं कैसे बदल सकता हूँ। तुम एन.एल.जैन साहब से मिलो वे चाहें तो तुम्हें ‘ए’ सेक्शन में जगह दे देंगे।“ उसने सीधा सीधा जवाब दे दिया।



जीवन कितनी विचित्रताओं से भरा हुआ है।

ये भी कितनी विचित्र बात है कि एक ही घटना दो अलग अलग लोगों के लिए अलग अलग रूपों में घट रही थी। जहाँ एक ओर मेरा पूरा परिवेश और एक तरह से पूरी दुनिया बदलने वाली थी। वहीं दूसरी तरफ़ उस क्लर्क के लिए ये महज आम सी बात या छोटी मोटी ग़लती थी। जो एन.एल.जैन साहब के एक आदेश से सुधर जाएगी। पर वह सुधरा हुआ रूप मेरे लिए किन कष्टों का दरवाज़ा खोल देगा ये कोई कैसे और क्यों समझता। मेरे भविष्य को एक दूसरे ही आयाम में स्थानांतरित कर देगा ये आभास उस समय मेरे अलावा और किसे हो सकता था।

जीवन कितनी विचित्रताओं और विसंगतियों का एक अनसुलझा पुलिंदा है। कभी-कभी लगता है कि हम सब एक ही समय में जी रहे हैं, पर सच यह है कि हममें से हर कोई अपनी-अपनी दुनिया में कैद है। यह भी कितनी अचरज और कुछ-कुछ रीढ़ में सिहरन पैदा करने वाली बात है कि काल के एक ही बिंदु पर घटने वाली कोई एक अकेली घटना, दो अलग-अलग मनुष्यों के भीतर दो बिलकुल भिन्न प्रतिध्वनियाँ पैदा कर रही थी। दोनों के बीच कोई सिरा नहीं था, कोई पुल नहीं था।

जहाँ एक ओर, दफ़्तर की उस धुंधली और सीलन भरी दोपहर में, मेरा पूरा परिवेश, मेरी बची-खुची आकांक्षाएँ और एक तरह से मेरी पूरी परिचित दुनिया ही हमेशा-हमेशा के लिए बदलने वाली थी; वहीं दूसरी तरफ़, एक छोटी सी मेज़ पर बैठे उस क्लर्क के लिए वह सब कुछ महज़ एक रोज़मर्रा की ऊब, एक आम सी बात या एक छोटी-मोटी ऐसी ग़लती भर थी जो होती रहती है। उसके लिए वह आदेश जो सिर्फ़ एक कागज़ का टुकड़ा था, जिसे उसने अपनी थकी हुई उँगलियों से फाइल में नत्थी कर दिया था। एक ऐसी मानवीय भूल, जो एन.एल.जैन साहब के एक दस्तख़त या एक

मौखिक आदेश से पल भर में सुधर जाएगी। क्लर्क ने शायद एक ठंडी साँस ली होगी, घड़ी देखी होगी और चाय की तलब महसूस की होगी।

पर वह सुधरा हुआ रूप, वह तथाकथित 'सुधार', मेरे आने वाले कल के लिए किन असीम कष्टों, अपमानों और अनिश्चितताओं का दरवाज़ा खोलने जा रहा था-यह कोई दूसरा कैसे और क्यों समझता?

किसी दूसरे के लिए किसी की पूरी आस्तीन का छिल जाना महज़ एक सांख्यिकीय आँकड़ा भर तो होता है। मेरे भीतर जो एक पूरा साम्राज्य ढह रहा था, उसकी चटकन उस दफ़्तर के शोर में किसी को सुनाई नहीं दी। वह 'सुधार' मेरे भविष्य को एक ऐसे अनजान, अनपेक्षित और दूसरे ही आयाम में स्थानांतरित कर देगा, जहाँ मैं खुद को पहचान भी पाऊँगा या नहीं, इसका कोई उत्तर नहीं था। विडंबना यह थी कि इस भयावह रिक्तता और अनहोनी का आभास उस समय, उस बंद कमरे में, मेरे थके हुए वजूद के अलावा और किसे हो सकता था? वहाँ सिर्फ़ फाइलों की सरसराहट थी, पंखे की उबाऊ आवाज़ थी, और मैं था-अपने ही भविष्य के मलबे के सामने अकेला खड़ा।

□□

हो सकता है अभी इस वक़्त कोई भी और शायद तुम भी इस बात के या इस दुर्घटना के पीछे छिपे दर्द को न समझ पाओगे। तुम्हें भी लगेगा कॉलेज वही है, कोर्स वही है, पढ़ाने वाले भी वही हैं फिर क्या परेशानी है ?

दरअसल पूरी बात तब खुलेगी जब मैं इस बात के पीछे छिपे उस सपने के बारे में बताऊँगा जो मैंने सजा रखा था या उस प्लानिंग, उस योजना के बारे में बताऊँगा जो मैंने बना रखी थी।

"मुझे यहाँ अलग से यह बताने की आवश्यकता नहीं लगती कि मैं चित्र बनाता था। ड्राइंग मेरी बहुत अच्छी थी और इसी कारण अनेक लोगों ने मुझे सलाह दी थी कि मुझे आर्किटेक्चर की पढ़ाई करनी चाहिए। उनका कहना था कि इस क्षेत्र में मेरी चित्रकारी का कौशल बहुत काम आएगा। शायद उसी समय, अनजाने ही, मेरे भीतर आर्किटेक्ट बनने की आकांक्षा ने घर कर लिया था।

लेकिन कठिनाई यह थी कि उस समय जबलपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में आर्किटेक्चर का पाठ्यक्रम उपलब्ध नहीं था। मेरी जानकारी के अनुसार यह सुविधा केवल एम.ए.सी.टी., भोपाल में थी। मैंने पहले ही पता कर रखा था कि यदि मैं सेकंड ईयर अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो जाऊँ, तो मुझे एम.ए.सी.टी., भोपाल के प्रथम वर्ष में प्रवेश मिल सकता है और तब मैं आर्किटेक्चर का अपना स्वप्न पूरा कर सकूँगा।

पर एक ही झटके में वह सपना जैसे बिखर गया।

यहाँ स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि डी सेक्शन में चले जाने का उस सपने से क्या संबंध था?

मैं पहले बता चुका हूँ कि डी सेक्शन उन छात्रों का सेक्शन माना जाता था जो अधिकांश विषयों में कम्पार्टमेंट लेकर आए होते थे। उनके साथ कई-कई वर्षों से एक ही कक्षा में अटके रिपीटर्स भी होते थे। उनमें से बहुत-से ऐसे थे जिनका उद्देश्य पढ़ाई कम और कॉलेज में समय बिताना, दादा गिरी करना या छात्र राजनीति में सक्रिय रहना अधिक होता था।

उस सेक्शन में पढ़ाई लगभग नाममात्र की होती थी। नियमित कक्षाएँ कम लगती थीं और उनका वातावरण भी अन्य सेक्शनों जैसा नहीं था। सबसे बड़ी बात यह थी कि मेरे सभी पढ़ने वाले मित्र दूसरे सेक्शनों में रह जाते और मैं उनसे अलग पड़ जाता। हमारे पाठ्यक्रम की गति भी बाक़ी सेक्शनों से पीछे रहती।

इन सब बातों को मैं अच्छी तरह जानता था। इसलिए मेरे मन में यह आशंका जन्म लेना बिल्कुल स्वाभाविक था कि ऐसे वातावरण में रहकर क्या मैं उतनी अच्छी पढ़ाई कर पाऊँगा, जितनी अपने भविष्य के लिए आवश्यक थी? और यदि नहीं कर पाया, तो क्या भोपाल जाकर आर्किटेक्चर पढ़ने का मेरा सपना यहीं समाप्त नहीं हो जाएगा?"



यह तो भविष्य की बात थी - या यूँ कहूँ कि भविष्य को लेकर मन में उठी एक आशंका। लेकिन उस दिन जो कुछ और घटा, उसका उल्लेख करना भी आवश्यक है, क्योंकि वह दिन केवल निराशा का नहीं, भीतर तक विचलित कर देने वाले दर्द का दिन था।

कार्यालय से निकलकर मैं सीधे प्रिंसिपल साहब के कमरे की ओर गया। वहाँ पता चला कि एन. एल. जैन साहब अभी अपने मैकेनिकल इंजीनियरिंग विभाग के कक्ष में हैं और थोड़ी देर बाद प्रिंसिपल के कार्यालय में आएँगे। वे उस समय मैकेनिकल विभाग के अध्यक्ष (एच.ओ.डी.) थे।

मैं तुरंत मैकेनिकल विभाग पहुँच गया। लेकिन वहाँ भी उनसे भेंट नहीं हो सकी। मुझसे कहा गया कि मैं प्रिंसिपल के कमरे के बाहर ही प्रतीक्षा करूँ। मैं लौट आया और बाहर रखी एक बेंच पर बैठकर उनका इंतज़ार करने लगा।

तब तक साढ़े चार बजे के आसपास का समय हो चुका था।

कुछ देर बाद वे आए। मैंने अपनी पर्ची भीतर भिजवाई। थोड़ी प्रतीक्षा के बाद मुझे बुला लिया गया।

मैंने उन्हें पूरी बात विस्तार से बताई। फीस जमा करने की रसीद भी दिखाई। उन्होंने धैर्यपूर्वक मेरी बात सुनी, लेकिन जो उत्तर मिला, वही था जो फीस जमा करने वाले क्लर्क ने दिया था। उन्होंने कहा कि मेरा प्रवेश तो हो जाएगा, किंतु मुझे सेकंड ईयर के डी सेक्शन में ही बैठना पड़ेगा।

मैंने उनसे बहुत आग्रह किया। कहा कि मैं डी सेक्शन के वातावरण में पढ़ाई नहीं कर पाऊँगा।

उन्होंने शांत स्वर में केवल इतना कहा, "पढ़ाई करना या न करना तुम्हारे ऊपर है।"

उनके इस उत्तर के बाद मैं एक क्षण के लिए बिल्कुल निरुत्तर हो गया। उन्हें कैसे समझाता कि बात केवल पढ़ने की इच्छा की नहीं थी। प्रश्न उस वातावरण का था, जहाँ अपने चारों ओर फैले उदासीन माहौल के विरुद्ध अकेले खड़े होकर निरंतर पढ़ते रहना कितना कठिन होता है। मुझे लगा, यदि मैं यह सब कहने की कोशिश भी करूँगा, तो शायद उसके बदले दो-चार उपदेश और सुनने पड़ेंगे।

मैंने एक बार फिर विनती की। कहा, "यदि संभव हो तो मुझे दोबारा ए सेक्शन में ही रहने दीजिए।"

उन्होंने बात टालते हुए कहा, "एक सेक्शन में पचास से अधिक छात्र नहीं रखे जा सकते। रोल लिस्ट अब अंतिम रूप ले चुकी है। उसमें कोई परिवर्तन संभव नहीं है।"

फिर कुछ रुककर बोले, "और वैसे भी मैं अभी केवल प्रिंसिपल का चार्ज संभाल रहा हूँ। यदि चाहो तो खन्ना साहब से मिल लो। वे आज से छुट्टी पर गए हैं। रॅस्टिकेशन का आदेश उन्हीं ने जारी किया था। यदि वे चाहें तो उसमें संशोधन कर सकते हैं। मैं उस आदेश में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।"

उन्होंने अंत में इतना और कहा, "संभव है, अभी वे अपने बंगले पर मिल जाएँ।"

उनका इतना कहना था कि जैसे मेरे सामने एक बंद होते हुए दरवाज़े के पीछे कहीं बहुत दूर एक छोटी-सी खिड़की खुली दिखाई दी। उम्मीद बहुत क्षीण थी, फिर भी वही उस समय मेरे पास बची हुई एकमात्र संभावना थी।

□□

"मरता क्या न करता!". . . .

प्रिन्सपल आर. के. खन्ना साहब का बंगला कॉलेज के पास ही था। मैं एक तरह से भागता हुआ उनके बंगले पर पहुँचा। बाहर जो सिक्योरिटी गार्ड तैनात था, उसके हाथों अंदर ख़बर भिजवाई कि मैं उनसे किसी बेहद ज़रूरी काम से मिलना चाहता हूँ। लेकिन, अंदर से साफ़ मना कर दिया गया। मैंने गार्ड से बहुत मिन्नतें कीं, लेकिन वह भी क्या करता जब ख़ुद खन्ना साहब ने ही मिलने से इनकार कर दिया था। मैं मन मारकर, हताश होकर वापस लौट आया। उस समय मैं कर भी क्या सकता था!

शाम के पाँच बज चुके थे। कॉलेज और कार्यालय दोनों बंद हो चुके थे। पूरा परिसर खाली पड़ा था, जो उस वक्त मुझे मेरी भावनाओं के किसी खंडहर जैसा दिखाई दे रहा था। मेरा भविष्य जैसे एक गहरे सन्नाटे में बदल रहा था और मैं चाहकर भी कुछ नहीं कर पा रहा था।

इसी बीच, मुझे इलेक्ट्रिकल डिपार्टमेंट के एक सीनियर प्रोफेसर साइकिल स्टैंड पर खड़ी अपनी स्कूटर की ओर जाते हुए दिखाई दिए। पता नहीं क्यों, उम्मीद की एक

क्षीण किरण जागी और मैं उनकी ओर तेज़ी से बढ़ा। लगभग दौड़ता हुआ मैं उनके करीब पहुँच गया। उन्होंने मुझे देखा, लेकिन वे रुके नहीं और चलते रहे। मैं भी उनके बगल में कदम मिलाते हुए चलता गया और हाँफते-हाँफते उन्हें अपनी सारी व्यथा सुना डाली। मुझे लग रहा था कि वे बहुत धैर्य से मेरी बात सुन रहे हैं, किंतु उन्होंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी।

अब तक वे अपने स्कूटर के पास पहुँच चुके थे। उन्होंने स्कूटर स्टैंड से निकाला, किक मारी और उस पर बैठ गए। चलने से पहले उन्होंने एक बार मुझे गहरी नज़रों से देखा और फिर स्कूटर स्टार्ट करके आगे बढ़ गए। इस पूरे घटनाक्रम के बीच उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। मुझे लगा कि इस संकट की घड़ी में उन्हें कम से कम सहानुभूति के दो शब्द तो बोलने ही चाहिए थे। लेकिन जाने वह कैसा बुरा दौर था कि मुझे हर तरफ़ से तरफ़ से सिर्फ़ हताशा ही मिल रही थी। शायद जीवन में पहली बार मुझे यह अहसास हुआ कि समय इतना क्रूर और संवेदन हीन भी हो सकता है।

अब मेरे पास घर लौटने के सिवा कोई चारा नहीं बचा था। मैं बोझिल कदमों से अपनी साइकिल तक पहुँचा। मुझे पता था कि मेरी नोटबुक वगैरह अखिलेश अपने साथ ले गया होगा, पर उस समय मुझे उसकी कोई चिंता नहीं थी। जब सामने पूरा संसार भरभराकर गिरता हुआ दिखाई दे रहा हो, तो कॉपियों की चिंता बहुत छोटी बात थी।

जब मैं घर पहुँचा, तो बाबूजी फैक्ट्री से आ चुके थे। मैंने उन्हें सारी बात विस्तार से बताई। सुनते ही बाबूजी ने 'फ़ौरन' कपड़े पहने और मुझे साथ लेकर दोबारा आर. के. खन्ना साहब के बंगले की ओर रवाना हो गए। वही सिक्योरिटी गार्ड अब भी अपनी ड्यूटी पर तैनात था। इस बार चूँकि बाबूजी साथ में थे, इसलिए गार्ड ने फिर से अंदर ख़बर पहुँचाई। इस बार हमें भीतर बुला लिया गया।

खन्ना साहब बेंत की कुर्सी पर आराम से बैठे हुए थे। वहाँ दो-एक कुर्सियाँ और भी खाली पड़ी थीं, लेकिन उन्होंने बाबूजी को बैठने के लिए नहीं कहा। यह देखकर मैं भीतर तक आहत हो गया, पर चुप रहने के अलावा कोई चारा नहीं था।

चूँकि बाबूजी एक ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में काम करते थे और वहाँ सब कुछ मिलिट्री रूल्स के हिसाब से चलता था, इसलिए उन्होंने वहाँ पहुँचते ही खन्ना साहब को मुस्तैदी से सैल्यूट किया। बाबूजी की वह मुद्रा आज भी मेरी आँखों के सामने तैर जाती है, तो मैं भीतर तक भीग जाता हूँ। बाबूजी ने बहुत आशा और उम्मीद के साथ खन्ना साहब को सैल्यूट किया था; उनकी आँखों में एक याचक के भाव थे।

खन्ना साहब ने हमसे आने का सबब पूछा। मैंने उन्हें विस्तार से सारा विवरण दिया और फीस जमा करने की रसीद भी दिखाई। उन्होंने रसीद हाथ में ली, उस पर एक सरसरी नज़र डाली और मुझे वापस करते हुए रूखे स्वर में कहा, "मैं तो आज से छुट्टी पर हूँ, अब मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता।"

मैंने रोआंसे होकर उन्हें अपनी असहायता बताई, तो बदले में उन्होंने भी अपनी प्रशासनिक असहायता ज़ाहिर कर दी। बाबूजी ने पुनः उन्हें सैल्यूट किया और स्वयं भी बहुत विनती की, निवेदन किया; किन्तु खन्ना साहब के दिल पर कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया देने के बजाय हमें वहाँ से जाने के लिए कह दिया और दोहराया, "मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता।"

अब हमें वहाँ रुकने का कोई औचित्य समझ नहीं आ रहा था। हारकर, मैं और बाबूजी भारी कदमों से वापस लौट आए।"

□□

अब तक घर पर सभी को इस घटना के बारे में पता चल चुका था। सब उदास थे। घर में एक अजीब-सा, भारी सन्नाटा पसरा हुआ था। सब अनमने-से, अपने-अपने कामों में खुद को व्यस्त रखने का निष्फल प्रयास कर रहे थे। धीरे-धीरे रात गहरी होती जा रही थी। हमारा ढाई कमरों का वह छोटा-सा घर था, जहाँ रोज़ रात को बिस्तर बिछाना पड़ता था। उस दिन भी जब बिस्तर बिछे, तो मेरी वह खाट भी बिछ गई जिस पर मैं सोता था। वे बरसात के दिन थे। बीच-बीच में पानी गिर रहा था और मुझे लग रहा था जैसे मेरी आँखों के सामने, मेरे सपनों पर भी पानी पड़ रहा हो। बाई और बाबूजी को भी नींद नहीं आ रही थी। जहाँ तक मेरी बात थी, मुझे तो पूरी रात बिलकुल भी नींद

नहीं आई। वह मेरे जीवन की शायद पहली ऐसी रात थी, जो पूरी की पूरी आँखों ही आँखों में कट गई।

मैं रात भर करवटें बदलता रहा। बार-बार अपने उद्विग्न मन को समझाता रहा कि 'डी सेक्शन' में जाकर पढ़ाई करना कोई जीवन का अंत तो नहीं है! मैं मेहनत करूँगा। क्या हुआ जो मुझे कुछ अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ेगा? मेहनत से मैं कभी नहीं भागा था, तो अब इस बार क्यों भागूँगा? ठीक है, यदि ईश्वर मेरी इसी तरह परीक्षा लेना चाहता है, तो ले। मैं घबराऊँगा नहीं। फिर अखिलेश और कौशल जैसे मेरे दोस्त हैं ही, उनसे मुझे सहायता मिल जाएगी। उनके नोट्स मेरे काम आएँगे। ज़रूरत पड़ी, तो मैं प्रोफेसर्स और लेक्चरर्स के पास खुद पहुँचूँगा और उनसे मदद लूँगा। पूरी रात मैं इसी तरह की योजनाएँ बनाता रहा, अपने आप को ढाँढस बंधाता रहा। अब खुद को बदलती परिस्थितियों के अनुसार तैयार भी करना था, और मैं पूरी रात इसी अंतर्द्वंद्व में लगा रहा।

सुबह हुई। अब तक स्थिति थोड़ी संभल चुकी थी। मैंने नाश्ता किया और नियत समय पर कॉलेज के लिए निकल गया। पता नहीं क्यों, उस दिन मैं अकेला ही ज़रा जल्दी निकल गया था। अपने रोज़ साथ जाने वाले दोस्तों के साथ चलने की मुझमें उस समय हिम्मत नहीं हो रही थी। मुझे लग रहा था कि मैं कैसे उनसे आँखें मिलाऊँगा? वह भी तब, जब मेरी कोई ग़लती ही नहीं थी।

अभी जब मैं ये लाइनें लिख रहा हूँ, मेरे दिमाग में ओशो का एक पॉडकास्ट गूँज रहा है, जो मैंने कल रात ही सुना था। उसमें वे बता रहे थे कि भाग्य जैसी कोई चीज़ नहीं होती; हमारे अपने निर्णय ही हमें उन परिस्थितियों में ला खड़ा करते हैं, जो कई बार हमारे विरुद्ध हो जाती हैं। इस संदर्भ में उन्होंने कर्ण की कहानी भी सुनाई थी और उसे बहुत ही तार्किक तरीके से न्यायसंगत ठहराया था। उन्होंने यह भी बताया कि कर्ण के किन निर्णयों ने उसे अंततः मौत के मुँह में पहुँचाया। पूरी उम्र कर्ण यही मानता रहा कि भाग्य ने उसके साथ ज़्यादती की है। मैं आज सोच रहा हूँ कि यह जो घटना मेरे साथ घटित हुई, इसमें मेरा ऐसा कौन-सा निर्णय था जिसने मुझे इन विकट परिस्थितियों के सामने लाकर खड़ा कर दिया? हो सकता है, कोई विद्वान इसमें कोई तथ्यपरक बात

ढूँढ़ निकाले, किंतु मेरे जैसा घबराया हुआ और अपरिपक्व किशोर सिवाय इसके क्या सोच सकता था कि भाग्य ही मेरे साथ कोई कूट चाल चल रहा है।

बहरहाल, मैं एक बार फिर कॉलेज के प्रशासनिक भवन के गलियारे में था। निरुद्देश्य-सा इधर-उधर भटकता हुआ। मन में फिर वही नकारात्मक विचारों की आँधियाँ चल रही थीं। लगभग साढ़े ग्यारह बजे के आसपास एन. एल. जैन साहब प्रिंसिपल रूम में आए। मैंने फिर उनसे मिलने के लिए पर्ची भिजवाई। कुछ देर बाद मुझे भीतर बुलाया गया। उन्होंने मुझे एक गहरी, खोजी नज़र से देखा। वे एक कागज़ पर हस्ताक्षर कर रहे थे। मेरे कुछ भी बोलने से पहले ही उन्होंने मुझे बता दिया, "मैंने तुम्हारे री-एडमिशन ऑर्डर पर दस्तखत कर दिए हैं। अब जाकर डी सेक्शन में क्लासें अटेंड करो।"

मैंने उनसे एक बार फिर मिन्नत करने की कोशिश की, लेकिन अब वे थोड़ा चिढ़ गए थे। उन्होंने कुछ रूखे पन से मुझसे कहा, "जाकर वाइस चांसलर से मिलो, अब वही कुछ कर सकते हैं।"

मुझे समझ में आ गया कि अब यहाँ किसी तरह की कोई उम्मीद बाक़ी नहीं रही। मुझे अब उसी अनचाही राह पर चलना पड़ेगा, जो शायद नियति ने मेरे लिए चुन ली थी। एक बारगी मेरे मन में आया कि मैं यूनिवर्सिटी जाऊँ और वहाँ प्रयास करूँ, किन्तु तुरंत ही यह आभास हो गया कि जब यहाँ (कॉलेज में) ही कोई बात नहीं बनी, तो वहाँ उम्मीद करना बेमानी है। बेहतर यही है कि मैं डी सेक्शन में बैठकर पूरे मन और एकाग्रता से पढ़ाई करूँ।

इसके बाद मैं घर लौट आया-मन ही मन यह संकल्प लेकर कि इस लड़ाई में अब उतरना ही है। मैंने तय कर लिया था कि आने वाले कल से मैं इस नई राह पर अपने कदम बढ़ा दूँगा।

□□

दूसरे दिन, मेरे भीतर के कोलाहल के अलावा बाहर सब कुछ बेहद सामान्य था-इतना सामान्य, जैसे कुछ हुआ ही न हो। बाई और बाबूजी के चेहरों पर एक थका हुआ संतोष था कि कम से कम मेरा री-एडमिशन तो हो गया। वे रोज़ की तरह अपने-अपने

कामों पर चले गए; बाई अपने स्कूल और बाबूजी अपनी फैक्ट्री। बुआ ने हमेशा की तरह रसोई की परिचित आवाज़ों के बीच मेरा लंच-बॉक्स तैयार कर दिया था। मैं भी अब मन ही मन एक ठंडे निश्चय पर पहुँच चुका था कि पढ़ना तो है ही; जो जैसा भी सामने आएगा, उसे चुपचाप सहना होगा।

'डी सेक्शन' की क्लास प्रशासनिक भवन की पहली मंज़िल पर लगती थी। सीढ़ियों की सीलन भरी गंध के बीच रास्ता पूछता हुआ मैं आखिरकार वहाँ पहुँच गया। उस बड़े, उदास-से कमरे में मुश्किल से दस-बारह छात्र रहे होंगे। मैं बिना किसी आहट के सामने वाली एक बेंच पर जाकर बैठ गया। कुछ देर बाद जब पढ़ाई शुरू हुई, तो मुझे समझते देर न लगी कि यहाँ की पढ़ाई भी 'डी सेक्शन' के अपने एक अलग, धीमे भूगोल के हिसाब से तय थी। ऐसा लगता था जैसे व्याख्याता गण भी पहले से जानते हों कि यहाँ सिर्फ दूसरे दर्जे की औपचारिकता ही पूरी करनी है। यह मेरे भीतर किसी चीज़ के टूटने जैसा था।

सारे विद्यार्थी एक अजीब-सी विरक्ति और ऊब के साथ लेक्चर सुन रहे थे, और मुझे लगा कि डायस पर खड़े व्याख्याता महोदय भी उसी ठंडी विरक्ति से अपने कर्तव्य का बोझ उतार रहे थे। मैंने कॉपी में कुछ बेतरतीब नोट्स बनाए, एक गहरी और ठंडी साँस ली, और उस धूल भरे सन्नाटे से समझौता करके वहीं बैठा रहा।

एक के बाद एक पीरियड बीतते रहे। इस बीच कुछ चेहरे मेरे एकांत के करीब आए। वास्तव में, वे ही खुद चलकर मेरे पास आए थे; मुझसे मेरा नाम पूछा और उनमें से एक-दो ने तो इस तरह सहानुभूति जताई, जैसे वे किसी शोक में सांत्वना दे रहे हों। उन्होंने बातों-बातों में मुझे आगाह कर दिया कि 'डी सेक्शन' में पढ़ाई बस जैसे-तैसे, रेंगती हुई चलती है। उन्होंने हवा में कुछ ऐसे नाम उछाले, जो कई सालों से एक ही क्लास में सड़ रहे थे-'रिपीटर्स'। उनके मुताबिक, वे सीनियर छात्र कॉलेज सिर्फ उसी दिन आते थे, जब उन्हें 'जनरल गोल' करवाना होता था।

'जनरल गोल'-यानी एक ऐसी लंबी, जबरन थोपी गई छुट्टी, जो कैलेंडर में दर्ज़ नहीं होती थी। कॉलेज में जब भी दो-तीन दिनों का कोई आधिकारिक अवकाश आता, वे अपनी धौंस और डराकर जारी किए गए किसी फतवे की तरह उसे पूरे हफ्ते या कभी-

कभी दस-बारह दिनों के सन्नाटे में बदल देते थे। कॉलेज प्रशासन को भी इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता था, और शायद पड़ने की कोई वजह भी नहीं थी। प्रोफेसर्स नियम से आते, खाली कमरों की कुर्सियों को देखते और उलटे पाँव लौट जाते। कभी कोई टेस्ट होना भी होता, तो उस सेक्शन के कुछ छात्र पहले से ही उस पीरियड का बहिष्कार करने की पुख्ता व्यवस्था कर देते थे।

आठ-दस दिनों के भीतर ही मेरे भीतर का सारा हौसला जैसे रिस-रिसकर ख़त्म होने लगा था। पर मैं कर भी क्या सकता था? उन आठ-दस सालों से कॉलेज की दीवारों पर जमे बैठे रिपीटर्स और उनके पद चिन्हों पर चलने वाले उन आवारा, गुंडे किस्म के लड़कों से मैं अकेला कैसे लड़ता? हवा में तैरती उस अनिश्चितता के बीच, जितनी और जैसी भी पढ़ाई हो पा रही थी, मैं उसी टूटे हुए टुकड़े को गनीमत समझकर अपनी हथेलियों में समेट रहा था।

□□

मैं पूरी कोशिश कर रहा था कि अखिलेश के नोट्स लेकर अपनी पढ़ाई को फिर से किसी पटरी पर ले आऊँ। लेकिन वह कोशिश हर दिन कुछ और निष्फल होती जाती थी। अखिलेश के 'ए' सेक्शन में जिन अध्यायों पर चर्चा समाप्त हो चुकी होती, हमारे 'डी' सेक्शन में वे अभी शुरू भी नहीं हुए होते। उसके नोट्स मेरे सामने किसी ऐसे भविष्य की तरह खुले रहते थे, जहाँ पहुँचने का रास्ता मेरे लिए हर दिन थोड़ा और लंबा होता जा रहा था।

हमारी कक्षाओं की अपनी एक विचित्र गति थी- या शायद गति भी नहीं, केवल ठहराव। पीरियडों का निरस्त होना एक सामान्य घटना बन चुका था। कभी कोई अध्यापक नहीं आता, कभी आया भी तो कुछ ही देर में लौट जाता। कई बार ऐसा हुआ कि पूरी कक्षा में केवल मैं बैठा रहता। अध्यापक आते, मुझे अकेला देखकर कुछ क्षण ठिठकते, फिर पढ़ाना आरम्भ कर देते। उस समय मुझे लगता था कि कम-से-कम यह एक घंटा तो बच गया। पर बाद में उसी बात की कीमत भी चुकानी पड़ती। कुछ लड़कों को यह नागवार गुजरता कि मेरी वजह से उनका पीरियड रद्द नहीं हुआ।

उनकी धमकियाँ सुनकर मैं चुप रह जाता। पढ़ना भी कभी-कभी अपराध जैसा लगने लगता था।

कक्षा का वातावरण धीरे-धीरे किसी अनुशासित शिक्षण संस्थान से अधिक एक ऐसे अखाड़े में बदल गया था जहाँ नियमों का कोई अर्थ नहीं रह गया था। कुछ छात्र तो अध्यापक के सामने से ही निर्भीकता से उठकर बाहर निकल जाते, जैसे किसी की उपस्थिति या अनुपस्थिति से उन्हें कोई लेना-देना न हो।

एक दिन तो मैंने ऐसा दृश्य देखा, जो आज भी स्मृति में उसी स्पष्टता से दर्ज़ है। व्याख्याता महोदय पढ़ा रहे थे। अचानक एक छात्र अपनी सीट से उठा और खिड़की से बाहर कूद गया। नीचे गिरने की तेज़ आवाज़ हुई। पूरी कक्षा एक क्षण के लिए ठिठक गई। अध्यापक बाहर गए। देखा, वह लड़का आराम से उठ चुका था और बिना पीछे देखे चलता जा रहा था। वे कुछ पल उसे देखते रहे, फिर बिना कुछ कहे वापस कक्षा में आए और उसी सहजता से पढ़ाने लगे, जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस दिन मुझे पहली बार लगा कि कुछ हारें ऐसी होती हैं जिन्हें स्वीकार कर लेने के अलावा शायद कोई उपाय नहीं बचता।

कभी-कभी कोई वरिष्ठ प्राध्यापक आता। वह दुखी स्वर में समझाने का प्रयास करता कि इस तरह अपना ही भविष्य नष्ट मत करो। पर उसके शब्द दीवारों से टकराकर लौट आते। किसी के चेहरे पर कोई परिवर्तन नहीं होता। धीरे-धीरे समझाने वालों ने भी समझाना छोड़ दिया।

इसी वातावरण में दिन बीतते रहे। फिर दशहरे का समय आ गया। 'डी' सेक्शन के कुछ दबंग और नेता नुमा छात्रों ने एक कागज़ घुमाया। सबके हस्ताक्षर करवा लिए गए। निर्णय पहले ही हो चुका था -दशहरे से लेकर दीपावली तक कोई भी छात्र कॉलेज नहीं आएगा। न कक्षाएँ होंगी, न प्रैक्टिकल, न उपस्थिति की चिंता। विरोध करने का साहस किसी में नहीं था। मैंने भी हस्ताक्षर कर दिए। कभी-कभी मनुष्य अपनी सहमति नहीं देता, केवल अपनी असहायता पर दस्तख़त करता है।

स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि हमारे प्रैक्टिकल भी नियमित नहीं हो पा रहे थे। दूसरे सेक्शनों की तुलना में हम बहुत पीछे छूट चुके थे। और जब मेरी नज़र 'ए' सेक्शन पर जाती, जहाँ वास्तव में मुझे होना चाहिए था, तब भीतर एक ऐसी टीस उठती जिसे शब्दों में बाँधना कठिन है। लगता था, हम केवल कुछ अध्याय नहीं, बल्कि पूरा एक वर्ष खो चुके हैं। उस दूरी को पाटने में शायद दो-तीन वर्ष भी कम पड़ते।

साल समाप्त होने तक आँकड़े स्वयं कहानी कहने लगे थे। जहाँ 'ई' सेक्शन में गणित की डेढ़ सौ से अधिक कक्षाएँ लग चुकी थीं, हमारे 'डी' सेक्शन में उनकी संख्या केवल अठारह थी। अंग्रेज़ी विषय में पूरे वर्ष में मात्र छह पीरियड हुए थे। लगभग हर विषय का यही हाल था। आज यह सब किसी अतिशयोक्ति जैसा लगता है। मुझे भी कभी-कभी विश्वास नहीं होता कि ऐसा वास्तव में हुआ था। लेकिन स्मृति का अपना एक कठोर सत्य होता है। वह न तो बढ़ा-चढ़ाकर कहती है, न घटाकर।

उन दिनों मैं भीतर ही भीतर एक अजीब-सी पीड़ा लेकर जी रहा था। ऐसा लगता था मानो मैं अपने ही भविष्य को धीरे-धीरे हाथों से फिसलते हुए देख रहा हूँ और उसे रोक पाने में पूरी तरह असमर्थ हूँ। कई बार अपने ऊपर ही दया आने लगती। मन पूछता - ऐसा क्यों हो रहा है? और यदि हो ही रहा है, तो मेरे साथ ही क्यों?

उस प्रश्न का उत्तर तब भी मेरे पास नहीं था। आज भी नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य है कि उन सब विसंगतियों और विडंबनाओं के बीच मैंने पढ़ना नहीं छोड़ा। जितना सम्भव था, उतना करता रहा। शायद मनुष्य का सबसे बड़ा प्रतिरोध यही होता है कि परिस्थितियाँ उसके चारों ओर टूटती रहें और वह अपने भीतर के छोटे-से दीपक को बुझने न दे।

मैं भी बस यही कर पा रहा था।



जब कोई क्लास निरस्त हो जाती, तो बाक़ी छात्र कहाँ चले जाते थे - यह मुझे कभी नहीं मालूम हुआ। मैं बस यहाँ-वहाँ भटकता रहता था। निरुद्देश्य। बिना किसी मंज़िल

के। कभी किसी बेंच पर बैठ जाता, किताब खोलता, पढ़ने की कोशिश करता - लेकिन मन था कि टिकता ही नहीं था। वे दिन सच में बड़े कष्ट दायी थे।

घर से मैं अखिलेश और दूसरे साथियों के साथ रोज़ निकलता था। यह कभी तय नहीं रहता था कि आज क्लासें लगेंगी या नहीं। लग जाती थीं तो दिन का कुछ हिस्सा किसी तरह बीत जाता था। नहीं लगती थीं तो फिर वही भटकना - उसी परिसर में, उन्हीं रास्तों पर।

एक दिन विश्वास भावे ने मुझे देख लिया। वह मेरा मॉडल हाई स्कूल का पुराना मित्र था। उसने कहा - "कई दिनों से देख रहा हूँ, यहाँ-वहाँ घूमते रहते हो।" फिर बोला - "मुझे मालूम है, डी सेक्शन में क्लासों का कोई भरोसा नहीं।" उसने अपने हॉस्टल के कमरे की चाबी मेरी हथेली पर रख दी। बस इतना कहा - "जब मन हो, चले जाना।"

और एक नया सिलसिला शुरू हो गया। वह कॉलेज पहुँचते ही चाबी दे देता। क्लास न लगती तो मैं उसके कमरे में चला जाता। वहाँ किताबें भी थीं - जो हमारे पास होती नहीं थीं, क्योंकि हम तो बस नोटबुक लेकर कॉलेज आते थे। उन किताबों के बीच बैठकर पढ़ने की कोशिश करता। कभी-कभी हो भी जाती।

विश्वास भावे के इस एहसान से मैं शायद कभी उऋण न हो पाऊँ। उसने मेरी पीड़ा को बिना कहे समझ लिया था - और बिना किसी आग्रह के, स्वयं आगे बढ़कर, मुझे एक ठिकाना दे दिया था।

दूसरे मित्र शालिग्राम अग्रवाल ने भी कुछ ऐसा ही किया। मॉडल हाई स्कूल के दिनों से वह हमारे ग्रुप में था। उसके एक फुफेरे भाई का मकान राँझी में था – वे एमईएस में नौकरी करते थे, अविवाहित थे। उस मकान की एक चाबी शालिग्राम के पास रहती थी। उसने भी कह रखा था - "जब ज़रूरत हो, चाबी ले लेना।" पहली बार वह खुद मुझे वहाँ ले गया था, मकान दिखाया था। उसके बाद कई बार, जब कॉलेज में लंबे समय तक क्लासें नहीं लगती थीं, मैं वहाँ जाकर दिन गुज़ार आता था।

घर वालों को कोई ख़बर न हो, कोई चिंता न हो - इसलिए मेरा कॉलेज जाना बदस्तूर जारी रहता था। समय पर निकलना, समय पर लौटना। भीतर चाहे जो चल रहा हो।

धीरे-धीरे मैंने खुद को समय के बहाव में छोड़ दिया था। उसे 'रम जाना' नहीं कहूँगा - लेकिन एक अजीब-सी आदत ज़रूर पड़ गई थी। बदली हुई परिस्थितियों के साथ जीने की आदत।

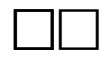


धीरे-धीरे साल गुज़र गया। फरवरी का महीना आते-आते, कॉलेज के अन्य सभी सेक्शनों में एक अजीब-सी व्याकुलता तैरने लगी थी - पाठ्यक्रम को समाप्त करने की और फिर समय बचे तो रिवीज़न की भी। लेकिन हमारे 'डी' सेक्शन का आलम थोड़ा बहुत नहीं बिलकुल ही अलग था, जैसे वह समय के इस रैखिक बहाव से पूरी तरह कट चुका हो। वहाँ किसी को भी कोर्स पूरा करने की कोई जल्दी नहीं थी; रिवीज़न तो खैर एक ऐसी विलासिता थी, जिसके बारे में सोचना भी वहाँ की हवा और माहौल में मुमकिन नहीं था।

हमारे साथ कुछ ट्रांसफर कोर्स के विद्यार्थी भी थे - कुछ सहमें सहमे चेहरे, जो एक अनजानी सी उम्मीद लेकर इस क्लास में आए थे। लेकिन वे बेचारे भी भला क्या करते? उनकी आँखों में एक मूक बेबसी थी, जो बिना कुछ कहे भी बहुत कुछ कह जाती थी। बस, जैसी भी थी, जैसी भी टूटती-बिखरती हुई जो कुछ भी थी, हमारी पढ़ाई किसी तरह हिचकोले खाती बैलगाड़ी की मानिंद चल रही थी। एक ऐसी पढ़ाई जिसमें गति नहीं केवल ठहरते ठिठकते झटके थे।

इसी बीच, एक दोपहर, जब खिड़की से आती धूप बेहद उदास और परेशान सी लग रही थी, हमारे सेक्शन के उन स्वयं भू दबंग नेताओं और बाहुबली छात्रों ने, जिन्होंने अनधिकृत रूप से पूरे 'डी' सेक्शन के प्रशासन को अपनी मर्जी के धागों से बांध रखा था - अचानक एक घोषणा कर दी। उन्होंने 'प्रिपरेशन लीव' का ऐलान कर दिया। यह एक अजीब, अवास्तविक सा फैसला था, क्योंकि अभी कॉलेज प्रशासन की तरफ़ से आधिकारिक रूप से परीक्षा की तैयारी की छुट्टियों की कोई सुगबुगाहट भी शुरू नहीं हुई थी। पर उस कमरे में, उनके उस फैसले के बाद, एक ऐसा सन्नाटा पसर गया जिसने आधिकारिक नियमों को पल भर में बेमानी बना दिया। हम बिना कोर्स पूरा किए ही

परीक्षा की तैयारी करने छुट्टी पर चले गए। चूँकि ये सन् 1973-74 का सत्र था, शायद इसीलिए अटेंडेंस शॉर्टेज़ का नियम इतना सख़्त नहीं था।

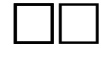


परंतु सालाना परीक्षाएँ तो सरकारी नियमों से ही सम्पन्न होनी थीं। उसपर हमारे दबंगों की दबंगई नहीं चल सकती थी। यदि ऐसा होता तो वे ही प्रश्न पत्र बनाते और वे ही उन्हें जाँचते भी। पर एक चीज़ उनके हाथ में थी जो वे कभी कभार कर देते थे – पेपर पोस्टपोन करवाना। इसके लिए वे हॉस्टल की बिजली सप्लाई के तारों पर लोहे की चेन फेंक देते। हॉस्टल की बिजली गुल हो जाती। फिर रात भर वे ध्यान रखते कि बिजली रात में चालू न हो। दूसरे दिन प्रिन्सपल के कमरे के बाहर इकट्ठे हो जाते – इस मांग के साथ कि रात भर बिजली गुल रहने के कारण छात्र पढ़ाई नहीं कर पाए है लिहाज़ा पेपर की तारीख़ बढ़ा दी जाए। और ऐसा हो भी जाता था।

ख़ैर, उस बरस ऐसा कुछ नहीं हुआ। सेकंड ईयर के सारे पेपर समय सारणी के अनुसार हुए।

मैंने जितनी भी पढ़ाई मैं कर सकता था पूरे ज़ोर लगाकर की थी। कई लेक्चरर्स और प्रोफेसर्स के पास स्वयं जाकर बहुत सी कठिन चीज़ें समझीं। कुछ शरत जेठी जैसे प्रतिभाशाली सदैव प्रथम आने वाले मित्र से भी सहायता ली।

लेकिन परीक्षा फल ने वह झटका दे ही दिया जिसका बीजा रोपण आठ अगस्त उन्नीस सौ तिहत्तर को हो चुका था। नियति ने जो पटकथा मेरे लिए लिख रखी थी, उसी के अनुसार सब कुछ उसी तरह से मेरे जीवन के रंगमंच पर मंचित हुआ। मुझे गणित द्वितीय और अँग्रेज़ी के पर्चों में कम्पार्टमेंट आ गया। बाक़ी के सभी विषय मैंने अच्छी तरह से निकाल लिए। अब इन दो विषयों के संबंध में इतने बरस बाद क्या सफ़ाई दूँ। सब कुछ तो पहले ही बता चुका हूँ। जो कुछ हुआ वह अप्रत्याशित तो नहीं था।



ये जो कुछ भी हुआ था वह केवल घटना नहीं है, बल्कि मेरे मन का पहला बड़ा समझौता है - एक ऐसा क्षण, जब सपनों और नियति के बीच पहली बार सीधी टक्कर

होती है। इसे बाहरी घटनाओं से अधिक भीतरी अनुभूति, स्मृतियों की धुंध और मौन की भाषा में विस्तार देना उपयुक्त होगा, तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी। जीवन की इन अनचाही और अनजानी भूल भुलैयों के बीच हम इसी तरह ही तो रास्ता ढूँढ़ने का प्रयास कर सकते हैं।

उस वर्ष जीवन ने मुझे पहली बार यह सिखाया था कि हार हमेशा शोर मचाकर नहीं आती। कभी-कभी वह बिल्कुल चुपचाप हमारे बगल में आकर बैठ जाती है और हमें बहुत देर बाद पता चलता है कि जो रास्ता हम अपना समझ रहे थे, वह तो कब का हमारे पैरों के नीचे से हट चुका है।

यह मेरे जीवन का पहला और अंतिम अवसर था जब मुझे परीक्षा में इस तरह का परिणाम प्राप्त हुआ। परिणाम हाथ में आते ही सबसे पहले जो भाव भीतर उठा, वह निराशा का नहीं, बल्कि एक अजीब-सा मलाल था। बार-बार यही विचार मन में लौटकर आता कि यदि उन दिनों थोड़ी-सी और मेहनत कर ली होती, कुछ और रातें जाग लिया होता, कुछ और पन्ने पलट लिए होते, तो शायद कहानी कुछ और होती। लेकिन धीरे-धीरे यह भी समझ में आने लगा कि बात केवल उतनी-सी मेहनत की नहीं थी। जैसे किसी अदृश्य हाथ ने बहुत पहले से मेरे लिए घटनाओं का क्रम तय कर रखा था। छोटी-छोटी असावधानियाँ, परिस्थितियों की अनदेखी ठोकरें और समय के कुछ अप्रत्याशित मोड़ - सब कुछ तो एक साजिश की तरह किसी अनदेखे अनजाने ने सेट करके रखा हुआ था। और वही षड्यन्त्र जो पहले से मेरे विरुद्ध बुन लिया गया था मुझे उस परिणाम की ओर धीरे-धीरे धकेल रहा था।

जिस आशंका ने कई महीनों से मेरे भीतर एक स्थायी निवास बना लिया था, अंततः वही सच बनकर सामने खड़ी थी। मुझे एम.ए.सी.टी. में प्रवेश मिलने का रास्ता बंद हो चुका था।

मैं परिस्थितियों के सामने की इस कदर हताश हो चुका था कि उस दिन मेरे मन में विचारों की कोई उथल पुथल नहीं हुई। किसी भी तरह की कोई ऊहापोह, कोई दुख कोई पीड़ा मैंने नहीं महसूस की। कुछ भी तो अप्रत्याशित नहीं था कि मैं आश्चर्य चकित होता। जो दिन बल्कि जिस तरह के दिन मैंने 'डी' सेक्शन में गुज़ारे थे उनके सामने मेरे

बाक़ी के विषयों में अच्छी तरह से पास हो जाना अप्रत्याशित था। इसीलिए मैंने कोई संघर्ष भी नहीं किया। ना ही अपने भीतर और ना ही बाहर की दुनिया में। एम.ए.सी.टी. में प्रवेश के लिए भी न किसी कार्यालय के चक्कर लगाए, न किसी से सिफारिश की उम्मीद रखी, न यह जानने की कोशिश की कि कहीं कोई संभावना अभी भी बची है या नहीं। शायद भीतर कुछ टूट चुका था। कभी-कभी हम हार इसलिए नहीं मानते कि रास्ते बंद हो जाते हैं; हम शायद इसलिए रुक जाते हैं क्योंकि भीतर उम्मीद की आवाज़ बहुत धीमी पड़ जाती है। मेरे साथ यही सब कुछ तो हुआ था। परिणाम ने मेरे आत्मविश्वास को चुपचाप बिना मुझे पता लगे इस तरह चोट पहुँचाई थी कि आगे बढ़कर दरवाज़ा खटखटाने का साहस भी मुझमें नहीं बचा था।

फिर भी जीवन पूरी तरह रुक तो नहीं जाता। वह हमारे लिए कोई-न-कोई पगडंडी छोड़ ही देता है।

मैंने अपने ही कॉलेज में सिविल इंजीनियरिंग के तृतीय वर्ष में प्रवेश ले लिया। यह निर्णय उत्साह से अधिक विवशता का था। प्रवेश फॉर्म भरते समय हाथ तो मेरे थे, लेकिन मन कहीं और भटक रहा था। ऐसा लगता था जैसे मैं अपने लिए नहीं, किसी और के लिए यह निर्णय ले रहा हूँ। फिर भी लगता है इतना सब होने के बाद भी मेरे भीतर कहीं एक छोटी-सी लौ अब भी बुझी नहीं थी। मैंने स्वयं को समझाया - यदि आगे कभी कोई अवसर मिला, यदि परिस्थितियाँ थोड़ी भी अनुकूल हुईं, तो शायद आर्किटेक्ट बनने का कोई रास्ता निकल आए। सपने उस समय टूटे नहीं थे; बस उन्होंने अपने ऊपर धुंध की एक घनी चादर ओढ़ ली थी। वे जैसे हतप्रभ से होकर अवाक हो गए थे, पर उनमें जीवन बाक़ी था। वे नष्ट नहीं हुए थे।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि हम अपने भविष्य के बारे में जितनी योजनाएँ बनाते हैं, कोई और उतनी ही शांति से अपनी अलग योजना लिखता रहता है। ये बात जैसी भी थी पर सच थी कि उस दिन दरअसल मेरे जीवन की दिशा बदल गई थी। भविष्य एक अलग ही आयाम और एक नई दुनिया में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे उस गाड़ी में बैठा दिया गया था जो सीधे उस स्टेशन पर रुकने वाली थी जहाँ 'वह' मुझे पहुँचाना चाहता था।



मैं सिविल संकाय में पहुँच गया। किसी पुराने राज भवन की तरह दिखाई पड़ने वाली शानदार इमारत के एक कक्ष में। इंजीनियरिंग की पढ़ाई का तीसरा साल। अब मैं सिविल इंजीनियरिंग का छात्र था। जैसा कि मुझे सेकंड ईयर में बताया गया था कि एक सेक्शन में सिर्फ़ पचास विद्यार्थी ही रखे जाएँगे, यहाँ हमारे सेक्शन में पूरे बहत्तर छात्र थे। पचास विद्यार्थियों के बैठने की जगह में ठुँस ठुँसा कर एक दूसरे से अटे-सटे बहत्तर छात्र। सबसे पहले तो मुझे इस विसंगति ने ही परेशान कर दिया। कहाँ तो मेरे बख़त पचास से इक्यावन होना नामुमकिन था और यहाँ इक्यावन बावन नहीं पूरे बहत्तर. . . .

फिर मैंने अपने आस-पास नज़र डाली। मैं अपने उन दोस्तों से माफ़ी माँगते हुए लिखने पर मज़बूर हूँ, जो पढ़ने लिखने में होनहार और चाल चलन में साफ़ सुफ़ैद सीधे साधे छात्र थे- कि मुझे हालात यहाँ भी सेकंड ईयर के 'डी' सेक्शन से बेहतर नज़र नहीं आ रहे थे। ये जो होनहार किस्म के विद्यार्थी थे, इनकी संख्या बहुत कम थी। लिहाज़ा मेरी छटी इंद्रिय ने मुझे चेतावनी ही नहीं दी बल्कि झकझोर दिया। सारे के सारे पढ़ाकू किस्म के विद्यार्थी मैकेनिकल इलेक्ट्रिकल और इलेक्ट्रॉनिक्स विभागों में चले गए थे मेरे अपने फर्स्ट ईयर ग्रुप के पांच में से तीन मैकेनिकल में और एक इलेक्ट्रॉनिक्स में गया था जबकि मैं यहाँ जबकि मैं यहाँ सिविल विभाग में पड़ा हुआ था। पहला दिन बीता फिर दूसरा मगर तीसरा दिन आते आते मेरी हिम्मत यहाँ भी जवाब दे गई मैंने मन ही मन तय कर लिया अब आर्किटेक्ट किसी और जन्म में बनूँगा मैकेनिकल डिपार्टमेंट में जाने की सोच मुझ पर हावी होने लगी। सारे अच्छे पढ़ने वाले और प्रायः मेरे सभी मित्रों ने मैकेनिकल विभाग में एडमिशन लिया हुआ था। तीसरा दिन किसी तरह मैंने काटा चौथे दिन एक एप्लिकेशन एन.एल.जैन साहब, एच.ओ.डी. मैकेनिकल डिपार्टमेंट को एड्रेस करते हुए बनाई और निवेदन किया कि मैं अपना विभाग चेंज करके सिविल से मैकेनिकल में आना चाहता हूँ मैं वह एप्लिकेशन लेकर एन. एल.जैन साहब के पास पहुँचा उनके हाथों में वह एप्लिकेशन मैंने दी वे मुझे पहचान गए थे। मुझसे बोले तुम क्यों मैकेनिकल डिपार्टमेंट में आना चाहते हो ? मैंने बिना कुछ छुपाए

उनसे अपनी बात कह दी। वे पिछली बार मेरी सहायता नहीं कर पाए थे शायद इस कारण या फिर कोई और कारण रहा हो, मुझे मैकेनिकल डिपार्टमेंट में जगह देने के लिए तैयार हो गए। बस उनका कहना था - इस एप्लिकेशन पर खनूजा साहब के दस्तख़त करा कर ले आओ उनसे कहना कि तुम्हारी मुझसे बात हो चुकी है। मैं लगभग दौड़ता हुआ सिविल डिपार्टमेंट के एच.ओ.डी. खनूजा साहब के पास पहुंचा उन्हें एप्लिकेशन दी और आधी अधूरी बात बताते हुए उनसे एन.ओ.सी. प्रदान करने की दरख़्वास्त की। मैंने उन्हें सिविल विभाग छोड़ने का असल कारण नहीं बताया बल्कि उसकी जगह कुछ और बता दिया, जिससे कि उन्हें किसी तरह की कोई ठेस न पहुंचे। वैसे भी सिविल विभाग में तीसरे साल की कक्षा में बहत्तर विद्यार्थी थे। उनमें से यदि एक कम भी हो जाता तो कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ने वाला था। उन्होंने शांति से मेरी बात सुनी, मेरी एप्लिकेशन पर अपनी सहमति के कुछ शब्द लिख कर दस्तख़त कर दिए।

और मैं सिविल विभाग से मैकेनिकल विभाग में आ गया। कार्यालय में इस संबंध में जो कुछ भी कार्यवाही या कार्यवाहियाँ हुई हों। मैंने पता नहीं कीं। सभी विषयों की रोल लिस्ट में मेरा नाम आ गया। मेरे साथ एक और छात्र भी किसी और विभाग से मैकेनिकल में आया था। उसका नाम प्रवीर चक्रवर्ती था। हम दोनों मैकेनिकल विभाग के तीसरे वर्ष के इक्यावनवें और बावनवें छात्र थे। यही हमारे अब रोल नंबर हो गए थे।

मुझे वहाँ पहुँचकर महसूस हुआ –

"जैसे मैं एक बहुत लंबी अवधि का एकांत वनवास काट कर वापस अपने घर पहुँच गया हूँ।"

□□

अब जाकर ये लगने लगा था जैसे जीवन वापस फिर से पटरी पर आ गया है।

मुझपर अब ऐसी कोई धुन सवार नहीं थी कि मुझे ये बनना है या वो बनना है। मैं बस उस माहौल में रहकर पढ़ना चाहता था, जिसे मैंने पूरे एक साल तक मिस किया था।

मैं उस पंछी की तरह महसूस कर रहा था जो अपनी 'डार' से बिछड़ गया हो और पूरे एक बरस के बाद जैसे किसी चमत्कार से वापस अपनी 'डार' से आ मिला हो।

मैंने नए सिरे से पुनः पढ़ाई शुरू की। यह अंतर मेरे क्लासेस में बनाए गए नोट्स से साफ़ दिखाई पड़ता था। अब मैं सिर्फ़ एक ही नोट बुक में रफ़ नोट्स नहीं बनाता था बल्कि हर विषय की मैंने क्लास नोट बुक अलग अलग बनाई हुई थी। अब मेरे नोट्स काफ़ी डिटेल के साथ बनते थे। मुझे एक तरह से पढ़ने में फिर से आनंद आने लगा था। कभी कभी लगता जैसे मैं नया नया कॉलेज आया हूँ।

मैकेनिकल इंजीनियरिंग मेरे हिसाब से फिजिक्स, केमिस्ट्री और गणित के मेल से उत्पन्न एक नया संसार था। मैं इस संबंध में कुछ और भी बताना चाहूँगा -

"मैकेनिकल इंजीनियरिंग या यांत्रिक अभियांत्रिकी, इंजीनियरिंग की सबसे पुरानी, विस्तृत और सदा विकासमान शाखाओं में से एक है। मुख्य रूप से, यह क्षेत्र - भौतिकी (फिजिक्स) और सामग्री विज्ञान (मटेरियल साइंस) के सिद्धांतों का उपयोग करके विभिन्न यांत्रिक प्रणालियों (मैकेनिकल सिस्टम) के डिजाइन, निर्माण, संचालन और रखरखाव से संबंधित है।

इस क्षेत्र में छोटे से छोटे पुर्जों (जैसे कि घड़ियों के गियर और नैनो-बॉट्स) से लेकर बड़ी-बड़ी मशीनों (जैसे कि हवाई जहाज, ऑटोमोबाइल, लिफ्ट, और बिजली संयंत्रों) तक का निर्माण शामिल है। मैकेनिकल इंजीनियर मुख्य रूप से गति, ऊर्जा, बल और थर्मोडायनामिक्स (ऊष्मा गतिकी) के सिद्धांतों पर काम करते हैं।

आज के आधुनिक युग में, मैकेनिकल इंजीनियरिंग का दायरा सिर्फ पारंपरिक मशीनों तक ही सीमित नहीं है। अब इसमें रोबोटिक्स, मेकाट्रॉनिक्स, एयरोस्पेस और अक्षय ऊर्जा (रिनियूएबल) जैसे उन्नत क्षेत्र भी शामिल हो चुके हैं। सीधे शब्दों में कहें तो, सुई से लेकर हवाई जहाज तक, हर वो चीज़ जो चलती है या जिसमें ऊर्जा का उपयोग होता है, उसके पीछे कहीं न कहीं मैकेनिकल इंजीनियरिंग का हाथ होता है। इंजीनियरिंग की यह शाखा मनुष्य के जीवन को अधिक सरल, सुरक्षित और गतिशील बनाने में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।"

□□

हमारे मैकेनिकल विभाग में वह सब कुछ था जो हमें एक मैकेनिकल इंजीनियर बनाने के लिए आवश्यक था। मटेरियल टेस्टिंग लैब, हीट एंजिन लैब, फ्लूइड मैकेनिक्स लैब, वर्कशॉप, अच्छे प्राध्यापक, वरिष्ठ और विद्वान रीडर्स, प्रोफेसर्स हमारे लिए उपलब्ध थे वे जिस लगन धैर्य और निष्ठा के साथ हमें पढ़ाते थे वह निश्चित रूप से स्तुत्य है। उनकी क्लास न होने पर भी वे अपने कमरों में हमें गाइड करने के लिए, हमें ना समझ में आने वाली चीजों को समझाने के लिए सदैव उपलब्ध रहते थे। उन सभी के नाम मैं यहाँ कृतज्ञता पूर्वक अंकित करना चाहूँगा।

इनमें सबसे पहले तो श्री एन. एल.जैन साहब, एच.ओ.डी. मैकेनिकल डिपार्टमेंट का नाम लूँगा। उन्होंने तीनों सालों में हमें कोई विषय नहीं पढ़ाया किन्तु मेरे लिए तो मैकेनिकल डिपार्टमेंट का दरवाज़ा उन्होंने ही खोला था। इसके बाद डॉ. कमल कुमार सर, डॉ. दवे सर, प्रोफेसर वाखलू सर, प्रोफेसर घई सर,एस.पी. पाण्डेय सर, एल.एम.सक्सेना सर आई.के.खन्ना सर, मनीष चौबे सर, शिंदे सर, जी.एस.यादव सर, डॉ. नीरज दुबे सर, निग़ाम सर, गौरसिया सर, गुलाटी सर, परांजपे सर, गुजराल सर और वर्कशॉप वाले धापू सर। मैं कुछ नाम यहाँ भूल रहा हूँ। कम से कम दो चेहरे याद आ रहे हैं पर नाम नहीं। उनमें से एक ने हमें शायद फ़ोर्थ ईयर में 'मशीन डिज़ाइन' विषय और फाइनल ईयर में 'स्ट्रेंग्थ ऑफ मटेरियल्स' विषय पढ़ाए थे। उनकी 'मशीन डिज़ाइन' के विषय पर एक पुस्तक भी पब्लिस्ड हुई थी। जो हम लोगों के पास थी। दूसरे धापू सर के पहले वर्क शॉप इन चार्ज थे। पर अब उनका नाम मुझे याद नहीं आ रहा है।

अब चूँकि बात वर्क शॉप पर आकर रुकी है तो फिर – यहीं जगह बन रही है कि मैं बता दूँ। हमारे वर्क शॉप में एक एयरो-डायनामिक्स लैब भी थी। पहले जी.ई.सी. जबलपुर में एयरो-डायनामिक्स इंजीनियरिंग भी पढ़ाई जाती थी। पर किन्हीं कारणों से जो कि मुझे नहीं मालूम, पढ़ाई की वह शाखा कहीं और स्थानांतरित हो गई। परंतु एयरो-डायनामिक्स लैब अभी भी वर्कशॉप के एक विशाल कक्ष में बची हुई थी।

साथ ही हमारे कॉलेज में उस समय का एक 'एरोप्लेन' भी था। ये हवाई जहाज़ वर्क शॉप के परिसर में ही खड़ा रहता था।

हमारे डिपार्टमेंट की हीट एंजिन लैब के साथ लगा हुआ एक वेबकॉक विलकॉक्स बॉयलर भी था। जिसे हम लोगों ने एसपी पाण्डेय सर के मार्गदर्शन में बाकायदा लाइट-अप भी किया था और निर्धारित दवाब और तापमान पर सुपरहीटेड स्टीम भी बनाई थी। इसी तरह एक लंका शायर बॉयलर भी था। एक डबल स्टेज स्टीम इंजन जिसे आमतौर पर कंपाउंड स्टीम इंजन कहा जाता है, भी चालू हालत में था। हमने उसे भी चलाया था। हीट एंजिन लैब में ही एक बंद पड़ा डबल स्टेज एअर कंप्रेसर भी था। हमने इसी कंप्रेसर को चालू करने एवं उसके परफॉर्मेंस टेस्टिंग का प्रोजेक्ट एसपी पाण्डेय सर के निर्देशन में किया था। इस क़िस्से को आगे विस्तार से बताऊँगा।

इस अनुच्छेद को अब कृतज्ञता के साथ ये बात कहते हुए समाप्त करता हूँ कि मैकेनिकल डिपार्टमेंट के सभी गुरु जनों का, सभी इन्सट्रक्टर कर्मचारियों और लैब अटेण्डेंट्स का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस काबिल बनने में अपना ज्ञान, अपनी मेहनत बिना किसी भेद भाव के लगाई, जिससे मैं मध्य प्रदेश सरकार की विद्युत उत्पादन कंपनी में एग्ज़िक्यूटिव डायरेक्टर जैसे उच्च पद तक पहुँच सका।

□□

मैंने पहले भी बताया है कि थर्ड ईयर के दिन अब धीरे-धीरे सँवरने लगे थे। बहुत दिनों बाद ऐसा लग रहा था मानो कॉलेज का जीवन सचमुच मेरे लिए फिर से शुरू हुआ हो। हर सुबह अपने साथ एक नया उत्साह लेकर आती। नई कक्षाएँ, नए विषय, दोस्तों की हँसी, कैंटीन की चहल-पहल, लाइब्रेरी की खामोशी- सब कुछ जैसे फिर से अपना लगने लगा था। ऐसा लगता था कि पिछली सारी कड़वाहट पीछे छूट रही है और मैं एक बार फिर उसी रास्ते पर लौट आया हूँ जहाँ से कभी भटक गया था।

लेकिन भीतर एक फाँस अब भी धँसी हुई थी। वह इतनी गहरी थी कि बाहर से दिखाई नहीं देती थी, पर ज़रा-सा ध्यान उधर जाता और भीतर कहीं टीस उठने लगती। सेकंड

ईयर के वे दो रुके हुए पेपर- जिनकी सप्लीमेंट्री परीक्षा अगस्त या सितंबर में होनी थी- हर समय मेरी चेतना के किसी अँधेरे कोने में मौजूद रहते।

कभी-कभी मुझे लगता, मेरी थर्ड ईयर की ज़िंदगी एक साफ़-सुथरी सड़क पर चल रही है, लेकिन उसके बिल्कुल समानांतर एक ऊबड़-खाबड़ पगडंडी भी है, जिस पर मुझे अकेले चलना है। उस पगडंडी पर न कोई साथी था, न कोई हँसी, न कोई सहारा। केवल मैं था और मेरी आशंकाएँ।

दोस्तों के साथ बैठा हँस रहा होता, किसी बात पर ठहाका भी लगा देता, लेकिन अगले ही क्षण न जाने कहाँ से उस अधूरे गणित के पेपर की याद चली आती। जैसे किसी ने भीतर अचानक एक बत्ती बुझा दी हो। आसपास का सारा शोर मुझसे दूर चला जाता। मित्र बातें करते रहते, पर उनकी आवाज़ें मुझ तक पूरी नहीं पहुँचतीं। कभी कोई मेरे चेहरे का बदलता रंग पढ़ लेता, कभी किसी का ध्यान ही नहीं जाता। पर मैं भीतर ही भीतर काँप उठता। लगता, मेरी चेतना पर किसी ने अचानक बिजली गिरा दी हो।

ऐसे समय मैं अक्सर कोई बहाना बनाकर दोस्तों के बीच से उठ जाता। कॉलेज के किसी सुनसान कोने में जाकर बैठ जाता और स्वयं ही अपने मन को समझाने की कोशिश करता। अपने ही भीतर एक आदमी सवाल पूछता और दूसरा आदमी उसे उत्तर देने का प्रयास करता। लेकिन अपने ही मन की काउंसलिंग करना शायद संसार का सबसे कठिन काम है। यह वही समझ सकता है जिसने अपने भीतर डर और उम्मीद को एक साथ रहते देखा हो।

जब उन दोनों विषयों की किताबें खोलता, तो लगता जैसे मेरे बाजू में कोई अनजाना भय आकर बैठ गया है। पन्नों पर लिखे सूत्र और शब्द अपनी जगह थे, पर उनके बीच एक अदृश्य आशंका भी बैठी रहती थी। पढ़ना चाहता था, पर मन बार-बार भटक जाता।

मित्रों से सहायता माँगने में भी न जाने कैसी झिझक होती थी। ऐसा लगता, जैसे अपनी कमज़ोरी स्वीकार कर लूँगा। इसलिए अधिकतर लड़ाई अकेले ही लड़ता रहा। बार-

बार अपने आपको समझाता- "यह लड़ाई तुम्हें स्वयं ही लड़नी है। इससे कोई दूसरा तुम्हें पार नहीं लगा सकता।"

थर्ड ईयर की पढ़ाई के साथ-साथ इस दूसरी लड़ाई की तैयारी भी चलती रही। दोनों मोर्चों पर एक साथ टिके रहना आसान नहीं था, फिर भी मैं अपनी सामर्थ्य भर प्रयास करता रहा।

मित्र मेरा मनोबल बढ़ाते थे। विशेषकर अखिलेश। उसके शब्दों में न जाने कैसी सहज शक्ति थी कि कुछ देर के लिए विश्वास लौट आता। कौशल भी बराबर हिम्मत बँधाता। उनके बीच बैठकर लगता कि शायद सब ठीक हो जाएगा। लेकिन जब अकेला होता, तब महसूस होता कि भीतर कहीं कुछ अब भी टूटा हुआ है। जैसे किसी मिट्टी के बर्तन को जोड़ तो दिया गया हो, पर उसकी दरार अब भी दिखाई देती हो।

समय, किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह मेरी घबराहट से भी अप्रभावित अपनी गति से चलता रहा और देखते-ही-देखते सप्लीमेंट्री परीक्षा के दिन भी आ गए।

दोस्तों की शुभकामनाएँ, अपनी जितनी भी तैयारी थी और मन में बची हुई थोड़ी-सी उम्मीद- इन्हीं के सहारे मैंने दोनों विषयों की परीक्षा दी।

इतने वर्षों बाद अब ठीक-ठीक याद नहीं पड़ता, लेकिन शायद दस-पंद्रह दिनों के भीतर परिणाम भी घोषित हो गया।

परिणाम सामने था।

अँग्रेज़ी का परचा मैंने पास कर लिया था।

लेकिन गणित द्वितीय. . . वह फिर रुक गया।

कुछ क्षणों तक मैं उस परिणाम को देखता ही रह गया। जैसे उसका अर्थ समझने में समय लग रहा हो। फिर धीरे-धीरे उसकी सच्चाई भीतर उतरने लगी। लगा जैसे शरीर का सारा बल एक साथ निकल गया हो। हाथ-पाँव सचमुच ढीले पड़ गए थे।

अब क्या होगा?

यही प्रश्न बार-बार सिर उठाने लगा।

भविष्य में क्या छिपा था, यह मैं नहीं जानता था। लेकिन आशंकाओं की काली परछाइयाँ मेरे चारों ओर घिरती जा रही थीं। वे लगातार यही विश्वास दिला रही थीं कि शायद अब बचने का कोई रास्ता नहीं है। धीरे-धीरे वे मेरे आत्मविश्वास को खाती चली जा रही थीं।

कॉलेज में इस स्थिति को 'एटी-केटी' कहते थे- यानी "*Allowed To Keep Terms*" अगली कक्षा में जाने की अनुमति तो मिल जाती थी, लेकिन शर्त यही रहती कि रुका हुआ विषय पहले हर हाल में उत्तीर्ण करना होगा। उस समय यह शब्द केवल एक शैक्षणिक व्यवस्था नहीं था; मेरे लिए वह एक स्थायी चिंता का दूसरा नाम बन गया था। मुझे थर्ड ईयर की सालाना परीक्षा के साथ गणित द्वितीय का पेपर हर हाल में क्लियर करना था। उसमें किसी भी तरह पास होना था। नहीं तो एक साल पीछे रह जाना पड़ेगा। फिर जूनीयर्स के साथ बैठकर आगे पढ़ाई करना पड़ेगी।

इस तरह अब एक नई बेचैनी सामने खड़ी थी- क्या मैं फ़ोर्थ ईयर तक पहुँच भी पाऊँगा?

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो सोचता हूँ, रंगों, आकारों और रेखाओं से दोस्ती रखने वाले, शब्दों से प्रेम करने वाले उस सीधे-सादे लड़के से विधाता एक के बाद एक इतनी परीक्षाएँ क्यों ले रहा था ? शायद जीवन उसे उसकी उम्र से पहले बड़ा बना देना चाहता था। उस समय इसका उत्तर मेरे पास नहीं था। केवल प्रश्न थे, और उन प्रश्नों के साथ बहुत लंबी, बहुत अकेली रातें।



मेरी कहानी के इस पड़ाव तक आकर, इन सफ़हों तक आते-आते, मेरे क़िस्से में बहुत सारी उदासी घुल गई है। चलो किसी, उस इलाक़े की ओर चलें; जहाँ कुछ मज़ेदार यादें बतिया रही हों। उन्हीं से बातें करते हैं।

उसके पहले मुझे ये बताना पड़ेगा बल्कि याद दिलाना पड़ेगा कि मैं पहले ही बता चुका हूँ थर्ड ईयर में सिविल विभाग के एन.के. शर्मा सर ने, जो उस समय शायद 'रीडर' रहे होंगे; मेरी एकल चित्र प्रदर्शनी कॉलेज के ऐन्यूअल फंक्शन के समय

लगवाई थी। उस प्रदर्शनी में मेरे बहुत सारे वाटर कलर और ऑईल कलर चित्र प्रदर्शित हुए थे। वह प्रदर्शनी कॉलेज के छात्रों के अलावा हमारे सभी गुरुजनों ने भी देखी थी।

मेरे चित्र एकदम रियलिस्टिक स्टाइल में नहीं बने थे। इसलिए उनमें आधुनिक कला का प्रभाव ज्यादा था। हमें 'ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग' पढ़ाने वाले एस.पी. पाण्डेय सर ने भी वह प्रदर्शनी देखी। इसके बाद क्लास में उन्होंने मेरे चित्रों के बारे में कोई ऐसी टिप्पणी की जो मुझे भीतर तक चुभ गई। ये बात भी मैं पहले ही बता चुका हूँ ऐसी स्थितियों में मैं बहुत अधिक असहज हो जाता हूँ, मेरे मुँह से कुछ भी अनर्गल निकाल जाता है। जबकि आलोचना से अच्छा कोई गुरु नहीं होता ! पर इस बात को समझने की उस समय मेरी उम्र शायद नहीं थी। और उनकी टिप्पणी के बाद क्लास के कुछ छात्र ज़ोर से हँस भी पड़े थे। इस बात ने आग में घी का काम किया। अतः एक तरह से अपना बचाव करते हुए और चिढ़कर मैंने कुछ ऐसा कह दिया जो निश्चित रूप से मुझे नहीं कहना चाहिए था। इस बार फिर कुछ छात्रों की हँसी दबी आवाज में सुनाई दी।

हालाँकि अब मैंने अपनी इस कमी पर बहुत काम किया है। ऐसे मौकों पर शांत रहना काफ़ी हद तक सीख लिया है, फिर भी यदि कभी ऐसा हो जाता है तो – मैं सब के सामने अपनी ग़लती मान लेने और माफ़ी मांग लेने में देर नहीं करता। क्योंकि पहले भी ऐसा कुछ बोलकर मुझे पछतावा भी बहुत होता था और बहुत समय तक मैं बेचैन रहा करता था।

जिस घटना का मैंने यहाँ ज़िक्र किया है, उसके इस तरह अप्रत्याशित रूप से घट जाने के बाद - एस.पी. पाण्डेय सर ने एकदम से क्लास को झिड़क दिया और उस दिन की पढ़ाई शुरु कर दी। पूरे पीरियड और उसके बाद भी कई दिनों तक मैं बुरी तरह से परेशान रहा। मुझे वास्तव में पांडेय सर से माफ़ी मांग लेनी चाहिए थी। किंतु शायद ये सोचकर कि अभी मामला शांत है उसे शांत ही रहने दूँ मैंने यह कदम नहीं उठाया। मैं ये भी सोच रहा था कि पाण्डेय सर ने शायद मेरी बात को इतनी गंभीरता से नहीं लिया है। साथ ही इस बात से भी डर रहा था, यदि मैं माफ़ी माँगने गया तो उन्हें फिर वो बात याद आएगी और तब वो वास्तव में नाराज़ हो जाएँ।

इसी ऊहापोह में कई दिन बीत गए। विद्यार्थियों में भी इस बात को लेकर न कभी कोई काना-फूसी या न ही पक्ष- विपक्ष में कोई टीका टिप्पणी हुई। बात तो जैसे हवा में घुल गई। पर मैं हमेशा एक डर में जी रहा था।

पर असल मज़ेदार बात अभी कहाँ हुई है। वो मैं अब सुनाऊँगा।

हमें फाइनल ईयर में एक प्रोजेक्ट भी बनाना होता था। यह किसी थीसिस का छोटा मोटा रूप होता था। जिसे किसी भी लेक्चरर, रीडर या प्रोफेसर के निर्देशन में यह प्रोजेक्ट चुनना होता था। दो तीन या कभी चार छात्र भी मिलकर एक प्रोजेक्ट में शामिल हो सकते थे। फिर एक निश्चित समय सीमा के भीतर उसे पूरा करके पुस्तक के रूप में तैयार करना होता था। उसपर वाह्य इग्ज़ैमिनर द्वारा डिसकशन और सवाल जवाब भी होता था। उस में मिलने वाले नंबर फाइनल ईयर के इग्ज़ैम में जुड़ते थे। अतः वह हमारी पढ़ाई का एक महत्वपूर्ण चरण होता था।

अब एक बार फिर मैं कहूँगा, कोई मनोवैज्ञानिक ही इस बात की विवेचना कर सकता है कि क्यों मैंने एस.पी. पाण्डेय सर को अपने प्रोजेक्ट के लिए चुना। प्रोजेक्ट अखिलेश, कौशल और मैं मिलकर करेंगे यह तो पहले से तय था किन्तु हमारे गाइड कौन होंगे ये तय नहीं हो पा रहा था। पता नहीं किस मनःस्थिति में मैंने एस.पी. पाण्डेय सर को मन ही मन चुन लिया। वे सबसे स्ट्रिक्ट अध्यापकों में से थे। क्लास में भी और बाहर भी। प्रायः व्यंग्य या कटाक्ष की भाषा में बात करते थे। सीनियर भी थे। एक दिन मैंने उनको कॉलेज के प्रशासनिक भवन में देखा। सीधे उनके पास पहुँचा और उनसे अपने प्रोजेक्ट का गाइड बनने का निवेदन किया। उन्होंने पहले तो मुझे ऊपर से नीचे तक घूरने और मुस्कराने के दरम्यान की किसी भंगिमा के साथ देखा।

उन्होंने मुझसे पूछा – "मैं ही क्यों ?"

वास्तव में उनके निर्देशन में प्रोजेक्ट करने से छात्र कतराते थे। इसलिए उन्हें शायद आश्चर्य हुआ होगा।

मैंने उन्हें क्या जवाब दिया अब शब्दशः मुझे याद नहीं है किन्तु वे मान गए।

''तुम अकेले हो या कोई और भी बच्चे हैं।"

मैंने उन्हें अखिलेश और कौशल के नाम बता दिए।

उन्होंने हम तीनों को अपने कमरे में बुलाया।

मैंने जब अखिलेश और कौशल को ये बात बताई तो वे मुझे देर तक घूरते रहे, सोचते रहे फिर अच्छे दोस्तों की तरह हामी भर दी।

हम एस.पी. पाण्डेय सर के कमरे में पहुँचे। उन्होंने साफ़ साफ़ कहा अभी भी सोच लो – "मेरे साथ मेहनत करना पड़ेगी, समय देना पड़ेगा और सबसे बड़ी बात कि पंक्चुअल रहना पड़ेगा, ये नहीं चलेगा कि एक आया दो ऐब्सेन्ट हैं या दो आए एक ऐब्सेन्ट है; मैं बीच में नहीं तो प्रोजेक्ट छोड़ दूंगा।"

हमने उन्हें विश्वास दिलाया।

उन्होंने बिना समय गँवाए हमसे 'हीट एंजिन' लैब चलने को कहा।

वहाँ पहुँच कर वो बंद पड़े डबल स्टेज कम्प्रेसर के पास हमें ले गए।

बोले- "इसे ठीक करके चालू करना है और इसकी परफ़ॉर्मेंस टेस्टिंग करनी है। यही तुम लोगों का प्रोजेक्ट होगा।"

हम सभी ने उस बंद या खराब पड़े कंप्रेसर को देखा, एक दूसरे को देखा फिर एस.पी. पाण्डेय सर को देखा और उनसे समवेत स्वर में कहा- "जी सर।"

"कोई दिक्कत तो नहीं होगी? बहुत मेहनत लगेगी।"

"सर हम मेहनत करेंगे।"

बात हो गई।

कई सारे छात्रों में बल्कि सभी छात्रों में ये बात फैल गई। वे हम लोगों को अजीब नज़रों से दो एक दिन तक देखते रहे और सहानुभूति भरी नज़रों से देखते रहे। पर हम लोगों ने तो जैसे ओखली में सर डाल ही दिया था।

अब एक बात और बता दूँ – सभी छात्र सीनियर्स से मिली जानकारी के आधार पर डॉ. दवे के अंडर में प्रोजेक्ट करना चाहते थे। वे बहुत मस्त मौला और सही मायनों में

प्रोफेसर टाइप के अध्यापक थे। प्रोजेक्ट रिपोर्ट के कवर पेज पर गाइड के रूप में उनका नाम और उनकी ढेरों डिग्रियाँ, मानद उपाधियाँ, कंसल्टेंट्स के रूप में उनकी भागेदारी का उल्लेख प्रोजेक्ट रिपोर्ट को बहुत प्रभावशाली बना देता था। दूसरे, जैसा हमने सुन रखा था-प्रोजेक्ट में छात्रों से ज़्यादा मेहनत तो वे खुद कर लेते थे। तीसरे जब प्रोजेक्ट का वायवा होता तो प्रायः एक्सटर्नल के साथ वे ही बैठते थे। इस सबका लाभ निश्चित रूप से उनकी गाइडेंस में प्रोजेक्ट करने वाले छात्रों को मिलता ही था। वे एक साथ एक से अधिक प्रोजेक्ट भी हैंडल कर लेते थे।

परंतु हम एस.पी. पाण्डेय सर के अंडर में थे। मैं उन्हें किसी तरह कमतर नहीं आंक रहा हूँ। बल्कि उनके अंडर में काम करके हमने प्रोजेक्ट के साथ साथ अनुशासन और आत्मविश्वास का पाठ भी सीखा। जो कि प्रोजेक्ट के नंबरों से कहीं अधिक कीमती था। हम कॉलेज के बाद भी हीट एंजिन लैब में लगे रहते। फ्री पीरियड होता तो भी कंप्रेसर के आस पास होते। वहाँ के इंस्ट्रक्टर्स और अटेंडेंट्स से भी हमारी अच्छी दोस्ती हो गई थी। एक तरह से हमें फील्ड पर अपने हाथों से काम करने मिल रहा था।

जब प्रोजेक्ट के लिए दो पीरियड हमें मिलते तो हमारा मुकाम हीट एंजिन लैब ही होता था। कुछ देर में एस.पी. पाण्डेय सर भी आ जाते फिर या तो हम टूल्स लेकर कंप्रेसर को डिसमेंटल करने में लग जाते या उनकी बताई लाइब्रेरी से लाई रिफ़रेंस बुक्स पढ़ने में लग जाते। वे बीच बीच में हमें कुछ न कुछ समझाते भी जाते थे। कुल मिलाकर एक मैकेनिकल प्रोजेक्ट का अच्छा अनुभव हमें हो रहा था। एक फ़ायदा हमें ये भी को रहा था, चूँकि वे हमें कंबश्चन इंजीनियरिंग भी पढ़ते थे तो बहुत सारी प्रैक्टिकल जानकारी भी हीट एंजिन लैब में हमें देते रहते थे।

अब हम उस जगह पर आ गए हैं जहाँ उस मजेदार बात का वर्णन होगा।

हुआ यों कि रस रोज़ भी प्रोजेक्ट के दो पीरियड थे। हमें कंप्रेसर परफ़ॉर्मेंस से संबंधित एक मेथामेटिकल इक्वेशन समझने और सॉल्व करने में लगाकर पाण्डेय सर कहीं चले गए। टेबल पर वे काग़ज़ों का एक रोल छोड़ कर गए थे।

सामान्य तया ऐसा होता नहीं था। वे अपने काग़ज़ पत्तर अपने साथ ही रखते थे।

इस सामान्य सी असामान्य घटना को हम लोगों ने नोटिस किया।

ये नहीं याद पर हममें से किसी ने काग़ज़ों का वह रोल उठाकर खोला। उसमें कुछ अक्षर और कुछ आड़ी तिरछी, घुमावदार लकीरों और बिंदुओं की लिखावट में कुछ लिखा हुआ सा लग रहा था।

अखिलेश ने देखा तो बोल पड़ा – "अरे ! ये तो शॉर्ट हैण्ड की लिखाई है।"

फिर उसने हाथ में वो परचे लेकर देखे और आँखें फाड़कर हम लोगों से बोला- "यार ये तो हमारा कंबश्चन इंजीनियरिंग का पेपर है।"

बस फिर क्या था, अखिलेश अपनी नोट बुक में उसे नकल करने बैठ गया। मैं हीट एंजिन लैब के दरवाज़े पर पहरेदारी करने लगा कौशल वहीं टेबल के पास खड़ा रहा ताकि आपात स्थिति में अखिलेश की मदद कर सके। पर ऐसी कोई ज़रूरत न पड़ी। जब पाण्डेय सर लौटे तब तक इत्मीनान से काम सम्पन्न हो चुका था। परचों का वह रोल अपनी जगह इस तरह रखा हुआ था जैसे किसी ने उसे छुआ ही ना हो। हम तीनों भी अपनी पढ़ाई में लगे हुए थे। पाण्डेय सर अपनी कुर्सी पर बैठ गए और मुस्कराते हुए उन्होंने हम तीनों को देखा, फिर उन्होंने वह काग़ज़ों का रोल अपने हाथों में लेकर खोला और बोले- जानते हो ये क्या है ? हम अंजान बने उन्हें देखते रहे।

उन्होंने बताया- "ये तुम्हारी सालाना परीक्षा के 'कंबश्चन इंजीनियरिंग' के पेपर हैं।"

उन्होंने हमें अपनी शॉर्ट हैंड राइटिंग लिखें पेपर खोलकर भी दिखाए। हम आँखें फाड़े, मुँह बाये हैरत से उन पेपरों को देख रहे थे, जैसे हमने उन्हें पहली बार देखा हो। पाण्डेय सर मुस्करा रहे थे। मुस्करा तो हम तीनों भी रहे थे पर भीतर ही भीतर। बाद में हम तीनों है ये संकल्प लिया कि इस बात का पता किसी और को नहीं चलने दिया जाएगा।

जब सालाना परीक्षा में हमारे हाथों में "ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग" का पेपर आया तो वह हू-बहू ठीक वैसा ही था, जो अखिलेश ने नोट किया था। हालाँकि हमने किसी अन्य स्थिति से बचने पूरी तैयारी कर रखी थी परंतु उस पहले से पता प्रश्न तो हमने घोंट रखे थे।

□□

अब दो बातें बताने को बचती हैं – शॉर्ट हैण्ड का रहस्य और हमारे प्रोजेक्ट का क्या हुआ ?

पहली बात शॉर्टहैण्ड की।

दरअसल, जब हम लोग ग्यारहवीं कक्षा में थे, तभी अखिलेश के पिताजी ने न जाने क्या सोचकर उसे शॉर्टहैण्ड का कोर्स भी करवा दिया था। उन दिनों सरकारी नौकरियों में शॉर्टहैण्ड और टाइपिंग को बड़ा उपयोगी कौशल माना जाता था। शायद उनकी दूर दृष्टि रही होगी कि बेटा पढ़ाई के साथ-साथ एक अतिरिक्त योग्यता भी हासिल कर ले। फलस्वरूप रोज़ शाम को अखिलेश लगभग एक घंटे के लिए शॉर्टहैण्ड की क्लास में जाता था।

हम दोनों की उम्र ही ऐसी थी कि भविष्य की इतनी दूर तक देखने की दृष्टि कहाँ थी। मुझे तो शॉर्टहैण्ड किसी रहस्यमयी लिपि जैसा लगता था, जिसमें टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ और घुमावदार निशान बनाकर लोग पूरी-पूरी बातें लिख लेते थे। न मुझे उसमें कोई रुचि थी, न अखिलेश को कोई विशेष अनुराग था। वह भी शायद केवल अपने पिताजी की इच्छा का सम्मान करते हुए नियमित रूप से क्लास चला जाता था। उस समय हम दोनों के लिए यह बस एक अतिरिक्त बोझ था, जिसका इंजीनियरिंग से दूर-दूर तक कोई संबंध दिखाई नहीं देता था।

लेकिन जीवन का अपना अलग ही गणित होता है। वह दो और दो हमेशा चार नहीं करता। कभी-कभी वर्षों पहले बोया गया कोई छोटा-सा बीज ऐसे अवसर पर फल देता है, जहाँ उसकी कल्पना भी नहीं की गई होती। उस समय जो बात हमें लगभग निरर्थक लगती थी, वही आगे चलकर हीट इंजन लैब में हमारे सबसे बड़े काम की चीज़ बन गई। शायद इस ब्रह्माण्ड में कोई भी अनुभव पूरी तरह व्यर्थ नहीं जाता। हर सीख, हर घटना और हर छोटी-बड़ी उपलब्धि कहीं न कहीं चुपचाप भविष्य की किसी अनदेखी परिस्थिति के लिए स्वयं को सुरक्षित रखती चलती है।

अब इसे चीटिंग कहें या अवसर का बुद्धिमानी से लाभ उठाना - इसका निर्णय मैं तुम पर छोड़ता हूँ। मुझे तो केवल इतना लगता है कि एस.पी.पाण्डेय सर ने भी तो हमें. . .

. . . ख़ैर, इस प्रसंग पर यहीं विराम देना ही उचित है।

अब दूसरी बात।

हमारा प्रोजेक्ट अंततः सफलतापूर्वक पूरा हो गया। कई दिनों की दौड़-भाग, असफल प्रयासों, चर्चा, गणनाओं और प्रयोगों के बाद हम उस वर्षों से बंद पड़े डबल-स्टेज कंप्रेसर को फिर से चालू करने में सफल हो गए। पहली बार जब उसने व्यवस्थित ढंग से काम करना शुरू किया तो भीतर एक विचित्र-सी संतुष्टि हुई। ऐसा लगा मानो किसी निष्प्राण वस्तु में फिर से प्राण लौट आए हों। उसके बाद उसकी परफ़ॉर्मेंस टेस्टिंग की गई। परीक्षण से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण किया, ग्राफ़ बनाए, रिपोर्ट तैयार की और उन्हें व्यवस्थित रूप से अपनी प्रोजेक्ट फ़ाइल का हिस्सा बनाया। अब वह केवल एक मशीन नहीं रह गई थी; उसमें हमारी मेहनत, हमारी जिज्ञासा और हमारे कई दिनों का धैर्य भी दर्ज़ था।

प्रोजेक्ट से संबंधित वायवा भी अपेक्षाकृत अच्छा रहा। परीक्षकों ने तकनीकी प्रश्न पूछे, कुछ जगह हमारी परीक्षा ली, लेकिन कुल मिलाकर हम संतोषजनक उत्तर दे सके। वायवा समाप्त होने के बाद ऐसा लगा जैसे कई दिनों से कंधों पर रखा कोई अदृश्य बोझ उतर गया हो।

आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि उस पूरे प्रोजेक्ट में तकनीकी उपलब्धि अपनी जगह महत्त्वपूर्ण थी, लेकिन सबसे जीवंत स्मृति किसी मशीन की नहीं, उस शॉर्टहैण्ड वाले काण्ड की है। डबल-स्टेज कंप्रेसर कब का इतिहास बन चुका, प्रोजेक्ट रिपोर्ट भी न जाने कहाँ खो गई, पर वह छोटी-सी घटना आज भी स्मृति में वैसी ही ताज़ा है। समय सचमुच बड़ा विचित्र चयन करता है। वह हमेशा बड़ी उपलब्धियों को नहीं, कभी-कभी छोटी शरारतों, अनपेक्षित संयोगों और हल्की-सी मुस्कानों को भी जीवन भर के लिए सहेज लेता है। कम-से-कम मेरे लिए तो इस पूरे प्रोजेक्ट का सबसे यादगार अध्याय वही शॉर्टहैण्ड काण्ड बनकर रह गया।



मेरी कहानी के दूसरे खण्ड का यह अंतिम अध्याय अब अपने अंतिम चरण पर पहुँच रहा है।

उसके पहले कुछ बातें बता दूँ –

थर्ड ईयर की सालाना परीक्षा के साथ साथ मेरा सेकंड ईयर का गणित द्वितीय का परचा क्लियर हो गया। अतः मुझे फ़ोर्थ ईयर में जाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। एटी-केटी का खौफ़ अब नहीं रहा था।

फ़ोर्थ ईयर और फाइनल ईयर तक आते आते पढ़ाई कठिन और गहरी हो जाती है। दोनों साल बस पढ़ते पढ़ते कब बीत गए पता ही नहीं चला। पर हम लोगों का साथ घूमना आपस में मिलना जुलना और फिल्में देखना नहीं रुका। सब कुछ साथ साथ चलता रहा। वैसे भी अब इस बात को छिपाने का कोई तुक नहीं बनता कि मेरी असल पढ़ाई प्रिपरेशन लीव में और दो परचों के बीच मिलने वाले तीन दिनों के गैप में अधिक होती थी। बाक़ी साल ऐसा भी नहीं था कि हम पढ़ते न हों। कम से कम क्लास में जो पढ़ाई होती थी वह तो करनी पड़ती थी और फिर क्लास टेस्ट भी होते थे। मैं नियमित नोट्स बनाता था। रेफरेंस बुक्स लेने का भी मुझे शौक था। ये सब बातें इतना तो कर ही देती थीं कि जब मैं गंभीरता से पढ़ाई में लगता तो विषय अजनबी नहीं लगते थे। फिर मेरी चित्र बनाने की क्रियेटिविटी भी मुझे कठिन सूत्र याद रखने और क्लिष्ट सवालों के उत्तर याद रखने में मदद करती थी। कई ग्राफ़्स, ड्रॉइंग्स और स्केचेज़ मैंने ड्रॉइंग शीट्स पर स्केच पेन्स से अलग अलग रंगों में पेंटिंग्स की स्टाइल में बना रखे थे। जो मुझे उन्हें और उनसे संबंधित थ्योरी याद रखने में मदद करते थे।

इस बीच फाइनल ईयर में एग्ज़ाम होने के फ़ौरन बाद ही मध्य प्रदेश इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड में असिस्टेंट इंजीनियर्स की भरती की लिखित परीक्षा हुई। जो मैंने और मेरे कई मित्रों ने दी। हम एक बार भोपाल भी गए बी.एच.ई.एल. में इंजीनियर्स की भरती परीक्षा देने। इन सब का विस्तृत वर्णन मैं करूँगा इस श्रृंखला के तीसरे भाग में।

अभी दो महत्त्वपूर्ण प्रसंग शेष हैं। उन्हें भी सुना दूँ, फिर इस अध्याय का समापन करूँ।

दोनों घटनाएँ थर्ड ईयर की हैं। पहली तो इतनी रोमहर्षक थी कि आज भी उसे याद करता हूँ तो भीतर कहीं हल्की-सी सिहरन दौड़ जाती है। कभी-कभी लगता है, सेकंड और थर्ड ईयर का वह पूरा दौर जैसे मेरे जीवन की सबसे कठिन परीक्षाओं में से एक था। शायद कोई ज्योतिषी ही ग्रह-नक्षत्रों की गणना करके बता पाए कि उन वर्षों में ऐसा कौन-सा संयोग बना था कि एक संकट समाप्त होने से पहले दूसरा मेरे सामने खड़ा मिल जाता था।

हुआ यह कि जब मैंने सिविल विभाग छोड़कर मैकेनिकल विभाग में प्रवेश लिया, तब जो भी कार्यालयीन और काग़ज़ी औपचारिकताएँ थीं, वे पूरी कर दी गईं। सभी विषयों के प्राध्यापकों ने अपने-अपने रोल कॉल रजिस्टरों में मेरा और मेरे साथ आए प्रवीर चक्रवर्ती का नाम दर्ज़ कर लिया। केवल 'प्रोडक्शन इंजीनियरिंग' के प्राध्यापक से यह औपचारिकता किसी कारण छूट गई।

उनकी उपस्थिति दर्ज़ करने की अपनी एक अलग ही पद्धति थी। वे प्रत्येक पीरियड में एक छोटे-से काग़ज़ पर केवल उन विद्यार्थियों के रोल नम्बर लिख लेते थे जो उस दिन अनुपस्थित होते। शेष सभी को वे रजिस्टर में उपस्थित मान लेते। चूँकि शुरुआती कई महीनों तक हमारे नाम उनके रोल कॉल रजिस्टर में दर्ज़ ही नहीं हुए थे, इसलिए बाद में जब उन्होंने हमारे नाम जोड़े, तब शुरुआती अवधि के लिए हमें अनुपस्थित अंकित कर दिया। शायद उन्हें स्वयं भी इस भूल का आभास नहीं हुआ।

इधर विश्वविद्यालय ने भी एक नया नियम सख़्ती से लागू कर दिया था कि जिन विद्यार्थियों की उपस्थिति निर्धारित पचहत्तर प्रतिशत से कम होगी, उन्हें वार्षिक परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं मिलेगी।

एक दिन वे कक्षा में आए और बिल्कुल सहज स्वर में घोषणा कर दी कि प्रवीर और मेरी उपस्थिति उनके विषय में पचहत्तर प्रतिशत से कम है। इसलिए हमें इस विषय की परीक्षा देने की अनुमति नहीं मिलेगी।

एक क्षण के लिए हम दोनों स्तब्ध रह गए। यह सुनना उतना ही असम्भव लग रहा था, जितना स्वयं पर संदेह करना। हम दोनों ने नियमित रूप से कक्षाएँ अटेंड की थीं। पचहत्तर प्रतिशत तो बहुत दूर, हमारी उपस्थिति उससे कहीं अधिक थी।

कक्षा समाप्त होने के बाद हम उनके कमरे में पहुँचे। पूरी बात समझाई, किन्तु उनका उत्तर एकदम सपाट था- "मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता। अब अनुमति केवल वाइस चांसलर ही दे सकते हैं।"

उनके इस उत्तर ने जैसे पैरों तले की ज़मीन खिसका दी।

तभी मुझे एक बात याद आई। मैंने उनसे कहा, "सर, आपके विषय के पूरे क्लास नोट्स मेरे पास अलग-अलग नोटबुक में क्रमवार लिखे हुए हैं। यदि आप चाहें तो मैं अभी या कल उन्हें लेकर आ सकता हूँ।"

उन्होंने कुछ क्षण मेरी ओर देखा और फिर कहा, "कल ले आना।"

दूसरे दिन मैं उनके विषय की तीन-चार नोटबुक लेकर उनके कमरे में पहुँचा। वे कॉपियाँ मानो स्वयं अपनी गवाही दे रही थीं। प्रत्येक व्याख्यान तिथि के अनुसार क्रमबद्ध था। हर पृष्ठ पर वही क्रम, वही उदाहरण और वही विवरण था, जो उन्होंने कक्षा में पढ़ाया था। उन्हें देखकर सहज ही समझा जा सकता था कि यह काम किसी एक रात में बैठकर पूरा नहीं किया जा सकता।

वे काफ़ी देर तक उन कॉपियों के पन्ने पलटते रहे। उनके चेहरे पर धीरे-धीरे संदेह का स्थान विश्वास ने ले लिया। अंततः उन्होंने मेरी बात स्वीकार कर ली। उन्होंने रजिस्टर में अपनी भूल सुधारी और जिन दिनों मुझे अनुपस्थित अंकित कर दिया गया था, उन दिनों की उपस्थिति ठीक कर दी।

मैं एक बार फिर एक बड़े संकट से बाल-बाल बच गया।

प्रवीर ने अपनी उपस्थिति किस प्रकार सिद्ध की, यह अब मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। सम्भव है उसने भी कोई ऐसा ही उपाय किया हो। इतना अवश्य याद है कि अंततः हम दोनों को वार्षिक परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल गई और यह संकट भी, अन्य

अनेक संकटों की तरह, धीरे-धीरे पीछे छूट गया। उस समय तो केवल राहत महसूस हुई थी, किन्तु आज पीछे मुड़कर देखता हूँ तो लगता है कि जीवन की दिशा कभी-कभी किसी बहुत छोटी-सी प्रशासनिक भूल पर भी टिक जाती है। यदि उस दिन वे नोटबुक मेरे पास न होतीं, तो शायद मेरी पूरी शैक्षणिक यात्रा एक अलग मोड़ ले लेती।

□□

दूसरी कोई घटना नहीं, बल्कि हमारे एजुकेशनल टूर का एक रोचक विवरण है।

थर्ड ईयर में दशहरे और दीपावली के बीच कॉलेज की ओर से यह शैक्षणिक भ्रमण आयोजित किया गया था। सभी विद्यार्थियों के लिए इसमें भाग लेना अनिवार्य था। इसके लिए रियायती दर पर रेलवे की एक पूरी सेकंड क्लास बोगी हमारे दल के लिए आरक्षित करवाई गई थी। उस समय ऐसे शैक्षणिक दौरों का अपना अलग ही उत्साह और आकर्षण हुआ करता था।

हमारे दल के मुख्य पर्यवेक्षक एस. पी. पाण्डेय सर थे। उनकी यात्रा फर्स्ट क्लास में थी, इसलिए वे पूरे मार्ग में कभी हमारी ट्रेन के साथ रहते, तो कभी थोड़ा आगे या पीछे दिखाई देते। हमारी बोगी की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी आई. के. खन्ना सर के कंधों पर थी। वे पूरे समय हमारे साथ उसी बोगी में यात्रा कर रहे थे। उनके साथ उनकी पत्नी भी थीं। जहाँ तक मुझे स्मरण है, बोगी के सबसे सिरे वाले एक छोटे-से कम्पार्टमेंट में उनके लिए अलग व्यवस्था कर दी गई थी।

उस समय रेल यात्राएँ आज जैसी सुविधाजनक नहीं थीं। छात्रों की संख्या अधिक थी और बर्थ कम। इसलिए सोने की व्यवस्था भी बड़ी दिलचस्प होती थी। हममें से कुछ छात्रों को अपना ड्रॉइंग बोर्ड साथ लाना था और कुछ को घर से पलंग की निवार। वही हमारे अतिरिक्त बिस्तरों का आधार बनती थी। उस समय की सेकंड क्लास बोगियों में ऊपर की दोनों बर्थों के बीच पर्याप्त जगह होती थी। वहाँ निवार को उसी तरह मजबूती से कस दिया जाता था, जैसे किसी चारपाई में बुना जाता है। नीचे वाली आमने-सामने की सीटों के बीच ड्रॉइंग बोर्ड फँसा दिया जाता था। इस तरह थोड़ी-सी जुगाड़ और थोड़ी-सी इंजीनियरिंग से पूरी बोगी में सभी छात्रों के सोने का प्रबंध हो

जाता था। आज सोचता हूँ तो लगता है कि सीमित साधनों में भी हम लोग कितनी सहजता से अपने लिए सुविधाएँ बना लिया करते थे।

अब इतने वर्षों बाद पूरे टूर का मार्ग तो स्मृति में स्पष्ट नहीं रह गया है, लेकिन इतना अवश्य याद है कि हमारी यात्रा भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग की ओर थी। पूर्व में हम विशाखापत्तनम तथा हैदराबाद–सिकंदराबाद तक गए थे और दक्षिण में तत्कालीन मद्रास (वर्तमान तमिलनाडु) तक पहुँचे थे। वापसी में बेंगलुरु और नागपुर होते हुए अंततः जबलपुर लौटे थे।

यात्रा के दौरान अनेक औद्योगिक प्रतिष्ठानों का भ्रमण कराया गया। उनमें भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स लिमिटेड, हिंदुस्तान मशीन टूल्स, हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड की फैक्ट्रियाँ तथा विशाखापत्तनम शिपयार्ड प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न नगरों के दर्शनीय स्थल, संग्रहालय, तकनीकी महाविद्यालय और अन्य पर्यटन स्थलों को देखने का अवसर भी हमें मिला। यह यात्रा केवल पाठ्यक्रम का हिस्सा भर नहीं थी; वह पहली बार मध्य प्रदेश से बाहर निकलकर भारत के इस हिस्से को इतनी निकटता से देखने का अवसर भी थी।

एक टीम में टीम का ही एक सदस्य बनकर लंबे समय तक रहने का अनुभव भी मिला।

हालाँकि मैं यहाँ ये बात लिख ज़रूर रहा हूँ कि मैं टीम का सदस्य बनकर रहा। पर उस तरह से रहना मुश्किल था। आज भी बहुत मुश्किल है। मेरा जॉडियक साइन 'लियो' है जो मुझे टीम मेम्बर नहीं टीम के लीडर की तरह टीम का नेतृत्व करने या फिर वहाँ से हट जाने को मज़बूर कर देता है। मुझे इसमें आनंद भी आता है। समस्याओं का हाल ढूँढ़ने और फिर अपनी टीम को उस रास्ते पर आगे बढ़ाने।

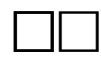
बहरहाल वे दिन अच्छी तरह गुज़रे, क्योंकि मेरे साथ मेरे अपने करीबी दोस्तों का साथ था। बाक़ियों के साथ भी मेरे संबंध अच्छे थे और कुछ के साथ बुरे नहीं थे। कई छात्र ऐसे भी थे जो करीबी तो नहीं थे पर बनना चाहते थे। पर मैं अपने छोटे ग्रुप में ख़ुश था।

मैं अपने साथ अपने पोस्टर कलर्स और ब्रश, स्केच पेन्स, स्केचिंग शीट्स आदि लेकर गया था। कई स्थानों पर मैंने स्केचेज़ बनाए। पेंटिंग्स बनाने का समय नहीं होता था। मेरे

स्केचेज़ बहुत पसंद किए जा रहे थे। खासकर श्रीमती आई.के.खन्ना ने स्केचेज़ की बहुत तारीफ़ की। जहाँ तक मुझे याद है उन्होंने बताया था वे स्वयं भी पेंटिंग्स करती हैं।



एक बहुत प्यारी सी बात, बातों बातों में छूटी जा रही थी। उसे यहीं बताए देता हूँ। हमारा एक दोस्त है 'मान सिंह', वो आज भी मेरा बहुत प्यार दोस्त है। मध्य प्रदेश पावर जनरेटिंग कंपनी में वह मेरा कलीग भी रहा। अभी भी उससे फ़ोन पर बात होती रहती है। उससे जुड़ी वैसे तो कई यादें हैं – वे सभी किसी और जगह शेयर करूँगा। यहाँ इतना बता दूँ उसे ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग से और किसी भी तरह गाड़ियों से बहुत प्यार है। उसके उर्वरक मस्तिष्क में हमेशा बहुत सारी चीजें चलती रहती हैं। खासकर कॉलेज के उन दिनों में वह हमारा सबसे जीवंत मित्र था। हमारे इस एजुकेशनल टूर के कुछ महीने पहले 'राज़ कपूर साहब' की सुपर ब्लॉकबस्टर फ़िल्म 'बॉबी' आई थी। उसमें एक बहुत हिट गाना था- "झूठ बोले कौआ काटे, काले कौवे से डरियो. . . " मान सिंह ने इस गाने को "ओम जय जगदीश हरे. . . " आरती की धुन पर अपनी तरह से ढ़ाल दिया था कि हम लोगों के लिए वह गीत एक अलग ही लेबल पर पहुँच गया था। एजुकेशनल टूर की यात्रा के मध्य जब भी कोई बड़ा स्टेशन आता जहाँ गाड़ी कम से कम पाँच मिनट या अधिक रुकती। सबसे पहले हम प्लेटफॉर्म पर उतरते। अपनी बोगी के सामने इकट्ठे होते और यह आरती नुमा गीत समवेत स्वर में गाते थे। एक साथ पचास से अधिक लड़कों का समवेत स्वर प्लेटफॉर्म पर गूँजने लगता , हम लोग तालियाँ बजा बजा कर आरती की धुन पर "झूठ बोले का हुआ काटे काले कौवे से डरियो. . . " गीत पूरा करते। फिर यदि समय होता तो प्लेटफॉर्म पर कुछ और जैसे चाय पीना इत्यादि। जब हम लोग ये झूठ बोले आरती गा रहे होते, पूरे प्लेटफॉर्म पर लोग ठिठक कर, ठहर कर, रुक कर हम लोगों को देखने लगते और शायद वे भी उस गीत को मन ही मन दोहराने भी लगते होंगे। आज भी जब हमारे मित्र गण यानी 77 बैच के लड़के री-यूनियन आदि में एकत्र होते हैं तो ये आरती जरूर गाई जाती है। इस तरह सभी पुरानी यादों की गलियों में में टहल आते हैं।



दीपावली के दिन हम लोग तत्कालीन मद्रास स्टेशन पर थे। हम वहाँ तीन दिनों तक रुके थे। हमारी बोगी रेलवे यार्ड के एक अलग-थलग प्लेटफॉर्म पर लगा दी गई थी। वह प्लेटफॉर्म बिना छत का एकदम खुला हुआ था। हम रात में उसी प्लेटफॉर्म पर बाहर सोते थे। हमारे कुछ मित्रों ने दीपावली की रात लक्ष्मी पूजन की व्यवस्था भी कर ली थी। उसी प्लेटफॉर्म पर हमने पूजा की। फल मिठाइयाँ खाईं। वहाँ पटाखे छुड़ाना वर्जित था सो उस आनंद से हम वर्जित रहे थे। शायद सभी छात्र अपने जीवन में पहली बार अपने घर से बाहर दीपावली मना रहे थे। सब एक दूसरे के साथ ख़ुश थे किंतु कहीं अंदर ही अंदर उन्हें अपने घरवालों की याद ज़रूर आ रही होगी वह टीस सब के भीतर चुभ तो रही होगी किंतु कोई प्रकट नहीं कर रहा था। सब एक दूसरे की ख़ुशी में ख़ुश हो रहे थे। शायद इसी तरह अपने मन की पीड़ा को भुलाने का प्रयत्न कर रहे थे। परंतु इस सबके बाद भी वह एक अलग ही अनुभव था उसके बाद शायद ही किसी ने कभी इस तरह से दीवाली मनाई होगी।

मद्रास में हम इंडस्ट्रियों फैक्ट्रियों के अलावा और भी बहुत कुछ घूमें कुछ बड़े समूह में कुछ अपने अपने ग्रुप्स में फैक्ट्रियों आदि में तो पांडेय सर और खन्ना सर साथ होते थे बाक़ी जगहों पर कई बार हम अकेले भी घूमते थे उस समय मुझे याद है सुबह कॉफी पीने हमें खास रेस्टोरेंट में जाते थे जहाँ कॉफी का ऑर्डर करने पर टेबल पर एक प्लेट में तरह तरह की बेकरी बिस्किट्स रखी रहती थी जी मैं कॉफी के साथ लिया जा सकता था बिना किसी चार्ज के जब बिस्किट्स ख़त्म हो जाती या कम हो जाती तो उनमें और बिस्किट्स रख दी जाती थी

हम मरीना बीच भी गए थे। तत्कालीन मद्रास की राजधानी 'मद्रास' में बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित एक बेहद ख़ूबसूरत और ऐतिहासिक प्राकृतिक शहरी समुद्र तट है। आज यह चेन्नई, तत्कालीन मद्रास की पहचान और वहाँ का सबसे बड़ा आकर्षण माना जाता है। मरीना बीच की कुल लंबाई लगभग 13 किलोमीटर है, जो इसे भारत का सबसे लंबा और दुनिया का दूसरा सबसे लंबा प्राकृतिक शहरी समुद्र तट बनाती है। इस तट को 1880 के दशक में मद्रास के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर द्वारा

एक सार्वजनिक सैर गाह के रूप में विकसित किया गया था। वे इटली के तटीय इलाकों से बहुत प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने इतालवी शब्द से प्रेरित होकर इसे "मरीना" नाम दिया।

मरीना बीच की सुनहरी रेत पर हम काफ़ी देर तक बैठे रहे। हमारे दूसरे मित्र भी आस-पास कहीं टहल रहे थे। समुद्र को देखने का वह मेरे जीवन का पहला अवसर था।

मेरे सामने दूर तक फैला जल राशि का अथाह विस्तार था। क्षितिज पर आकाश और समुद्र इस तरह एक-दूसरे में घुल गए थे कि उनके बीच कोई सीमा दिखाई नहीं देती थी। समुद्र का हल्का-सा हरापन लिए नीला रंग हर क्षण बदलता रहता था। कभी वह शांत लगता, कभी भीतर ही भीतर किसी अनकहे स्पंदन से भरा हुआ। लहरें आतीं, किनारे से टकराकर लौट जातीं, और उनके पीछे एक क्षण के लिए बची नमी अगली लहर के आने तक अपनी साँस रोके रहती।

मैं उस दृश्य को देखता रहा। धीरे-धीरे ऐसा लगा, जैसे मैं बाहर नहीं, अपने ही भीतर उतरता जा रहा हूँ। मन पर चढ़ी जाने कितनी परतें उस अथाह जल के सामने एक-एक करके ढीली पड़ने लगीं। उस क्षण पहली बार यह अनुभव हुआ कि दुनिया हमारी कल्पना से कहीं अधिक विशाल और कहीं अधिक सुंदर है। प्रकृति के सामने मनुष्य कितना छोटा है, फिर भी उसकी स्मृतियाँ कितनी बड़ी हो सकती हैं।

इसी बीच जाने कहाँ से उसकी याद मन में उतर आई। कोई विशेष कारण नहीं था। शायद ऐसे विराट सौंदर्य के सामने मन सबसे पहले उसी को खोजता है, जिसे उसने सबसे अधिक चुपचाप चाहा हो।

मैंने झुककर अपनी उँगलियों से गीली रेत पर उसका नाम लिख दिया।

कुछ ही क्षण बाद एक लहर आई। बिना किसी शोर के उसने उस नाम को अपने भीतर समेट लिया और लौट गई। पीछे केवल भीगी हुई रेत रह गई, मानो वहाँ कभी कुछ लिखा ही न गया हो।

मैंने फिर वही नाम लिखा -

फिर एक लहर आई . . .

फिर वही हुआ. . .

जाने कितनी देर तक यह खेल चलता रहा।

मैं हर बार उसका नाम लिखता और समुद्र हर बार उसे अपने साथ ले जाता।

उस समय न जाने क्यों मुझे यह मिटना अच्छा लग रहा था।

ऐसा लगता था, जैसे समुद्र उस नाम को मिटा नहीं रहा, अपने अथाह विस्तार में कहीं सुरक्षित रख लेता हो। रेत पर वह नाम क्षण भर के लिए दिखाई देता था, पर लहरों के भीतर शायद वह हमेशा के लिए रह जाता था।

मैं देर तक इस बात के बारे में सोचता रहा कि कुछ नाम जीवन में ऐसे होते हैं जिन्हें हम दुनिया से छिपाकर रखते हैं। वे कहीं लिखे नहीं रहते, फिर भी कभी मिटते नहीं। शायद स्मृति भी समुद्र की तरह होती है - ऊपर से हर लहर पुराने निशान मिटा देती है, पर गहराइयों में सब कुछ वैसे ही सुरक्षित पड़ा रहता है।

अखिलेश मेरे पास ही बैठा था। उसने एक बार मेरी ओर देखा, फिर रेत पर बार-बार बनते और मिटते उस नाम की ओर। उसने कुछ नहीं कहा।

शायद कुछ दृश्य ऐसे होते हैं जिनके बीच शब्द आ जाएँ तो उनका जादू टूट जाता है।

हम दोनों चुप बैठे रहे। सामने समुद्र अपनी अनंत लहरों के साथ वैसे ही साँस लेता रहा।

मैंने उससे कहा, कविता की एक लाइन दिमाग में आ रही है –

"लहर ले गई नाम तुम्हारा बाक़ी गीली रेत है . . ."

मैं बहुत देर तक इस कविता को पूरा करने के लिए इतनी ही इन्टेन्सिटी की 'तुक' ढूँढ़ता रहा, किंतु उस कविता को कभी पूरा नहीं होना था - इसलिए बस मेरे पास यही बचा रह गया –

"लहर ले गई नाम तुम्हारा बाक़ी गीली रेत है . . ."

मन अब भी भीग भीग जाता है . . .

- ढीठ मन सारी उम्र फिर भी कहाँ माना,
वह रेत पर उस नाम को बार बार लिखता रहा. . . .



अब एक बात और

क़िस्सों के इस सिलसिले में
आगे बढ़ते बढ़ते
हम उस मक़ाम या पड़ाव
तक आ पहुँचे है –
जब मैं 1977 के साल में
बाकायदा इंजीनियर बन चुका था,
और ज़िंदगी के 21 बरस कुछ
महीने इस पृथ्वी पर गुज़ार
चुका था।
कहने का मतलब ये है कि आज की
तारीख़ में आज मेरी उम्र के सत्तर
बरस बीत जाने के बाद
लगभग पचास बरस के किस्से
बाक़ी बचे हुए हैं . . .
उन्हें भी तो तुम्हें सुनना पड़ेगा . . .
मैं तो सुनाऊँगा ही . .
“सीधी सी बात न मिर्च मसाला
कह के रहेगा कहने वाला . . . ”

तो फिर आऊँगा वापस, जल्दी ही
“कुछ याद रहा- कुछ बिसर गया” का
तीसरा भाग “आकार” लेकर . . .
तब तक . . .

. . . फ़िलहाल बस